हिन्दी सन्तों का—

उलटवाँसी-साहित्य

(दिल्ली विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक

रमेश चन्द्र मिश्र

एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), पी-एच० डी० (हिन्दी)

हिन्दी-विभाग

रामलाल आनन्द कॉलिज, नई दिल्ली

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

आर्य बुक डिपो

३०, नाई वाला, करौल बाग, नई दिल्ली

प्रकाशक :
मानसिंह
आर्य बुक डिपो
करोल बाग, नई दिल्ली
दूरभाष : ५६१२२१

प्रथम संस्करण, जनवरी, १९६९

मूल्य : पच्चीस रुपये मात्र

मुद्रक :
जय भारती प्रेस,
६२५, सदर बाज़ार,
दिल्ली-६

उलटवाँसी-साहित्य

समर्पण

वेदों की उस दिव्य दृष्टि को,
उपनिषदों की सूक्ष्म सृष्टि को,
सिद्धों की नव क्षणत्व वृत्ति को,
नाथों की हठयौगिक प्रवृत्ति को,
सन्तों की निष्काम भक्ति को,
मन की उस संकल्प शक्ति को,
वात्सल्यमयी जननी चरणों को,
जनक हृदय सानिध्य क्षणों को,
नित्यानन्द महिम गुरु शिव को,
अर्पित है यह शोध प्रबन्ध।
उलटवास भी चर्चित होवे,
सन्त भाव की बहे सुगन्ध।

—रमेश

भूमिका-१

शब्द-प्रयोग का प्रयोजन अर्थ बोध कराना ही है। यदि शब्द किसी अर्थ का सम्प्रेषण नहीं करता तो उसका व्यवहार व्यर्थ ही समझना चाहिए। पतंजलिने शब्द की प्रयोजनीयता पर विचार करते हुए लिखा है—'अर्थ गत्यर्थः शब्द प्रयोगः अर्थ सम्प्रत्ययिष्य-तीति शब्दः प्रयुज्यते।' किन्तु हम देखते हैं कि जितने शब्दों का प्रयोग होता है वे सभी अर्थ बोध केलिए नहीं होते, कुछ निरर्थक—निस्प्रयोजन भी होते हैं। कभी-कभी अपने ज्ञान की सीमा या अल्पज्ञता के कारण भी हमें अर्थ बोध नहीं होता और हम शब्द को अर्थ हीन मान लेते हैं। अध्यात्म और रहस्य के क्षेत्र में इस प्रकार के कुछ प्रयोग सभी भाषाओं में उपलब्ध होते हैं जिनका गूढ़ या प्रच्छन्न आशय सर्वजन सुलभ नहीं होता, फलतः उनकी अर्थवत्ता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। लोक-व्यवहार ही शब्दार्थ-ज्ञान का मूल साधन है। किन्तु ऐसे शब्दों का लोक-व्यवहार-पक्ष भी रहस्यावृत ही होता है। अतः अर्थबोध के अभाव में वृत्तिज्ञान, शक्तिज्ञान या शक्तिग्रह के साधन भी अक्षम सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु, फिर भी अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसी वाणी का प्रयोग होता है। अतएव इनकी रहस्य-भावना को समझे बिना इन शब्द-प्रयोगों को निरर्थक वाग्जाल नहीं कहा जा सकता। मध्यकालीन धर्म-साधना के क्षेत्र में, निर्गुण धारा का विचार-प्रवाह ऐसे विलक्षण शब्द-प्रयोगों को आत्मसात किये रहा, जो आद्यततः कोश, शास्त्र व्यवहार, ज्ञात पद-साहचर्य आदि की पकड़ से सर्वथा बाहर थे। उनके अर्थ-बोध में न तो विवरण का सहारा था और न व्यवहार का। हाँ, आप्त वाक्य के माध्यम से परम्परागत शब्दार्थ प्रतीति केलिए यत्र-तत्र दूरारूढ़ कल्पना संभव हो सकती थी किन्तु उसकी प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध ही मानी जाती रही।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मध्ययुगीन निर्गुण सन्त कवियों की वाणी में इसी रहस्यात्मकता का गहरा पुट देखने को मिलता है। यह वाणी केवल 'गूंगेकेरी शर्करा' ही नहीं वरन् शब्दार्थ सम्बन्ध रहित होने तथा लोक-व्यवहार विपरीक होने से भ्रामक भी बन गई थी। एक ओर तो संस्कृत के वैयाकरण शब्द के साधु प्रयोग पर इतना बल देते थे कि एक शब्दका सम्यक् सार्थक प्रयोग स्वर्गलोक में कामधेनु के समान होता है, और दूसरी ओर 'अर्थ परिज्ञानफलाहिवाक्' द्वारा वाणी की सार्थकता अर्थ-परिज्ञान में स्वीकार करते थे। निर्गुण सन्त कवियों ने जिस परम्परा का निर्वाह शब्द-प्रयोग की दिशा में किया वह साधारण व्यवहार से सर्वथा भिन्न विलक्षण एवं सर्वजन सुलभ न थी। कहने को देह-इन्द्रिय समूह (विखर) में उत्पन्न होने के कारण वह वाणी है तो वैखरी ही, किन्तु अर्थ-बोध के समय ऐसा आभास होता है जैसे इस वाणी में परा, पश्यन्ती और मध्यमा के भी अंश मिले हैं। वस्तुतः वैखरी वाणी को कुछ और समझने की भूल का कारण दुरूहता या अर्थ की कृच्छ्र साध्यता न होकर उसकी रहस्यमयी गोपनीयता है। एक दूसरा कारण यह भी है कि मध्ययुगीन सन्त कवियों ने शब्द को अक्षर ब्रह्मवत् मानकर शब्द की अर्थ सीमाओं का अपनी वैयक्तिक रहस्यानुभूति के आधार पर विस्तार कर लिया। उनके शब्द प्रयोगों में अन्तः संकल्प के सूक्ष्म तत्त्व समाविष्ट हो गये। इन विचित्र तत्त्वों के समावेश से अभिव्यक्ति जटिल बन गयी और उनकी गुह्यता अधिकाधिक सघन होती गयी। ऐसी गुह्य-कृच्छ्र उक्तियों को 'उलटवाँसी' शब्द से व्यवहृत किया जाने लगा। जो शब्द प्रयोक्ता को स्वर्गलोक में कामधेनु बनता था वही मर्त्यलोक में श्रोता या पाठक केलिए अर्थशून्य या

हमारी योजना

'उलटवाँसी-साहित्य' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद् ग्रन्थमाला का चवालीसवाँ ग्रन्थ है।

हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद् हिन्दी-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर १९५२ ई० में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिन में प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर, विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ, प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गई है; तीसरे ऐसे हैं जिनका अनुसन्धान के साथ, उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ, प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। अब तक प्रथम वर्ग के अन्तर्गत १४ ग्रन्थों का, दूसरे में छब्बीस और तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'उलटवाँसी-साहित्य द्वितीय वर्ग का सत्ताइसवाँ प्रकाशन है।

प्रतीक की विरोध गर्भित शैली 'उलटवाँसी' कबीर आदि निर्गुणी संतों की बानियों में अभिव्यक्ति का सफल आधार रही है। संत कवियों केलिए अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को विरोधात्मक प्रतीक-योजना तथा सांकेतिक शैली के माध्यम से अभिव्यक्त करना उतना ही सहज था, जितना कि भक्त कवियों के लिए अपनी सगुण भावना को उपमा-रूपक आदि के द्वारा। हिन्दी में उलटवाँसी-साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इस साहित्य-राशि के विधिवत् अध्ययन की बड़ी आवश्यकता थी। सन्तोष का विषय है कि डॉ० रमेश चन्द्र मिश्र ने गोरखनाथ से लेकर राधास्वामी मत के प्रवर्त्तक संत शिवदयाल तक विस्तृत संत-परम्परा द्वारा रचित वाङ्मय का पारायण कर, वैदिक वाङ्मय के साथ उसकी शृंखला जोड़ते हुए, उलटवाँसी-साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। मुझे विश्वास है कि संत-साहित्य के अध्येताओं को संत-वाणी का अटपटा मर्म समझने में इस ग्रन्थ से अवश्य सहायता मिलेगी।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

डॉ० नगेन्द्र

अध्यक्ष—हिन्दी-अनुसन्धान परिषद्

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-६

दिनांक

१-१-१९६६

भूमिका-१

शब्द-प्रयोग का प्रयोजन अर्थ बोध कराना ही है। यदि शब्द किसी अर्थ का सम्प्रेषण नहीं करता तो उसका व्यवहार व्यर्थ ही समझना चाहिए। पतंजलिने शब्द की प्रयोजनीयता पर विचार करते हुए लिखा है—'अर्थ गत्यर्थः शब्द प्रयोगः अर्थं सम्प्रत्ययिष्य-तीति शब्दः प्रयुज्यते।' किन्तु हम देखते हैं कि जितने शब्दों का प्रयोग होता है वे सभी अर्थ बोध केलिए नहीं होते, कुछ निरर्थक—निस्प्रयोजन भी होते हैं। कभी-कभी अपने ज्ञान की सीमा या अल्पज्ञता के कारण भी हमें अर्थ बोध नहीं होता और हम शब्द को अर्थ हीन मान लेते हैं। अध्यात्म और रहस्य के क्षेत्र में इस प्रकार के कुछ प्रयोग सभी भाषाओं में उपलब्ध होते हैं जिनका गूढ़ या प्रच्छन्न आशय सर्वजन सुलभ नहीं होता, फलतः उनकी अर्थवत्ता पर सन्देह होना स्वाभाविक है। लोक-व्यवहार ही शब्दार्थ-ज्ञान का मूल साधन है। किन्तु ऐसे शब्दों का लोक-व्यवहार-पक्ष भी रहस्यावृत ही होता है। अतः अर्थबोध के अभाव में वृत्तिज्ञान, शक्तिज्ञान या शक्तिग्रह के साधन भी अक्षम सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु, फिर भी अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसी वाणी का प्रयोग होता है। अतएव इनकी रहस्य-भावना को समझे बिना इन शब्द-प्रयोगों को निरर्थक वाग्जाल नहीं कहा जा सकता। मध्यकालीन धर्म-साधना के क्षेत्र में, निर्गुण धारा का विचार-प्रवाह ऐसे विलक्षण शब्द-प्रयोगों को आत्मसात किये रहा, जो आपततः कोश, शास्त्र व्यवहार, ज्ञात पद-साहचर्य आदि की पकड़ से सर्वथा बाहर थे। उनके अर्थ-बोध में न तो विवरण का सहारा था और न व्यवहार का। हाँ, आप्त वाक्य के माध्यम से परम्परागत शब्दार्थ प्रतीति केलिए यत्र-तत्र दूरारूढ़ कल्पना संभव हो सकती थी किन्तु उसकी प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध ही मानी जाती रही।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मध्ययुगीन निर्गुण सन्त कवियों की वाणी में इसी रहस्यात्मकता का गहरा पुट देखने को मिलता है। यह वाणी केवल 'गूंगेकेरी शर्करा' ही नहीं वरन् शब्दार्थ सम्बन्ध रहित होने तथा लोक-व्यवहार विपरीक होने से भ्रामक भी बन गई थी। एक ओर तो संस्कृत के वैयाकरण शब्द के साधु प्रयोग पर इतना बल देते थे कि एक शब्दका सम्यक् सार्थक प्रयोग स्वर्गलोक में कामधेनु के समान होता है, और दूसरी ओर 'अर्थ परिज्ञानफलाहिवाक्' द्वारा वाणी की सार्थकता अर्थ-परिज्ञान में स्वीकार करते थे। निर्गुण सन्त कवियों ने जिस परम्परा का निर्वाह शब्द-प्रयोग की दिशा में किया वह साधारण व्यवहार से सर्वथा भिन्न विलक्षण एवं सर्वजन सुलभ न थी। कहने को देह-इन्द्रिय समूह (विखर) में उत्पन्न होने के कारण वह वाणी है तो वैखरी ही, किन्तु अर्थ-बोध के समय ऐसा अभास होता है जैसे इस वाणी में परा, पश्यन्ती और मध्यमा के भी अंश मिले हैं। वस्तुतः वैखरी वाणी को कुछ और समझने की भूल का कारण दुरूहता या अर्थ की कृच्छ्, साध्यता न होकर उसकी रहस्यमयी गोपनीयता है। एक दूसरा कारण यह भी है कि मध्ययुगीन सन्त कवियों ने शब्द को अक्षर ब्रह्मवत् मानकर शब्द की अर्थ सीमाओं का अपनी वैयक्तिक रहस्यानुभूति के आधार पर विस्तार कर लिया। उनके शब्द प्रयोगों में अन्तः संकल्प के सूक्ष्म तत्त्व समाविष्ट हो गये। इन विचित्र तत्त्वों के समावेश से अभिव्यक्ति जटिल बन गयी और उनकी गुह्यता अधिकाधिक सघन होती गयी। ऐसी गुह्य-कृच्छ्, उक्तियों को 'उलटबाँसी' शब्द से व्यवहृत किया जाने लगा। जो शब्द प्रयोक्ता को स्वर्गलोक में कामधेनु बनता था वही मर्त्यलोक में श्रोता या पाठक केलिए अर्थशून्य या

विपरीतार्थ बन बैठा। निस्सन्देह इस विपर्यास में प्रयोक्ता का अपराध नहीं देखा जा सकता— 'नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति' यदि सामने खड़े खम्भे को अंधा देख नहीं पाता तो खम्भे को दोषी नहीं कहा जायेगा।

कोश, व्याकरण और लोक-व्यवहार से 'उलटवाँसियों' का मर्म समझने का प्रयास बालबुद्धि की नादान चेष्टा मात्र है। उपनिषद् में कहा गया है—'हिरण्यमय (स्वर्णपात्र) पात्र से सत्य का मुख पिहित है। यदि सत्य का रहस्य समझना है तो पहले पात्र को अनावृत करो।' ठीक यही स्थिति उलटवाँसी का मर्म समझने की है। जिन गूढार्थ व्यंजक बिम्ब और प्रतीकों से उलटवाँसियों का पात्र आवृत है उसे समझने केलिए उनके आभ्यन्तर में पैठना होगा। दूसरे शब्दों में, निर्गुण साधना की शब्दावली ही नहीं साधना के मर्म को भी समझना अनिवार्य है।

उलटवाँसियों के विशाल भंडार को खोजने और उसमें से मोती-माणिक्य निकालने का अद्यावधि कोई विधिवत् प्रयास नहीं हुआ था। छिट-पुट प्रयत्नों से उलटवाँसी की ऊपरी जानकारी भले ही हो सके, उसके यथार्थ मर्म और हार्द को पा लेना असंभव है। उलटवाँसी की सुदीर्घ परम्परा के उद्घाटन के साथ ही निर्गुणधारा के मध्ययुगीन सन्तों की उलटवाँसियों का रहस्योद्घाटन संभव हो सकता है। हर्ष का विषय है कि श्री रमेश चन्द्र मिश्र ने मरजीवा की भाँति उलटवाँसियों के अथाह सागर में डुबकी लगाकर सार्थक मोती-माणिक्य पा लेने का स्तुत्य कार्य किया है। जिस समय इन्होंने शोध केलिए यह शुष्क, कठोर एवं गूढ़ विषय पसन्द किया था तब मैंने इनसे पूछा कि 'क्या आपने विषय की दुरूहता पर विचार कर लिया है ? क्या वाणी के प्रपंच को समझकर उसके अवितथ रूप को आप उद्घाटित कर सकेंगे ? मुझे स्मरण है कि मैंने इनसे कहा था कि उलटवाँसी ऋषियों की परम्परा का ही एक प्रयोग विशेष है। 'परोक्ष प्रियाः हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः।' देवतागण प्रत्यक्ष (गोचर विषय) से द्वेष करते हैं वे सदा परोक्ष का कथन करने में रुचि रखते हैं। अतः उलटवाँसियों पर काम करते समय देवों की इस नैसर्गिक प्रवृत्ति का ध्यान रखना। यदि गोचर विषयों तक अपने ज्ञान, बुद्धि, विवेक को परिमिति रखोगे तो परोक्ष (अप्रत्यक्ष, असहज) कथन को समझने का सुयोग तुम्हें प्राप्त न होगा।" मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त हर्ष है कि श्री रमेशचन्द्र मिश्र ने मेरे संकेत को भलीभाँति समझा और मध्ययुगीन हिन्दी सन्त कवियों की वाणी में व्याप्त परोक्ष तत्त्व को स्पष्ट किया। डॉ० मिश्र ने शब्दार्थ तक ही अपने अध्ययन को सीमित नहीं रखा है वरन् सांकेतिक (परोक्ष) प्रतीकार्थों को, ध्वनित सन्दर्भों को भी उद्घाटित करने में इनका प्रयास लक्षित होता है। उलटवाँसी-साहित्य की अपनी एक निजी विशिष्ट शैली है और इस साहित्य की अपनी विशिष्ट उपादेयता है; अतः उसी शैली और उसी उपादेयता के परिप्रेक्ष्य से यदि इस अनुशीलन को देखा गया तो पाठक को डॉ० मिश्र के अध्ययन एवं अध्यवसाय की सराहना करनी होगी। उलटवाँसी-साहित्य का ऐसा सर्वांगपूर्ण शास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण हिन्दी में इससे पहले नहीं हुआ था। इस शोधपरक अध्ययन से उलटवाँसी जैसे शुष्क एवं क्लिष्ट-कठिन विषय को भी पाठक साहित्य की भाँति पढ़ने में रुचि लेंगे। डॉ० मिश्र ऐसे सुन्दर, गम्भीर एवं गवेषणापूर्ण शोध-प्रबन्ध केलिए साधुवाद और बधाई के पात्र हैं।

दिनांक
१५-१२-६८

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
रीडर, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

भूमिका—२

कबीर तथा अन्य निर्गुण सन्तों की वाणी के सम्यक् अनुशीलन करते समय यह पद-पद पर प्रतीत होता है कि उसके पीछे भारत की अनेक युगों में व्याप्त प्राचीन दर्शन और साधना को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। जिन विचारों का कबीर खण्डन करते हैं, उनमें से बहुत-सी मान्यताओं को वे अन्यत्र ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर के द्वारा स्वयं अनुभूत सिद्धान्तों के साथ वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, महायानी एवं सहजयानी बौद्धों, नाथ-पन्थियों और सूफियों के विचार-सिद्धांत, परस्पर मिले हुए-से प्रकट हुए हैं। यदि हम सन्तों की वाणी के मर्म का अवगाहन करना चाहते हैं, तो हमें प्राचीन द्रष्टाओं के द्वारा प्रकटीकृत अनेक सत्यों का अनुभव प्राप्त कर लेना होगा। इनकी वाणी में क्लिष्टता या दुरुहता अनुभव होने का प्रधान कारण पूर्व परम्पराओं का संकेत रूप में ग्रहण है। सबसे अधिक कठिनाई इनके प्रतीकात्मक प्रयोगों और 'विपर्ययों' को समझाने में पड़ती है।

शब्द और अर्थ का कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। अर्थ का अर्थात् वस्तु का किसी शब्द के साथ जो संकेत-सा प्रतीत होता है, वह किसी समय मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति केलिए स्वीकार किया गया-सा लगता है। यदि किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ वास्तविक संकेत-ग्रह होता तो भाषा सीखने की आवश्यकता ही न पड़ती। किसी भाषा के शब्द को सुन कर तत्तत् वस्तु के साथ शब्द का सम्बन्ध श्रवण मात्र से हो जाया करता। शब्द सदा गतिशील रहते हैं। उनमें परिवर्जन, परिवर्तन या परिवर्द्धन की क्रियाएँ सतत चलती रहती हैं। एक युग में एक शब्द जिस संकेत केलिए प्रयुक्त होता है, दूसरे युग में भी वह शब्द उसी वस्तु की ओर संकेत करेगा, ऐसा नहीं होता। शब्द की क्षमताओं का, शक्तियों का मानव अपनी आवश्यकता के अनुसार विस्तार करता रहता है। शब्द प्रयोक्ता की आवश्यकता के अनुसार अनुवर्ती होकर चलते हैं। यही शब्दों के विकास का क्रम है।

लाक्षणिक प्रयोग कुछ दिनों के पश्चात् अपने प्रयोग की ताजगी खो देते हैं और रूढ़ रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं। फिर, नवीन लक्षणा का आरोप किया जाता है और कुछ काल केलिए प्रयोक्ताओं को एक नवीन स्फूर्ति मिल जाती है। प्रतीक के द्वारा अर्थ-ग्रहण की शैली भी मानव के पास है. लक्षणा में शब्द केन्द्र से कुछ हट कर या कभी-कभी एकदम हटकर अपने अर्थ का विस्तार या पुराने अर्थ का त्याग और नवीन अर्थ का ग्रहण करता है। प्रतीक की कल्पना करते समय प्रयोक्ता नवीन क्षेत्र का आविष्कार करना चाहता है। वह ऐसे संकेत सामने लाना चाहता है जो अभीष्ट अर्थ को स्पष्ट, गम्य और मूर्त कर सकें। वस्तु और प्रतीक का आंशिक योग रहता है। प्रतीक वस्तु के एक अंश को सामने लाता है, अन्यों को छोड़ देता है। प्रयोक्ता प्रतीक के द्वारा जिन्हें उभारता है वे अंश प्रयोजनीय होते हैं। प्रतीकों में एक नोंक, एक तीखापन, एक चुटीलापन होता है, जो श्रोता की ग्राहिका शक्ति को सीधा स्पर्श करता है और प्रयोक्ता को पूरा सन्तोष भी देता है। ये प्रतीक भी कभी-कभी घिस-पिट कर वाचक मात्र हो जाते हैं, क्योंकि इनकी व्यंजना की नोंक घिस जाती है। कुछ प्रतीक इतने समर्थ होते हैं कि युगों तक वाच्यता की दृष्टि से अपूर्ण होते हुए भी, व्यंजना-सिद्ध बने रहते हैं। ऐसे प्रयोग निर्गुण-सन्त-कवियों की वाणी में भरे पड़े हैं। ज्यों-ज्यों पाठक प्राचीन साधना से परिचित होता जाता है, त्यों-त्यों ये प्रतीक पाठक को ज्ञान-गंगा की गम्भीर धारा की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

'उलटवाँसी' एक प्रतीकात्मक शैली है। प्रत्येक उलटवाँसी केलिए दो प्रतीकों की आवश्यकता होती है और उन दोनों प्रतीकों का परस्पर विरुद्ध होना आवश्यक है। मोटे रूप में कहा जा सकता है कि उलटवाँसी दो तीखे सींगों की गऊ है, जिनकी नोंकें विपरीत दिशा में हैं। यह गऊ देखने में तो भयानक लगती है पर, मरखनी नहीं होती। इनका विरोधी तत्त्व क्रिया के द्वारा स्थापित किया जाता है। वाक्य की शक्ति संज्ञा और सर्वनामों में नहीं होती। शब्द-शक्ति प्रयोग से हमें समझना चाहिए कि हम क्रिया पर विचार कर रहे हैं। यदि वाक्य उपयुक्त क्रियाओं से प्रभावित न हुआ तो उद्देश्य-विधेय खोये हुए बालक के समान भटते-से रहेंगे। और वाक्य शक्ति-हीन शब्दों का समूह मात्र रहेगा। उलटवाँसियों की शक्ति प्रयुक्त क्रियाओं में ही है। उलटवाँसी के एक टुकड़े पर विचार करें—**'मंछी रूखां चढ़ि गई।'** मछली यदि पानी में तैरे तो कौन चकित होगा और पक्षी यदि उड़कर वृक्ष पर बैठ जाय तो उस पर आश्चर्य करने वाला उपहास का पात्र समझा जायेगा। पर, मछली के पेड़ पर चढ़ने की वात सुन कर कौन चकित न होगा! कहन की जान है 'चढ़ जाना।' मछली केलिए पेड़ पर चढ़ना असम्भव है। प्रतीक रूप में मछली गोरख-पन्थियों में प्रयुक्त हुई है। शरीर केलिए वृक्ष का रूपक हम साधना-साहित्य में अनेक बार पा चुके हैं। वृत्तियों का शब्दार्थ मछली नहीं है और न वृक्ष का शब्दार्थ मानव-शरीर-यष्टि। ये दोनों शब्द प्रतीक हैं। 'वृत्ति' केलिए मछली का प्रतीक-ग्रहण 'संसार' केलिए सागर प्रतीक के वाद हुआ होगा। इन दोनों प्रतीकों में चढ़ने के द्वारा विरोध स्थापित किया गया है। साधना-साहित्य से इस विरोध के रहस्य का उद्घाटन कर हम उस भूमि पर पहुँच जाते हैं, जहाँ विरोध का परिहार हो जाता है। वहाँ मछली के चढ़ने से तात्पर्य 'वृत्ति के ऊर्ध्वस्थ' होने से हैं अथवा सुषुम्ना-मार्ग से चलकर कुण्डलिनी के सहस्रारस्थ होने से है।

'उलटवाँसी' शब्द इस प्रकार की रचनाओं केलिए वर्तमान शताब्दी से पहले नहीं मिलता। 'उलटी चर्चा', 'उलटा वेद', 'उलटी बात' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की रचनाएँ वेदों, उपनिषदों, महाभारत, पुराण-साहित्य तथा प्रान्तीय-साधना-साहित्य और साधक-सन्तों की बानियों में बिखरी पड़ी हैं। यह कहना भ्रान्ति फैलाना होगा कि सन्तों ने जिन सत्यों का साक्षात्कार किया था उन्हें उलटी वाणी के अतिरिक्त किसी अन्य प्रणाली से अभिव्यक्त ही नहीं किया जा सकता। स्वयं कबीर की ऊँची-से-ऊँची अनुभूतियाँ सरल-सुबोध और ग्राह्य भाषा में अभिव्यक्ति हुई हैं। उलटवाँसियों में प्रायः सर्वविदित शक्तियों को कहा गया है, जो इस शैली के अपनाव के कारण दुरूह-सी जान पड़ती हैं। परम्परा से प्राप्त इस शैली को सन्त कवियों ने अपनाया है। कबीर आदि सन्तों की अधिकांश उलटी वातें दार्शनिक और हठयौगिक विचार-धारा के प्रकाश में सीधी और ग्राह्य हो जाती हैं।

इस प्रकार की रचनाओं का विवेचन-विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ था। आवश्यकता इस बात की थी कि परम्परा को स्पष्ट करते हुए इन रचनाओं की प्रकृति और पद्धति को सामने रखा जाए। बड़े सन्तोष का विषय है कि श्री रमेशचन्द्र मिश्र ने दर्शनों, साधनाओं और विविध शास्त्रों का आलोड़न और मनन करके हमारे सामने उन तथ्यों को रख दिया है, जिनके प्रकाश में ये रचनाएँ सुगम्य हो सकती हैं। इन्होंने समकक्ष शैलियों से उलटवाँसी रचना का अन्तर भी स्पष्ट किया है। इनका विवेचन सुविचारित है। न कथन में भ्रान्ति है और न निष्कर्ष में पक्षपात। ऐसे ग्रन्थ का अवश्य मान होगा, क्योंकि वह इसके योग्य है।

दिनांक
२२-१२-६८

पं० कृष्ण शङ्कर शुक्ल
हिन्दू कॉलिज, दिल्ली विश्वविद्यालय

उन्मुखीकरण

'कबीरदास की उलटी बानी । बरसै कम्बल भीजै पानी ।।' कबीर की इस उलटी वाणी को सुनकर मैं अपनी किशोरावस्था में विस्मय चकित हो गया था और इस पंक्ति का गम्भीर अभिप्राय न समझ कर अन्य युवकों के समान मैंने इसको ऊटपटाँग ही समझा था । मुझे जब 'कबीर ग्रंथावली' पढ़ने का सुयोग मिला तो इस प्रकार के अन्य असम्बद्ध पदांश भी मेरे सामने आये और मेरी उत्सुकता हास्य से जिज्ञासा की ओर बढ़ने लगी । सन् १९६० में एम० ए० (हिन्दी) परीक्षा में उत्तीर्ण होकर जब मैं शोध-कार्य पर परामर्श करने केलिए स्व० पं० भोलानाथ जी शर्मा (अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, बरेली-कॉलिज, बरेली) के समीप पहुँचा तो पूज्य पण्डित जी ने सन्तों की 'बानियों' के विषय में मेरी जिज्ञासा को प्रोत्साहित किया । मुझे दु:ख है कि पूज्य गुरुवर मेरे अध्ययन को शोध-प्रबन्ध के रूप में देखने केलिए आज इस लोक में नहीं हैं । सन्तोष इस बात का है कि मेरी जिज्ञासा और उनकी प्रेरणा आज एक निश्चित उपलब्धि के रूप में सम्पन्न हो सकी है । एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता पूर्वक मानस-प्रणाम समर्पित करता हूँ ।

सन् १९६२ में एम० ए० (संस्कृत) की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अनन्तर, हिन्दी और संस्कृत की समानान्तर पृष्ठभूमि को लेकर, मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी-शोध की पूर्व पीठिका केलिए प्रविष्ट हुआ । उस समय विभागाध्यक्ष आदरणीय डॉ० नगेन्द्र जी ने मेरे उलटवाँसी विषयक अध्ययन को स्वीकार किया और शोध केलिए मुझे 'हिन्दी-साहित्य में उलटवाँसियों का अध्ययन' शीर्षक विषय प्रदान कर दिया । इस गुरु गम्भीर विषय को लेकर मैं पूज्य पं० कृष्णशङ्कर जी शुक्ल के सत् परामर्शों से अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ । उन्होंने मुझे विषय की गरिमा बताई । उन्हीं की प्रेरणा से मैंने वेद, उपनिषद् श्रीमद्भागवत तथा संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों का पारायण किया । उनकी सूक्ष्म दृष्टि एवं नि:स्वार्थ सौहार्द्य मेरे लिए सदा मार्ग-दर्शक रहे हैं । अत: उनके प्रति हार्दिक आभारी हूँ ।

सन् १९६३ में उक्त विषय को लेकर विश्वविद्यालय की शोध-समिति ने मुझे शोध-कार्य करने की अनुमति प्रदान करदी और डॉ० ओम्प्रकाश जी मेरे निर्देशक नियुक्त हुए । आपने मुझे शोध-सम्बन्धी अध्ययन और उसके तत्सम्बन्धी लेखन में जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रेरणा दी है इस केलिए वे गुरुत्व के अधिकारी हैं । उनकी संश्लेषक वृत्ति से मेरी दृष्टि 'प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विवेचन से साहित्यिक उपलब्धि' इस पूर्व पक्ष पर केन्द्रित बनी रही है और उन्हीं की विश्लेषक बुद्धि ने अपनी नकारात्मक स्वीकारोक्ति से मुझे उलटवाँसी-शैली के अनिवार्य तत्वों की उपलब्धि कराई है । फलस्वरूप विवेच्य शैली एक स्वतन्त्र-शैली के रूप में प्रतिष्ठा पासकी है । इस केलिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखन-काल में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से उलटवाँसी-शैली की अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्ति कराने का निर्देशन मिला है तथा आचार्य नगेन्द्र जी से मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन एवं सहायता प्राप्त हुई है, जो मेरे प्रयत्न का भूषण बन गई है। इस केलिए मैं दोनों ही आचार्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। विद्वान् समीक्षक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने 'परोक्षप्रियाहि देव: प्रत्यक्ष द्विष:' बताकर शैली की प्राचीनता एवं मौलिकता की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित किया था। वरिष्ठ प्राध्यापक पूज्य पं० कैलाशचन्द्र जी मिश्र के प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है, जिनके गम्भीर ज्ञान, चिन्तन एवं सत्परामर्शों ने मुझे सहायता प्रदान की है। मराठी-विभाग के रीडर डॉ० एम० ए० करन्दीकर तथा दर्शन-विभाग के डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने भारुड गीत-शैली से मेरा परिचय कराया था और तत्सम्बन्धी लेख एवं प्रसंग मेरे लिए सुलभ किये थे, श्री ज़िया अहमद साहब (डायरेक्टर बाइलिंग्वल डिक्शनरी) से 'इशारियत' अथवा रम्ज़ीयत शैली को समझने एवं तत्सम्बन्धी अरबी फ़ारसी के उद्धरणों को प्राप्त करने में मुझे सहायता मिली है। एतदर्थ मैं उक्त सभी विद्वानों का भूरिश: कृतज्ञ हूँ।

इनके अतिरिक्त श्री सिद्धगुफा संवाई, आगरा; स्वामी बाग, दयालबाग, आगरा तथा आर्ष गुरुकुल, एटा आदि स्थानों के जिन साधु सन्यासियों एवं साधकों से उलटवाँसी-पदों को समझने में मुझे जो सहायता मिली है, इसकेलिए वे सभी श्रद्धा के पात्र हैं। अन्त में सन्त-साहित्य के विशेषज्ञ एवं उलटवाँसी शैली के उन सभी मर्मी विद्वानों के प्रति भी नतमस्तक हूँ, जिन्होंने मुझे अपना अमूल्य समय देकर अपने विचारों और सुझावों से कृतार्थ किया है।

शोध-प्रबन्ध का शीर्षक 'हिन्दी साहित्य में उलटवाँसियों का अध्ययन' अधिक लम्बा होने से उच्चारण सुलभ नहीं था। अत: मैंने विचार कर 'उलटवाँसी-साहित्य' शीर्षक नामकरण किया, क्योंकि उलटवाँसीशैली तो हिन्दी-साहित्य की ही शैली है। इस प्रबन्ध के अन्त में उलटवाँसी-पदों का संग्रह देने की उत्कट इच्छा रहते हुए भी कलेवर की सीमा-वृद्धि के कारण वैसा नहीं कर सका। पद-संग्रह का प्रकाशन इस पुस्तक के दूसरे भाग 'कबीर के सौ उलटवाँसी-पद' के साथ सम्भव हो सकेगा। इस विवशता केलिए क्षम्य समझा जाऊँ।

निर्गुण सन्त-साहित्य की भाव-धारा में बहुविधि बिम्ब-प्रतीकों की योजना है जो अग्रिम अध्ययन, चिन्तन-मनन केलिए 'निर्गुण सन्त-साहित्य में—बिम्ब, प्रतीक और रूपक-योजना' के रूप में मेरी चित्त-वृत्ति का आकर्षण बना हुआ है। यह गुरुतर कार्य मुझ जैसे अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति से सम्पन्न हो जाय, इसकेलिए मैं गुरुवर्ग के आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ।

—रमेश चन्द्र मिश्र

मकर संक्रान्ति
विक्रम संवत् २०२५
(१४ जनवरी, १९६९)

प्रस्तावना

ऋग्वेद से ही जन्म लेकर लौकिक संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्रमुख तीर्थों का स्पर्श करती हुई, नाम-रूप से परिवर्तित होती हुई, साधनाश्रयी, प्रतीक जीवी, विरोध गर्भिता वाणी उलटवाँसी या 'उलटी चर्चा' के रूप में गोरखनाथ के साहित्य में पल्लवित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आगे चल कर कबीर ने उसे मध्य युगीन हिन्दी-साहित्य में प्रचारित किया। फलतः निर्गुण सन्त इस शैली को अपनी अभिव्यक्ति का एक विशेष अधिकार-सा मान कर चलने लगे। उलटवाँसी-साहित्य नाम-रूप से भिन्न होते हुए भी एक सुदृढ़ परम्परा का स्थिर विकास है। इस रूप में यह एक निश्चित एवं प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति-शैली है। इस शैली के चमत्कार को प्रयोक्ता एवं आलोचक दोनों वर्गों ने ही स्वीकार किया है। पर, आलोचकों के बीच इसको सदा प्रतिष्ठा अथवा स्वीकृति मिलती रही हो, ऐसा नहीं पाया जाता। प्रयोक्ता सन्तों ने उलटवाँसी-पदों की व्याख्या की ओर ध्यान नहीं दिया। हाँ, सन्त-सम्प्रदायों ने यह कार्य वर्णन के द्वारा सम्पन्न किया है, वैज्ञानिक व्याख्या के रूप में नहीं। आलोचकों में से कुछ तो उलटवाँसी को 'बेसिर पैर की बात' समझते रहे थे और कुछ इसको साधना से अत्यन्त सम्बद्ध कर देना चाहते थे। इसीके फलस्वरूप इतनी प्राचीन, इतनी प्रतिष्ठित और इतनी प्रचलित होते हुए भी उलटवाँसी शैली का क्रमबद्ध रूप में विवेचन-विश्लेषण नहीं हो सका और न किसी शोधार्थी की दृष्टि इस शोध-विषय की ओर उन्मुख हो सकी। संयोग की ही बात है कि मेरी रुचि के अनुसार यह विषय मुझे मिला।

उलटवाँसी शैली के विचारक विद्वान् प्रायः वे सभी हैं, जिन्होंने सिद्ध-नाथों के साहित्य का अध्ययन किया है। सिद्ध-नाथों के साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान् महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री; डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची; महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; पं० गोपीनाथ कविराज; डॉ० मोहनसिंह; आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; डॉ० शशिभूषण दास गुप्त; डॉ० धर्मवीर भारती और डॉ० रांगेयराघव आदि ने अपने मुख्य विषय के साथ-साथ इस असम्बद्ध अभिव्यक्ति शैली पर भी प्रासांगिक रूप से विचार किया है।

हिन्दी-सन्त-साहित्य के आलोचकों ने अपने शोध-प्रबन्धों अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थों में मुख्य विषय के साथ इस शैली का संक्षिप्त विवरण दिया है। इनमें प्रमुख हैं डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' (शोध प्रबन्ध); आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—'कबीर' तथा 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'; श्री परशुराम चतुर्वेदी—'कबीर साहित्य की परख'; डॉ० रामकुमार वर्मा—'कबीर का रहस्यवाद'; डॉ० भगीरथ मिश्र—

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखन-काल में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से उलटवाँसी-शैली की अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से मुक्ति कराने का निर्देशन मिला है तथा आचार्य नगेन्द्र जी से मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन एवं सहायता प्राप्त हुई है, जो मेरे प्रयत्न का भूषण बन गई है। इस केलिए मैं दोनों ही आचार्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। विद्वान् समीक्षक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने 'परोक्षप्रियाहि देव: प्रत्यक्ष द्विष:' बताकर शैली की प्राचीनता एवं मौलिकता की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित किया था। वरिष्ठ प्राध्यापक पूज्य पं० कैलाशचन्द्र जी मिश्र के प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा पुनीत कर्त्तव्य है, जिनके गम्भीर ज्ञान, चिन्तन एवं सत्परामर्शों ने मुझे सहायता प्रदान की है। मराठी-विभाग के रीडर डॉ० एम० ए० करन्दीकर तथा दर्शन-विभाग के डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने भारुड गीत-शैली से मेरा परिचय कराया था और तत्सम्बन्धी लेख एवं प्रसंग मेरे लिए सुलभ किये थे, श्री ज़िया अहमद साहब (डायरेक्टर बाइलिंग्वल डिक्शनरी) से 'इशारियत' अथवा रम्ज़ीयत शैली को समझने एवं तत्सम्बन्धी अरबी फ़ारसी के उद्धरणों को प्राप्त करने में मुझे सहायता मिली है। एतदर्थ मैं उक्त सभी विद्वानों का भूरिश: कृतज्ञ हूँ।

इनके अतिरिक्त श्री सिद्धगुफा संवाई, आगरा; स्वामी बाग, दयालबाग, आगरा तथा आर्ष गुरुकुल, एटा आदि स्थानों के जिन साधु सन्यासियों एवं साधकों से उलटवाँसी-पदों को समझने में मुझे जो सहायता मिली है, इसकेलिए वे सभी श्रद्धा के पात्र हैं। अन्त में सन्त-साहित्य के विशेषज्ञ एवं उलटवाँसी शैली के उन सभी मर्मी विद्वानों के प्रति भी नतमस्तक हूँ, जिन्होंने मुझे अपना अमूल्य समय देकर अपने विचारों और सुझावों से कृतार्थ किया है।

शोध-प्रबन्ध का शीर्षक 'हिन्दी साहित्य में उलटवाँसियों का अध्ययन' अधिक लम्बा होने से उच्चारण सुलभ नहीं था। अत: मैंने विचार कर 'उलटवाँसी-साहित्य' शीर्षक नामकरण किया, क्योंकि उलटवाँसीशैली तो हिन्दी-साहित्य की ही शैली है। इस प्रबन्ध के अन्त में उलटवाँसी-पदों का संग्रह देने की उत्कट इच्छा रहते हुए भी कलेवर की सीमा-वृद्धि के कारण वैसा नहीं कर सका। पद-संग्रह का प्रकाशन इस पुस्तक के दूसरे भाग 'कबीर के सौ उलटवाँसी-पद' के साथ सम्भव हो सकेगा। इस विवशता केलिए क्षम्य समझा जाऊँ।

निर्गुण सन्त-साहित्य की भाव-धारा में बहुविधि बिम्ब-प्रतीकों की योजना है जो अग्रिम अध्ययन, चिन्तन-मनन केलिए 'निर्गुण सन्त-साहित्य में—बिम्ब, प्रतीक और रूपक-योजना' के रूप में मेरी चित्त-वृत्ति का आकर्षण बना हुआ है। यह गुरुतर कार्य मुझ जैसे अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति से सम्पन्न हो जाय, इसकेलिए मैं गुरुवर्ग के आशीर्वाद का आकांक्षी हूँ।

—रमेश चन्द्र मिश्र

मकर संक्रान्ति
विक्रम संवत् २०२५
(१४ जनवरी, १९६९)

प्रस्तावना

ऋग्वेद से ही जन्म लेकर लौकिक संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्रमुख तीर्थों का स्पर्श करती हुई, नाम-रूप से परिवर्तित होती हुई, साधनाश्रयी, प्रतीक जीवी, विरोध गर्भिता वाणी उलटबाँसी या 'उलटी चर्चा' के रूप में गोरखनाथ के साहित्य में पल्लवित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आगे चल कर कबीर ने उसे मध्य युगीन हिन्दी-साहित्य में प्रचारित किया। फलतः निर्गुण सन्त इस शैली को अपनी अभिव्यक्ति का एक विशेष अधिकार-सा मान कर चलने लगे। उलटबाँसी-साहित्य नाम-रूप से भिन्न होते हुए भी एक सुदृढ़ परम्परा का स्थिर विकास है। इस रूप में यह एक निश्चित एवं प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति-शैली है। इस शैली के चमत्कार को प्रयोक्ता एवं आलोचक दोनों वर्गों ने ही स्वीकार किया है। पर, आलोचकों के बीच इसको सदा प्रतिष्ठा अथवा स्वीकृति मिलती रही हो, ऐसा नहीं पाया जाता। प्रयोक्ता सन्तों ने उलटबाँसी-पदों की व्याख्या की ओर ध्यान नहीं दिया। हाँ, सन्त-सम्प्रदायों ने यह कार्य वर्णन के द्वारा सम्पन्न किया है, वैज्ञानिक व्याख्या के रूप में नहीं। आलोचकों में से कुछ तो उलटबाँसी को 'बेसिर पैर की बात' समझते रहे थे और कुछ इसको साधना से अत्यन्त सम्बद्ध कर देना चाहते थे। इसीके फलस्वरूप इतनी प्राचीन, इतनी प्रतिष्ठित और इतनी प्रचलित होते हुए भी उलटबाँसी शैली का क्रमबद्ध रूप में विवेचन-विश्लेषण नहीं हो सका और न किसी शोधार्थी की दृष्टि इस शोध-विषय की ओर उन्मुख हो सकी। संयोग की ही बात है कि मेरी रुचि के अनुसार यह विषय मुझे मिला।

उलटबाँसी शैली के विचारक विद्वान् प्रायः वे सभी हैं, जिन्होंने सिद्ध-नाथों के साहित्य का अध्ययन किया है। सिद्ध-नाथों के साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान् महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री; डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची; महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; पं० गोपीनाथ कविराज; डॉ० मोहनसिंह; आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; डॉ० शशिभूषण दास गुप्त; डॉ० धर्मवीर भारती और डॉ० रांगेयराघव आदि ने अपने मुख्य विषय के साथ-साथ इस असम्बद्ध अभिव्यक्ति शैली पर भी प्रासांगिक रूप से विचार किया है।

हिन्दी-सन्त-साहित्य के आलोचकों ने अपने शोध-प्रबन्धों अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थों में मुख्य विषय के साथ इस शैली का संक्षिप्त विवरण दिया है। इनमें प्रमुख हैं डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' (शोध प्रबन्ध); आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—'कबीर' तथा 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'; श्री परशुराम चतुर्वेदी—'कबीर साहित्य की परख'; डॉ० रामकुमार वर्मा—'कबीर का रहस्यवाद'; डॉ० भगीरथ मिश्र—

'निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरंजनी'; डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—'हिन्दी-सन्त-साहित्य' (शोध प्रबन्ध); डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल—'सन्त-साहित्य' (शोध-प्रबन्ध); डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'कबीर-एक विवेचन'; डॉ० ओम्प्रकाश—'हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य' (शोध-प्रबन्ध); डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत 'कबीर की विचार-धारा' (शोध-प्रबन्ध); डॉ० रामधन शर्मा—'कूट-काव्य-एक अध्ययन' (शोध-प्रबन्ध); प्रो० आर० डी० रानाडे—'पाथ वे-टु गॉड इन हिन्दी लिटरेचर' आदि विद्वान् और उनके विवेचनात्मक कार्य। उक्त आलोचना ग्रन्थों में 'उलटवाँसी' का विवेचन प्रासांगिक रूप में होने के कारण अल्प ही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; डॉ० श्यामसुन्दर दास; डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; डॉ० रामकुमार वर्मा; आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी; श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि प्रतिष्ठित विद्वानों ने ऐतिहासिक प्रसंग में नाम रूपान्तर से 'उलटवाँसी' की चर्चा की है। इसी प्रकार से हिन्दी के कोश ग्रन्थ उलटवाँसी का संस्पर्श करते हैं। वक्रोक्ति शैली का विवेचन करते हुए आचार्य नगेन्द्र ने सन्तों की 'उलटी' और 'सीधी' दोनों वाणियों में काव्य-शास्त्रीय व्यंग्य एवं वक्रता के अध्ययन का संकेत दिया है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि उलटवाँसी शैली का अभी तक न तो विस्तृत अध्ययन हुआ था और न इसके काव्य-सौन्दर्य को परखने की पर्याप्त चेष्टा ही किसी विद्वान् ने की है। इसमें सन्देह नहीं कि इस शैली का चमत्कार-सौन्दर्य आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सका है। पर, 'उलटवाँसी' की समग्रता की दृष्टि से आलोचकों का प्रयत्न, कबीर अथवा किसी अन्य सन्त की विवेचना के प्रसंग में ही, एक विशेष सीमा में रहा है। उलटवाँसी शैली की व्यवस्था, स्वतन्त्र रूप से विवेचन के अभाव में न हो सकी थी। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उसी दिशा में एक विशेष प्रयत्न है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में व्यवस्थित है। यदि इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय को शरीर कहा जाय तो चतुर्थ अध्याय को इसका प्राण कह सकते हैं। शेष अध्याय वस्त्र के रूप में शरीर रूप प्रथम अध्याय की ही साज सज्जा करते हैं। इस अध्याय के विषय-प्रवेश में यह स्पष्ट कर दिया है कि विचार अथवा भाव की अभिव्यक्ति केलिए उलटवाँसी शैली की आवश्यकता क्यों हुई? साधनात्मक अनुभूति की सूक्ष्मता के कारण वाणी को, ऋजु-मार्ग का परित्याग करके, वक्र-मार्ग का सहारा लेना पड़ता है। इसी अध्याय में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इस शैली के प्रयोक्ता सन्तों ने 'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग न करते हुए भी इस शब्द के समानार्थी 'उलटावेद', 'उलटीबात', 'उलटा ख्याल', 'उलटावती', 'उलटामती' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। 'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग बीसवीं शताब्दी की देन प्रतीत होता है जो अपने विषय एवं कथन की विशेष पद्धति केलिए सन्त-परम्परा में अथवा आलोचकों के द्वारा प्रचलित हो गया होगा। इसी अध्याय में उलटवाँसी शैली का स्वरूप निर्धारित करते हुए जो अनिवार्य तत्त्व निश्चित किये हैं वे अनेक प्रकार के अवरोधक प्रश्नों, शंकाओं के समाधान के परिणाम हैं। ये तत्त्व और इस शैली की सामान्य विशेषताएँ

मिल कर इस शैली को अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त करते हैं। 'गूढ़ तत्व नहिं साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।' ('रामचरित मानस' बाल काण्ड) परन्तु, यह गूढ़तत्त्व विशेष सांकेतिक भाषा में ही अभिव्यक्त हो पाता है। यह प्रवृत्ति ही उलटवाँसी शैली के प्रयोजन का मूलाधार है। उलटवाँसी-पदों का वर्गीकरण विवेच्य सामग्री को दृष्टि में रखते हुए किया गया है।

द्वितीय अध्याय में उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा देते हुए वैदिक-युग, धार्मिक तथा मध्यकालीन संस्कृति युग; परवर्ती संस्कृत-साहित्य तथा पालि-प्राकृत काल की रचनाओं को दृष्टि-पथ में रखा गया है। फलतः तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों, उदाहरणों को देते हुए, दृष्टि प्रमुखतः विषय पर ही केन्द्रित रही है। साथ ही शैली-प्रयोग के अवरोधक तत्त्वों की ओर भी संकेत दिए गए हैं। प्रतीक-संकेतों के प्रयोग केलिए तन्त्र-युग समृद्ध रहा है, जिसका प्रभाव परवर्ती सिद्ध-नाथों के साहित्य में सम्यक् रूप से देखने को मिलता है; यह बात इस अध्याय के अन्त में बता दी गई है।

तृतीय अध्याय को सन्तों के उलटवाँसी प्रयोगों केलिए पूर्व पीठिका कहा जा सकता है। इसमें सहजयानी-सिद्धों की कुछ साधनाओं की ओर संकेत मात्र हैं। इन साधनाओं की विशेष प्रकृति-प्रवृत्ति के कारण वे सांकेतिक संध्या-भाषा-शैली का प्रयोग किया करते थे। चौरासी सिद्धों की परम्परा के दस प्रमुख सिद्धों के उलटवाँसी मूलक प्रयोग (सांकेतिक व्याख्या सहित) दिये हैं निश्चय ही सिद्धों के ये प्रयोग उटलवाँसीशैली के परवर्ती प्रयोक्ताओं केलिए आदि रूप हैं। चौरासी सिद्धों के समान ही नव नाथों की परम्परा प्रसिद्ध है; परन्तु, गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथों की प्रामाणिक रचनाओं की उपलब्धि सम्भव न हो सकने के कारण उनके सम्यक् उदाहरण दे सकना सम्भव नहीं हो सका है। गोरखनाथ के उलटवाँसी-पदों के संग्रह का आधार 'गोरख-बानी' (सम्पादक डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) है। शेष नाथों की रचनाओं के कुछ उदाहरण 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ' (सम्पादक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) नामक संग्रह से दिए गए हैं। इस अध्याय के अन्त में यह भी संकेत कर दिया गया है कि सन्तों के उलटवाँसी शैली के प्रयोगों के पूर्व ही सूफी-विचार-धारा का योग भी हुआ था, जिसका प्रभाव उलटवाँसी मूलक रूपक-बन्धों में यत्र-तत्र देखने को मिल जाता है।

चतुर्थ अध्याय प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्राण है। इसमें साँकेतिक प्रतीकों का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। मूलरूप में उलटवाँसी-पदों का अध्ययन प्रतीकों का ही अध्ययन है। वैसे तो, ह्वाइट हैड के शब्दों में ('दी वर्ड इज ए सिम्बल एण्ड इट्स मीनिंग इज कन्स्टीट्यूटड बाइ दि आइडियाज एण्ड इमोशन्स, ह्विच इट रेजेज इन दि माइण्ड आफ दि हीअरर') 'शब्द' स्वयं एक प्रतीक हैं, परन्तु 'प्रतीयते प्रत्येति वा इति' तथा 'विलोम : प्रतिकूले' के अर्थ में, 'प्रतीक' शब्द 'हलायुध कोश' का साक्ष्य लिए हुए है। साहित्य में, प्रतीकों का प्रयोग प्रयोक्ता की विशेष मानसिक प्रक्रिया को ध्वनित करता है।

उलटवाँसियों में प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक सामान्य जीवन अथवा विस्तृत प्रकृति-क्षेत्र से आये हैं। इनके प्रयोग के पीछे प्रयोक्ता की मानसिक दशा तथा प्रयुक्त प्रतीकों में

किसी (क्रिया, प्रकृति, धर्म आदि) साम्य विशेष की ध्वनि अन्तर्निहित है। अथवा विधि-विरोध की योजना के आधार पर प्रयुक्त प्रतीक किसी दुर्लभ या कठिन अवस्था की व्यंजना करते हैं, लोक असिद्ध रूपकों, उपमानों तथा प्रतीकों में उलटापन अथवा अटपटापन स्वतःसिद्ध रहता है। प्रतीक में बाह्य एकरूपता कम रहती है उपमान में अधिक। प्रतीक में सान्निध्य से अधिक सारूप्य की भावना प्रखर रहती हैं। इस प्रकार के अध्ययन केलिए यह अध्याय महत्त्व का है। उलटवाँसी-पदों में 'मन' केलिए सर्वाधिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत रूप शरीरांगों, अवयवों अथवा साधना की विशेष अवस्थाओं केलिए प्रतीकों का विस्तृत संग्रह दिया गया है। एक ही अंग अथवा अवयव केलिए कितने प्रतीकों का प्रयोग उलट-वाँसी-पदों में मिलता है, इसका संक्षिप्त विवरण इस अध्याय में प्रस्तुत किया है। इन प्रतीकों का प्रयोग क्यों हुआ है? इनके पीछे प्रयोक्ता की क्या मानसिक धारणा रही है? इन प्रश्नों केलिए अभी भी यह अध्याय मुझे चिन्तन-मनन केलिए प्रेरित कर रहा है। उदाहरण केलिए 'बैल बियाइ गाइ भइ बाँझ' में 'मन' को 'बैल' कहा है। इसका अर्थ करते समय, कर्मों का बोझ ढोने वाले भार-वाही बैल के रूप में 'वहिर्मुखी मन' ऐसा अर्थ सुलभ होसका है। परन्तु 'बैल चढ्यौ शंकर के ऊपर' इस कथन में सत्व पुष्ट मन की ओर संकेत मिलता है। बैल को वृष या वृषभ भी कहते हैं जो सत्व को अधिष्ठित करके विशेष शक्ति से पुष्ट होता है। ज न रूप से मेघ इसी सत्व की वर्षा करता है, इसलिए मेघ को भी 'वृषभ' कहते हैं। भगवान् शिव का वाहन वृषभ शक्ति का ही द्योतक है। शिवत्व की भावना सत्व पर आधारित रहती है। इसीप्रकार अन्तर्मुखी होकर मन जब सत्व या शक्ति से पुष्ट हो जाता है तो अनेक सुखों की वर्षा करता है। सन्तों की प्रतीक-योजना में इसप्रकार की प्रवृत्ति मिलना स्वाभाविक है। पर शोध-प्रबन्ध की सीमाओं को देखते हुए इस प्रकार का विवेचन करने का अवसर मुझे नहीं मिल सका है।

पंचम अध्याय उलटवाँसी-पदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली से सम्बन्धित है। इन पारिभाषिक शब्दों के परिचय में योगशास्त्रीय अथवा साम्प्रदायिक परम्परा को आधार बनाया गया है। इसकेलिए हठयोग प्रदीपिका, शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष-सिद्धान्त संग्रह आदि ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित होकर लिखी गई अनेक टीकाओं का उपयोग किया गया है। इन पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में सन्त-बानियों की प्रायोगिक रूढ़ि विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई है। अनेक सांकेतिक प्रतीक, अपनी प्रयोग-रूढ़ि के कारण, पारिभाषिक शब्दों की सीमा में पहुँच गए हैं। ऐसे कुछ शब्दों का विवेचन चतुर्थ तथा पंचम दोनों ही अध्यायों में हुआ हैं।

षष्ठ अध्याय हिन्दी-सन्त-काव्य के प्रयोक्ता सन्तों के उलटवाँसी-प्रयोगों से संबन्धित है। इसमें सन्तों के ऐतिहासिक क्रम को प्रमुखता दी गई है। सन्तों के प्रयोग ही 'उलट-वाँसी' के शास्त्रीय पक्ष का मूलाधार हैं। इस अध्याय में कबीर के उलटवाँसी-पदों की प्रकृति-प्रवृत्ति और मूल्यांकन तथा कुछ उलटवाँसी-पदों की सांकेतिक व्याख्या मुख्य रूप से दी गई है। शेष सन्तों में सुन्दरदास, पलटूसाहब, तुलसी साहब (हाथरस वाले) के प्रयोगों को, मात्राधिक्य के कारण, प्रमुखता मिली है। अन्य सन्तों के एक-एक, दो-दो उदाहरण

देकर उनकी प्रयोग सम्बन्धी विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है। इन सन्तों का क्रम उनके आविर्भाव-काल के आधार पर ही रखा गया है। शैली-प्रयोग की दृष्टि से सन्त कबीर जो विकास-रेखा खींच सके हैं, उससे सभी परवर्ती सन्त प्रभावित हुए हैं। पर, व्यक्तित्व एवं भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ अन्य सन्तों के उलटवाँसी-पदों में भी देखने को मिलती हैं। जिन सन्तों के उलटवाँसी-पदों का उपयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में नहीं हो सका है, इसका मुख्य कारण या तो मेरी जानकारी की सीमा है, अथवा उन सन्तों के उलटवाँसी-प्रयोगों की अत्यल्पता है।

सप्तम अध्याय में उलटवाँसी-पदों को लेकर काव्यशास्त्रीय सीमा में प्रवेश किया है। इसका मुख्य आधार मेरी यह धारणा कही जा सकती है, जिसके बल पर मैं यह सोचता हूँ कि, 'भाव की भूमिका में पहुँचते ही वाणी में कवित्व आ जाता है और अनुभूति की प्रखरता (सच्चाई) में कला स्वयं ही प्रवेश कर जाती है।' विरोध मूलक एवं सादृश्य गर्भ अलंकारों की अपनी विशेष प्रकृति के कारण, उलटवाँसी-पदों में इनका (काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मता के बिना ही) सहज प्रयोग मिल जाता है। 'रस-भूमि' पृथक् से कोई दशा विशेष नहीं है; प्रत्युत अनुभूति की ही एक विशेष अवस्था है। इस दृष्टि से सन्तों की वाणी की मूल प्रेरणा 'शम' स्थायी भाव पूर्वक शान्त रसोन्मुखी रही है। इस शैली के रूप या कलेवर के विशेष आग्रह के कारण अद्भुत, शृंगार, हास्यादि रसों एवं 'भावों' की सीमा का स्पर्श हुआ है। उलटवाँसियों का शब्द-व्यापार अपनी अभिधा से ही व्यंजना-क्षेत्र में प्रवेश करता हुआ दिखाई देता है।

सप्तम अध्याय के अन्त में कूट-वर्ग की अन्य शैलियों का संक्षिप्त परिचय और उनसे उलटवाँसी शैली की तुलना करके साम्य और वैषम्य बताते हुए विवेच्य-शैली का स्वतन्त्र अस्तित्व निर्धारित हुआ है। यही प्रस्तुत प्रबन्ध के रूप में अपना सीमित प्रयास है।

मैंने अपने कथन की पुष्टि केलिए सन्तों की उलटवाँसियों के विवेचन के सम्बन्ध में (कबीर और गोरखनाथ की वाणियों को छोड़ कर) बेलविडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित सन्तों की बानियों का ही उपयोग किया है। सन्तों की इन प्रकाशित बानियों का उल्लेख विशिष्ट विद्वानों और आलोचकों ने किया है, यही इन बानियों के प्रामाणिक होने का मुख्य आधार है। कबीर की उलटवाँसियों केलिए मेरे अध्ययन का आधार 'कबीर ग्रन्थावली' (सम्पादक श्यामसुन्दर दास), 'कबीर बीजक' (सम्पादक विचारदास शास्त्री) ये दो ग्रन्थ रहे हैं। सुन्दरदास के उलटवाँसी-पदों केलिए 'सुन्दर ग्रन्थावली' (दो खण्ड) (राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित) मेरे अध्ययन का आधार रही है। गोरखनाथ की उलटवाँसियों के लिए 'गोरख-बानी' (सम्पादक डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल); निरंजनी सम्प्रदाय के सन्तों की उलटवाँसियों केलिए 'निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरंजनी' (सम्पादक डॉ० भगीरथ मिश्र); सन्त शिवदयाल के उलटवाँसी-पदों केलिए 'सार वचन छन्द-बन्द' (दूसरा भाग) (राधा स्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग, आगरा) और स्वामी शंकरदास जी के उलटवाँसी-पदों केलिए 'ब्रह्म ज्ञान प्रकाश' (देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली) आदि संग्रह-ग्रन्थ मेरे अध्ययन के मुख्य आधार रहे हैं।

अन्त में परिशिष्ट एक में 'उलटवाँसी शैली और नवलेखन' सम्बन्धी लेख से आज की लेखन सम्बन्धी अभिव्यक्ति की समस्या पर अप्रसंग वश विचार किया है। प्रखर अनुभूति की अभिव्यक्ति सम्बन्धी समस्या जितनी आज के लेखक के सम्मुख रहती है। लगभग वैसी ही परिस्थिति में साधना सम्बन्धी अथवा वैचारिक दशा की अभिव्यक्ति केलिए ही प्रयोक्ता सन्तों ने विरोध गर्भीता और प्रतीकजीवी शैली उटलवाँसी का सहारा लिया है। परिशिष्ट दो के रूप में सहायक पुस्तकों की, प्रकाशन तिथियों सहित, विस्तृत सूची दी गई है। ये प्रकाशित तिथियाँ उद्धृत पुस्तकों की प्रकाशन तिथियों की सूचक हैं जिन पुस्तकों के सम्मुख प्रकाशन तिथियाँ नही है वे या तो प्रकाशित पुस्तक में ही अंकित नहीं हैं, या फिर मेरे प्रमाद को सूचित करती हैं।

—रमेश चन्द्र मिश्र

अनुक्रम

प्रतीक-योजना—आधार तथा विश्लेषण

उलटवाँसियों में पारिभाषिक शब्दावली

प्रयुक्त लाघव रूपों की सूची

आब्स० रि० क०	='आब्सक्यौर रिलीजस कल्ट्स'
क० ग्रं०; क० ग्रंथा०	='कबीर ग्रंथावली'
क० बी०; बीजक	='कबीर बीजक'
गुलाल० बानी०; गु० बा०	='गुलाल साहेब की बानी'
गो० बा०	='गोरख बानी'
च० बा०; चरन० बा०	='चरनदास जी की बानी'
चर्यागी० को० उपो०	='चर्यागीतिकोष उपोद्घात'
तु० शब्दा०	='तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली
दा० बा०; दा० द० की बानी	='दादू दयाल की बानी'
ध० ध० शब्दा०; धनी धरम० शब्दा०	='धनी धरमदास जी की शब्दावली'
नि० सं०	='निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरंजनी
प० बा०; प० बानी०; पलटू बानी	='पलटू साहेब की बानी'
पृ० ; पृ० सं०	='पृष्ठ; पृष्ठ संख्या'
बु० शब्द०; बुल्ला० शब्द०	='बुल्ला साहेब का शब्दसार'
भी० बा०	='भीखा साहेब की बानी'
मौ० वि०	='मौनियर विलियम्स संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी'
या० रत्ना०	='यारी साहब की रत्नावली'
रैदास बानी	='रैदास जी की बानी'
सा० व० छं० वं०	='सार वचन छंद बंद' (दूसरा भाग)
सु० ग्रं०	='सुन्दर ग्रंथावली'
ह० प्र०	='हठयोग प्रदीपिका'
हि० का० नि० सं०	='हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय'

प्रथम अध्याय

उलटवाँसी का स्वरूप

विषय प्रवेश : साधनात्मक अभिव्यक्ति की समस्या

'शब्द' अक्षर ब्रह्म है। यह अनादि और अनन्त है तथा इसकी, 'अर्थ' अर्थात् पंच तत्त्वात्मक रूप में, अभिव्यक्ति ही यह निखिल जगत् है।[1] अतः सम्पूर्ण जगत् वाङ्मय है अर्थात् 'शब्द' का ही विकास है। महाकवि भवभूति ने वाग्देवता को 'आत्मा की कला'[2] कहा है। इसी के प्रकाश से समूचा ब्रह्माण्ड आलोकित है। कवि दण्डी का यह कथन सर्वथा सार्थक है कि यदि शब्द नाम्नी ज्योति संसार में न होती, तो विश्व अन्धकारमय ही होता।[3] शब्द-शास्त्र के आचार्य भर्तृहरि का यहाँ तक विश्वास है कि कोई भी ज्ञान शब्द निरपेक्ष नहीं होता।[4] अव्यक्त को व्यक्त करना, अरूप को रूप देना ही कला का उद्देश्य है। वाङ्मय मात्र कला ही है; जिसमें मन के अव्यक्त भाव-विचारों को अभिव्यक्ति मिलती है। परन्तु, जो कुछ अनुभवगम्य है वह यथावत् अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि, मन का क्षेत्र अपरिमित है और (वैखरी) वाणी का सीमित।[5] उपनिषदें भी ब्रह्मानुभूति को अनिर्वचनीय कहती हैं।[6] मनीषी कवियों ने भी वाणी के असामर्थ्य की

---

१. 'अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' 'वाक्यपदीय' (ब्रह्मकाण्ड), श्लोक १

२. 'विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।' 'उत्तररामचरितम्', १।१

३. 'इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवन त्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥' 'काव्यादर्श', १।४

४. 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' 'वाक्यपदीय' (ब्रह्मकाण्ड), श्लोक १२३

५. वाग्वैमनसोर्ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः।
परिमिततरेव हि वाक्।' 'शतपथब्राह्मण', १।४।४।६ (पं० मंगलदेव शास्त्री द्वारा 'तुलनात्मक भाषा-शास्त्र' पृ० १६७ से उद्धृत)

६. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् नविभेति कदाचनेति॥' तैत्तिरीयोपनिषद्', २।४।१
'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान-प्रसादेन विशुद्धसत्वस्तेतस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥'
'मुण्डकोपनिषद्, ३।८।१

प्रयुक्त लाघव रूपों की सूची

आव्स० रि० क०	='आव्सक्योर रिलीजस कल्ट्स'
क० ग्रं०; क० ग्रंथा०	='कबीर ग्रंथावली'
क० बी०; बीजक	='कबीर बीजक'
गुलाल० वानी०; गु० वा०	='गुलाल साहेब की बानी'
गो० बा०	='गोरख बानी'
च० वा०; चरन० वा०	='चरनदास जी की बानी'
चर्यागी० को० उपो०	='चर्यागीतिकोष उपोद्घात'
तु० शब्दा०	='तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली
दा० बा०; दा० द० की बानी	='दादू दयाल की बानी'
ध० ध० शब्दा०; धनी धरम० शब्दा०	='धनी धरमदास जी की शब्दावली'
नि० सं०	='निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त तुरसीदास निरंजनी'
प० बा०; प० बानी०; पलटू बानी	='पलटू साहेब की बानी'
पृ० ; पृ० सं०	='पृष्ठ; पृष्ठ संख्या'
बु० शब्द०; बुल्ला० शब्द०	='बुल्ला साहेब का शब्दसार'
भी० बा०	='भीखा साहिब की बानी'
मौ० वि०	='मौनियर विलियम्स संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी'
या० रत्ना०	='यारी साहब की रत्नावली'
रैदास बानी	='रैदास जी की बानी'
सा० व० छं० बं०	='सार वचन छंद बंद' (दूसरा भाग)
सु० ग्रं०	='सुन्दर ग्रंथावली'
हु० प्र०	='हठयोग प्रदीपिका'
हि० का० नि० सं०	='हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय'

प्रथम अध्याय

उलटवाँसी का स्वरूप

विषय प्रवेश : साधनात्मक अभिव्यक्ति की समस्या

'शब्द' अक्षर ब्रह्म है। यह अनादि और अनन्त है तथा इसकी, 'अर्थ' अर्थात् पंच तत्त्वात्मक रूप में, अभिव्यक्ति ही यह निखिल जगत् है।[1] अतः सम्पूर्ण जगत् वाङ्मय है अर्थात् 'शब्द' का ही विकास है। महाकवि भवभूति ने वाग्देवता को 'आत्मा की कला'[2] कहा है। इसी के प्रकाश से समूचा ब्रह्माण्ड आलोकित है। कवि दण्डी का यह कथन सर्वथा सार्थक है कि यदि शब्द नाम्नी ज्योति संसार में न होती, तो विश्व अन्धकारमय ही होता।[3] शब्द-शास्त्र के आचार्य भर्तृहरि का यहाँ तक विश्वास है कि कोई भी ज्ञान शब्द निरपेक्ष नहीं होता।[4] अव्यक्त को व्यक्त करना, अरूप को रूप देना ही कला का उद्देश्य है। वाङ्मय मात्र कला ही है; जिसमें मन के अव्यक्त भाव-विचारों को अभिव्यक्ति मिलती है। परन्तु, जो कुछ अनुभवगम्य है वह यथावत् अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि, मन का क्षेत्र अपरिमित है और (वैखरी) वाणी का सीमित।[5] उपनिषदें भी ब्रह्मानुभूति को अनिर्वचनीय कहती हैं।[6] मनीषी कवियों ने भी वाणी के असामर्थ्य की

---

१. 'अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' 'वाक्यपदीय' (ब्रह्मकाण्ड), श्लोक १

२. 'विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।' 'उत्तररामचरितम्', १।१

३. 'इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवन त्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥' 'काव्यादर्श', १।४

४. 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' 'वाक्यपदीय' (ब्रह्मकाण्ड), श्लोक १२३

५. वाग्वैमनसोह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः।
परिमिततरेव हि वाक्।' 'शतपथब्राह्मण', १।४।४।६ (पं० मंगलदेव शास्त्री द्वारा 'तुलनात्मक भाषा-शास्त्र' पृ० १६७ से उद्धृत)

६. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् नबिभेति कदाचनेति॥' तैत्तिरीयोपनिषद्', २।४।१
'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान-प्रसादेन विशुद्धसत्वस्तस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥'
'मुण्डकोपनिषद्, ३।८।१

चर्चा की है।[1]

जब सूक्ष्म भावों और विचारों को 'वाणी' अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से भी अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो पाती, तब प्रतीक-संकेतों का आश्रय लेती है। अतः ब्रह्म, आत्मा, माया, प्रेम, कृतज्ञता आदि की अभिव्यक्ति के लिए रूपक तत्त्व, वक्रोक्ति, विरोधात्मक उक्ति आदि का सहारा लिया जाता है। यह प्रवृत्ति ही 'उलटवाँसी' शैली का मूलस्रोत है। आचार्य शङ्कर ने परमतत्त्व (ब्रह्म) की विवेचना 'मौन व्याख्यान'[2] द्वारा ही संभव बताई है और 'युवा गुरु' द्वारा इस मौन-व्याख्यान से 'वृद्धशिष्य' के सम्पूर्ण संशय भी उच्छिन्न होते हुए बताए हैं।[3]

कवि जिस जागतिक सत्य के प्रति उल्लसित रहा करता है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए वह 'वैखरी'[4] वाणी तथा बिम्ब, अप्रस्तुत विधान, प्रतीक-आदि को साधन रूप में अपनाता है। कवि को 'अनुभूति' की 'अभिव्यक्ति में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी कि साधक को, क्योंकि उसकी कठिनाई भावातिरेक की मात्रा से सम्बन्धित है पर साधककी परिस्थिति इससे भिन्न है। जैसे-जैसे वह चिन्तन के द्वारा सूक्ष्मतत्त्व के निकट पहुँचता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान-प्रसाद से 'विशुद्ध-सत्त्वमय' स्थिति को प्राप्त करता है और आनन्दावेश में उसे अभिव्यक्त भी करता है। पर उस 'अभिव्यक्ति' से उस 'अनुभूति' का सम्यक् निरूपण नहीं हो पाता क्योंकि, वह जिस सूक्ष्म अथवा 'पर' जगत् में विचरण करता है, उसको, उसकी अनुभूति को, स्थूल अथवा 'अपर' सामग्री द्वारा कैसे व्यक्त करे? इसलिए कुछ साधक तो 'मौन व्याख्यान' द्वारा ही शिष्यों के संशयों का उच्छेद करते हैं, तो कुछ लड़खड़ाती हुई अभिव्यक्ति के सहारे अपनी 'अनुभूति' को सर्वगम्य बनाने का प्रयत्न करते

---

१. 'अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल कौ रस अंतरगत हीं भावै॥
परमस्वाद सब ही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौ अगम अगोचर सौ जाने जो पावै॥ 'सूरसागर' (प्रथम स्कन्ध), पद २
'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कविकुल अगम करम मन बानी॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥
'रामचरित मानस', २।२४१।१

२. 'मौन-व्याख्या-प्रकटित-परब्रह्मतत्त्वम् युवानाम्।' 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र:'

३. 'चित्रं वट-तरोर्मूले वृद्धा: शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्न-संशयाः॥' 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र:'

४. 'शब्दानां प्रवृत्तिर्वैखरी प्रमुखा वाग्वृत्तिः। उक्तं च
'वैखरी शब्द निष्पत्तिर्मध्यमाश्रुतिगोचरा:।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी॥' 'कुमार सम्भवम्' २।१७
(मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत)

हैं। आध्यात्मिक विषय की अभिव्यक्ति आधिभौतिक के माध्यम से उसी प्रकार की है, जैसे नीलोत्पल की कोमल पत्र-धारा से कठोर शमीलता का कर्त्तन।[1] हम देखते हैं कि जो विषय प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य नहीं होते, उनके वर्णन में भाषा की अभिधा-शक्ति स्वभावतः कुण्ठित दिखाई देती है।[2]

अभिव्यक्ति की उक्त चिरन्तन समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिए मनीषियों, कवियों, साधक-संतों ने समय-समय पर वाणी को जो शैलियाँ प्रदान की हैं, उनमें 'प्रवल्हिका'[3], या 'प्रवल्हिता'[4], 'कूट'[5] या 'दृष्टकूट', 'संध्या या सन्ध्या भाषा'[6], 'उलटा बाउल', 'भारूड', 'रिडिल' 'पैरेबिल' - आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें अभिव्यक्ति का ऋजु-मार्ग न अपनाकर बुद्धि-साध्य अतिक्रान्त उक्ति अथवा विरोधमूलक-वक्रता का सहारा लिया जाता है। इसी उद्देश्य से निरुक्तकार ने संहिता-मंत्रों को तीन वर्गों में रक्खा है।[7] नाथ-संतों की 'बानियों' में प्रयुक्त यह शैली 'उलटवाँसी' नाम से प्रसिद्ध है।[8]

'उलटवाँसी' के समानार्थक शब्द :

'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग आधुनिक युग की उपलब्धि है। संतों की, विशेषरूप से कबीर की, अटपटी अभिव्यक्ति को किस आधार पर 'उलटवाँसी' कहा गया इसका कोई प्रामाणिक निर्णय संभव नहीं। संत परम्परा की गद्दियों पर 'अटपटी बानी' को 'उलटवाँसी' या इसके निकटवर्ती नाम से पुकारने की परम्परा का अवलोकन साहित्यिकों ने किया है और सम्प्रदाय से चलकर, शैली विशेष के लिए, साहित्य में 'उलटवाँसी' नाम प्रचलित हुआ है।

---

१. 'ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।' 'अभिज्ञानशाकुंतलम्', १।१६
२. 'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे।
ज्यों मुख मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी॥'
'रामचरितमानस', २।२६४।२
३. 'अथ प्रवल्हिकाः पद्।' 'अथर्ववेद', २०।१३३
४. 'यच्च किंचित् प्रवह्लितमादित्य कर्मैव तत्।' 'निरुक्तम्', ७।११
५. 'वाच : कूटेनैकपदया वलं विरुज्य।' 'ऐतरेय ब्राह्मण', ६।२४ :; 'शतपथब्राह्मण,३।८।१
६. 'सन्ध्या हि भाषा जयतीह यस्यांवदन्ति सिद्धा परमार्थतत्त्वं।'
'सन्ध्याभाषं महाभाषं समयसंकेत-विस्तरं।'
'वज्रगर्भ महासत्त्व यन्मया कथितं त्वयि।
तत् सर्वं सादरं ग्राह्यं सन्ध्याभाषं महाद्भुतं॥' 'हैवज्रतंत्र', डॉ० बागची द्वारा प्रस्तुत 'चर्यागीतिकोष' 'उपोद्घात' में से उद्धृत।
७. 'ता त्रिविधाः ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिकयश्च।' 'निरुक्तम्' ७।३
८. 'उलटबास संतन नें भाखी। जाको समझ सूर कोई राखी।'
'घटरामायण' भाग २, पृ० १४२

'उलटवाँसी' शब्द, शैली के रूप में, अपने विभिन्न नामों द्वारा हिन्दी-साहित्य के आदिकाल से ही प्रयोग में आता रहा है। गोरखनाथ का कहना है कि 'जो पवन को उलटकर वाणी को पलट देते हैं, वे ब्रह्म-ज्ञानी होकर अमृत का पान करते हैं।'[1] ऐसी वाणी को गोरख ने 'उलटी चरचा'[2] नाम दिया है। उन्होंने गुरू-विहीन लोक के द्वारा साधना-जन्य गुरुता प्राप्त कराने के लिए 'उल्टीथापना'[3] स्थापित की है। गोरखनाथ के पश्चात्, उपलब्ध 'बानियों' में, कबीर का ऐसा व्यक्तित्व है, जो विवेच्य-शैली के प्रयोग के लिए सर्वप्रमुख कहा जा सकता है। कबीर ने अपनी बानियों में 'उलटवाँसी' का प्रयोग न करके 'उलटिवेद' या 'उलटा वेद'[4] शब्द का प्रयोग किया है। सन्त सुन्दरदास ने 'विपर्ज्जय को अंग' (विपर्यय) नाम से, इस शैली में पृथक् से ही दोहे और सवैया छंद लिखे हैं, जिनमें 'उलटवाँसी', के समकक्ष 'उलटीबात', 'उलटीरीति', 'उलटीगंग', 'उलटा ख्याल',[5] आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। पलटू साहब की 'बानी' में 'उलटावती' नाम से एक वर्ग मिलता है, जिसमें कुछ उलटवाँसियों का संग्रह है।[6]

उन्नीसवीं शती में आकर 'उलटवाँसी' जैसा 'उलटमासी' शब्द का प्रयोग संत तुलसी साहब (हाथरस वाले) ने किया है। उक्त वर्ग शीर्षक में कुछ उलटवाँसियों का संग्रह है।[7] आपने 'उलटीरीति', 'उलटा सब्द', 'उलटीचाल', 'उलटबास', आदि शब्दों का प्रयोग भी किया है। एक स्थान पर आपने इस शैली के प्रयोग का रहस्य भी बताया है।[8] इनके अनुसार ऐसी वाणी स्वयं में 'सुलटी' होने पर भी लोक को 'उलटी' प्रतीत होती है, परन्तु समझने पर 'उलटी' लगने वाली वाणी स्वयं ही 'सुलटी' हो जाती है।[9]

---

१. 'उलटंत पवनं पलटंत वांणीं। अपीव पीवत जे ब्रह्मज्ञांनी ॥' 'गोरखबानी', पृ० ३२
२. 'नगरी को पांणीं कूई आवै, उलटी चरचा गौरष गावै।' 'गोरखबानी', पृ० १४२
३. 'निगुरी पिरथीं परलै जाती, तार्थे हम उल्टी थापना थापी।' 'गोरखबानी', पृ० ५०
४. 'है कोई जगत गुर ग्यांनीं, उलटिवेद बूझै।' 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १४१
'है कोई गुरुज्ञानी जगत (महं) उलटि वेद बूझै।' 'कबीर बीजक', पृ० २३८
५. 'सुन्दर उलटी बात है समुझै चतुर सुजांन।'
'जाको अनुभव होइ सु जानै सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल।'
'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खंड), पृ० ५०४
६. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० १७७
७. 'तुलसी साहिब-शब्दावली और जीवनचरित' (पहला भाग), पृ० १३६
८. 'उलटीचाल संत की बोली। बिन परचे को परदा खोली ॥
अस उलटी उन कही अगूढ़ा। पंडित भेप न जाने मूढ़ा ॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १४२
९. 'उलटबास सन्तन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोई राखी ॥
सुलटी को उलटी कर बूझा। उलटी सुलटी समझ न सूझा ॥
अब याको इक सब्द सुनाऊँ। उलटि सुलटि वोहिमाँ दिखाऊँ ॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १७७

'उलटवाँसी' के समकक्ष शब्द :

उक्त शब्दों के अतिरिक्त 'उलटवाँसी' के समकक्ष अन्य शब्दों का व्यवहार भी संतों की बानियों में देखने को मिलता है, जिनमें 'उलट' पद का प्रयोग नहीं है। ये प्रयोग 'उलटवाँसी' शैली के लक्षण, प्रयोजन आदि के निर्धारण में सहायक हुए हैं। कबीरदास ने 'अकथ कथा', 'अकथ कहानी'[१]; धनी धरमदास ने 'अचरज ख्याल'[२] मलूकदास ने 'अजब कथा'[३]; जगजीवन साहब ने 'न्यारी कथा'[४]; यारी साहब ने 'भेद की बात,'[५]; दरिया साहब (बिहार वाले) ने 'छपलोक की बात'[६]; दरियासाहब (मारवाड़ वाले) ने 'अनहद बानी'[७]; दूलनदास ने 'गुप्तमर्म या गुप्तमत की बात'[८]; बुल्ला साहब ने 'अचरज'[९]; चरन दास ने 'गुप्तमते की बात'[१०]; दयाबाई ने 'अटपटी बात'[११]; भीखा साहब ने 'अकथ कथन'[१२] आदि शब्दों के प्रयोग किये हैं। राधास्वामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक संत शिवदयाल की बानियों में 'मर्म अतोली', 'अंतरमुख शब्द', 'उल्टीबात' आदि का प्रयोग है।[१३]

आलोचकों की दृष्टि में 'उलटवाँसी' शब्द :

टीकाकारों तथा आलोचकों की दृष्टि इस शैली विशेष की ओर कम ही गई है। आचार्य शुक्ल ने 'उलटवाँसी' शब्द पर कोई समीक्षा नहीं दी। केवल कबीर की

---

१. 'कह कबीर यहु अकथ कथा है, कहतां कही न जाई।'
'अकथ कहांणीं प्रेम की, कछु कही न जाई।' 'कबीर ग्रंथावली' पृ० ६३ तथा १३६
२. 'अचरज ख्याल हमारे देसवा।' 'धनी धरमदासजी की शब्दावली', पृ० ३२
३. 'या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जाने।' 'मलूकदास जी की बानी, पृ० ३
४. 'अकह की यह कथा न्यारी, सीखा नाहीं आन है।' 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (दूसरा भाग), पृ० ४७
५. 'वह भेद की बात अवर हैरे, यह बात मेरे नहिं मन भावै।'
'यारी साहब की रत्नावली', पृ० १७
६. 'छपलोक की बातें कहेऊँ। केवल हंस हिरंबर रहेऊँ॥' 'दरिया सागर,' पृ० ४६
७. 'अनहद बानी अगम खेल।' 'दरिया साहब की बानी', पृ० ३७
८. 'साईं तेरो गुप्त मर्म हम जानी, कस करि कहौं बखानी।'
'दूलनदासजी की बानी', पृ० ५
९. 'जो यह अचरज देह बुझाई। सोई सतगुरु अगम कहाई॥'
'बुल्ला साहेब का शब्द-सागर', पृ० १४
१०. 'गुप्तमते की बात हैली जानै सोई जानै।' 'चरनदास की बानी' (भाग दूसरा), पृ० १८
११. 'रोय रोय गावत हँसत, दया अटपटी बात।' 'संतबानी संग्रह' (भाग १), पृ० १७२
१२. 'अविगति गतिंन को अकथ कथन।' 'भीखा साहब की बानी', पृ० २०
१३. 'संत बिना को बूझि है, यह मर्म अतोली।'
'अंतरमुख शब्द में लेंगे बूझ बुझाय।'
'उलटी बात सभी-कह गाऊँ।' 'सारबचन-छंद बंद' (दूसरा भाग), पृ० ४५६-६४

वाग्वैचित्र्य-सम्बन्धी उक्तियों के बारे में लिखा है—'इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता है। . अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों के द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कहीं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं।'[१] डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस शब्द के सम्बन्ध में कुछ न कहकर इस शैली के वर्ण्य-विषय का कुछ संकेत दिया है—'कबीर की चमत्कारपूर्ण उलटवाँसियाँ भी रहस्यपूर्ण हैं। .....भव-जाल में पड़े हुए मनुष्यों की इस उलटी अवस्था को विशेषकर कबीर ने अपनी उलटवाँसियों द्वारा व्यंजित कर लोगों को आश्चर्य में डाला है।'[२] इस कथन से इतना साक्ष्य मिलता है कि उन्होंने 'उलटवाँसी' में 'वाँ' ध्वनि को ठीक माना है। निर्गुण साहित्य के मर्मी विद्वान् डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने संतों द्वारा प्रयुक्त उलटवाँसी के लिए 'उल्टवाँसी' और बहुवचन में 'उल्टवासियाँ[३] शब्दों के प्रयोग किये हैं। इससे लगता है कि उन्होंने चन्द्र-विन्दु अथवा अनुस्वार रहित 'वा' ध्वनि तथा 'ल्' व्यंजन से बना हुआ 'उल्टवासी' शब्द ठीक माना है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'व' ध्वनि का प्रयोग किया है।[४] डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'उल्टवाँसी' रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है।[५] डॉ० रांगेय राघव ने, आचार्य द्विवेदी के समान ही, विवेच्य शब्द का 'उलटबासी' रूप अपनाया है।[६] इनके अतिरिक्त बंगला साहित्य के विद्वान् डॉ० शशिभूषण दास गुप्त ने 'उल्टावाँसी'[७] तथा प्रसिद्ध दार्शनिक प्रो० आर० डी० रानाडे ने 'उलटवाँसि'[८] रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है।

पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने 'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया है। उनका कहना है कि 'उलटवाँसी शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में ठीक पता नहीं चलता और न यही जान पड़ता है कि इसका व्यवहार किस समय से होता आरहा

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ७३-७४.
२. 'कबीर ग्रन्थावली', प्रस्तावना, पृ० ६६
३. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय', पृ० ४०६
४. 'जितनी उलटबाँसियाँ हैं उनमें साधारणतः विपरीत भाव देखने पर योगशास्त्रीय परिभाषाओं का ही व्यवहार है।' 'कबीर', पृ० ८५
५. 'कबीर का रहस्यवाद', पृ० ३, ७, २६
६. 'गोरखनाथ और उनका युग', पृ० २०७-८
७. 'एनिगमेटिक पोइम्स ऑफ दिस नेचर आर फाउण्ड एबण्डेण्टली इन द वर्क्स ऑफ कबीर एण्ड दीज़ आर जैनरली नोन एज़ 'उल्टावाँसी'।'
'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० ४१७
८. 'दिस इज़ सिम्पिली एन 'उलटबाँसि' और एन एलेगरी टु रिप्रज़ेन्ट ए फण्डामेण्टल थौट इन ए सीमिंगली पैराडौक्सीकल फैशन।'
'पाथ वे टु गौड इन हिन्दी लिटरेचर,' पृ० १०५

है। .. उलटवाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे 'उलटा' एवं 'वाँस' शब्द द्वारा निर्मित मानकर भी किया जासकता है, जिस दशा में उसका ठीक-ठीक शब्दार्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका वाँस (पार्श्वभाग या अंग) उलटा या विपरीत ढंग का पाया जाय।"[1] इस उद्धरण से इतना निश्चित है कि श्री चतुर्वेदी जी ने 'उलटवाँसी' रूप में इस शब्द को ठीक माना है। डॉ० सरनाम सिंह शर्मा ने 'व' ध्वनि का प्रयोग करते हुए इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

'मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं—एक तो 'उलटवासी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवास' से सम्बन्धित। पहले शब्द 'उलटवाँ' का अर्थ 'उलटी हुई' और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उलटवाँसी', का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति।' दूसरी 'उलटवास' शब्द से। 'परमपद' या आध्यात्म लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटवास' है। इससे सम्बन्धित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती है।......इस शब्द में 'आ' के ऊपर जो सानुनासिकता दिखाई पड़ती है वह अकारण है।'[2]

उक्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि अधिकांश आलोचक 'व' ध्वनि के प्रयोग के पक्ष में हैं।* साथ ही यह भी निश्चित है कि इस शब्द का प्रचलन बहुत प्राचीन नहीं है। उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में संतों, सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों अथवा टीकाकारों ने, जिन्होंने इस प्रकार की रचना का अभिप्राय समझा होगा, वाणी की इस शैली का नाम 'उलटवाँसी','उलटमासी', या 'उलटवाँसी' दे दिया होगा, जो चलते-चलते लोकप्रिय हो गया है।

'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति :

शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में, अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर, कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें इसका सम्बन्ध 'बाँस', 'वास', 'वंशी', 'वाणी' या 'वाची', 'सी' आदि पदों से हो सकता है। ये तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) 'ब' और 'व' में ध्वनियों तथा अनुस्वार (ं) और अनुनासिक (ँ)[3] के प्रयोग

---

१. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० १५१-५२

२. 'कबीर-एक विवेचन', पृ० ३२२

* इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है डॉ० रामकुमार वर्मा; डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डॉ० ओम्प्रकाश आदि के तत्सम्बन्धी विशेष कथन।

३. 'अनुनासिक स्वर का चिह्न (ँ) चन्द्रविन्दु कहलाता है।.....अनुनासिक व्यंजनों के बदले में विकल्प से अनुस्वार आता है।......दीर्घ स्वर के पश्चात् आनेवाला अनुस्वार अनुनासिक के समान बोला जाता है। लिखने में बहुधा अनुनासिक अ, आ, उ और ऊ में ही चन्द्रविन्दु का प्रयोग किया जाता है।"

कामताप्रसाद गुरु, 'हिन्दी व्याकरण', पृ० ३६, ३६-४०

में अन्तर नहीं समझा जाता, अतः उलटबाँस के आधार पर विकसित हुआ 'उलटवाँस' तथा स्त्रीलिंग में उलटबाँसी शब्द सिद्ध होने की संभावना है। ऐसी रचना में कुंडलिनी-मार्ग का 'उलटवाँस'[1] के रूप में वर्णन मिलता है। संत गुलाल साहब (१८वीं शती के अन्त तथा १९वीं शती के प्रारम्भ में) का कहना है कि 'यह सब अर्ध उर्ध का खेल है, जिस पर 'उलटि के धावना' है।'[2]

(२) उलटवाँसी शब्द का प्रचलन, उलट+वास=उलटवास करने वाले साधक के लिए प्रयुक्त उलटवासी संज्ञापद के रूप में हुआ होगा और उसकी वाणी को, गुण-गुणी सम्बन्ध के आधार पर, उलटवासी या 'उलटवाँसी' कहा गया होगा।[3] इस रूप में अनुस्वार का प्रचलन प्रयोग में अकारण माना जा सकता है। ऐसा साधक जो लोक-क्रम के अनुसार संसार में 'सीधा वास' न करता हो, प्रत्युत अपनी वृत्ति को उलटकर 'घट-मठ' या अध्यात्म लोक में निवास करता हो, उसकी वाणी 'उलटवाँसी' है। इसमें, वास या निवास के आधार पर शब्द में प्रयुक्त 'व' ध्वनि ठीक प्रतीत होती है।

(३) उलटवाँसी शब्द का सम्बन्ध उलट+वंशी से विकसित होकर उलट+वाँस-(या बाँसुरी) से भी हो सकता है। अतः शब्द का विकास उलटवंशी>उलटवंसी>उलटवाँसी या उलटबाँसी रूप में हुआ होगा। इस वंशी की ध्वनिका सम्बन्ध साधनात्मक 'अनहदनाद' से रहा होगा।[4] ऐसी ध्वनि सामान्य जीवन में कर्णगोचर न होकर साधकों को ही सुसंवेद्य

---

१. 'चढ़िऊँ बाँस पर धाइ सहर कै बिचै गड़ाई।'
'पलटू साहिब की बानी' (भाग १), पृ० २६
'गाड़ि ज्ञान को बाँस सुरति को डोर है। चढ़ा खिलाड़ी धाय जगत में सोर है।'
वही, (भाग २) पृ० ७८
'सातहि पौरि को बाँस कह्यो, सोइ बाँस को भेद बतावौं आई।
जंगल के बीच बाँस बसै, की कह्यौ बाँस जो और है भाई॥'
घटरामायण (भाग १), पृ० १३१
'साल्हकुंवर करहइ चढ़यउ, बाँसइ चाढी नार।' 'ढोलामारूरा दूहा' (संख्या ६२५)
२. 'अर्ध-उर्ध को खेल उलटि के धावई।' 'गुलाल साहेब की बानी,' पृ० ६६
३. 'उलट वास संतन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोइ राखी॥
सुरति जब उलट कर बूझा। उलट की सुलट कर सूझा॥
तुलसी तन बीच में हेरा। सुरति मन बुद्धि को फेरा॥
कहन कछु और विधि राखै। उलट की सुलट कर भाखै॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १७७-७८
४. 'बाजत अनहद बाँसुरी तिरबेनी के तीर।' 'संत बानी संग्रह' (भाग १), पृ० १२०
'बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर।' 'पलटूसाहिब की बानी' (भाग १), पृ०२९
'नाद की बांसुरी सोर लाया।' वही, (भाग २), पृ० ३४

होती है। इस अर्थ में इस ध्वनि के अनुभवों को अभिव्यक्त करने वाली वाणी भी उलटवाँसी कही जा सकती है।

(४) उलटवाँ+सी इस संयुक्त शब्द के रूप में इसका अर्थ ऐसी वाणी से है, जो 'उलटी हुई के समान' (उलटवाँ उक्ति) या 'उलटी हुई सी' प्रतीत हो। इस अर्थ में संतों की विरोधमूलक वाणी उलटी हुई सी लगती है, परन्तु कथ्य को समझने पर इसके उलटे अंश का परिहार स्वयं ही हो जाता है। इसी अर्थ में संत तुलसी साहब ने इसे नासमझ केलिए 'उलटी' तथा समझदार के लिए 'सुलटी' कहा है।[1]

(५) उलटवाँसी शब्द की व्युत्पत्ति उलट+वाची[2] अथवा उलट+वाशी[3] रूप में संभव है। 'वाशी' या 'वासी' शब्द सामान्य ध्वनि या वाणी के लिए प्रयुक्त मिलता है। इस प्रकार 'उलटवाशी' या 'उलटवासी' उलटीवाणी के रूप में प्रचलित हुआ होगा, जिसका 'उलट' पद हिन्दी का तथा 'वाशी' या 'वासी' शब्द परम्परागत वैदिक मूल का है। ऐसी वाणी प्रचलन में विवेच्य शैली के लिए स्वीकृत हुई। 'उलटवाशी' या 'उलटवाँसी' में कथन उलटा-सा रहता है। सन्तों का विश्वास है कि इस भव-सागर की धारा से पार उतरने और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए ऐसी वाणी सहायक होती है। इस अर्थ में यह 'पारमार्थिकीवार्ता'[4] है।

(६) व्याकरण की दृष्टि से 'उलटवाँसी' विशेषण अथवा संज्ञाशब्द है जो स्त्रीलिंग के एक वचन में प्रयुक्त होता है।

---

१. 'अली इक बात सुन सुलटी। बिना समझे लगै उलटी ॥
कही सब संत ने बोली। गूढ़ मत गुप्त नहिं खोली ॥'
'घटरामायण' (भाग २), पृ० १७७

२. 'उलटवाँसी=उलट+वाची, साहित्य में ऐसी उक्ति या कथन (विशेषत: पद्यात्मक) जिसमें असंगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति आदि अलंकारों से युक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है जो प्राकृतिक नियम या लोक-व्यवहार के विपरीत होने पर भी किसी गूढ़ आशय या तत्त्व से युक्त होती है।'
'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड), पृ० ३८०

३. 'प्राची वाशीव सुन्वते मिमीत इत्' ऋग्वेद ८।११।१२; 'वाशीव वाङ्नामेतत्। स्तुति रूपा वाक् सुन्वते।' सायण। 'वाशी—वेद, रोरिंग क्राइ। आलसो रिटिन एज़ 'वासी'; 'सकीलकवचा: सर्वे वासीवृक्षादनान्विता:।' (महाभारत, ५।१५५।८); वाइस, स्पीच, मो० विलियम्स- 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' (पार्ट III), पृ० १४१६;
'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, वी० एस० आप्टे, पृ० ६४६

४ 'इयंरीति : सांसारिकी न तु पारमार्थिकी वार्ता।' 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह', पृ० ५८

उलटवाँसी शैली का स्वरूप

उलटवाँसी शैली का स्वरूप निर्धारित करने के लिए अन्तर-बाह्य साक्ष्य मिलते हैं। ये साक्ष्य प्रयोक्ता संतों और उलटवाँसी शैली के आलोचकों द्वारा दिए गए हैं।

(अ) प्रयोक्ताओं के कथन-साक्ष्य :

उलटवाँसी शैली का प्रयोग सहजयानी सिद्धों, नाथयोगियों तथा संत कवियों द्वारा वैविध्य के साथ हुआ है। इस शैली के प्रयोक्ता साधक वे है; जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों को, वाणी के संकेतों के माध्यम से, अभिव्यक्त किया है। इस रचना-पद्धति की कतिपय अपनी विशेषताएँ हैं।

उलटवाँसियाँ बहुधा 'अटपटी बानियों' के रूप में रची गई हैं, जिसके कारण इनके गूढ़ आशय को समझ पाने वाला, सुनकर, आश्चर्य से अवाक् रह जाता है। गुरु की कृपा से, विचारपूर्वक संकेतों को समझ लेने पर, कथन के पीछे निहित रहस्य स्वत: ही उद्भासित हो जाता है। उस समय श्रोता या पाठक को एक विशेष प्रकार की मानसिक तृप्ति का अनुभव होता है।[1] यह इस शैली की रूप-रचना अथवा प्रयोक्ता की विशेष मानसिक स्थिति की विशेषता है। वर्ण्य-विषय के कारण यह तृप्ति या सुखद अनुभूति पहेली, समस्यापूर्ति, दृष्टकूट आदि से प्राप्त सुखानुभूति से भिन्न होती है; क्योंकि, 'उलटवाँसी' पद के अर्थ को समझने से प्राप्त तृप्ति का स्थायित्व इनसे कहीं अधिक होता है। उलटवाँसियों में किसी न किसी प्रकार से जीवन और जगत् की समस्या पर विचार प्रकट किया जाता है। अत: इस जानकरी में जो तन्मयावस्था होती हैं, वह रसावस्था तथा ज्ञानावस्था के समकक्ष है।

उलटवाँसियों में रहस्य, चमत्कार या अद्भुत की मात्रा विशेष रूप में रहती है और इस रहस्य या अद्भुत तत्त्व का वहन प्रतीकों के माध्यम से होता है। सामान्यत: सभी अनुभव अनिर्वचनीय होते हैं; 'आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी-कभी परस्पर विरोधी उक्तियों द्वारा व्यक्त करने का ढंग अपनाना पड़ता है।'[2] लोकोत्तर अभिव्यंजना के आधिक्य एवं उसकी अनिर्वचनीयता में उस परम अनुभूति की

---

१. देखिए—'कबीर साहित्य की परख', पृ० १५०
२. 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ४०९

दशा को संतों ने 'गूँगे के गुड़' के समान बताया है।[1] अतः कहा जा सकता है कि संतों द्वारा प्रयुक्त इस शैली का वर्ण्य-विषय अनिवर्चनीय है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए सामान्यतः उसके अभिधात्मक रूप में असम्बद्धकथन की योजना रहती है। उलटवाँसी रचना की कतिपय सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) उलटवाँसियाँ 'पद',[2] शब्द (सबद-सब्द), रमैंनी, कुंडलिया, सवैया, अरिल्ल, दोहा (साखी, सबदी)* आदि छन्दों में लिखी मिलती हैं। अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से विशेष छन्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण नहीं दिखाई देता। सामान्यतः पदों में रची गई उलटवाँसियाँ प्रभावोत्पादक और अधिक लोकप्रिय हुई हैं।

(२) उलटवाँसी रचना ('पद' आदि छंद) की दूसरी विशेषता है कि इसकी प्रथम एक या दो 'टेक'[3] वाली पंक्तियों में तथा अन्तिम पंक्ति में वर्ण्य-विषय की ओर कुछ

---

१. 'कहहिं कबिर गूंगे गुर खाया, पूछे से का कहिया।' 'कबीर बीजक', पृ० १४४
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाय।' 'दादूदयाल की बानी' (भाग१), पृ० ८५
'जाकौ अनुभव होय सो जानै।' 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), पृ० ५१०
सो तस देखि मस्त मन ह्वैगा, कहि नहिं जात पुकारी।'
'जगजीवन साहेब की शब्दावली', पृ० ११६
'बानी थकि बुधि हू थकै हेलो अनभै थकि जाय।'
'चरनदास की बाणी' (भाग २), पृ० ५२
'गरीबदास यह अकथ कहानी, ज्यूँ गूँगा गुड़ खावै।'
'गरीबदास की बानी', पृ० १३७
'बरनौं कवनी जुक्ति सें, कछु उक्ति न आवै।' 'गुलालसाहिब की बानी', पृ० ४३
यह अचरज का से अब कहिये, जिन देखा सोई जानै।
होइ अचरज अचरज को खोजै, तब अचरज पहिचानै॥'
'पलटूसाहिब की बानी' (भाग २), पृ० ४१

२. 'कबीर साहिब की रचनाओं में एक अन्य प्रकार का काव्य प्रकार, जो बहुत प्रसिद्ध है, 'पद' अथवा 'सब्द' है। इसे कहीं कहीं 'बानी' भी कहा गया है। 'आदिग्रंथ' एवं 'कबीर ग्रंथावली' में इसे 'पद' कहा गया है। 'कबीर बीजक' में इसे 'सब्द' कहा है।' ...'कबीर साहब के पद वा सब्द (शब्द) भी गेय कहे जा सकते हैं और ये प्रायः भजनों में भी सम्मिलित किये जाते हैं।'
'कबीर साहित्य की परख', पृ० १८६ तथा १९१

* टिप्पणी—सबदियों में प्रायः दो ही पंक्तियाँ होती है; परन्तु एकाध उदाहरण ('गोरखबानी' सबदी संख्या १४२) एक पंक्ति का भी मिल जाता है।

३. 'कबीर ग्रन्थावली' में 'ध्रुव' के लिए 'टेक' शब्द का प्रयोग हुआ है जो 'रहाउ' की ही भाँति, रुकावट पड़ने का भाव व्यक्त करता है।'
'कबीर साहित्य की परख', पृ० १९१

यह प्रवृत्ति मात्राभेद से परवर्ती सभी संतों में देखने को मिलती है। 'अचरज' या अद्‌भुत तत्त्व को सम्यक् महत्ता देते हुए भी, पीछे के संतों में, चुनौती गर्भित स्वर की तीव्रता कम होती गई है। कुछ उदाहरण—

दादूदयाल— वारपार कोइ ना लहै, दादू है हैरान।'[१]
मलूकदास —'या नैया के अजब कथा है, कोइ विरला केवट जानै।'
'या पद का कोइ करै निबेरा, कह मलूक मैं ता का चेरा।'[२]
सुन्दरदास—'जो कौउ याकौ अर्थ विचारै सुन्दर सोई पावै स्वाद।'
'जाको अनुभव होइ सु जानै सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल।'
'सुन्दर कहे सो पण्डित ज्ञाता जो कोउ या को जानै भेव।'
'सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी जो कोउ या कौ करै विचार।'
'सुन्दर अर्थ अनूपम याको पंडित होइ सु करै विचार।'[३]
दरिया साहब—'काज़ी पंडित मरम न जानै, कोइ कोई विरला जानी।'[४]
भीखा साहब—'कुंजी सतगुरू पास कृपा करि खोलहिं जवहीं।
बूझहिं जेहि अधिकार वस्तु देखलावहिं तवहीं॥'[५]
तुलसी साहब—'बूझै बूझनहार घट निहारि अंदर लखै।'[६]
'विरले मर्म कोइ पाई है, गुरु के सबद प्रमान।'[७]
'यह कोइ बूझै परमदास, भाव भगति जगसें उदास।'[८]

सुन्दरदास के उलटवाँसी या विपर्यय वर्ग के सभी सवैया-छंदों में सम्बोधन का प्रयोग नहीं के बराबर है। 'बूझै' आदि क्रियापदों का प्रयोग प्राय: अन्तिम पंक्ति में है। इतर संतों में ये क्रियापद अन्य पंक्तियों में भी मिलते हैं। इतना निश्चित है कि इस रचना में बूझै, बूझहु आदि क्रियापदों का प्रयोग रहने पर भी पहेली बुझौवल समस्यापूर्ति आदि के समान केवल मानसिक व्यायाम ही नहीं रहता, प्रत्युत अनुभूति की सम्यक् अभिव्यक्ति भी देखने को मिलती है। पर, इसके मर्म को समझने के लिए 'आचारी' से बढ़कर

---

१. 'संत बानी संग्रह' (पहला भाग), पृ० ८५
२. 'मलूकदास की बानी', क्रमश: पृ० ३,२४
३. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), क्रमश: पृ० ५०८, ५१०, ५१८, ५२३, ५३१
४. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ५१
५. 'भीखा साहब की बानी', पृ० ८१
६. 'घटरामायण' (भाग १), पृ० १८
७. 'वही' (भाग २), पृ० १७५
८. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग १), पृ० ८३

'विचारी' की अवस्था,[1] बानी के रहस्य को जानने के लिए जीवित ही मृतक होने की स्थिति का होना,[2] आवश्यक है। बिना 'मरजीवा' हुए ज्ञान रूपी 'लाल' की प्राप्ति सम्भव नहीं।[3]

(आ) आलोचकों के कथन-साक्ष्य :

विवेच्य वस्तु के आधार पर आलोचकों ने, उलटवाँसी शैली के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ की हैं, जिनसे शैली के तत्त्व, प्रयोजन, प्रकृति-प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने में सुविधा हुई है। संयोगवश, उलटवाँसी शैली का क्रमबद्ध विवेचन अपेक्षाकृत कम हुआ है। कुछ आलोचकों ने, प्रसंगवश, इस शैली की विषय-परक सीमा निर्धारित की है, विशेषकर कबीर की 'बानी' को माध्यम बनाकर। आलोचकों के कुछ कथन इस प्रकार हैं :—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'यद्यपि वे (कबीर) पढ़े-लिखे न थे, पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।'[4]

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—'आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता के कारण साधक को कभी-कभी विरोधी उक्तियों द्वारा व्यक्त करने का ढंग अपनाना पड़ता है, जिन्हें उलटवासी, 'विपर्यय' कहते हैं।..... कभी-कभी इन उलटवासियों का प्रयोग अर्थ को जानबूझ कर छिपाने के लिए हुआ करता है जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यों का पता अयोग्य व्यक्तियों को न लगने पावे।'[5]

डॉ० श्यामसुन्दर दास—'कबीर की उलटवाँसियाँ भी रहस्यपूर्ण हैं।......भवजाल में पड़े हुए मनुष्य की उलटी अवस्था को विशेषकर कबीर ने अपनी उलटवाँसियों द्वारा व्यंजित कर लोगों को आश्चर्य में डाला है।'[6]

---

१. 'कोटि अचारी एक विचारी, तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग भर्‌या, बिचारी विरला कोइ॥'
'दादूदयाल की बानी' (भाग १), पृ० १८१

२. 'गहु गुर ज्ञान विज्ञान बानी जीवत ही जग में मरो।'
'गरीबदास की बानी', पृ० ८८

३. 'सो पावेगा लाल जाइ के गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै॥'
'पलटू साहिब की बानी' (भाग १), पृ० ५३

४. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ७३

५. 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय', पृ० ४०९

६. 'कबीर ग्रंथावली',—भूमिका, पृ० ६६

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य के आदि प्रवर्तक तीन महाकवियों—चन्द, कबीर और सूरदास में सबके सब एक विचित्र प्रकार की पद-रचना करते रहे। इन्हें दृष्टकूट, उलटवाँसी या विपर्यय कहते हैं।'[1]

'योगियों के पारिभाषिक शब्दों में उल्टी वानी को प्रभावशाली और अद्भुत बना देने की शक्ति है।... जितनी उलटवाँसियाँ हैं, उनमें साधारण तौर से विपरीत भाव दीखने पर भी योगशास्त्रीय परिभाषाओं का ही व्यवहार है।'[2]

श्री परशुराम चतुर्वेदी—'ये उलटवाँसियाँ बहुधा अटपटी वानियों के रूप में रची गई होती हैं, जिस कारण इनके गूढ़ आशय को शीघ्र न समझने वाला इन्हें सुनकर आश्चर्य में अवाक् रह जाता है और जब कभी इन पर ध्यानपूर्वक विचार कर लेने पर वह इनके शब्दों के पीछे निहित रहस्य को जान पाता है तो उसे अपार आनन्द होता है।'[3]

डॉ० भगीरथ मिश्र—'ज्ञान-विरह में, ज्ञानी को मायालिप्त संसार में सब व्यापार उलटे ढंग पर ही होते दीख पड़ते हैं और सत्य के आधार पर आत्मा की रक्षा होती है। इसी ज्ञान-विरह की अवस्था में ही 'उलटबाँसी' की तरह के कथन प्रसूत होते हैं।'[4]

डॉ० रामकुमार वर्मा—'कबीर की कविता में कला का अभाव है। उनकी रचना में पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। 'उल्टवाँसियों' में क्लिष्ट कल्पना है, भाषा बहुत भद्दी है,......वे धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए 'उल्टवाँसियाँ' लिखते थे और संकीर्णता दूर करने के लिए रेखते।'[5]

डॉ० धर्मवीर भारती—'उपमानों की विरोधात्मक योजना पर आधारित उलट-वाँसियों की चमत्कारपूर्ण शैली सिद्धों के काव्य में व्यहृत होती थी।......इन उलट-वाँसियों में *या तो पारस्परिक विरोधी धर्मवाले उपमानों का एकत्रीकरण होता था या* उपमानों में उनके स्वाभाविक धर्म के स्थान पर विरोधी धर्म का आरोप कर दिया जाता था।'[6]

डॉ० सरनामसिंह शर्मा—'इस (उलटवाँसी) का अर्थ-भार अभिधा-शक्ति न संभाल कर संकेत संभालते हैं जो प्रतीक मात्र होते हैं। इनका अभिप्राय वक्ता के मस्तिष्क

---

१. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ० ३३ } प्रथम पुस्तक में 'व' वर्ण तथा
२. 'कबीर' पृ० ८३, ८५ } द्वितीय में 'ब' वर्ण छपा है
३. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० १५०
४. 'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी', पृ० ३९
५. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सन्त काव्य), पृ० २६८
६. 'सिद्ध-साहित्य', पृ० ४६७

में होता है और श्रोता उसको खोजता हुआ अनेक बार कहीं से कहीं पहुँच सकता है। संयोग या वक्ता की सहायता ही श्रोता को उसके पास पहुँचा सकती है।'[१]

'जहाँ साधनात्मक अथवा अध्यात्म विषयक अनुभूति नहीं है, अथवा जहाँ विरोधाभास नहीं है, वहाँ हमें उलटवाँसी की खोज नहीं करनी चाहिए।'[२]

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित—'संतों ने उलटवाँसियों में अत्यन्त दुरूह तथा गूढ़ योजनाओं को व्यक्त किया है। ऐसी उक्तियों में प्रतीकों के साथ ही रूपात्मकता का भी समावेश हो गया है।'[३]

डॉ० नगेन्द्र—'वास्तव में उन्होंने (कबीर ने) चमत्कार शैली का सप्रभाव प्रयोग किया है। व्यंग्य और वक्रता की चमक उनकी 'सीधी' और 'उलटी' दोनों वाणियों में मिलती है। मूलत: तो रहस्यवादी होने के कारण काव्यशास्त्र के ध्वनिवाद से ही उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु रहस्यवाद की सांकेतिक शैली तथा प्रतीक विधान में वक्रता की भी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है।'[४]

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—'कबीर साहब ने परमार्थतत्त्व, माया, जीव, जगत् आदि को लेकर प्रकतीकात्मक ढंग से वचन कहे हैं। जहाँ चमत्कार उत्पन्न करने की ओर इनकी दृष्टि गई है वहाँ इस सांकेतिक शैली ने 'उलटवाँसी' का रूप धारण कर लिया है। सांकेतिक पद्धति जहाँ स्पष्ट है वहाँ तो कोई बाधा नहीं पड़ती, . पर जब वे 'कम्मर बरसै भीजै पानी', 'नाना के विवाह में नाती बराती' के ढंग की उलटवाँसियाँ कहने लगते हैं तो प्रतीक अस्पष्ट और पंथगत हो जाता है।'[५]

डॉ० ओम्प्रकाश—'इन उलटवाँसियों में दो प्रकार का अटपटापन है—प्रकृति-विरोध तथा विधि-विरोध। प्रकृति-विरोध से हमारा अभिप्राय पशु, पक्षी तथा वनस्पति में उन व्यापारों के दर्शन से है जो उनके स्वभाव के प्रतिकूल हैं,...विधि-विरोध से यहाँ अवैध योनि-सम्बन्ध मात्र समझना चाहिए। इसका एकमात्र आधार नारी है।'[६]

डॉ० रांगेय राघव—'उलटवाँसियाँ वास्तव में आध्यात्मिक रूपकों की एक खान हैं।'[७]

---

१. 'कबीर—एक विवेचन', पृ० ३१८
२. 'वही, पृ० ३२६
३. 'हिन्दी सन्त साहित्य', पृ० २००
४. 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित', पृ० २५३
५. 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (पहला भाग), पृ० १६१
६. 'हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य', पृ० ११२-१३
७. 'गोरखनाथ और उनका युग', पृ० २११

डॉ० रामधन शर्मा—'नाथपंथी योगियों और कबीर आदि निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त कवियों की कुछ काव्योक्तियों को 'विपर्यय' अथवा 'उलटबाँसी' के नाम से अभिहित किया गया है। इन रचनाओं में जो बात कही गई है वह सामान्यतः लोकदृष्टि में सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है तथापि उसका अर्थ स्पष्ट होने पर वह सीधी और सरल हो जाती है।'[1]

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—'रहस्यवाद की ऐसी सुन्दर रचनाओं के रचयिता होकर भी कहीं-कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कही हैं जो बिल्कुल ऊटपटांग और निरर्थक मालूम होती हैं।...मेरा विचार है, उन्होंने ऐसी रचनाएँ जनता को विचित्रता-समुद्र में निमग्न कर अपनी ओर आकर्षित करने के लिए की हैं। उनकी उलटवाँसियाँ विचित्रताओं से भरी हैं।'[2]

मानक हिन्दी-कोश—(श्री रामचन्द्र वर्मा) 'उलटवाँसी-उलट+वाची, साहित्य में ऐसी उक्ति या कथन (विशेषतः पद्यात्मक), जिसमें असंगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति-आदि युक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है, जो प्राकृतिक नियम या लोक-व्यवहार के विपरीत होने पर भी किसी निगूढ़ आशय या तत्त्व से युक्त होती है।'[3]

उक्त कथनों के आधार पर उलटवाँसी शैली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) उलटवाँसी पद-रचना में विरोध और असम्भव की योजना लोगों को आकर्षित करने में समर्थ होती है। (आचार्य शुक्ल)

(२) इस शैली का प्रयोग, आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता तथा वैचारिक-दशा की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। (डॉ० बड़थ्वाल)

(३) उलटवाँसी पद-रचना के द्वारा भव-जाल में पड़े हुए लोगों की विपरीत दशा का द्योतन होता है। (डॉ० श्यामसुन्दर दास)

(४) हठयोगी परम्परा के पारिभाषिक शब्दों की योजना से उलटवाँसी शैली प्रभाव-शाली बनी है। (आचार्य द्विवेदी)

(५) उलटवाँसी-पद में निहित अर्थ को समझ लेने पर विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। (श्री परशुराम चतुर्वेदी)

(६) साधक, ज्ञान-विरह की अवस्था में उलटवाँसी शैली को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। (डॉ० भगीरथ मिश्र)

(७) सन्त लोग, धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए, उलटवाँसी पद-रचना किया करते थे। (डॉ० रामकुमार वर्मा)

---

१. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० १५
२. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (मध्यकाल), पृ० १३७-३८
३. 'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड), पृ० ३८०

(८) उलटवाँसी शैली के प्रतीक रूप में व्यवहृत उपमान विरोधी धर्म वाले हैं। इस शैली का उपयोग सिद्धों की वाणी में भी हुआ है। (डॉ० धर्मवीर भारती)

(९) उलटवाँसी शैली की अभिधा में अर्थकी संगति नहीं बैठती तथा इसमें साधनात्मक अनुभूति और विरोध का होना आवश्यक है। (डॉ० सरनामसिंह शर्मा); शैली का वैचित्र्य प्रकृति-विरोध और विधि-विरोध पर आश्रित रहता है। (डॉ० ओम्प्रकाश)

(१०) उलटवाँसी शैली में रूपक तत्त्व का समावेश हो जाया करता है। (डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित); परन्तु ये रूपक आध्यात्म भावना से सम्बन्धित होते हैं। (डॉ० रांगेय राघव)

(११) उलटवाँसियों में जीव एवं जगत् की समस्या को प्रधानता देते हुए प्रतीकात्मक ढंग से कथन रहता है। (श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र)

(१२) उलटवाँसी पद-रचना पद्यात्मक होती है, जिसमें विरोध गर्भित अलंकारों की विशेष रूप से योजना रहती है। (श्री रामचन्द्र वर्मा); इस शैली में व्यंग्य और वक्रता की विशेष चमक रहती है। (डॉ० नगेन्द्र)

उक्त विशेषताओं में से कुछ का उल्लेख 'प्रयोक्ताओं के कथन-साक्ष्य' शीर्षक में हो चुका है। इन विशेषताओं से अध्ययन-क्षेत्र की सीमा का अनुमान तो हो जाता है; पर इन परिभाषामूलक कथनों का मुख्य आधार कबीर कृत उलटवाँसी-पद ही रहे हैं। यदि नाथ-सन्तों की सम्पूर्ण बानियों को विवेचन-दृष्टि में रखा जाय, तो, कुछ कथन ऐसे मिलते हैं जिनमें तथाकथित 'विरोध' के न रहने पर भी रूढ़ पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से अतिक्रान्त उक्तियाँ हैं, जिनकी सम्भवता लोक-दृष्टि में दुष्कर है। रूपक के रूप में ऐसे विचित्र कथन असम्बद्धता को प्रश्रय देते हैं। इनको समझने के लिए भी विशेष परम्परा, शास्त्रीय प्रतीक-पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। ऐसे कथन उलटवाँसी शैली की व्यापक सीमा में आ जाते हैं। ऐसे कथनों में अभिधेयात्मक रूढ़ प्रयोगों से ही अर्थ का प्रतीति हो जाती है, जबकि दृष्ट विरोध वाले उपमानों की योजना में प्रतीक तथा प्रतीकार्थ के माध्यम से प्रयोक्ता के मन्तव्य को समझा जाता है। सांकेतिक प्रतीकों में अर्थ-ग्रहण की थोड़ी छूट रहती है, जबकि शास्त्रीय-रूढ़ प्रतीकों में सम्प्रदाय में प्रचलित अर्थ को ही प्रधानता दी जाती है। जिन कथनों में विरोधी धर्म वाले प्रतीकों की योजना न रहने पर भी, पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से असम्बद्ध कथन के रूप में कोई विशेषता रहती है अथवा भाव-विरह की अवस्था का कथन रहता है, वे भी उलटवाँसी शैली के अन्तर्गत आते हैं।

उलटवाँसी शैली में लिखित उदाहरण पद्यरूप में ही मिले हैं। इनमें गेय-तत्त्व की प्रधानता देखी जाती है। उलटवाँसी पद-रचना में छन्द का कोई विशेष बन्धन या आग्रह देखने को नहीं मिलता। इस शैली में पद, सबद (शब्द) कुंडलिया, सवैया, अरिल्ल, साखी, सबदी आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग देखा जाता है। पर, विशेष रूप में 'शब्द' अथवा 'पद' छन्द में रचित उलटवाँसी-पद मार्मिक और प्रभावपूर्ण हैं। इसका मुख्य कारण है कि

डॉ० रामधन शर्मा—'नाथपंथी योगियों और कबीर आदि निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त कवियों की कुछ काव्योक्तियों को 'विपर्यय' अथवा 'उलटवाँसी' के नाम से अभिहित किया गया है। इन रचनाओं में जो बात कही गई है वह सामान्यतः लोकदृष्टि में सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है तथापि उसका अर्थ स्पष्ट होने पर वह सीधी और सरल हो जाती है।'[1]

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—'रहस्यवाद की ऐसी सुन्दर रचनाओं के रचयिता होकर भी कहीं-कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कही हैं जो बिल्कुल ऊटपटांग और निरर्थक मालूम होती हैं।...मेरा विचार है, उन्होंने ऐसी रचनाएँ जनता को विचित्रता-समुद्र में निमग्न कर अपनी ओर आकर्षित करने के लिए की हैं। उनकी उल्टवाँसियाँ विचित्रताओं से भरी हैं।'[2]

मानक हिन्दी-कोश—(श्री रामचन्द्र वर्मा) 'उलटवाँसी-उलट+बाची, साहित्य में ऐसी उक्ति या कथन (विशेषतः पद्यात्मक), जिसमें असंगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति-आदि युक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है, जो प्राकृतिक नियम या लोक-व्यवहार के विपरीत होने पर भी किसी निगूढ़ आशय या तत्त्व से युक्त होती है।'[3]

उक्त कथनों के आधार पर उलटवाँसी शैली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) उलटवाँसी पद-रचना में विरोध और असम्भव की योजना लोगों को आकर्षित करने में समर्थ होती है। (आचार्य शुक्ल)

(२) इस शैली का प्रयोग, आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता तथा वैचारिक-दशा की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। (डॉ० बड़थ्वाल)

(३) उलटवाँसी पद-रचना के द्वारा भव-जाल में पड़े हुए लोगों की विपरीत दशा का द्योतन होता है। (डॉ० श्यामसुन्दर दास)

(४) हठयोगी परम्परा के पारिभाषिक शब्दों की योजना से उलटवाँसी शैली प्रभाव-शाली बनी है। (आचार्य द्विवेदी)

(५) उलटवाँसी-पद में निहित अर्थ को समझ लेने पर विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। (श्री परशुराम चतुर्वेदी)

(६) साधक, ज्ञान-विरह की अवस्था में उलटवाँसी शैली को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। (डॉ० भगीरथ मिश्र)

(७) सन्त लोग, धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए, उलटवाँसी पद-रचना किया करते थे। (डॉ० रामकुमार वर्मा)

---

१. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० १५
२. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (मध्यकाल), पृ० १३७-३८
३. 'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड), पृ० ३८०

(८) उलटवाँसी शैली के प्रतीक रूप में व्यवहृत उपमान विरोधी धर्म वाले हैं। इस शैली का उपयोग सिद्धों की वाणी में भी हुआ है। (डॉ० धर्मवीर भारती)

(९) उलटवाँसी शैली की अभिधा में अर्थकी संगति नहीं बैठती तथा इसमें साधनात्मक अनुभूति और विरोध का होना आवश्यक है। (डॉ० सरनामसिंह शर्मा); शैली का वैचित्र्य प्रकृति-विरोध और विधि-विरोध पर आश्रित रहता है। (डॉ० ओम्प्रकाश)

(१०) उलटवाँसी शैली में रूपक तत्त्व का समावेश हो जाया करता है। (डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित); परन्तु ये रूपक आध्यात्म भावना से सम्बन्धित होते हैं। (डॉ० रांगेय राघव)

(११) उलटवाँसियों में जीव एवं जगत् की समस्या को प्रधानता देते हुए प्रतीकात्मक ढंग से कथन रहता है। (श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र)

(१२) उलटवाँसी पद-रचना पद्यात्मक होती है, जिसमें विरोध गर्भित अलंकारों की विशेष रूप से योजना रहती है। (श्री रामचन्द्र वर्मा); इस शैली में व्यंग्य और वक्रता की विशेष चमक रहती है। (डॉ० नगेन्द्र)

उक्त विशेषताओं में से कुछ का उल्लेख 'प्रयोक्ताओं के कथन-साक्ष्य' शीर्षक में हो चुका है। इन विशेषताओं से अध्ययन-क्षेत्र की सीमा का अनुमान तो हो जाता है; पर इन परिभाषामूलक कथनों का मुख्य आधार कबीर कृत उलटवाँसी-पद ही रहे हैं। यदि नाथ-सन्तों की सम्पूर्ण बानियों को विवेचन-दृष्टि में रखा जाय, तो, कुछ कथन ऐसे मिलते हैं जिनमें तथाकथित 'विरोध' के न रहने पर भी रूढ़ पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से अतिक्रान्त उक्तियाँ हैं, जिनकी सम्भवता लोक-दृष्टि में दुष्कर है। रूपक के रूप में ऐसे विचित्र कथन असम्बद्धता को प्रश्रय देते हैं। इनको समझने के लिए भी विशेष परम्परा, शास्त्रीय प्रतीक-पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। ऐसे कथन उलटवाँसी शैली की व्यापक सीमा में आ जाते हैं। ऐसे कथनों में अभिधेयात्मक रूढ़ प्रयोगों से ही अर्थ का प्रतीति हो जाती है, जबकि दृष्ट विरोध वाले उपमानों की योजना में प्रतीक तथा प्रतीकार्थ के माध्यम से प्रयोक्ता के मन्तव्य को समझा जाता है। सांकेतिक प्रतीकों में अर्थ-ग्रहण की थोड़ी छूट रहती है, जबकि शास्त्रीय-रूढ़ प्रतीकों में सम्प्रदाय में प्रचलित अर्थ को ही प्रधानता दी जाती है। जिन कथनों में विरोधी धर्म वाले प्रतीकों की योजना न रहने पर भी, पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से असम्बद्ध कथन के रूप में कोई विशेषता रहती है अथवा भाव-विरह की अवस्था का कथन रहता है, वे भी उलटवाँसी शैली के अन्तर्गत आते हैं।

उलटवाँसी शैली में लिखित उदाहरण पद्यरूप में ही मिले हैं। इनमें गेय-तत्त्व की प्रधानता देखी जाती है। उलटवाँसी पद-रचना में छन्द का कोई विशेष बन्धन या आग्रह देखने को नहीं मिलता। इस शैली में पद, सबद (शब्द) कुंडलिया, सवैया, अरिल्ल, साखी, सबदी आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग देखा जाता है। पर, विशेष रूप में 'शब्द' अथवा 'पद' छन्द में रचित उलटवाँसी-पद मार्मिक और प्रभावपूर्ण हैं। इसका मुख्य कारण है कि

डॉ० रामधन शर्मा—'नाथपंथी योगियों और कबीर आदि निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त कवियों की कुछ काव्योक्तियों को 'विपर्यय' अथवा 'उलटवाँसी' के नाम से अभिहित किया गया है। इन रचनाओं में जो बात कही गई है वह सामान्यत: लोकदृष्टि में सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है तथापि उसका अर्थ स्पष्ट होने पर वह सीधी और सरल हो जाती है।'[1]

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—'रहस्यवाद की ऐसी सुन्दर रचनाओं के रचयिता होकर भी कहीं-कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कही हैं जो बिल्कुल ऊटपटांग और निरर्थक मालूम होती हैं।...मेरा विचार है, उन्होंने ऐसी रचनाएँ जनता को विचित्रता-समुद्र में निमग्न कर अपनी ओर आकर्षित करने के लिए की हैं। उनकी उल्टवाँसियाँ विचित्रताओं से भरी हैं।'[2]

मानक हिन्दी-कोश—(श्री रामचन्द्र वर्मा) 'उलटवाँसी-उलट+वाची, साहित्य में ऐसी उक्ति या कथन (विशेषत: पद्यात्मक), जिसमें असंगति, विचित्र, विभावना, विषम, विशेषोक्ति-आदि युक्त कोई ऐसी विलक्षण बात कही जाती है, जो प्राकृतिक नियम या लोक-व्यवहार के विपरीत होने पर भी किसी निगूढ़ आशय या तत्त्व से युक्त होती है।'[3]

उक्त कथनों के आधार पर उलटवाँसी शैली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) उलटवाँसी पद-रचना में विरोध और असम्भव की योजना लोगों को आकर्षित करने में समर्थ होती है। (आचार्य शुक्ल)

(२) इस शैली का प्रयोग, आध्यात्मिक अनुभव की अनिर्वचनीयता तथा वैचारिक-दशा की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। (डॉ० बड़थ्वाल)

(३) उलटवाँसी पद-रचना के द्वारा भव-जाल में पड़े हुए लोगों की विपरीत दशा का द्योतन होता है। (डॉ० श्यामसुन्दर दास)

(४) हठयोगी परम्परा के पारिभाषिक शब्दों की योजना से उलटवाँसी शैली प्रभावशाली बनी है। (आचार्य द्विवेदी)

(५) उलटवाँसी-पद में निहित अर्थ को समझ लेने पर विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। (श्री परशुराम चतुर्वेदी)

(६) साधक, ज्ञान-विरह की अवस्था में उलटवाँसी शैली को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। (डॉ० भगीरथ मिश्र)

(७) सन्त लोग, धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए, उलटवाँसी पद-रचना किया करते थे। (डॉ० रामकुमार वर्मा)

---

१. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० १५
२. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (मध्यकाल), पृ० १३७-३८
३. 'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड) पृ० ३८०

(८) उलटवाँसी शैली के प्रतीक रूप में व्यवहृत उपमान विरोधी धर्म वाले हैं। इस शैली का उपयोग सिद्धों की वाणी में भी हुआ है। (डॉ० धर्मवीर भारती)

(६) उलटवाँसी शैली की अभिधा में अर्थकी संगति नहीं बैठती तथा इसमें साधनात्मक अनुभूति और विरोध का होना आवश्यक है। (डॉ० सरनामसिंह शर्मा); शैली का वैचित्र्य प्रकृति-विरोध और विधि-विरोध पर आश्रित रहता है। (डॉ० ओम्प्रकाश)

(१०) उलटवाँसी शैली में रूपक तत्त्व का समावेश हो जाया करता है। (डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित); परन्तु ये रूपक आध्यात्म भावना से सम्बन्धित होते हैं। (डॉ० रांगेय राघव)

(११) उलटवाँसियों में जीव एवं जगत् की समस्या को प्रधानता देते हुए प्रतीकात्मक ढंग से कथन रहता है। (श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र)

(१२) उलटवाँसी पद-रचना पद्यात्मक होती है, जिसमें विरोध गर्भित अलंकारों की विशेष रूप से योजना रहती है। (श्री रामचन्द्र वर्मा); इस शैली में व्यंग्य और वक्रता की विशेष चमक रहती है। (डॉ० नगेन्द्र)

उक्त विशेषताओं में से कुछ का उल्लेख 'प्रयोक्ताओं के कथन-साक्ष्य' शीर्षक में हो चुका है। इन विशेषताओं से अध्ययन-क्षेत्र की सीमा का अनुमान तो हो जाता है; पर इन परिभाषामूलक कथनों का मुख्य आधार कबीर कृत उलटवाँसी-पद ही रहे हैं। यदि नाथ-सन्तों की सम्पूर्ण बानियों को विवेचन-दृष्टि में रखा जाय, तो, कुछ कथन ऐसे मिलते हैं जिनमें तथाकथित 'विरोध' के न रहने पर भी रूढ़ पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से अतिक्रान्त उक्तियाँ हैं, जिनकी सम्भवता लोक-दृष्टि में दुष्कर है। रूपक के रूप में ऐसे विचित्र कथन असम्बद्धता को प्रश्रय देते हैं। इनको समझने के लिए भी विशेष परम्परा, शास्त्रीय प्रतीक-पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। ऐसे कथन उलटवाँसी शैली की व्यापक सीमा में आ जाते हैं। ऐसे कथनों में अभिधेयात्मक रूढ़ प्रयोगों से ही अर्थ का प्रतीति हो जाती है, जबकि दृष्ट विरोध वाले उपमानों की योजना में प्रतीक तथा प्रतीकार्थ के माध्यम से प्रयोक्ता के मन्तव्य को समझा जाता है। सांकेतिक प्रतीकों में अर्थ-ग्रहण की थोड़ी छूट रहती है, जबकि शास्त्रीय-रूढ़ प्रतीकों में सम्प्रदाय में प्रचलित अर्थ को ही प्रधानता दी जाती है। जिन कथनों में विरोधी धर्म वाले प्रतीकों की योजना न रहने पर भी, पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से असम्बद्ध कथन के रूप में कोई विशेषता रहती है अथवा भाव-विरह की अवस्था का कथन रहता है, वे भी उलटवाँसी शैली के अन्तर्गत आते हैं।

उलटवाँसी शैली में लिखित उदाहरण पद्यरूप में ही मिले हैं। इनमें गेय-तत्त्व की प्रधानता देखी जाती है। उलटवाँसी पद-रचना में छन्द का कोई विशेष बन्धन या आग्रह देखने को नहीं मिलता। इस शैली में पद, सबद (शब्द) कुंडलिया, सवैया, अरिल्ल, साखी, सबदी आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग देखा जाता है। पर, विशेष रूप में 'शब्द' अथवा 'पद' छन्द में रचित उलटवाँसी-पद मार्मिक और प्रभावपूर्ण हैं। इसका मुख्य कारण है कि

इन छन्दों का कलेवर, उलवटाँसी के वर्ण्य-विषय को अभिव्यक्त करने में सफल सिद्ध हुआ है ।

इस प्रकार प्रयोक्ता-कथन-साक्ष्य तथा आलोचक-कथन-साक्ष्य रूप विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि उलटवाँसी पद-रचना में कुछ अनिवार्य तत्त्व होते हैं और कुछ सामान्य विशेषताएँ । ये तत्त्व इस शैली के विवच्छेदक तत्त्व हैं, जो इसे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त करने में सहायक हुए हैं । सारांश में वे ये हैं —

(अ) **अनिवार्य तत्त्व :**

(१) विरोध अथवा असम्बद्धता ।
(२) प्रतीक-प्रधान शब्द-वैचित्र्य ।
(३) साधनात्मक अथवा वैचारिक अनुभूति ।

(आ) **सामान्य विशेषताएँ :**

(१) विचित्र प्रकार की अभिधा ।
(२) सम्बोधन का होना ।
(३) गर्वोक्ति जैसा स्वर ।
(४) बूझै, बूझहु, विचारै आदि क्रियापदों का प्रयोग ।
(५) रूढ़ शब्दावली की योजना ।
(६) आत्मविश्वास की ध्वनि ।
(७) विस्मय-सृष्टि ।
(८) प्रतिपक्ष की कल्पना ।
(९) लोक-मार्ग का व्यतिक्रम ।
(१०) गेय तत्त्व ।
(११) रूपक-तत्त्व ।
(१२) व्यंग्य और वक्रता की विशेष चमक ।

उलटवाँसी-रचना के प्रयोजन

प्रत्येक रचना-पद्धति के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अथवा ज्ञात-अज्ञात प्रयोजन रूप में कुछ उद्देश्य हुआ करते हैं । अनुभूति-सघनता को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने केलिए प्रयोक्ता ऐसी शैली को अपनाता है, जिसके द्वारा उसे अपनी अनुभूति के प्रति न्यायपूर्वक संतोष का अनुभव हो । साधनात्मक अथवा वैचारिक अनुभूति व्यावहारिक अनुभूतियों से कहीं अधिक सूक्ष्म और अगम्य होती है । अतः ऐसी अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए शैली में वक्रत्व, विरोधत्व आदि का आ जाना स्वाभाविक ही है । नाथ-संतों, की विशेष शैली उलटवाँसी का मुख्य प्रयोजन अपनी विशिष्ट अनुभूति को संतुष्टि प्रदान करना है । ज्ञान-विरह की अवस्था में साधक की जो अभिव्यक्ति होती है वह रहस्यात्मक आनन्द की अनुभूति से युक्त

रहती है।[1] परन्तु इस अप्रत्यक्ष प्रयोजन के अतिरिक्त प्रयोक्ता भेद तथा कालक्रम के विकास से, उलटवाँसी के कुछ व्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रयोजन भी अनुभूय हैं, जो इस रचना-शैली के विकास में सहायक सिद्ध हुए हैं। ये प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रयोजन इस प्रकार हैं —

(१) विचार अथवा भाव-गाम्भीर्य।
(२) गोपन।
(३) ध्यानाकर्षण अथवा मनोरंजन।
(४) पाण्डित्य अथवा ज्ञान-गुरुता का प्रदर्शन।
(५) लोक-मार्ग का व्यतिक्रम।
(६) बुद्धि वृत्ति को प्रोत्साहन।
(७) परम्परा का निर्वाह।

१. विचार-भाव-गाम्भीर्य :

सामान्यतः किसी भी प्रकार की अनुभूति को भाषाबद्ध करने में कठिनाई पड़ती है।[2] इस पर भी आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रश्न और भी कठिन है। 'ब्रह्मानन्द' की दशा का विश्लेषण, मन और वाणी के द्वारा, कठिन बताया गया है।[3] आचार्य शङ्कर का कहना है कि उस ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति 'मौन व्याख्यान'[4] द्वारा ही संभव है। अभिव्यक्ति सम्बन्धी इस कठिनाई को प्रयोक्ता, विरोधगर्भित कथन के रूप में रखकर अपनी अनुभूति को सन्तुष्ट करना चाहता है, क्योंकि वैखरीभाषा, उस परमात्म तत्त्व तथा साधक-की ज्ञान-विरह एवं भाव-विरह मूलक दशा को, यथातथ्य रूप में प्रकटित करने में असमर्थ

---

१. 'रहस्याभिव्यक्ति अलौकिक आनन्द की तीव्रतम अनुभूति कही जा सकती है। इसलिए रहस्यवादी को विविध सहायक अभिव्यक्ति प्रणालियों की शरण लेनी पड़ती है। इन अभिव्यक्ति प्रणालियों में प्रतीक-पद्धति, समासोक्ति, अन्योक्ति, उलटवाँसी आदि प्रमुख रूप से आती हैं।'
'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन, पृ० ३७१

२. 'मिलन प्रीति किमि जाइ बखानी। कविकुल अगम करम मन वानी॥'
'रामचरित मानस', (अयोध्याकाण्ड)

मेरे मन में भेद बहुत विधि रसना न जानै नयन की दसहि।
जिन देखे ते आहि वचन बिनु, जिन्हैं वचन दरसन न तिसहि॥'
'भ्रमरगीत सार', पद ५१

३. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' 'तैत्तिरीयोपनिषद्', २.४.१

४. 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्न संशयाः।' 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र'

रहती है। वह अनुभूति गूंगे के गुड़ के स्वाद के समान अवर्णनीय रहती है।[१] फिर भी प्रयोक्ता साधक उलटवाँसी शैली के माध्यम से येन केन प्रकारेण उसको अभिव्यक्त करता है। पर, अभिव्यक्ति के समय वाणी, अनुभूति के प्रति न्याय के प्रयत्न से, रूपकतत्त्व एवं प्रतीकों का सहारा लेती है। विषयानुभूति की अतिशयता केलिए द्रष्ट विरोध के द्वारा कुछ अधिक कहा जासकता है, श्रोता के मन तक कुछ अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से पहुँचा जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति सम्बन्धी समस्या का समाधान उलट-वाँसी शैली का प्रमुख प्रयोजन रहा है।

२. गोपन की प्रवृत्ति :

गोपन की प्रवृत्ति रहस्य की प्राचीन प्रवृत्ति कही जा सकती है। उपनिषद् में कहा है कि 'देवगण परोक्षप्रिय के समान तथा प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले हैं।'[२] 'विद्या स्वयं ब्राह्मण के पास आकर बोली कि 'मेरी रक्षा कर। मैं तेरी निधि हूँ। तू निन्दक, कपटी, असंयमी के प्रति मुझे मत कह। वैसा करने पर मैं तेरे लिए वीर्यवती होऊँगी।'[३] आध्यात्मिक विषय के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—'हे उद्धव! वेदों के तीन काण्डों का प्रतिपादित विषय ब्रह्म और आत्मा की एकता है। सभी मंत्र और मंत्रद्रष्टा ऋषि इस विषय को गुप्त भाव से बतलाते हैं और मुझे भी इस बात को गुप्त रूप से कहना अभीष्ट है।'[४] यह गोपन की प्रवृत्ति उलटवाँसी शैली-प्रयोग के मुख्य प्रयोजनों में है। उलटवाँसियों में गुरुगंभीर विचारानुभूति को निगूढ़ रखने के कई कारण हैं—

(अ) ज्ञान रूप दुर्लभ तत्त्व की पवित्रता :

जब प्रयोक्ता साधक विचार अथवा भावना की उच्चदशा को प्राप्त होता है, तो उस स्थिति का वर्णन सीधे-सरल ढंग से करने में अपने को असमर्थ पाता है। फलतः बैन-सैन अर्थात् कुछ वाणी से और कुछ संकेतों से कहने का प्रयत्न करता है। संकेतों से कही हुई बात, प्रतीकात्मक पद्धति में होने के कारण, गुह्य स्वभाव वाली हो जाती है। विषय

---

१. 'कहँ कबीर गूँगे गुड़ खाया पूछे ते क्या कहिये।' 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १७१
'दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाइ।' 'दादूदयाल की बानी (भाग १), पृ० ८५
'भीखा गुँग और गुड़ को लेखा, पर कछु कहे बने ना परे।'
'भीखासाहब की बानी', पृ० ५२

२. 'परोक्ष प्रिया इव देवा प्रत्यक्षद्विष' 'बृहदारण्यकोपनिषद्', ४।२।२

३. 'विद्या ह वै ब्राह्मणामाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथास्याम॥'
'निरुक्तम्' २।१

४. वेदा ब्रह्मात्म विषयास्त्रिकाण्ड विषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥' 'श्रीमद्भागवत', ११।२१।३५

अवाङ्मनस्गोचर होने के कारण, उसमें गुह्य की प्रवृत्ति का आग्रह सहज ही हो जाता है। इस दुर्लभ तत्त्व की पवित्रता बनाए रखने के लिए साधकों ने प्रतीक प्रधान उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया है।

(आ) पात्रत्व की कसौटी :

अध्यात्म विद्या के दुर्लभ तत्त्व सर्व सामान्य के लिए नहीं होते। ये तो भक्ति में रत शिष्य के लिए ही देय हैं।[1] अयोग्य अथवा अनधिकारी के प्रति 'तत्त्व' के कथन करने से विद्या निर्वीर्या हो जाती है।[2] योग्य शिष्य को विद्या-दान करके संत-जन संतोष का अनुभव करते हैं; क्योंकि अधिकारी से गूढ़तत्त्व का छिपाना भी उचित नहीं है।[3] जिज्ञासु अधिकारी के प्रति साधु पुरुष रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं।[4] इस पात्रत्व की कसौटी के लिए उलटवाँसी पद-रचना का शिल्प-विधान सहायक हुआ है।[5]

(इ) साधना-प्रक्रिया को सर्वगम्य न होने देना :

उलटवाँसी शैली का सम्बन्ध सम्प्रदाय विशेष से भी है। और सम्प्रदाय विशेष के साधक अपनी साधना-प्रक्रिया को सर्वगम्य नहीं होने देते। तन्त्रों और सहजयानी सिद्धों की वाणी में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से देखने को मिलती है। विश्वसार तंत्र का कहना है कि प्रकाश में लाने से मंत्र-शक्ति क्षय को प्राप्त होकर सिद्धि की हानि होती है। अतः

---

१. 'देयं शिष्याय शान्ताय विष्णुभक्तिरताय च।' 'सम्मोहन तन्त्र', १६
'श्रृणुतादिमतं तंत्रं पूर्णमन्यानपेक्षया।
गोप्यं सर्वं प्रयत्नेन गोपनं तंत्र चोदितम्॥'
'प्राणमंजरीपटल' ('कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० ४२ से उद्धृत)

२. 'हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता॥' 'हठयोग प्रदीपिका', १।११
'न चाशुश्रवे वाच्यं नाशिष्याय न दंभिने। नाभक्ताय कदाचन।
शठाय कृपणास्याय दंभिकाय सुरेश्वरी। ब्रह्महत्यामवाप्नोति तस्माद्यत्नेन गोपयेत्।'
पांचरात्र ४।७-३

३. 'सुशिष्य परिदत्ता इव विद्या अशोचनीया संवृत्ता।' 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ४।२
'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥'
'रामचरित मानस', (बालकांड)

४. 'कुँजी सतगुरु पास कृपाकरि खोलहिं जबहीं।
बूझहिं जेहि अधिकार वस्तु दिखावहिं तबहीं॥' 'भीखा साहेब की बानी', पृ० ८१

५. 'कबीर में उलटवाँसियों के अधिक प्रयोग का कारण उनकी गूढ़ आध्यात्मिकता भी है। आध्यात्मिक क्षेत्र में शिष्य का पात्रत्व और ब्रह्म-जिज्ञासा अत्यन्त आवश्यक है।'
'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन', पृ० ३७२

'मातृ जारवत्' इसका गोपन करना चाहिए।[1] सहजयानी-सिद्धों और नाथ-योगियों के प्रभाव से संतों की वाणी में साधना-प्रक्रिया को छुपाने की प्रवृत्ति विशेष रूप से देखने को मिलती है। उनका विश्वास था कि इस गोपन-प्रवृत्ति से ही फल की प्राप्ति होती है।[2] उलटवाँसी शैली के प्रश्रय में यह गोपन प्रवृत्ति पुष्ट हुई है।

३. ध्यानाकर्षण अथवा मनोरंजन :

नाथ-संतों की उलटवाँसी पद-रचना का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनके लिए यह जीवन-काल सत्कर्मों के लिए भी अल्प ही है। मन का रंजन करना उनका स्वभाव नहीं था। वे आचारवान् होने से अधिक विचारवान् होने की स्थिति को श्रेष्ठ मानते थे।[3] उलटवाँसियों में वर्णित जो विचारानुभूति है, वह साहित्य के प्रमुख तत्त्व सत्यानुभूति के निकट है। वैसे भी 'मनोमारण' की साधना करने वाले साधकों की वाणी का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं हो सकता। जीवन में विचारवानता के प्रवेश करते ही मनोरंजन की भावना तिरोहित हो जाती है। ज्ञानावस्था में सांसारिक व्यापार प्रतिकूल लगने लगते हैं।[4] अतः उस विचारवानता की स्थिति की ओर आकर्षित करने के लिए प्रयोक्ता साधक उलटवाँसी शैली का प्रयोग करते हैं।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सीधी-सादी बात के प्रति चित्त वृत्ति सहसा केन्द्रित नहीं होपाती। यदि उसी बात को किसी वक्र शैली में प्रस्तुत किया जाय, तो श्रोता का

---

१. 'प्रकाशात् सिद्धि हानीः स्यात् वामाचार गतो प्रिये।
अतो वाम पथे देवी गोपयति मातृजार वत् ॥' 'कबीर की विचारधारा', पृ० ३५५ से

२. 'भेद छिपावे तौ फल पावे काहू सें नहिं कहिये।
वह अद्भुत है ठौर अनूठो बड़भागन सें लहिये ॥'
'चरनदास की बानी' (भाग २), पृष्ठ ५

'भेद न कहिये गुप्तहिं रहिये, कठिन अहै संसारी।'
'गहि मत मंत्र रहे अंदर महं नाहीं कहि गोहरावै।' } 'जगजीवन साहब की शब्दावली' (भाग २), पृ० १५ तथा १७

'दूलन यह मत गुप्त है, प्रगट न करो बखान।
ऐसे राखु छिपाय मन, जस विधवा औधान ॥' 'दूलनदास की बानी', पृ० ६

३. 'कोटि अचारी एक बिचारी, तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग मर्‌या, बिचारी विरला कोइ ॥'
'दादूदयाल की बानी' (भाग १), पृ० १८१

४. 'ज्ञान-विरह में संसारकी सब बातों को देखकर आश्चर्य होता है और सांसारिक व्यापार प्रतिकूल लगते हैं। आत्मा इस अवस्था में संसार को अपने अनुकूल नहीं पाती। इस दशा का वर्णन कठिन है और यह आत्मदर्शन के साथ की दशा है। कबीर और तुरसी आदि संतो ने इसका वर्णन उलटवाँसी के रूप किया में है।'
'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी', पृ० ६६

ध्यान सहज ही आकर्षित हो जाता है। उदाहरण केलिए यदि किसी समाचार पत्र में शब्दों के उलटे या विपरीत क्रम को अपनाकर कोई विज्ञापन दिया गया हो, अथवा किसी कक्ष में कोई उलटा-सीधा चित्र लटका दिया गया हो, तो दर्शक का ध्यान सहज ही उसकी ओर आकर्षित होजाता है। उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता संतों ने, लोक-धारा में बहे जाते हुए जीवों का ध्यान केन्द्रित करने केलिए, विरोधगर्भित असम्बद्ध कथनों, प्रतीकों या विरोधी धर्म वाले उपमानों के द्वारा, अपनी अनुभव प्रक्रिया को प्रस्तुत किया है जिससे श्रोता की मानसिक एकाग्रता कथन के प्रति सहज ही केन्द्रित होने लगती है। उलटवाँसी शैली के प्रयोग द्वारा वे इस प्रयोजन में सफल हुए हैं।

४. पाण्डित्य अथवा ज्ञान-गुरुता प्रदर्शन :

लोक-भाषा के माध्यम से उलटवाँसियों में जो उक्ति-वैशिष्ट्य मिलता है, वह प्रयोक्ता संतों की बहुश्रुतता को द्योतित करता है। 'उक्ति-वैशिष्ट्य'[१] के रूप में उलटवाँसी रचना अपने प्रयोजन में सफल रही है। कूट-काव्य परम्परा की इस उलटवाँसी शैली की रचनाओं में जो क्लिष्ट-कल्पना दिखाई देती है, उसका एक प्रयोजन, पण्डित मान्य प्रतिपक्षी को, पराभूत करने जैसा है। संतलोग पुस्तक-ज्ञान पर बने पण्डित को 'पण्डित' नहीं मानते।[२] प्रत्युत जो अनुभव के आधार पर पण्डित बनता है, जो गूढ़ोक्ति का अर्थोद्बोधन करने में समर्थ होता है, वही यथार्थ में पण्डित है। उलटवाँसी पद-रचना के द्वारा ऐसे पण्डित[३], ग्याता, पांड़े, अवधू आदि को पराभूत करने का प्रयोजन हृष्ट रहता है।[३] इससे प्रयोक्ता की वैचारिक श्रेष्ठता तथा बहुज्ञता एवं प्रतिपक्षी की अल्पज्ञता द्योतित होती है। प्राय: ऐसे कथनों में गर्वोक्ति जैसा लगने वाला आत्मविश्वास मुखर रहता है। उलटवाँसी शैली के परवर्ती प्रयोक्ताओं में पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना साम्प्रदायिक मंच की प्रतिष्ठा केलिए भी प्रयुक्त हुई है, क्योंकि यह धारणा रही है कि 'जहाँ चमत्कार नहीं, वहाँ नमस्कार नहीं।'[४]

५. लोक-मार्ग का व्यतिक्रम :

'उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता नाथ-संत 'लीक छोड़ि तीन्यों चलें सायर सिंघ सपूत' के हामी' थे।'[५] इसीलिए उन्होंने अपनी सत्यानुभूति को ऐसी शैली के माध्यम से अभिव्यक्त

१. 'उत्ति विसेसो कव्वं भासा जा होउ सा होउ ॥' 'कर्पूरमंजरी', १।७ अर्थात् उक्तिविशेष ही काव्य है, भाषा चाहे जो भी हो।
२. गुण्या सूवा बिलाई पाया पण्डित के हाथि रह गई पोथी, ।' 'गोरख-बानी,' पृ० ४२
३. 'कहँहि कबिर हम जात पुकारा, पण्डित होइ सो लेहु विचारा।' 'कबीर बीजक', पृ० १६५
४. देखिये 'हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त-काव्य', पृ० ३०२
५. 'नाथ सम्प्रदाय की आचार-निष्ठा, विवेक-सम्पन्नता, अंधविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकाण्डों की निरर्थकता सन्त सम्प्रदाय में सीधी चली आई हैं। यहाँ तक कि उल्टवाँसियों की कुतूहल जनक शैली भी सन्तों को नाथ सम्प्रदाय से ही प्राप्त हुई।' 'हिन्दी साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

किया है, जो लोकानुमोदित नहीं है। परम्परा-प्रवाह अथवा रूढ़िग्रस्त मार्ग पर चलकर जीवन के मूल अथवा स्रोत तक पहुँचने में उन्हें विश्वास नहीं है।[1] परम्परा-व्यतिक्रम कराने में उलटवाँसी शैली का उपयोग सफल कहा जा सकता है।

६. बुद्धि-वृत्ति को प्रोत्साहन :

संतों के अनुसार 'बूझ विचार के बिना लोक मिथ्या दधि खाने के लिए लालायित रहता है।'[2] त्रिभुवन के रहस्य को समझने केलिए 'बूझवृत्ति' का होना आवश्यक है।[3] अतः अज्ञानवश भव-धारा में बहे जाते हुए सामान्य जीवों की बुद्धिवृत्ति को प्रोत्साहित करने, विचार पूर्वक जीवन-निर्वाह करने केलिए संतों ने असम्बद्ध वाक्यावली प्रधान उलटवाँसी शैली का उपयोग किया है। साथ ही उन प्रारम्भिक अवस्था वाले साधकों के लिए, जो सम्प्रदाय विशेष में प्रविष्ट होने वाले हैं, उनकी वृत्ति को इस शैली के प्रयोग के द्वारा विस्मय विमुग्ध करके आकर्षित करने का कार्य भी किया जाता रहा होगा। प्रारम्भिक साधक विरोधी धर्म वाले उपमानों में छिपे हुए प्रयोक्ता के मन्तव्य को समझने केलिए प्रयत्न करता है। इससे उसकी बोध-वृत्ति उस दिशा में प्रबुद्ध होने लगती है।

वक्र स्वभाव वाली इस उलटवाँसी शैली में साधनात्मक अनुभूति, की गहनता रहती है। अतः प्रतीकों के माध्यम से सीमित शब्दों में ही अधिक बात कह दी जाती है। अर्थगाम्भीर्यपूर्ण इस पद-रचना का अर्थ-विस्तार बुद्धि-वृत्ति के द्वारा ही सम्भव है। अतः इस शैली की प्रकृति के कारण श्रोता की बुद्धि-वृत्ति को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही है।

७. शैली प्रयोग में परम्परा-निर्वाह :

कुछ सन्तों ने परम्परा-निर्वाह केलिए भी इस शैली का उपयोग किया है। ऐसे सन्तों की प्रकृति-प्रवृत्ति, उलटवाँसी शैली के प्रयोग की न होते हुए भी, असम्बद्धकथनों, रूढ़-पारिभाषिक शब्दों, प्रतीक प्रयोगों आदि के द्वारा अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने की है। ऐसे सन्त कवियों के उलटवाँसी पदों में कल्पना अथवा प्रयोग सम्बन्धी विदग्धता के दर्शन नहीं होते। उदाहरण केलिए रैदास, मलूकदास, मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई

---

१. अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
भेरे चढ़े सु अधधर डूबे निराधार भये पार॥
ऊघट चले सु नगरि पहूँते बाट चले ते लूटे॥' 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १४७

२. 'तुलसी बूझ विचार बिन दुनिया दधि को जाय।
तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय॥'
'तुलसी साहेब की शब्दावली' (भाग १), पृ० ३४

३. 'याहि हियाली जे कोइ बूझै, ता जोगी को त्रिभुवन सूझै॥' 'गोरख-बानी', पृ० १२०
'कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै।' 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९२

आदि ऐसे ही संत कवि-कवयित्रियाँ हैं, जिनकी बानियों में उलटवाँसी शैली का प्रयोग परम्परा-निर्वाह मात्र केलिए ही प्रतीत होता है।[1]

उलटवाँसियों का वर्गीकरण

मूल रूप में उलटवाँसी एक शैली है, जिसके माध्यम से प्रयोक्ता नाथ-सन्त कवियों ने दार्शनिक मान्यताओं और साधनात्मक अनुभूतियों आदि को, बहुविधि प्रयोजनों की सिद्धि केलिए, अभिव्यक्ति प्रदान की है। अतः हिन्दी-साहित्य में उपलब्ध उलटवाँसियों को विषयानुसार[2] वर्गीकृत कर देना ही समीचीन नहीं है, वरन् शैली और प्रयोजन की दृष्टि से भी उलटवाँसी-साहित्य का वर्गीकरण अपेक्षित है।

(क) शैली की दृष्टि से वर्गीकरण :

उलटवाँसियों में जो कल्पना, रूपक और विरोध तत्त्व दिखाई देते हैं, उनमें व्युत्पत्ति जन्य चारुता के न होते हुए भी प्रतिभा जन्य विदग्धता दिखाई देती है।[3] उलटवाँसियों की

---

१. 'प्रथम पैठि पाताल सूं, धमकि चढ़ै आकास।
दया सुरति नदिनी भई, बाँधि बरत निज स्वास॥'

'संतवानी संग्रह (प्रथम भाग), पृ० १६६

'फागुन के दिन चार होरी खेल मना रे॥
बिन करताल पखावज बाजै अनहद की झङ्कार रे।
बिन सुर राग छतीसूं गावै रोम रोम रणकार रे।'

'ब्रजचन्द्र चकोरी मीरा' (भाग २), पृ० ३६

२. श्री परशुराम चतुर्वेदी ने विषयानुसार कबीर की उलटवाँसियों के वर्गीकरण का प्रयास किया है। उनके अनुसार 'कबीर साहब की उलटवाँसियों का वर्गीकरण विषयानुसार करने पर पता चलता है कि वे प्रधानतः पाँच प्रकार की हो सकती हैं—(१) वे जिन में सांसारिक भ्रम, प्रपंच, व्यवहार जैसे विषय आते हैं और वे भी जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओं की चर्चा करती हैं; (२) वे जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय पाया जाता है; (३) वे जिनमें ज्ञान-विरह, सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहा करता है; (४) वे जिनमें आत्मज्ञान माया, काल, सृष्टि एवं मन जैसे विषयों के स्वरूप का परिचय दिया गया है (५) और वे जिनके द्वारा कबीर साहब सर्व-साधारण को किसी न किसी रूप में अपना संदेश देते जान पड़ते हैं।' 'कबीर साहित्य की परख', पृ० १६१-६२

३. 'भक्ति युग के पूर्वार्ध में निर्गुण सन्तों की वाणी को भी वक्रता का बल प्राप्त था, कबीर की कविता में व्युत्पत्ति जन्यचारुता तो विशेष नहीं है, परन्तु प्रतिभा जन्य विदग्धता अधिक है। वास्तवमें उन्होंने चमत्कार-शैली का सप्रभाव प्रयोग किया है। व्यंग्य और वक्रता की चमक उनकी 'सीधी' और 'उलटी' दोनों वाणियों में मिलती है। मूलतः तो ध्वनिवादी होने के कारण काव्यशास्त्र के ध्वनिवाद से ही उनका घनिष्ट सम्बन्ध है।' डॉ० नगेन्द्र ('हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' भूमिका, पृ० २५३)

यह 'विदग्धता' तीन रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है:—विरोध पर आश्रित, सादृश्य पर आश्रित, गूढ़ार्थप्रतीति पर आश्रित। शैली की दृष्टि से उलटवाँसी-साहित्य इन तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(१) **विरोध पर आश्रित वर्गीकरण** : इस वर्ग में वे सभी उलटवाँसियाँ आती हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार का विरोध दृष्ट रहता है। यह विरोध भी तीन रूपों[1] में देखा जा सकता है—(अ) विधि विरोध, (आ) प्रकृति-विरोध तथा (इ) धर्म या गुण विरोध।

(अ) **विधि-विरोध** : जिन उलटवाँसी-पदों में विधि, नियम, लोक-मर्यादा, प्रणाली, व्यवस्था, शास्त्रोक्त विधान आदि का व्यतिक्रम रहता है, अर्थात् वाच्य रूप में किसी न किसी प्रकार से विरोधी प्रतीक-उपमान या कथन रहते हैं, वे विधि-विरोधक उलटवाँसियाँ कहलाती हैं। जैसे —

गोरखनाथ —'अवधू ईश्वर हमारे चेला भणीजै मछींद्र बोलिये नाती।
निगुरी पिरथी परलै जाती तार्थं हम उलटी थापना थापी।'[2]
'एक जु रढ़िया रढ़ती आई, बहू बिवाई सासू जाई।'[3]

कबीर — 'पहलैं पूत पीछैं भई माइ चेला के गुर लागै पाइ।'[4]
'जलि जाई थलि ऊपजी, आई नगर मैं आप।
एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप॥
बाबुल मेरा ब्याह करि वर उत्यम ले चाहि।
जब लग वर पावै नहीं, तब लग तूं हीं ब्याहि॥'[5]

सुन्दरदास — 'परधन हरैं करै पर निन्दा पर घी कौं रापै घर माँहि।
मांस पाइ मदिरा पुनि पीवैं ताहि मुक्ति को संशय नाँहि॥
अकर्म ग्रहै कर्म सब त्यागै ताकी संगति पाप नसाहिं।
ऐसी कहै सु संत कहावै सुन्दर और उपजि मरि जांय।'[6]

तुलसी साहब—'देखो अचरज भाई रे, कहूँ कहा न जाई॥ टेक॥
धी धर ब्याह बाप ने कीन्हा, माता पुत्र बियाही।

---

१. सायण ने 'शास्त्र-विरोध', 'दृष्ट-विरोध' तथा 'शास्त्र-दृष्ट-विरोध' रूप में विरोध तीन प्रकार का बताया है। ('शास्त्र विरोधो दृष्ट विरोध : शास्त्र दृष्ट विरोध : इति त्रिविधो विरोधोऽर्थवादेषुपलभ्यते। तथाहि 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' इत्यत्र श्रूयमाणं माननं चौर्य वाचिकमनृत वदनं च प्रतिषेध शास्त्रेण विरुद्धम्।'
'ऋग्वेद-संहिता' प्रथममण्डलम्, प्रथमोऽष्टक, :, पृ० १०

२. 'गोरख-बानी', पृ० ५०

३. वही, पृ० १४२

४. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ६१

५. वही, पृ० ६२

६. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २२

भैया भाव व्याह बहिनी सँग उलटी रीति चलाई रे ।।
चमरा लगन सोधि लिखि लाये, बम्हना चाम चढ़ाये ।
नउवा नैन सैन सकुचाने, व्याह बराती आये रे ।।'[1]

उक्त उदाहरणों में ईश्वर को चेला गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को नाती, वधू के विवाहित होने पर सानुलि का ससुरालय को गमन अथवा वधू के प्रसूतिवती होने पर सास का जन्म, गुरु के द्वारा शिष्य के पैर लगना; बाबुल से पुत्री का विवाह परधन का अपहरण पर स्त्री को घर में रखना आदि तथा भैया का भगिनी के साथ विवाह चर्मकार का लग्न-शोधन, ब्राह्मण का चर्म-कर्म आदि कथन विधि-विरोधक हैं। अतः ऐसे उदाहरण विधि-विरोधी उलटवाँसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

(आ) **प्रकृति विरोध** : जिन उलटवाँसी-पदों में, प्रतीक रूप में गृहीत प्रायः मानवेतर प्राणियों के माध्यम से उनकी प्रधान प्रवृत्ति, अथवा स्वभाव से विपरीत कथन अथवा एक जीव की प्रकृति दूसरे जीव की प्रकृति में घटित करके, वर्णन रहता है, वे प्रकृति-विरोधी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे उदाहरणों में जीवों की प्रधान प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्यों या क्रियाओं का कथन रहता है। जैसे बिल्ली का एक स्वभाव है चूहे को खाना; चील्ह का स्वभाव है मांस खाना; शेर का स्वभाव है अपने भोज्य जीवों का शिकार करना; मछली का स्वभाव है जल में प्रसूतिवती होना, सुखानुभूति करना; गरुड़ का स्वभाव है आकाश में तीव्रगति से गमन; अजगर का स्वभाव है भूमि पर सुस्ती के साथ पड़े रहना; सर्प का स्वभाव है मूषक को खाजाना। परन्तु जब ये प्रतीक रूप जीव अपनी विशेष प्रवृत्ति* के विरुद्ध क्रिया करते हुए अथवा कार्य सम्पन्न किये हुए के रूप में वर्णित हों, तो वे प्रकृति-विरोधी वर्ग की उलटवाँसियों में आते हैं। उदाहरण केलिए—

गोरखनाथ — चलि रे अविला कोयल मौरी ।
गइयाँ बपड़ी सिंघ ने घेरैं । मृतक पसू सुद्र कूं उचरैं ।।'[2]
'चींट्यां परवत ढोल्या रे अवधू, गांयां बाघ बिडार्‌या जी ।
सुसलै समदां लहरि मनाई, म्रघाँ चीता मार्‌या जी ।।'[3]

कबीर — 'एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ।। टेक ।।
जल की मछली तरवर व्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ।
बैलहि डारि गूंनि घर आई कुत्ता कूं लै गई बिलाई ।।'[4]

---

१. 'तुलसी साहिब की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० १३९

* टिप्पणी—'प्रवृत्ति' मात्र केलिए ही 'स्वभाव' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे वस्तु या जीव का 'नित्य-धर्म' अर्थ में ही स्वभाव शब्द का प्रयोग होता है।

२. 'गोरख-बानी', पृ० १५२

३. वही, पृ० १५४

४. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० ९२

तुरसीदास निरंजनी—

'जल माँही एक झल उठी, सीतल सुधि-सुभाव ।
तुरसी ता पावक महीं, मीन करैं बिचराव ।।'[१]

सुन्दरदास — मछली बुगला कौं ग्रस्यौ देषहु याके भाग ।
सुन्दर यह उलटी भई मूसै षायौ काग ।।[२]

दरिया साहब (मारवाड़ वाले)—

'अब मेरे सत गुरु करी सहाई, मैं आपहि में थित पाई ।। टेक।।
अजगर उड़ा सिखर को डाँका, गरुड़ थकित होय बैठा ।
भौम उलट कर चढ़ी अकासा, गगन भौम में पैठा ।।
सिंघ भया जाय स्याल अधीना, मच्छ चढ़ै अकासा ।
कुरम जाय अगना में सोता, देखैं खलक तमासा ।।'[३]

पलटू साहब—'महुवा में लागा दाख भाँग में भया लुबाना ।
साँप के बिल के बीच जायके मूस लुकाना ।।'[४]

उपलब्ध उलटवाँसी-साहित्य में प्रकृति-विरोध वाली उलटवाँसियों के उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं। इस वर्ग की उलटवाँसियों में, प्रयोक्ता संत-कवियों का कल्पना-वैविध्य द्रष्टव्य है।

(इ) **धर्म-विरोध** : 'किसी वस्तु या व्यक्ति की वह नित्यवृत्ति, गुण या लक्षण जो उससे कभी अलग न हो; जैसे आग का धर्म दाह है'[५] 'धर्म' कहलाता है। अर्थात् वह नित्य-धर्मा गुण जो प्राकृतिक-पदार्थ, शरीरांग अथवा वस्तु-विशेष में विद्यमान रहता है, वह उसका धर्म है। जिन उलटवाँसी पदों में प्राकृतिक पदार्थों अथवा शरीर के अंग विशेष को भिन्न धर्म वाला अथवा विरुद्ध धर्म वाला बताया गया है, वे धर्म-विरोध वर्ग की उलटवाँसियाँ हैं। जैसे —

गोरखनाथ —'बूझौ पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरख बोलै जाण सुजांनं ।। टेक ।।
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरपा पांन फूल बिन फलिया ।
बांझ केरा बालूड़ा प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।।'[६]
'लूंण कहै अलूंणां वावू, घृत कहै मैं रूपा ।
अनल कहै मैं प्यासा मूवा अंन कहै मैं भूखा ।।

---

१. 'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी', पृ० ३६ से
२. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २०
३. दरिया साहिब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ४५
४. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७४
५. 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर', पृ० ५००
६. 'गोरख-बानी', पृ० १०८

पावक कहै मैं जाडण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा ।
अनहद मृदंग बाजे, तहां पांगुल नाचन लागा ।।'[१]
'चलि रे अविला कोयल मौरी, धरती उलटि गगन कूँ दौरी ।
गईयां बपड़ी सिंघ ने घेरें, मृतक पसू सूद्र कूँ उचरै ।।'[२]

कबीर— 'आगैं आगैं दौं जलै, पीछें हरिया होइ ।
बलिहारी ता बिरष की, जड़ काट्याँ फल होइ ।।'
'अंबर बरसे धरती भीजे, यहु जाणैं सब कोई ।
धरती बरसे अंबर भीजैं, बूझे बिरला कोई ।।'[४]
'ऊँचे टीबैं मछ बसत है, ससा बसे जल माँहीं ।।
परवत ऊपरि लोक डूबि मूवा, नीर मूवा धूँ काँहीं ।।
जलै नीर तिण षड सब उबरैं बैसंदर लै सींचे ।
ऊपरि मूल फूल तिन भीतरि, जिनि जान्या तिनि नीके ।।'[५]

तुरसीदास निरंजनी— 'पानी में प्रवेस किये, महर भहर बरैं अंग ।
तुरसी पावक परस ते उपजै गंग तरंग ।।'[६]

तुलसी साहब (हाथरस वाले)—
'लखि अकास इक होंमाँ पंछी । रहत गगन के माँही जी ।।
पंख न चोंच चरन नहिं वाके । सकल भवन चरि खाई जी ।।'[७]

सुन्दरदास—'अन्धा तीनि लोक कों देखे बहिरा सुनै बहुत विधि नाद ।
नकटा बास कमल की लेवे गूंगा करै बहुत संवाद ।।
टूंटा पकरि उठावै पर्वत पंगुल करै नृत्य अहलाद ।
जो कोउ याको अर्थ विचारै सुन्दर सोई पावै स्वाद ।।'[८]

संत शिवदयाल-'मात पिता दोउ जने, पूत ने बैठ खटोली ।
मछली चढ़ी अकाश, धरन कर डारी पोली ।।
चाँद सूर पाताल से निकले पट खोली ।
अमृत पी पी मरें, जहर की गाँठी खोली ।।'[९]

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० ११७-१८
२. 'गोरख-बानी', पृ० १५२
३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ८६
४. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १४२
५. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १४७
६. 'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी', पृ० ३९
७. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग १), पृ० १००
८. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २२
९. 'सार बचन छंद बंद' (दूसरा भाग), पृष्ठ ४५५-५६

२. सादृश्य पर आश्रित वर्गीकरण :

सादृश्य दो प्रकार का होता है — 'एक वह जिसमें आकार-प्रकार का साम्य रहता है और दूसरा वह है, जिसमें गुण एवं क्रिया का साम्य रहता है। इसमें प्रभाव साम्य भी प्रच्छन्न अथवा गौण रूप से रहता है।'[1] समता को व्यंजित करने वाले शब्द सादृश्य वाचक कहलाते हैं। ये शब्द समान, सा, से, सी, ज्यों, जैसे, जिमि, तुल्य आदि हैं। इनका प्रयोग प्रायः उपमालंकार में होता है, परन्तु यह सर्वत्र आवश्यक नहीं है कि उक्त सादृश्य वाचक शब्दों द्वारा ही वस्तु का साधर्म्य वाच्य हो, वह प्रतीयमान भी हो सकता है। रूपक तत्त्व पर आधारित भाव-विरह में लिखी गई उलटवाँसियों में प्रायः यह प्रतीयमान सादृश्य देखने को मिलता है। उलटवाँसियों के इस सादृश्य-निर्वाह में प्रतीक-चयन का बहुत बड़ा हाथ है। जिन प्रतीकों में बिम्ब-विधान के आधार पर गुणों, कार्यों अथवा विशेष परिस्थिति की प्रतीति होती है, ऐसे उलटवाँसी-पद सादृश्य-वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसी उलटवाँसियों में रूपकतत्त्व और प्रतीकों के सादृश्य पर जो बिम्ब निर्मित होता है, उसमें एक चित्र, एक परिस्थिति की अनुभूति होती है। ऐसी उलटवाँसियाँ प्रायः भावनातिशय में लिखी गई रहती हैं। इस वर्ग की कुछ उलटवाँसियों में सांगरूपक तत्त्व भी दृष्ट रहता है। कुछ उदाहरण पठनीय हैं :—

कबीर— 'मैं सासने पीव गौंहनि आई।
सांई संगि साध नहीं पूगी, गयां जोबन सुपिनां की नांई ॥ टेक ॥
पंच जनां मिलि मँडप छायो, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गांवैं, सुख दुख माथै हरद चढ़ाई ॥
नांनां रंगे भांवरि फेरी, गाँठि जोरि बावै पतिताई ॥
पूरि सुहाग भयां बिन दूलह, चौक के रंगि धर्यो सगौ भाई।
अपने पुरिष मुख कबहूँ न देख्यौ, सती होत समधी समझाई।
कहै कबीर हौं सलि रचि मरि हूँ, तिरौं कंत ले तूर बजाई ।।'[2]
'सेजें रहूँ नैन नहीं देखों, यह दुख कासों कहूँ हो दयाल ॥ टेक ॥
सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर के विरह जरौं हो दयाल ॥
बाप सावको करै लराई, माया सद मतिवाली।
सगौ भईया ले सलि चढ़िहूँ, तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी ॥'[3]

प्रथम उदाहरण में विवाह-रूपक के आधार पर, विशिष्ट वाक्य-योजना के द्वारा, जो विवाह का बिम्ब प्रस्तुत किया है, वह जीवात्मा की विशेष परिस्थिति को प्रकट करता है। 'पूरि सुहाग भयां बिन दूलह' जैसे असम्बद्ध कथनों में उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है। ऐसे

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग), पृष्ठ ८३४
२. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० १६४-६५ ३. वही, पृष्ठ १६६

उदाहरण विधि-विरोध के अन्तर्गत आ सकते हैं, परन्तु यहाँ रूपकतत्त्व के अभाव में इस प्रकार का सामूहिक विम्ब निर्मित नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में सादृश्य के बल पर किसी नव परिणीता की सामाजिक परिस्थिति का चित्रण अथवा किसी जीवात्मा की सांसारिक दशा की अनुभूति प्रस्तुत की गई है। कुछ और उदाहरण—

धनी धरमदास—'साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई।.टेक॥
तीन पाँच मोरि चोलिया के घुंडी, लागी कुमति सुमतिया की पाती।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती॥
सुनहु हो मोरी पार परोसिन, यह चोलिया विरला जन जानी।
पहिले बियाह मोर भयो सदगुरु से, चोलिया के बंद मोरे सतगुरू खोली।'[1]

जगजीवन साहब—'रँगि रँगि चँदन चढ़ावहु, साँई के लिलार रे॥ टेक॥
मन तें पुहुप माल गूँथि कै, सो ले के पहिरावहु रे।
बिना नैन तें निरखू देह छबि, बिन कर सीस नवावहु रे॥'[2]
'साधो इक बासन गढ़ै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अंत न पावौं, कैसे सिरजनहार॥
अग्नि उठाय निकासत पानी, रचि रँगि रूप सँवार।
तीन चौथ दरवाज बनायो, नौ महँ नाहिं किवार॥
भीतर रंग बिरँगें तिरँग, उठत अहहिं धुंधकार।
पवन ब्रह्म तहँ बाजहिं आपुहिं, आप बजावनहार॥'[3]

दरिया साहब (मारवाड़ वाले)—
'पतिव्रता पति मिली है लाग। जहँ गगन मँडल में परम भाग॥ टेक॥
जहँ जल बिन कँवला बहु अनंत। जहँ बपु बिन भौंरा गोह करंत॥
अनहत बानी अगम खेल। जहँ दीपक जरै बिन बाती तेल॥
जहँ अनहद सब्द है करत घोर। बिन मुख बोले चात्रिक मोर॥
बिन रसना गुन बदत नार। पाँव बिन पातर निरतकार॥
जहँ जल बिन सरवर भरा पूर। जहँ अनंत जोत बिन चन्द सूर॥
बारह मास जहँ ऋतु बसंत। ध्यान धरैं जहँ अनंत संत॥'[4]

पलटू साहब—'खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान॥टेक॥
जोरू गावै तान फिरा अहिबात हमारा।
झूठ सकल संसार माँग भरि सेंदुर धारा॥
हम पतिवरता नारि खसम को जियते मारी।
वा को मूड़ौं मूड़ सरवर जो करै हमारी॥

---

१. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली', पृ० ६४
२. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (दूसरा भाग), पृ० ३६
३. वही, पृ० ४२-४३
४. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ३७-३८

२. सादृश्य पर आश्रित वर्गीकरण :

सादृश्य दो प्रकार का होता है — 'एक वह जिसमें आकार-प्रकार का साम्य रहता है और दूसरा वह है, जिसमें गुण एवं क्रिया का साम्य रहता है। इसमें प्रभाव साम्य भी प्रच्छन्न अथवा गौण रूप से रहता है।'[1] समता को व्यंजित करने वाले शब्द सादृश्य वाचक कहलाते हैं। ये शब्द समान, सा, से, सी, ज्यों, जैसे, जिमि, तुल्य आदि हैं। इनका प्रयोग प्रायः उपमालंकार में होता है, परन्तु यह सर्वत्र आवश्यक नहीं है कि उक्त सादृश्य वाचक शब्दों द्वारा ही वस्तु का साधर्म्य वाच्य हो, वह प्रतीयमान भी हो सकता है। रूपक तत्त्व पर आधारित भाव-विरह में लिखी गई उलटवाँसियों में प्रायः यह प्रतीयमान सादृश्य देखने को मिलता है। उलटवाँसियों के इस सादृश्य-निर्वाह में प्रतीक-चयन का बहुत बड़ा हाथ है। जिन प्रतीकों में बिम्ब-विधान के आधार पर गुणों, कार्यों अथवा विशेष परिस्थिति की प्रतीति होती है, ऐसे उलटवाँसी-पद सादृश्य-वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसी उलटवाँसियों में रूपकतत्त्व और प्रतीकों के सादृश्य पर जो बिम्ब निर्मित होता है, उसमें एक चित्र, एक परिस्थिति की अनुभूति होती है। ऐसी उलटवाँसियाँ प्रायः भावनातिशय में लिखी गई रहती हैं। इस वर्ग की कुछ उलटवाँसियों में सांगरूपक तत्त्व भी दृष्ट रहता है। कुछ उदाहरण पठनीय हैं :—

कबीर— 'मैं सासने पीव गौंहनि आई।
सांई संगि साध नहीं पूगी, गयौ जोबन सुपिनां की नांई ॥ टेक ॥
पंच जनां मिलि मँडप छायौ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गावैं, सुख दुख माथै हरद चढ़ाई ॥
नांनां रंगे भांवरि फेरी, गाँठि जोरि बावै पतिताई ॥
पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक के रंगि धर्‍यो सगौ भाई।
अपने पुरिष मुख कबहूँ न देख्यौ, सती होत समधी समझाई।
कहै कबीर हौं सलि रचि मरि हूँ, तिरौं कंत ले तूर बजाई ॥'[2]
'सेजें रहूँ नैन नहीं देखौं, यह दुख कासौं कहूँ हो दयाल ॥ टेक॥
सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर के बिरह जरौं हो दयाल ॥
बाप सावको करै लराई, माया सद मतिवाली।
सगो भईया लै सलि चढ़िहूँ, तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी ॥'[3]

प्रथम उदाहरण में विवाह-रूपक के आधार पर, विशिष्ट वाक्य-योजना के द्वारा, जो विवाह का बिम्ब प्रस्तुत किया है, वह जीवात्मा की विशेष परिस्थिति को प्रकट करता है। 'पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह' जैसे असम्बद्ध कथनों में उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है। ऐसे

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग), पृष्ठ ८३४
२. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० १६४-६५
३. वही, पृष्ठ १६६

उदाहरण विधि-विरोध के अन्तर्गत आ सकते हैं, परन्तु यहाँ रूपकतत्त्व के अभाव में इस प्रकार का सामूहिक विम्ब निर्मित नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में सादृश्य के बल पर किसी नव परिणीता की सामाजिक परिस्थिति का चित्रण अथवा किसी जीवात्मा की सांसारिक दशा की अनुभूति प्रस्तुत की गई है। कुछ और उदाहरण—

धनी धरमदास—'साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई। टेक ॥
तीन पाँच मोरि चोलिया के घुंडी, लागी कुमति सुमतिया की पाती।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती ॥
सुनहु हो मोरी पार परोसिन, यह चोलिया विरला जन जानी।
पहिले वियाह मोर भयो सदगुरु से, चोलिया के बंद मोरे सतगुरू खोली।'[1]

जगजीवन साहब—'रँगि रँगि चँदन चढ़ावहु, साँई के लिलार रे ॥ टेक ॥
मन तें पुहुप माल गूँथि कै, सो ले के पहिरावहु रे।
विना नैन तें निरखू देह छवि, बिन कर सीस नवावहु रे ॥'[2]
'साधो इक बासन गढ़ै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अंत न पावौं, कैसे सिरजनहार ॥
अग्नि उठाय निकासत पानी, रचि रँगि रूप सँवार।
तीन चौथ दरवाज बनायो, नौ महँ नाहिं किवार ॥
भीतर रंग बिरँगैं तिरँग, उठत अहहिं धुधकार।
पवन ब्रह्म तहँ बाजहिं आपुहिं, आप बजावनहार ॥'[3]

दरिया साहब (मारवाड़ वाले)—
'पतिव्रता पति मिली है लाग। जहँ गगन मँडल में परम भाग ॥ टेक ॥
जहँ जल बिन कँवला बहु अनंत। जहँ वपु बिन भौंरा गोह करंत ॥
अनहत बानी अगम खेल। जहँ दीपक जरै बिन बाती तेल ॥
जहँ अनहद सब्द है करत घोर। बिन मुख बोले चात्रिक मोर ॥
बिन रसना गुन बदत नार। पाँव बिन पातर निरतकार ॥
जहँ जल बिन सरवर भरा पूर। जहँ अनंत जोत बिन चन्द सूर ॥
बारह मास जहँ ऋतु बसंत। ध्यान धरैं जहँ अनंत संत ॥'[4]

पलटू साहब—'खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥टेक॥
जोरू गावै तान फिरा अहिवात हमारा।
भूठ सकल संसार माँग भरि सेंदुर धारा ॥
हम पतिवरता नारि खसम को जियते मारी।
वा को मूड़ौं मूड़ सरबर जो करै हमारी ॥

---

१. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली', पृ० ६४
२. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (दूसरा भाग), पृ० ३६
३. वही, पृ० ४२-४३
४. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ३७-३८

दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँध परोसिन ।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ।।
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरबान ।
खसम विचारा मरि गया जोरू गावै तान ।।'[1]
'फूहरि धोवै दाग छुटे ना और बढ़ावै ।
ज्यों ज्यों मलै बनाय सारे लहँगा फैलावै ।।
गाफिल में गइ सोइ खसम को दोष लगावै ।
ऐसी फूहरि नारि आप को नाहिं बचावै ।।
धोवी को नहिं देइ घरहिं में आपु छुड़ावै ।
इक बेर दिहिसि निखारि लाज से नाहिं दिखावै ।।
पलटू परदा खोलि आपनो घर घर रोवै ।
लहंगा परिगा दाग फूहरि सावुन से धोवै ।।'[2]
'फिरे इक जोगी नगर भुलाना. चढ़िगा महले महल दिवाना ।।टेक।।
ना वह खावै ना वह पीवै, ना वह भिच्छा जाचै ।
ना वह बोलै ना वह डोलै, बिना नचाये नाचै ।।
सुखमन के घर भाटी चूवै, पिये वंक के नाला ।
जब देखौ तब प्रेम छका है, जपता अजपा माला ।।
गगन गुफा में सिंगी टेरै, जाग्रत के घर जागै ।
तिरवेनी में आसन मारै, पारब्रह्म अनुरागै ।।'[3]

तुलसी साहब (हाथरस वाले)—

'तीन लोक के वीच में वंझा गऊ वियाय ।।टेक।।
वंझा गऊ वियाय खाय दधि माखन सारा ।
वच्छा बड़ा अयान जान रहै ताकी लारा ।।
ब्रह्मा विस्नु महेस दूध से वचे न भाई ।
नर पंछी सुख चैन लेन को नित नित जाई ।।
तुलसी वूझ विचार विन दुनिया दधि को जाय ।
तीन लोक के वीच में वंझा गऊ वियाय ।।'[4]

सादृश्य वर्ग के उलटवाँसी पदों में विरोधगर्भित असम्बद्धता के अतिरिक्त रूपकतत्त्व की प्रधानता रहती है । सांगरूपक के आधार पर सादृश्य वर्ग की उलटवाँसियों में एक विशेष विम्ब उभरता है । विरोध वर्ग की उलटवाँसियों में विम्ब का कोई अंग या अंश

---

१. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७५
२. वही, पृ० ८०
३. 'पलटू साहेब की बानी' (तीसरा भाग) पृ० ७२
४. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० २४

ही प्रतिबिम्बित हो पाता है। यही दोनों वर्ग की उलटवाँसियों का मौलिक अन्तर है।

गूढ़ार्थ प्रतीति के आधार पर वर्गीकरण :

वैसे तो विरोधाश्रित प्रतीक-संकेतों तथा सम्प्रदाय विशेष के रूढ़ प्रयोगों एवं शास्त्र-दर्शन आदि के विशेष पारिभाषिक शब्दों के रहने के कारण सभी उलटवाँसियों का अर्थ निगूढ़ रहता है, परन्तु जिन उलटवाँसियों में विशेष तिथियों, संख्याओं अथवा संख्या गणकों तथा शास्त्र विशेष के रूढ़ प्रयोगों के कारण अर्थ निगूढ़ रहता है, वे गूढ़ार्थ प्रतीति वर्ग की उलटवाँसियाँ कही जा सकती हैं। ऐसी उलटवाँसियों में किसी अर्थ का प्रतिनिधित्व करने वाली विशेष संख्याओं का प्रयोग चमत्कार का मुख्य कारण होता है। विरोध तथा रूपकाश्रित सादृश्य संख्यामूलक प्रयोगों को चमत्कारी बनाने में सहायक होता है। कुछ उदाहरण —

गोरखनाथ — 'अवधू बोल्या तत बिचारी, पृथ्वी में बकवाली।
अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया, अदबुद अचम्भा भारी ।।टेक।।
पांच सहंस में षट अपूठा, सप्त दीप अष्ट नारी।
नव षंड पृथ्वी इकवीस मांहीं, एकादसि एक तारी ।।
द्वादसी त्रिकुटी यला पिंगुला, चवदसि चित मिलाई।
षोडस कंवल दल सोल वतीसौ, जुरा मरन भौ गमाई ।।
दसवें द्वार निरंजन उनमन वासा, सवदें उलटि समांनां।
भणंत गोरषनाथ मछींद्र नां पूता अविचल थीर रहांनां ।।'[1]

कवीर — 'माधो चले बुनांवन माहा, जग जीतें जाइ जुलाहा ।। टेक ।।
नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहत्तरि, पाट लगी अधिकाई ।।
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सैर अढाई।
अढाई में जे पाव घटै तो, करकस करै वजहाई ।।

* * *

छांडि पसारा रांम कहि बौरे, कहै कवीर समझाई ।।'[2]
'एक विरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आए बैठे, उदै भई बनराइ ।।'[3]

जगजीवन साहब — 'साघो भले अहैं मतवारे।
कुरो पाँच किये वसि डोरी, एकौ रहत न न्यारे ।।

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० ९७-९८
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १५३
३. वही, पृ० १८३

दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँध परोसिन ।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ।।
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरवान ।
खसम विचारा मरि गया जोरू गावै तान ।।'[1]
'फूहरि धोवै दाग छुटे ना और बढ़ावै ।
ज्यों ज्यों मलै बनाय सारे लहँगा फैलावै ।।
गाफिल में गइ सोइ खसम को दोष लगावै ।
ऐसी फूहरि नारि आप को नाहिं बचावै ।।
धोबी को नहि देइ घरहि में आपु छुड़ावै ।
इक बेर दिहिसि निखारि लाज से नाहिं दिखावै ।।
पलटू परदा खोलि आपनो घर घर रोवै ।
लहंगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ।।'[2]
'फिरे इक जोगी नगर भुलाना, चढ़िगा महले महल दिवाना ।।टेक।।
ना वह खावै ना वह पीवै, ना वह भिच्छा जाचै ।
ना वह बोलै ना वह डोलै, बिना नचाये नाचै ।।
सुखमन के घर भाटी चूवै, पिये बंक के नाला ।
जब देखौ तब प्रेम छका है, जपता अजपा माला ।।
गगन गुफा में सिंगी टेरै, जाग्रत के घर जागै ।
तिरवेनी में आसन मारै, पारब्रह्म अनुरागै ।।'[3]

तुलसी साहब (हाथरस वाले)—

'तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय ।।टेक।।
बंझा गऊ बियाय खाय दधि माखन सारा ।
बच्छा बड़ा अयान जान रहै ताकी लारा ।।
ब्रह्मा बिस्नु महेस दूध से बचे न भाई ।
नर पंछी सुख चैन लेन को नित नित जाई ।।
तुलसी बूझ विचार बिन दुनिया दधि को जाय ।
तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय ।।'[4]

सादृश्य वर्ग के उलटवाँसी पदों में विरोधगर्भित असम्बद्धता के अतिरिक्त रूपकतत्त्व की प्रधानता रहती है। सांगरूपक के आधार पर सादृश्य वर्ग की उलटवाँसियों में एक विशेष विम्ब उभरता है। विरोध वर्ग की उलटवाँसियों में विम्ब का कोई अंग या अंश

१. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७५
२. वही, पृ० ८०
३. 'पलटू साहेब की बानी' (तीसरा भाग) पृ० ७२
४. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० ३४

ही प्रतिविम्बित हो पाता है। यही दोनों वर्ग की उलटवांसियों का मौलिक अन्तर है।

गूढ़ार्थ प्रतीति के आधार पर वर्गीकरण :

वैसे तो विरोधाश्रित प्रतीक-संकेतों तथा सम्प्रदाय विशेष के रूढ़ प्रयोगों एवं शास्त्र-दर्शन आदि के विशेष पारिभाषिक शब्दों के रहने के कारण सभी उलटवांसियों का अर्थ निगूढ़ रहता है, परन्तु जिन उलटवांसियों में विशेष तिथियों, संख्याओं अथवा संख्या गणकों तथा शास्त्र विशेष के रूढ़ प्रयोगों के कारण अर्थ निगूढ़ रहता है, वे गूढ़ार्थ प्रतीति वर्ग की उलटवांसियां कही जा सकती हैं। ऐसी उलटवांसियों में किसी अर्थ का प्रतिनिधित्व करने वाली विशेष संख्याओं का प्रयोग चमत्कार का मुख्य कारण होता है। विरोध तथा रूपकाश्रित सादृश्य संख्यामूलक प्रयोगों को चमत्कारी बनाने में सहायक होता है। कुछ उदाहरण —

गोरखनाथ — 'अवधू बोल्या तत बिचारी, पृथ्वी में वकवाली।
अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया, अदबुद अचम्भा भारी ।।टेक।।
पांच सहंस में षट अपूठा, सप्त दीप अष्ट नारी।
नव षंड पृथ्वी इकवीस मांहीं, एकादसि एक तारी ।।
द्वादसी त्रिकुटी यला पिंगुला, चवदसि चित मिलाई।
षोडस कंवल दल सोल बतीसौ, जुरा मरन भौ गमाई ।।
दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा, सबदें उलटि समांनां।
भणंत गोरषनाथ मछींद्र नां पूता अविचल धीर रहांनां ।।'[1]

कबीर — 'माधो चले बुनांवन माहा, जग जीतें जाइ जुलाहा ।। टेक ।।
नव गज दस गज गज उगनींसा, पुरिया एक तनाई।
सात सूत दे गंड बहत्तरि, पाट लगी अधिकाई ।।
तुलह न तोली गजह न मापी, पहजन सैर अढाई।
अढाई में जे पाव घटै तो, करकस करै बजहाई ।।

*   *   *

छांडि पसारा रांम कहि बौरे, कहै कबीर समझाई ।।'[2]
'एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आए बैठे, उदै भई बनराइ ।।'[3]

जगजीवन साहब —'साधो भले अहैं मतवारे।
कुरो पाँच किये बसि डोरी, एकौ रहत न न्यारे ।।

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० ९७-९८
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १५३
३. वही, पृ० १८३

कुत्ती पचीस ताहि संग लागीं, ताहि संग अधिकारे ।
सबै बटोरि एक माँ बाँध्यौ, साधे रहहि संभारे ।।
सो लै जाय गये मँडफ कहँ, जोगी आसान मारे ।
भे गुरुमुखी ताहि ढिग बैठे, महा दिप्त उँजियारे ।।'[1]

चरनदास— 'नौ नाड़ी को खैंचि पवन लै उर में दीजै ।
वज्जर ताला लाय द्वार नौ बंद करीजै ।।
तीनों बंद लगाय अस्थिर अनहद आराधै ।
सुरति निरति का काम राह चल गगन अगाधै ।।
सुन्न सिखर चढ़ि रहै दृढ़ जहाँ आसन करै ।
मन चरनदास ताड़ी लगै सो रामदास कलिमल हरै ।।'[2]

पलटू साहब — 'पच्छिउँ गंगा बहै पानी है जोर का ।
बीच महै इक कुंड मुरेरा तौर का ।।
उलटी बहे बयार नाव मुरकाय दै ।
अरे हाँ पलटू उतरे येहि के पार तो सूधी जाय दै ।।'[3]

(ख) विषयानुसार वर्गीकरण : प्रयोक्ता भेद से उलटवाँसियों के वर्ण्य-विषय भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं । इतना ही नहीं जीवन के अनेक पहलुओं से प्रभावित होने के कारण प्रयोक्ता विशेष में, विभिन्न विचारानुभूतियों के कारण, उलटवाँसी का विषय भी अनेक प्रकार का देखा गया है । प्रयोक्ता संत कहीं वेदान्ती विचारधारा से अनुप्राणित हैं, कहीं हठयौगिक साधना से । कुछ उलटवाँसियों में दाम्पत्य—जीवन की सरस अनुभूतियाँ हैं, तो कुछ में माया के वीभत्स चित्र । किन्हीं में सूफी-सिद्धान्त पुष्ट दिखाई देता है तो कुछ में उपनिषदों का प्रत्यक्ष प्रभाव । इस प्रकार अणु से ब्रह्माण्ड तक, बिन्दु से सागर तक, व्यक्ति से समष्टि तक के उपकरणों को लेकर प्रयोक्ताओं ने उलटवाँसी के माध्य से अपनी विचारानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की है । इस विषय व्याप्ति को यदि एक शब्द में बाँधें तो नाथ-संतों की उलटवाँसियों का विषय है 'साधना' । प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में हो, उलटवाँसी रचना का उद्देश्य साधना ही है । कुछ उलटवाँसी-पदों में साधनामय जीवन व्यतीत करने केलिए प्रेरणा है, कुछ में साधनावस्था का वर्णन तथा कुछ में साधना का परिणाम वर्णित है ।

साधना की उच्च परिणति केलिए उलटवाँसियों में एक क्रम देखा जा सकता है । भव-धारा में वहे जाते हुए जीव को, 'मर जाओ' अथवा 'मरजीवा होओ'[4] के रूप में

१. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (दूसरा भाग), पृ० ९४
२. 'चरनदास जी की बानी' (पहला भाग), पृ० ३६
३. 'पलटू साहिब की बानी' (दूसरा भाग), पृ० ७८
४. 'सो पावेगा लाल जाइ के गोता मारै ।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै ।।' 'पलटू साहेब की बानी' (भाग १), पृ०५२

भव की विभीषिका दिखाकर, गुरु सांकेतिक भाषा में 'शब्द' कहता है।[1] शिष्य की चित्त-वृत्ति गुरु-वाक्य के प्रति आकर्षित होती है और उसे भौतिक आकर्षण के प्रति विरक्ति होने लगती है। तत्पश्चात् उसे साधना-मार्ग के प्रति विश्वास होने लगता है। विश्वास होने पर जगत् की मायिक-दशा को वह पहिचान लेता है और साधना-रत हो जाता है। उस काल में साधक की परीक्षा होती है। सफल होने पर साधक 'सिद्धि' प्राप्त करता है। सिद्धि के पूर्व और पश्चात् साधक अपनी विचारानुभूति को विरोधगर्भित असम्बद्धता द्वारा विशिष्ट शब्दावली प्रधान उलटवाँसी शैली के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह साधना-क्रम 'अष्टांग योग' से प्रभावित है। सूफी-साधना-क्रम में भी 'चार बसेरे' (शरीयत, तरीकत, मारिफत, हकीकत) पार करने केलिए 'सात मुकामात'[2] (शब्द, इश्क, जहद, म्वारिफ, वज़्द हकीकी, वस्ल) तय करना बताया गया है।

इस प्रकार उलटवाँसी शैली में वर्णित साधना-विषय को सात वर्गों में रखा जा सकता है। (१) उपदेश प्रधान, (२) अनुरक्ति-विरक्ति-भावना से युक्त, (३) विश्वास प्रधान, (४) साधना काल की, (५) परीक्षा काल की, (६) माया सम्बन्धी, (७) सिद्धि और उसके परिणाम से सम्बन्धित।

१. उपदेश प्रधान – जिन उलटवाँसियों में वक्ता अपनी उपदेश-ध्वनि से, भव-चक्र की भीषणता, जीवनावधि की सीमा, अमूल्य मानव-जीवन की भावना का बोध कराता है, वे उपदेश प्रधान वर्ग में आती हैं। जैसे —

गोरखनाथ — 'सांभलि राजा बोल्या रे अवधू, सुणो अनोपम बांणी जी ॥ टेक ॥
निरगुण नारी सूं नेह करंतां, झबकै रैणि बिहांणी जी ॥
डाल न मूल पत्र नहिं छाया, विण जल पिगुला सींचै जी।
बिण ही मढीयां मंदला बाजै, यण विधि-लोका रीझै जी ॥
ऊझड़ मारगि जाता रे अवधू, गुर बिण नहीं प्रकासा जी।
जीत्या गोरष अब नहीं हारै, समझि रराले पासा जी ॥'[3]

---

१. 'सबद एक उन कहा अकेला। गुरू जस भृंग फनिग जस चैला ॥
गुरू विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाए लेइ सो चेला ॥' 'पद्मावत'

२. 'आबिद (खोजी) शरीयत की मंज़िल में 'तोबा' आदि पड़ावों को पार करके 'इश्क' के मुकाम पर प्रथम मंजिल समाप्त कर देता है। इसके पश्चात् इश्क को लेकर 'सालिक' जहद करते हुए तरीकत की दूसरी मंजिल को 'म्वारिफ' मुकाम पर पूर्ण करता है। अब 'म्वारिफ के पार आरिफ वज़्द प्राप्त करता हुआ 'हकीकी' के मुकाम पर तृतीय मंजिल समाप्त करता है। तदुपरान्त 'हक' वस्ल को प्राप्त कर 'फना' के मुकाम पर अपनी यात्रा समाप्त कर देता है। इस यात्रा के समाप्त होने पर उसे शाश्वत आनन्द (वका) की प्राप्ति होती है।'
डॉ॰ जयदेव 'महाकवि जायसी' ('जायसी और उनका पद्मावत' पृ॰ १४७ से)

३. 'गोरख-बानी', पृ॰ १५४

ऊजड़-मार्ग पर चलने वाले केलिए उपदेश है। सोते-सोते अर्थात् अज्ञान में ही जीव का जीवन समाप्त हो जाता है। जीवन अमूल्य है, इसका पांसा विचारपूर्वक फैंकना चाहिए।

जगजीवन साहब— 'साधो साध अन्तर ध्यान।
दीन लीनं सीतलं ह्वै, तजहु गर्वगुमान।।
गंगग्राम बजार लावहु, चित्त गाड़ु-निसान।
सत्त हाट निहारि निरखहु, लेहु करि पहिचान।।
रैन दिन तहँ नाहिं आहै, नाहिं ससिगन भान।
चमक झलमल रूप निर्मल, कौन भाषै ज्ञान।।
जगजीवनदास मस्त होवै, बिरल कोउ ठहरान।।'[1]

चरनदास— 'जो जन अनहद ध्यान धरै ।। टेक ।।
पाँचो निरबल चंचल थाकै जीवत ही जु मरै।।
सोधे मूल बंध दै राखै आसन सिद्ध करै।
त्रिकुटी सुरति लाय ठहरावै कुंभक पवन भरै।।
घन गरजे अरु बिजुली चमकै कौतुक गगन धरै।
बहुत भाँति जहँ बाजन बाजै सुनि सुनि सिंधु अरै।।
सहज सहज में हो परकासा बाधा सकल हरै।
जग की आस बास सब टूटै ममता मोह जरै।
सून्य सिखर पर आपा बिसरै, काल सूं नाहिं डरै।
चरनदास सुकदेव कहत हैं, सब गुन ध्यान धरै।।'[2]

तुलसी साहब— तन में तत तार तँबूरा है ।। टेक ।।
बंधन पाँच तार तन कीन्हा खूँटी खलक जहूरा है।
उठत अवाज साज बिन बाजे, अद्भुत सब्द अपूरा है।।
खूँटी खसक तार तब टूटा, लूटा जम जग पूरा है।
तुलसी तरक तोल जब पावै, लख सिप सतगुर सूरा है।।'[3]

उपदेश की यह प्रवृत्ति गोरखनाथ में अधिक देखने को मिलती है। बाद के संतों की उलटबाँसियों में उपदेश की यह प्रवृत्ति आदेशात्मक रूप में देखी जाती है।

२. **विरक्ति-अनुरक्ति-भावना प्रधान** : गुरु-मुख से उपदेश को सुनकर शिष्य के मन में विरक्ति और अनुरक्ति की भावनाएँ एक साथ जन्म लेती हैं। वह अपने को एक विचित्र विकल्प-संकल्पात्मक स्थिति में पाता है। अनात्मिक पदार्थों से विरक्ति तथा आध्यात्मिक प्रसंग से अनुरक्ति के साथ ही उसकी पूर्वधारणाओं में परिवर्तन होने लगता है। इस वर्ग

---

१. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (भाग १), पृ० ४३
२. 'चरनदास जी की बानी (भाग २), पृ० ६
३. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० १३९-४०

की उलटवाँसियों में साधक के मन की विरक्ति-अनुरक्ति पूर्ण भावनाओं की योजना रहती है। जैसे—

कबीर -- 'बागड़ देस लूवन का घर है,
जहाँ जिनि जाइ दाझन का डर है ॥ टेक ॥
सब जग देखौं कोई न धीरा, परत धूरि सिरि कहत कबीरा ॥
न तहाँ सरवर न तहाँ पांणी, न तहां सतगुर साधू वांणीं ॥
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूबा, ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा ॥
देस मालवा गहर गंभीर, डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहै कबीर घरहीं मन मांनां, गूंगे का गुड़ गूंगे जांनां ॥'[1]

बुल्लासाहब --'निर्गुन बसंत को सुनहु भाव। दूजा अवरि न मोहिं चाव ॥
हुलसी मनसा फलसी डाल। वाकी साखा सर्ग पताल ॥
विना मूल अस्थूल आहि। वाकी पटतर लाँउ काहि ॥
ज्ञान ध्यान बसि भयौ मोर। तन से भागे सबहि चोर ॥
दसौ दिसा में भयो सोर। बुल्ला सेवक है प्रभु तोर ॥'[2]

गुरु वाक्य सुनकर साधक के मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ, प्रश्न उठते हैं। साधक उलटवाँसी शैली में उन्हें इस प्रकार अभिव्यक्त करता है :—

'सुधा रस कैसे पैये हो।
कूप कहाँ केहि ठौर है कैसे करि लहिये हो ॥
नेजू कित कित गागरी कित भरने वाली हो।
कैसे खुले कपाट हीं को ताला ताली हो ॥
कौन समय किस ग्रह विषै अंचवै किन माहीं हो।
तुम से जानें भेद कूं अरू बहुतक नाहीं हो।'[3]

३. **विश्वास प्रधान :** विरक्ति-अनुरक्ति के पश्चात् साधक के मन से संशय का मूलोच्छेद हो जाता है और उसे साधना-मार्ग के प्रति पूर्ण विश्वास हो जाता है। गुरु के मौन-संकेत से ही उसकी समस्त शंकाओं का निवारण होना संभव है[4] और साधक का मन इस प्रकार अभ्यास करने लग जाता है—

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १०९
२. 'बुल्ला साहिब की बानी', (भाग दो), पृ० २
३. 'चरनदास जी की बानी', (भाग २), पृष्ठ २
४. 'गुरोस्तु मौनव्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्न संशया:।' 'दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र'
'या वद् अपि उक्तं तावद् अपि व्याजः। गुरूर्मूकः स शिष्यः बधिरः।'
'चर्यागीतिकोष'
(काहनपाद की चर्या का संस्कृत अनुवाद)

'सुनले जोग बिजोग हंसा सब्द महल कूं सिध करो ।
गहु गुर ज्ञान विज्ञान बानी जीवत ही जग में मरो ॥[१]
'सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई ।
चेला गुरू दोउ सैन करत हैं, बड़ी असाइस पाई ॥'[२]

साधक के मन से मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इस प्रकार विश्वास-प्रधान उलटवाँसियों में साधक की अपने साधना पथ के प्रति पूर्ण आस्था देखी जाती है।
कुछ उदाहरण—

कबीर— 'अब मैं पाइबो रे पाइबौ ब्रह्म गियान ।
सहज समाधें सुख में रहिवौ, कोटि कलप विश्राम ॥
गुर कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कंवल विगासा ।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा ॥
मृतक उठया धन कर लीये काल अहेड़ी भागा ।
उदया सूर निस किया पयांनां, सोवत थैं जब जागा ॥
अबिगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई ।
सैंन करे मनहीं मन रहसै गूंगे जांनि मिठाई ॥'[३]

दादूदयाल— 'ऐसा ज्ञान कथौ मन ज्ञानी । इहि घर होए सहज सुख जानी ॥
गंग जमुन तहँ नीर नहाइ । सुषमन नारी संग लगाइ ॥
आप तेज तन रह्यौ समाइ । मैं बलि ताकी देखौं अघाइ ॥
आस निरंतर सो समुझाइ । बिन नैनहुँ देखि तहँ जाइ ॥
दादू रे यहु अगम अपार । सो धन मेरे अधर अधार ॥'[४]

४. **साधना विषयक** : वे उलटवाँसी पद जिन में विशेष साधनापद्धति का वर्णन रहता है अथवा सम्प्रदाय विशेप की शब्दावली से जिन उलटवाँसी मूलक पदों में साधना-प्रक्रिया वर्णित रहती है, वे सब उलटवाँसियाँ इस वर्ग में आ सकती हैं। जैसे :—

गोरखनाथ : ,उलट्या पवन गगन संमोइ, तब वाल रूप परतपि होइ ॥
उदै ग्रहि अस्त हेमग्रहि पवन मेला, बंधिलै हस्तिय निज साल भेला ॥
बारा कला सोषै सोला कला पोषै, चारिकला साधै अनंत कला जीवै ॥
ऊरम-धूरम जोती ज्वाला सीधि साधंत चारि कला पीवै ॥'[५]
'उलटै चन्द्र राहु कों ग्रहै ।सूरज उलटि केत संग्रहै ॥
ससि द्वार सूरज थिर रहे । तत्व भांण जोगेस्वर कहै ॥

---

१. 'गरीबदास जी की बानी', पृष्ठ ८८
२. 'मलूकदास की बानी', पृष्ठ २३
३. 'कबीर ग्रंथावली', पृष्ठ ९०
४. 'दादूदयाल की बानी' (भाग २), पृ० २९
५. गोरख-बानी', पृ० ३१

अरधैं जाता उर्धं गहै । द्वादस पवनां उनमन रहै ।।
अहनिसि वाई धुंनि में बाजै । पछिम द्वारे पवनां गाजै ।।'[1]

कबीर — 'अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न षंडै धारा ।। टेक ।।
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतनि चौका बैठा ।
चढ़ि अकास आसण नहीं छाड़ै, पीवै महारस मीठां ।।
परगट कंथां माँहैं जोगी, दिल में दरपन जोवै ।
सहंस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै ।
ब्रह्म अगनि में काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ।।'[2]

यारी साहब —'उड़ु उड़ु रे बिहंगम चढ़ु अकास ।
जहँ नहि चाँद सूर निस बासर, सदा अमरपुर अगम बास ।।'[3]

जगजीवन साहब — यहु मन गगन मंदिल राखु ।
सब्द की चढ़ देखु सीढ़ी प्रेम रस तहँ चाखु ।।
रहहु दृढ़ करि मारि आसन-मंत्र अजपा भाखु ।
पाँच बसि कसि बैठि रहिकै, मानु कवहुँ न माखु ।।'[4]

चरनदास —'नौ नारी को खैंचि पवन लै उर में दीजै ।
बज्जर ताला लाय द्वार नौ बंद करीज ।।
तीनों बंद लगाय अस्थिर अनहद आराधै ।
सुरति निरति का काम राह चल गगन अगाधै ।।'[5]

भीखा साहब —'ज्ञान अनुमान करि चीन्ह ले अमान धरि,
गुरु परताप खुलौ भरम कपाट है ।
चाँद सूर एक सम सुरति मिलाय दम,
इँगल पिँगल रँग सुखमन माट है ।।
पूरव पवन जोग पच्छिम की राह होय,
गंगा जमन संगम तहँ त्रिकुटी कौ घाट है ।।
प्रान औ अपान असमान ही में थिर होवै,
भीखा सब्द ब्रह्म कौ अकास सुन्न हाट है ।।'[6]

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० १७४
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १०९
३. 'यारी साहब की रत्नावली', पृ० ७
४. 'जगजीवन साहिब की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० ९५
५. 'चरनदास जी की बानी' (पहला भाग), पृ० ३६
६. 'भीखा साहब की बानी', पृ० ४९

पलटू साहब—'तिरकुटी घाट को उतरू सम्हारि कँ,
सुषमना खैंचु गुन बाँधि खूँटा ।
बीच पहार मैं साँकरी गली है,
गली मैं कुंड जल परै टूटा ।।
भँवर को देखि कै नाव मुंरेरू तू,
चली है नाव तव कुंड छूटा ।
दास पलटू कहै नाव सम्हारना,
सोत मैं सोत ब्रह्मंड फूटा ।।'[1]

तुलसी साहब—'कमठ गगन पर चढ़ै मच्छ अँड उडै अकासा ।
गिरा गुहा के पास स्वाँस सुखमनी निवासा ।।
जरत जोति अस होत दृष्टि पर दीपक बारा ।
अरे हाँरे तुलसी बिन वाती बिन तेल फैल चहुँदिस उँजियारा ।।
सिंघ पौलि के पार झार नित उठि उठि आवै ।
जहा उरघमुख कूप धूप बिन रवि दरसावै ।।
सुरति सिरोमन सील लील गिरि परै निसानी ।
अरे हाँरे तुलसी जहँ नित उठै अवाज साज करि सुरति समानी ।।'[2]

५. **परीक्षा विषयक** : जब साधक अपनी चित्त-वृत्तियों को केंद्रित करके साधना में निरत हो जाता है, तो विभिन्न प्रकार के सांसारिक आकर्षण विघ्न बाधाओं के रूप में उसके समक्ष आते हैं ।[3] और जो इन आकर्षणों से आवद्ध हो गया वह कामना के वशीभूत होकर पुनः पतित हो जाता है,[4] अन्यथा सिद्धि का साक्षात् करता है । उलटबाँसियों में ऐसे अनेक पद मिलते हैं, जिनमें साधक की साधना सम्बन्धी परीक्षा, उपदेश, अनुदेश आदि का वर्णन मिलता है । कुछ उदाहरण :—

गोरखनाथ—'सूर माहि चंद चंद माहि सूर ।
चपंपि तीनि तेहुड़ा वाजल तूर ।।
भणन्त गोरपनाथ एक पद पूरा ।
भाजंत भौंदू साधंति सूरा ।।'[5]

---

१. 'पलटू साहेब की वानी' (दूसरा भाग), पृ० २६
२. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० ३०
३. 'मधुमतीं भूमिकां साक्षात् कुर्वतोस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यंतः स्थानैरूपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरा-मृत्युं बाधते ..इति ।' 'साहित्यालोचन' पृ० २३१ से उद्धृत
४. 'काटी कूटी मछली छींकें धरी चहोड़ि ।
कोई एक आषर मन वस्या, दह में पड़ी वहोड़ि ।।' 'क० ग्रं०', पृ० ३०
५. 'गोरख-बानी', पृ० ६२

कबीर — 'कैसें नगरि करों कुटवारी, चंचल पुरिष विचपन नारी ।। टेक ।।
बैल बियाह गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूं साँझ ।।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारि चीलह रखवारी ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरइया ।।
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई विरला बूझै ।।' [1]

जगजीवन साहब —'ए सखि अब मैं काह करौं ।
भूलि परिऊँ मैं आइ कै नगरी, केहि बिधि धीर धरौं ।।
अंत नहीं यहि नगर क पावों, केतौ विचार करौं ।
चहत जो अहौ मिलौं मैं पिय कहँ, भ्रम की गैल परौं ।।
हित मोरे पाँच होत अनहित ही, बहुतक खैंच करौं ।
केतौ प्रबोधि कै बोध करौं मैं, ई कहै धरौं धरौं ।।
तीस पचीस सहेली मिलि सँग, ई गहि कैसे बरौं ।
पाँय पकरि कै बिनती करौं मैं, लै चलु गगन परौं ।।
निरत निरखि छवि मोहिं कहो अब, गहिं रहु नाहिं टरौं ।
जगजीवन सत दरस करौं सखि, काहे क भटक फिरौं ।।' [2]

बुल्लासाहब —'मैं कस राखौं पाँच नारि । बरज न मानै बड़ी खुवारि ।।
जिन आपन घर कियौ उजारि । कबहुँ न सुमिरहिं देव मुरारि ।।
अब की उजरै छाड़ न जाए । कासे कहौं यह गति बनाइ ।।
मनुवाँ मकरी रहै समाइ । लै लै जात है संग लगाइ ।।' [3]

गरीबदास —'तीन चिन्ह पाँच मार पकरी मठधारी ।
पुत्र तौ पचीस संग सैन है अपारी ।
पाँच नार घट मँझार मठ की पटरानी ।
द्वादस दल कोट कटक सेन है बिरानी ।।
साहुकार पकर लीन्ह लूटै गढ़ चोरा ।
आतम तौ अनाथ सुनो राम बाप मोरा ।।' [4]

६. माया विषयक : साधक जब विभिन्न प्रकार के विघ्न-बाधाओं, आकर्षणों की सीमा पार कर जाता है, तब उसे माया, अज्ञान आदि का क्षेत्र स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वह बुद्धि-बल से माया का स्वरूप माया जन्य विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन करता है। साधक का यह साधना-काल ज्ञान-विरह का श्रेष्ठ काल होता है । अत: उसकी विचारणा अपने लौकिक-परिवेश में विरोध या विपरीतता का अनुभव करने लग जाती है । उपलब्ध उलट-

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ११३
२. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (भाग २), पृ० ६-७
३. 'बुल्ला साहेब का शब्दसागर', पृ० २६
४. 'गरीबदास जी की बानी', पृ० १५५

वाँसी पदों में सर्वाधिक संख्या माया विषयक उलटवाँसियों की है। इस वर्ग की उलटवाँसियों में विरोध और चमत्कार की मात्रा भी सर्वाधिक देखी जा सकती है। उलटवाँसियों में 'माया' के नारि, कामधेनु, नागिनि, बिलाई आदि विभिन्न प्रतीकात्म रूप देखने को मिलते हैं। कुछ उदाहरण : —

गोरखनाथ— 'अवधू परबत मंझार, वेलड़ी माड्यौ विस्तार।
बेली फूल बेली फल, बेलि अछै मोतया हल ।। टेक ।।
सिष्टि उतपनीं वेलि प्रकास, मूल न थी चढ़ी अकास।
उरध गोढ़ कियौं विसतार, जाँण नैं जो सो करै विचार।।'[1]
'मारौ मारौ स्रपनी निरमल जल पैंठी।
त्रिभुवन डसती गोरखनाथ दीठी ।। टेक ।।
मारौ स्रवणीं जगाईल्यौ भौंरा, जिनि मारी स्रपणीं ताकौ कहा करै जौंरा।
स्रपणीं कहै मैं अबला बलिया, ब्रह्मा विष्न महादेव छलिया।
माती माती स्रपनीं दसौं दिसि धावै, गोरखनाथ गारड़ी पवन बेगि ल्यावै।।'[2]

कबीर— 'भाई रे चून बिलूंटा खाई,।
बाघनि संगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई ।। टेक ।।
सब घरि फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जाने भेव।
खसम निपूतौ आँगणि सूतौ, राँड न देई लेव ।।
पाड़ौसनि पनि भई बिरांनी, माँहि हुई घर घालै।
पंच सखी मिलि मंगल गांवैं, यहु दुख याकौं साल ।।'[3]
'अवधू कांमधेनु गहि बांधी रे।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आंधी रे ।। टेक ।।
जौ ब्यावै तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरौं त्यूं दरवै ।।'[4]

धनी धरमदास— 'बुढिया ने काता सूत जोलहवा ने बीना हो।
दरजी ने टुक टुक कीन्ह, दरद नहि जाना हो ।।
भेड़ी चरावत बाघ मूस रखवारा हो।
मेंगुची ने बाँधा ताल, सिंह ने ठाटा हो ।।
गौड़िया पसारा जाल, ऊंट एक वाझा हो।
दुलहिनि के सिर मौर बिलारी साजा हो ।।'[5]

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० ११८
२. वही, पृ० १३६-४०
३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ११३
४. वही, पृ० १३७
५. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली', पृ० ३३

सुन्दरदास— 'सुन्दर सवही सौं मिली कन्या अपन कुमारि ।
वैश्या फिरि पतिव्रत लियौ भई सुहागिनि नारि ।।'[1]
'पसम परयौ जौरू कै पीछै कह्यौ न मानें भौंडी रांड ।
जित तित फिरै भटकती योंही तें तो कियो जगत में भांड ।।
तौ हू भूप न भागी तेरी तूं गिलि वैठी सारी मांड ।
सुन्दर कहै सीष सुनि मेरी अव तूं घर घर फिरवौ छांड ।।'[2]

गुलाल साहब — संतो कठिन अपरवल नारी ।
सवहीं वरलहि भोग कियौ है, अजहुँ कन्या क्वारी ।।
जननी ह्वै कै सब जग पाला, वहु विधि-दूध पियाई ।
सुन्दर रूप सरूप सलौना, जोय होइ जग खाई ।।'[3]

पलटू साहब — नागिनि पैदा करत है आपुइ नागिनि खाय ।।
आपुइ नागिनि खाय नागिनि से कोऊ न वाचै ।
नेजाधारी सम्भु नागिनि के आगे नाचै ।।'[4]

तुलसीसाहव — 'तीन लोक के बीच में वंझा गऊ वियाय ।। टेक ।।
वंझा गऊ बियाय खाय दधि माखन सारा ।
बच्छा बड़ा अयान जान रहै ताकी लारा ।।
ब्रह्मा विस्नु महेस दूध से वचे न भाई ।
नर पंछी सुख चैन लेन को नित नित जाई ।।
तुलसी बूझ विचार विन दुनिया दधि को जाय ।
तीन लोक के बीच में वंझा गऊ वियाय ।।'[5]

७. **सिद्धि और उसके फल से सम्बन्धित** : परीक्षा-काल में सफल होकर साधक समाधि जन्य सिद्धि अथवा विचार-भाव की चरमावस्था में पहुँच जाता है । इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसके जीवन की सम्पूर्ण द्विविधाएँ, बाधाएँ अथवा संसार सम्बन्धी सम्पूर्ण 'किलिकिलि'[6] समाप्त हो चुकती हैं । प्रज्ञा-प्रासाद पर आरूढ़ हुए साधक ज्ञान-विरह में लोक को विपरीत करणी के वशीभूत पाता है । कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर ब्रह्माण्ड

---

१. 'सुन्दर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड). अंग २०
२. वही, अंग २२
३. 'गुलाल साहेव की वानी', पृ० १८
४. 'पलटू साहेव की वानी', (पहला भाग) पृ० ७७
५. 'तुलसी साहिव (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० ३४
६. 'लहुरी धीइ सवै कुल खोयौ, तव ढिग वैठन पाई ।
कहै कवीर भाग वपरी को, किलिकिलि सवै चुकाई ।।' कबीर ग्रंथावली', पृ० ९६

में पहुँच जाती है,[१] कर्म का कलश' फूट जाता है[२] और सहस्रार चक्र में अमृत का स्राव होने सेपरमानन्द की अनुभूति होने लगती है। कबीर के शब्दों में साधक उस सिद्धिकाल में अनुभव करने लगता है—

'नरहरि सहजैं हीं जिनि जांनां।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकुर बीज नसांनां ॥ टेक ॥
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थें, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससिहर सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी ॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा ॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं।
पद आनन्द काल थें छूटैं, सुख में सुरति समांनीं ॥'[३]

इस सिद्धि-अवस्था की अनुभूति कोसाधक की 'वाणी', विरोधाश्रित प्रतीक-संकेतों के माध्यम से, दो रूपों में अभिव्यक्त करती है। एक में विचार की प्रधानता होती है, दूसरे में भाव की। विचार की प्रधानता में विरोध तत्त्व प्रबल होता है और भाव की प्रधानता में रूपकतत्त्व। सिद्धि अवस्था के फलस्वरूप विचार प्रधान उलटवाँसी पद मिलते हैं, उनमें साधक की सिद्धिजन्य अवस्था के वर्णन के साथ-साथ प्रतिपक्षी को अभिभूत करने केलिए कभी-कभी पाण्डित्य प्रधान स्वर भी सुनाई देता है। परन्तु भाव की प्रधानता में लिखे गये उलटवाँसी पदों में दाम्पत्यजीवन सम्बन्धी किसी घटना या भाव की अभिव्यक्ति रहती है। कुछ उदाहरण :—

(अ) विचार प्रधान उलटवाँसी-पद :

गोरखनाथ— 'बूझौ पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरष बोलैं जाण सुजांनं ॥ टेक ॥
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा पांन फूल बिन फलिया।

---

१. 'स्रुति चढ़ गई अकास में सोर भया ब्रह्मंड ॥
सोर भया ब्रह्मड अंड में धधक चढ़ाई।
जब फूटा असमान गगन में सहज समाई ॥
सुन्न सहर के बीच ब्रह्म से भया मिलापा।
परमातम पद लेख देख कर भया हुलासा ॥
तुलसी गति मति लखि पड़ी निरख लखा सब अंड।
स्रुति चढ़ गई अकास में सोर भया ब्रह्मंड ॥'
'तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० ३८

२. 'दीपक बारा नाम का महल भया उजियार ॥
होत छतीसी राग दाग तिर्गुन का छूटा।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा ॥
पलटू अंधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।
दीपक बारा नाम का महल भया...॥' 'पलटू साहेब की बानी' (भाग पहला), पृ० ७

३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ६०

बांझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।।
गगन बिन चंद्रम ब्रह्मांड बिन सूरं, भूझ बिन रचिया थानं ।
ए परमारथ जे नर जांणैं ता घटि परम गियानं ।।"[1]

कबीर— 'अवधू ग्यांनं लहरि धुनि मांडी रे ।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णां पांडी ।। टेक ।।
बन कैं ससैं समंद घर कीया, मंछा बसैं पहाड़ी ।
सुइ पीवैं बाम्हण मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी ।।
पाड बुणे कौली मैं बैठी, मैं खूंडा मैं गाड़ी ।
ताणैं बाणैं पड़ी अनंबासी, सूत कहै बुणि गाढ़ी ।।
कहै कबीर सुनहु रे संतो, अगम ग्यांन पद मांहीं ।
गुरु प्रसाद सूई कैं नाके हस्ती आवैं जांहीं ।।'[2]

यारी साहब— 'चाँद बिना जहँ चाँदनी रे, दीपक बिना जगमग जोती ।
गगन बिना दामिनि देखौ, सीप बिना सागर मोती ।।
दह बिना कँवल हेरैं, अच्छर है बिन कागद सेती ।
अनगउवा का दूध यारी वद, बाँझ कैं पूत के जाति गोती ।।'[3]

सुन्दरदास— 'कमल माँहि तें पानी उपज्यौ पानी माँहि तें उपज्यौ सूर ।
सूर माँहि सीतलता उपजी सीतलता में सुख भरपूर ।।
ता सुख कौ क्षय होइ न कबहूँ सदा एक रस निकट न दूर ।
सुन्दर कहै सत्य यह यौंहीं या मैं रतौ न जानहुँ कूर ।।'[4]

चरनदासजी— ऐसा देस दिवाना रे लोगो जाय, सो माता होय ।
बिन मदिरा मतवारे झूमैं जन्म मरन दुख खोय ।।
कोटिं चंद सूरज उजियारौ रवि ससि पहुँचत नाहीं ।
बिना सीप मोती अनमोलक बहु दामिनि दमकाहीं ।।
+ + +
सिद्धि गर्जना अतिहीं भारी घुँघरू गति झनकारैं ।
रंभा नृत्य करैं बिन पग सूं बिन पायल ठनकारैं ।।'[5]

तुलसीसाहब— 'जल बिन नाचत रंभा री, सखी सुनौ अचंभा ।। टेक ।।
किंगरी संख मृदंग मधुर धुन, नाना उठत तरंगा ।

---

१. 'गोरख-बानी', पृ० १०
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९१
३. 'यारी साहब की रत्नावली', पृ० १६
४. 'सुन्दर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २२
५. 'चरनदास जी की बानी' (दूसरा भाग), पृ० ६

निरतत तान बान सुन बाजै, लाजै सुर जगदम्बारी ।।
चमकै चंद बीज बिन बादर, अमृत चुवै अखंडा ।
जल की भीत भीत जल भीतर, पवन भवन का थंभा री ।।
उलटै अललपच्छ नित जावैं, निरतत नित चित चंगा ।
धरती न गगन सुन्न नभ न्यारा, प्यारा अधर अलंबा ।।
रात न दिवस दिवस नहिं राती, भाखौं मैं कौनी भाँती ।
तुलसी उलट सुलट नित न्यारी, चढ़त न लाग बिलंबा री ।।"[1]

(आ) भाव-प्रधान उलटवाँसी-पद :

कबीर – 'हिंडोलां तहाँ झूल आतम रांम ।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ विश्राम ।। टेक ।।
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि ।
झूलैं पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर ।।
द्वादस गम कै अंतरा, तहाँ अमृत कौं ग्रास ।
जिनि यहु अमृत चापिया, सो ठाकुर हम दास ।। '[2]

धनी धरमदासजी— 'साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई ।। टेक ।।
तीन पाँच मोरि चोलिया कै घुंडी,
लागी कुमति सुमतिया की पाती ।।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई,
चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती ।
सुनहु हो मोरी पार परोसिन,
यह चोलिया बिरला जन जानी ।।
पहिले वियाह मोर भयो सतगुरु से,
चोलिया के बंद मोरे सतगुरू खोली ।।
धरमदास विनवै कर जोरी,
बिसरि गई नइहरवा की बोली ।।"[3]

जगजीवन साहब— 'ऐसे साँई की मैं बलिहरियाँ री ।
ए सखि संग रंग रस मातिऊं देखि रहिउँ अनुहरियाँ री ।।
गगन भवन माँ मगन भइउँ मैं बिनु दीपक उजियरियाँ री ।
झलकि चमकि तहँ रूप बिराजै, मिटिगे सकल अंधेरियाँ री ।।
काह कहौं कहिवे की नाहीं, लागि जाहि मन महियाँरी ।
जग जीवन वह जोती निरमल, मोती हीरा वारियाँ री ।।"[4]

---

१. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० १३७
२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९४
३. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली', पृ० ६४
४. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (भाग २), पृ० ११६

यारी साहब — 'बिरहिनी मंदिर दियना बार ।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उँजियार ॥
प्रान प्रिया मेरे गृह आयौ, रचि रचि सेज सँवार ।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निर्गुन निरकार ॥'[1]

दरिया साहब — 'साधो मेरे सतगुर भेद बताया, तासें राम निकट ही पाया ॥ टेक ॥
गगन मँडल में रास रचौ है, सहस गोपि इक कंथ ।
सब्द अनाहद राग छत्तीसों बाजा बजै अनंत ॥
अकास दिसा इक हस्ती उलटा, राई मान दरवाजा ।
ता में होय गगन में आया, सुनैं निरंतर बाजा ॥
जहँ इड़ा पिंगला राग उचारैं, चंदर सूर थकाना ।
बहती नदिया थिर होय बैठी, कलजुग किया पयाना ॥'[2]

गुलाल साहब — 'निर्मल रूप अपार सों सुरति लगाइया ।
बिनु पग चालौ चाल अनँदपुर जाइया ।
देत दमामा ढोल सो जमहिं नचाइया ।
कहै गुलाल सोइ सूर सहज घर पाइया ॥'[3]

भीखा साहब — 'जोग जुक्ति गुरु लगन लगाई । साजि बरात बियाहन जाई ॥
उर्ध पवन मन धुजा विराजै । सुतरी अस्पी अनहद बाजै ॥
+ + +
अठकठ साज बरनि नहिं जाई । संगी सो इक एक सोहाई ॥
अचरज एक जु देखा भली । दुलहिन खोजन पिय को चली ॥
सुन्न सिखर पर माँडो छायौ । इँगला पिंगुला चौक पुरायौ ॥
प्रेम प्रीति कै साज सजाई । कुंभक पूरक कलस भराई ॥
गावहिं पाँच पचीसौ गुनी । सुनत मगन ह्वै साधू मुनी ॥
सेंदुर उदित जोति जगमगै । आपन नाह आपु से पगै ॥
दुलहिन नाम सेव करि पाई । नाद बिंद बहुतै भौजाई ॥
भीखा मगन रहै हर हाल । तजि परपंच जगत कौ ख्याल ॥'[4]

पलटू साहब — 'खसम बिचारा मरिगया जोरू गावै तान ॥ टेक ॥
जोरू गावै तान फिरा अहिवात हमारा ।
झूठ सकल संसार माँग भरि सेंदुर धारा ॥
हम पतिवरता नारि खसम को जियतै मारी ।
वाको मूड़ौं मूड़ सरबर जो करै हमारी ॥

---

१. 'यारी साहब की रत्नावली', पृ० १
२. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ४४
३. 'गुलाल साहेब की बानी', पृ० ६२
४. 'भीखा साहब की बानी', पृ० ६३-६४

दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँध परोसिन ।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरबान ।
खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥"[1]

तुलसी साहब— 'सुनो हो सखी इक देसवा, भूमी उगे भान ॥ टेक ॥
देसवा की उलटी रीति, साधू पालै प्रीति ॥
× × ×
खंभा न महल अटारी, प्यारी पिउ धाम ॥
तारा अबर नहिं पानी, बानी उठै बिन तान ॥
खिरकी खुली बिन द्वारे, पारे परै ठाम ॥
नइया कुटी भौ पारा, उतरै बिन दाम ॥
तुलसी अगम गम जानी, स्रुति पायौ निज नाम ॥'[2]

(ग) **प्रयोजनानुसार वर्गीकरण** : विशिष्ट उलटवाँसी पदों को प्रयोजन विशेष के अन्तर्गत रखना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किस पद का क्या प्रयोजन है, यह बतलाना कठिन है। सामान्यत: सभी उलटवाँसियाँ साधनात्मक या आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए लिखी गई हैं, यही उनका मुख्य प्रयोजन है। उस अनुभूति को सर्वसुलभ न होने दिया जाय, उसे सुनकर श्रोता की अस्थिर चित्त-वृत्ति स्थैर्य को प्राप्त हो, अटपटी उक्ति सुनकर उनकी वृत्ति विस्मयाभिभूत हो तथा प्रतिपक्षी वर्ग पर प्रयोक्ता की बहुज्ञता का प्रभाव हो। यही इस शैली के द्रष्ट प्रयोजन हैं। अत: इन वर्गों में भी उपलब्ध उलटवाँसी साहित्य वर्गीकृत किया जा सकता है। उदाहरण केलिए—

(१) **साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति** : इस वर्ग की उलटवाँसियों का मुख्य प्रयोजन वक्ता की अपनी स्वयं की अनुभूति को सन्तुष्ट करना रहता है। विरोध अथवा रूपक तत्त्व के बल पर वे उस सघन अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे—

कबीर— 'दूभर पनियां भर्‌या न जाई। अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई ॥ टेक ॥
ऊपरि नीर लेज तलि हारी। कैसें नीर भरै पनिहारी ॥
ऊधर्‌यो कूप घाट भयौ भारी। चलीं निरास पंच पनिहारी ॥
गुर उपदेस भरी लै नीरा। हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ॥"[3]

धनी धरमदास—'धर्मनि वा देस हमारो बासा, जहँ हंसा करें बिलासा।
सात सुन्न के ऊपर साहेब, सेतँ सेत निवासा ॥
सदा आनंद रहै या देसा, कबहूँ न लगै उदासा।
सूरज चंद दिवस नहिं रजनी, नाहीं धरीन अकासा ॥

१· 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७५
२. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० १३४
३. 'कबीर ग्रंथावली,' पृ० १३३

ऐसा अमर लोक है अवधू, केवला फरै बारामासा ।
अमृत भोजन हंसा पावै, वैठि पुरुष के पासा ।।'[1]

गुलाल साहब—'हिंडोला झूलत गुरुमुख आज ।। टेक ।।
चंद सूरज खंब रोप्यौ सुरति डोरि लगाय ।
मंद मंद जो पढ़व गगनहिं रह्यौ जाय समाय ।।
तहँ होत अनहद नाद धुनि सुनि सहज चित्त लगाय ।
बिगसि कमल अनंत शोभा भँवर रहे लोभाय ।।
अरघ ऊरघ उलटि चाल्यौ सुखमना ठहराय ।
गंग जमुना सरसुती मिलि पदुम दरसन पाय ।।'[2]

पलटू साहब—'पच्छउँ गंगा बहै पानी है जोर का ।
बीच मँहै इक कुंड मुरेरा तोर का ।।
उलटी बहै बयार नाव मुरकाय दै ।
अरे हाँ रे पलटू उतरे येहि के पारतो सूधी जाय दै ।।'[3]

(२) **गुह्य-प्रवृत्ति प्रधान :** साधना के रहस्यों को छुपाने तथा योग्य अधिकारी की खोज के कारण सामान्यत: सभी उलटवाँसियों में गुह्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु जिन उलटवाँसियों में शास्त्र विशेष के रूढ़ पारिभाषिक शब्दों, संख्यावाचक प्रतीकों एवं विरोधमूलक विशेष संकेतों के द्वारा साधना-प्रक्रिया, विचार अथवा भाव को गुह्य रखा जाता है, वे इस वर्ग की उलटवाँसियाँ हैं। जैसे—

गोरखनाथ —'नाद अनाहद गरजै गैणं, पछिम ऊग्या भांणं ।
दक्षिण डीवी उत्तर नाचै, पाताल पूरब तांणं ।।
चंद सूर नीं मुंद्रा कीन्हीं, धरणि भस्म जल मेला ।
नाती व्यंदी सींगी आकासी, अलख गुरू नां चेला ।।
तीन सै साठि थेगली कंथी, इकवीस सहंस छसै धागं ।
बहतरि नाड़ीं सुई नवासी, बावन बीर सीया लागं ।।
इली सोधि धरि प्यंगुली पूरी, सुषमनी चढ़ असमांनं ।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष बोल्या, निरंजन सिधि नें थानं ।।'[4]

कबीर — 'हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि पाये ।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, तार्थे जनमि जनमि डहकाये ।। टेक ।।
धौल मंदलिया वल रबावी, कऊवा ताल बजावै ।
पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावैं ।।

---

१. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली,' पृ० २८
२. 'गुलाल साहिब की बानी', पृ० ७६
३. 'पलटू साहेब की बानी' (दूसरा भाग), पृ० १०६
४. 'गोरख-बानी', पृ० ११०-११

दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँध परोसिन ।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरवान ।
खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥"[1]

तुलसी साहब— 'सुनो हो सखी इक देसवा, भूमी उगे भान ॥ टेक ॥
देसवा की उलटी रीति, साधू पालै प्रीति ॥
× × ×
खंभा न महल अटारी, प्यारी पिउ धाम ॥
तारा अवर नहिं पानी, बानी उठै विन तान ॥
खिरकी खुली बिन द्वारे, पारे परै ठाम ॥
नइया कुटी भौ पारा, उतरै बिन दाम ॥
तुलसी अगम गम जानी, स्रुति पायी निज नाम ॥'[2]

(ग) **प्रयोजनानुसार वर्गीकरण** : विशिष्ट उलटवाँसी पदों को प्रयोजन विशेष के अन्तर्गत रखना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किस पद का क्या प्रयोजन है, यह वतलाना कठिन है । सामान्यत: सभी उलटवाँसियाँ साधनात्मक या आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए लिखी गई हैं, यही उनका मुख्य प्रयोजन है । उस अनुभूति को सर्वसुलभ न होने दिया जाय, उसे सुनकर श्रोता की अस्थिर चित्त-वृत्ति स्थैर्य को प्राप्त हो, अटपटी उक्ति सुनकर उनकी वृत्ति विस्मयाभिभूत हो तथा प्रतिपक्षी वर्ग पर प्रयोक्ता की बहुज्ञता का प्रभाव हो । यही इस शैली के द्रष्ट प्रयोजन हैं । अत: इन वर्गों में भी उपलब्ध उलटवाँसी साहित्य वर्गीकृत किया जा सकता है । उदाहरण केलिए—

(१) **साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति** : इस वर्ग की उलटवाँसियों का मुख्य प्रयोजन वक्ता की अपनी स्वयं की अनुभूति को सन्तुष्ट करना रहता है । विरोध अथवा रूपक तत्त्व के वल पर वे उस सघन अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं । जैसे—

कबीर— 'दूभर पनियां भर्‌या न जाई । अधिक त्रिपा हरि बिन न बुझाई ॥ टेक ॥
ऊपरि नीर लेज तलि हारी । कैसें नीर भरै पनिहारी ॥
ऊधर्‌यो कूप धाट भयो भारी । चलीं निरास पंच पनिहारी ॥
गुर उपदेस भरी लै नीरा । हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ॥"[3]

धनी धरमदास—'धर्मनि वा देस हमारो वासा, जहँ हंसा करें विलासा ।
सात सुन्न के ऊपर साहेव, सेतै सेत निवासा ॥
सदा आनंद रहै या देसा, कबहुँ न लगै उदासा ।
सूरज चंद दिवस नहिं रजनी, नाहीं धरीन अकासा ॥

---

१. 'पलटू साहेब की बानी' (पहला भाग), पृ० ७५
२. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (भाग पहला), पृ० १३४
३. 'कबीर ग्रंथावली,' पृ० १२२

ऐसा अमर लोक है अवधू, केवला फरै बारामासा ।
अमृत भोजन हंसा पावै, बैठि पुरुष के पासा ॥'[1]

गुलाल साहब—'हिंडोला झूलत गुरुमुख आज ॥ टेक ॥
चंद सूरज खंब रोप्यौ सुरति डोरि लगाय ।
मंद मंद जो पढ़व गगनहिं रह्यौ जाय समाय ॥
तहँ होत अनहद नाद धुनि सुनि सहज चित्त लगाय ।
बिगसि कमल अनंत शोभा भँवर रहे लोभाय ॥
अरध ऊरध उलटि चाल्यौ सुखमना ठहराय ।
गंग जमुना सरसुती मिलि पदुम दरसन पाय ॥'[2]

पलटू साहब—'पच्छउँ गंगा बहै पानी है जोर का ।
बीच मँहै इक कुंड मुरेरा तोर का ॥
उलटी बहै बयार नाव मुरकाय दै ।
अरे हाँ रे पलटू उतरे येहि के पारतो सूधी जाय दै ॥'[3]

(२) **गुह्य-प्रवृत्ति प्रधान** : साधना के रहस्यों को छुपाने तथा योग्य अधिकारी की खोज के कारण सामान्यतः सभी उलटवाँसियों में गुह्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु जिन उलटवाँसियों में शास्त्र विशेष के रूढ़ पारिभाषिक शब्दों, संख्यावाचक प्रतीकों एवं विरोधमूलक विशेष संकेतों के द्वारा साधना-प्रक्रिया, विचार अथवा भाव को गुह्य रखा जाता है, वे इस वर्ग की उलटवाँसियाँ हैं। जैसे—

गोरखनाथ —'नाद अनाहद गरजै गैणं, पछिम ऊग्या भांणं ।
दक्षिण डीवी उत्तर नाचै, पाताल पूरब तांणं ॥
चंद सूर नीं मुंद्रा कीन्हीं, धरणि भस्म जल मेला ।
नाती व्यंदी सींगी आकासी, अलख गुरू नां चेला ॥
तीन सै साठि थेगली कंथी, इकवीस सहंस छसै धागं ।
बहतरि नाड़ीं सुई नवासी, बावन बीर सीया लागं ॥
इली सोधि धरि प्यंगुली पूरी, सुषमनी चढ़ असमानं ।
मंछिंद्र प्रसादें जती गोरष बोल्या, निरंजन सिधि नें थानं ॥'[4]

कबीर — 'हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि पाये ।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाये ॥ टेक ॥
धौल मंदलिया बल रबाबी, कऊवा ताल बजावै ।
पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावै ॥

---

१. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली,' पृ० २८
२. 'गुलाल साहिब की बानी', पृ० ७६
३. 'पलटू साहेब की बानी' (दूसरा भाग), पृ० १०६
४. 'गोरष-बानी', पृ० ११०-११

स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा छावै ।
उंदरी बपुरी मंगल गवै, कछू एक आनंद सुनावै ॥
कहै कबीर सुनहुँ रे संतो गडरी परवत खावा ।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा ॥' [१]

दरिया साहब – 'सतगुर से सब्द लै रसना से रटन कर,
हिरदै में आनकर ध्यान लावै ।
षट कँवल बेधकर नाभि कँवल छेदकर,
काम को लोप पाताल जावै ॥
जहँ साँई को सीस लै जम के सिर पाँवदै,
मेरु मध होय आकास आवै ॥
अगम है बाग जहँ निगम गुल खिल रहा,
दास दरयाव दीदार पावै ॥' [२]

३. **कौतूहल सृष्टि तथा विस्मय-वृद्धि** : वैसे तो प्रायः सभी उलटवाँसियों में विस्मय, अद्‌भुत अथवा चमत्कार का तत्त्व किसी न किसी मात्रा में रहता है, परन्तु कुछ उलट-वासियों में केवल चमत्कारातिशय ही प्रधानतः दिखाई देता है, वे इस वर्ग में आती हैं। प्रयोक्ता के द्वारा इस चमत्कार-सृष्टि के कई कारण हो सकते हैं, जैसे साधकों का ध्यान केन्द्रित करना, श्रोता वर्ग की वृत्ति को आकर्षित करना अथवा मंच पर स्वयं की प्रतिष्ठा स्थापित करना। कुछ उदाहरण :—

कबीर — 'एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला के गुरु लागैं पाइ ॥
जलकी मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई ॥' [३]

सुन्दरदास — 'रजनी में दीसै दिवस दिन में दीसै राति ।
सुन्दर दीपक जल गयौ रही विचारी बाति ॥' [४]

तुलसी साहब — 'देखा अचरज भाई रे, कहूँ कहा न जाई ॥ टेक ॥
धी धर ब्याह बाप ने कीन्हा माता पुत्र बियाही ॥' [५]

४. **पाण्डित्य-प्रदर्शन** : नाथ-संतों में यद्यपि व्युत्पत्तिजन्य कुशलता नहीं दिखाई देती। काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन आदि का सम्यक् वैदग्ध्य उनकी वाणी में न होते हुए भी प्रतिभा जन्य-कौशल भली प्रकार देखा जाता है। यही बात उलटवाँसियों के

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९२
२. 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी', पृ० ५०
३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ९१
४. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), अंग २०
५. 'तुलसीसाहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० १३९

सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। जिन उलटवाँसी-पदों में पण्डित, ज्ञानी, अवधू आदि सम्बोधन प्रतिपक्षी केलिए कथित रहते हैं, उनमें पाण्डित्य-प्रदर्शन की ध्वनि सुनाई देती है। ऐसे पदों की गर्वोक्ति आत्मविश्वासजन्य भी होती है और इनका उद्देश्य गोष्ठी आदि में अन्य मतावलम्बियो अथवा प्रतिपक्षी वर्ग को चमत्कृत कराके पराभूत करना भी रहता है। थोड़ा बहुत सभी संतों ने इस प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। कबीर के ऐसे कुछ कथन यहाँ प्रस्तुत हैं :--

'पाँडे बूझि पियहु तुम पानी।
जिहि-मटिया के घर महँ बैठे ता महँ सिष्टि समानी॥'[१]
'माय वाप गुरू जाके नाहीं, सो (धों) दूजा कि अकेला।
कहँहि कबिर हम जात पुकारा, पंडित होय सो लेहु बिचारा॥'[२]

छंद की समग्रता की दृष्टि से भी उलटवाँसियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। जिन उलटवाँसी पदों में प्रारम्भ से अन्त तक उलटवाँसी तत्त्वों का निर्वाह हो उन्हें (१) **'पूर्णपद उलटवाँसी** तथा जिनमें एक या दो पंक्ति अथवा कुछ अंशों में उलटवाँसी तत्त्व का निर्वाह हो, उन्हें (२) **'अंशपद उलटवासी'** कह सकते हैं। इस प्रकार के उदाहरण परिशिष्ट संग्रह में द्रष्टव्य हैं।

द्वितीय अध्याय

उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा

प्रवेश : उलटवाँसी शैली की परम्परा वैदिक ऋचाओं से ही निरन्तर मिलती है। किसी युग में, समय की विशेष प्रवृत्ति के कारण, इस शैली का प्रयोग और प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट रहा है और किसी में चिन्तन तत्त्व व्यवहार पक्ष में न आने के कारण इस शैली के प्रयोग का अभाव-सा दिखाई देता है। वैदिक युग और मध्यकालीन संस्कृत युग इसके उदाहरण हैं। गौतम बुद्ध के उपदेशों में इस शैली का अभाव दिखाई देता है, परन्तु सहजयानी सम्प्रदायों में उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति बहुलता से मिलती है। शैली की इस पूर्व परम्परा के इतिहास को ऐतिहासिक तिथियों की सीमा में वर्गीकृत करना कठिन है, क्योंकि शैली का इतिहास प्रवृत्तियों का इतिहास होता है। सुविधा केलिए यह पूर्व परम्परा निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है:—

(क) वैदिक युग (संहिता-भाग) : ऋग्वेद में उलटवाँसी शैली का अति प्राचीन रूप मिलता है। ऋग्वेद की कुछ 'गूढ़ार्थक ऋचाएं'[1] रहस्यमयी पहेली-प्रवृत्ति और दुरूह प्रतीकों के कारण अर्थोद्बोधन में कठिन हैं।[2] सायण ने मंत्रों की दुरूह प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है कि मंत्रों का अर्थ 'अनुष्ठान (संयत्न) से शक्य है।'[3] यास्क ने अन्त्रों को निरर्थक बताने वाले कौत्स आदि के विषय में कहा है कि 'मंत्र अनर्थक, अनेक अर्थक, विपरीत अर्थक, अस्पष्टातार्थक होते हैं, यह कौत्स का मत है।... यह स्थाणु का अपराध नहीं, कि, इसको अन्धा नहीं देखता और ठोकर खाकर गिर पड़ता है। यह तो उस अन्धे मनुष्य का ही अपराध है। यह उस अल्पज्ञ पुरुष का अपराध है, जो परिश्रम करके वेद के अंगों को बिना पढ़े ही वेद पढ़ने को प्रवृत्त होता है और मंत्रों को अस्पष्टार्थ होने का दोष देता है।

---

१. 'रिडिल हिम्स' विंटर निट्ज़ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' पृ० ११७
('कूट काव्य एक अध्ययन' पृ० १० से उद्धृत)

२. 'पहेलियां बुझाने का रिवाज प्राचीन साहित्य में सभी कहीं एक समान रहा है। ऋग्वेद १।१६४ (अस्यवामीय सूक्त) में ऐसी कितनी ही पहेलियाँ प्रस्तुत हैं, जिनमें अधिकांश हमारी समझ से बाहर हैं।' 'प्राचीन भारतीय साहित्य' पृ० ६२
('इण्डियन लिटरेचर' (विंटरनिट्ज़) का हिन्दी अनुवाद)

३. 'मन्त्रेण प्रकाशित : स्वर्योऽनुष्ठातुं शक्यते न त्वप्रकाशित :।
तस्माद् मन्त्रोच्चारणस्यार्थ प्रकाशन रूपं दृष्टमेव प्रयोजनम् ॥'
सायण-ऋग्वेद-भाष्य, भूमिका।

मंत्रार्थ-ज्ञान-कौशल से मनुष्य की श्रेष्ठता मानी गई है।'[1] अर्थज्ञानी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा है 'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा'[2] और ऐसे अर्थज्ञ केलिए 'वाणी अपने रहस्यों का अनावरण उसी प्रकार कर देती है, जैसे कामिनी पति के समक्ष अपने वस्त्रों का।'[3]

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मंत्रों के निगूढ़ अर्थ को परिश्रमपूर्वक, विशेष प्रसंग और बुद्धि-वृत्ति के द्वारा ही समझा जासकता है। ऐसे निगूढ़-शैली वाले रहस्य प्रधान मंत्रों की संज्ञा, यास्क और उनके प्रमुख टीकाकार दुर्गाचार्य ने, 'प्रवह्लित' दी है।[4] ऋग्वेद में ऐसे अनेक गूढ़ार्थक मंत्र और कथन हैं, जिनमें 'वाणी की सूक्ष्मता'[5] के साथ-साथ उलटवाँसी शैली जैसा वाच्य विरोध भी देखने को मिलता है। शरीर-रचना के सम्बन्ध में ऋषि का कथन है—'हे मनुष्यो, यह शरीर निश्चय ही ध्यान देने योग्य है। इसमें नदियाँ बहती हैं और जल स्थिर रहता है।'[6] कैसा विचित्र विरोधाभास है कि जहाँ नदियाँ बहें और जल स्थिर रहे। इसमें शरीस्थ रक्त वाहिनी शिराओं का कथन है। इसी प्रकार विरोधाभास गर्भित उलटवाँसी-शैली के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(१) 'इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पद' वे :।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥'[7]

अर्थात् 'जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो, बतलावे। इसकी इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया

---

१. 'अनर्थक भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः।·· अथाप्यनुपन्नार्था भवन्ति।··· अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। ·· अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति।···नैष स्थाणो-पराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराध : स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविधः प्रशस्यो भवति।' 'निरुक्तम्', १।५

२. 'निरुक्तम्', १।१६

३. 'उत त्व : पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥'
ऋग्वेद १०।७१।४

४. 'एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्य :। यच्च किंचित् प्रवह्लितम्। आदित्य कर्मैव तत्। 'निरुक्तम्', ७।१३
'अथ एषा वाचः प्रवह्लितेव।' दुर्गाचार्य, (निरुक्तम्', १३।८)

५. 'ब्रह्मायं वाच : परमं व्योम।' 'ऋग्वेद' १।१६४।३५; 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रे षां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।' 'ऋग्वेद' १०।७१।२' 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां' 'ऋग्वेद' १०।१२५।३

६. 'इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।' 'ऋग्वेद संहिता', ५।४७।५

७. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।७, 'अथर्ववेद-संहिता', ९।९।५

द्वितीय अध्याय

उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा

प्रवेश : उलटवाँसी शैली की परम्परा वैदिक ऋचाओं से ही निरन्तर मिलती है। किसी युग में, समय की विशेष प्रवृत्ति के कारण, इस शैली का प्रयोग और प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट रहा है और किसी में चिन्तन तत्त्व व्यवहार पक्ष में न आने के कारण इस शैली के प्रयोग का अभाव-सा दिखाई देता है। वैदिक युग और मध्यकालीन संस्कृत युग इसके उदाहरण हैं। गौतम बुद्ध के उपदेशों में इस शैली का अभाव दिखाई देता है, परन्तु सहज-यानी सम्प्रदायों में उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति बहुलता से मिलती है। शैली की इस पूर्व परम्परा के इतिहास को ऐतिहासिक तिथियों की सीमा में वर्गीकृत करना कठिन है, क्योंकि शैली का इतिहास प्रवृत्तियों का इतिहास होता है। सुविधा केलिए यह पूर्व परम्परा निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है:—

(क) वैदिक युग (संहिता-भाग) : ऋग्वेद में उलटवाँसी शैली का अति प्राचीन रूप मिलता है। ऋग्वेद की कुछ 'गूढ़ार्थक ऋचाए'[1] रहस्यमयी पहेली-प्रवृत्ति और दुरूह प्रतीकों के कारण अर्थोद्बोधन में कठिन हैं।[2] सायण ने मंत्रों की दुरूह प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है कि मंत्रों का अर्थ 'अनुष्ठान (संयत्न) से शक्य है।'[3] यास्क ने अन्त्रों को निरर्थक बताने वाले कौत्स आदि के विषय में कहा है कि 'मंत्र अनर्थक, अनेक अर्थक, विपरीत अर्थक, अस्पष्टातार्थक होते हैं, यह कौत्स का मत है।''' यह स्थाणु का अपराध नहीं, कि, इसको अन्धा नहीं देखता और ठोकर खाकर गिर पड़ता है। यह तो उस अन्धे मनुष्य का ही अपराध है। यह उस अल्पज्ञ पुरुष का अपराध है, जो परिश्रम करके वेद के अंगों को बिना पढ़े ही वेद पढ़ने को प्रवृत्त होता है और मंत्रों को अस्पष्टार्थ होने का दोष देता है।

---

१. 'रिडिल हिम्स' विंटर निट्ज़ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' पृ० ११७
('कूट काव्य एक अध्ययन' पृ० १० से उद्घृत)

२. 'पहेलियाँ बुझाने का रिवाज प्राचीन साहित्य में सभी कहीं एक समान रहा है। ऋग्वेद १।१६४ (अस्यवामीय सूक्त) में ऐसी कितनी ही पहेलियाँ प्रस्तुत हैं, जिनमें अधिकांश हमारी समझ से बाहर हैं।' 'प्राचीन भारतीय साहित्य' पृ० ६२
('इण्डियन लिटरेचर' (विंटरनिट्ज) का हिन्दी अनुवाद)

३. 'मन्त्रेण प्रकाशित : त्वर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते न त्वप्रकाशित : ।
तस्मात् मन्त्रोच्चारणस्यार्थ प्रकाशन रूपं दृष्टमेव प्रयोजनम् ॥'
सायण-ऋग्वेद-भाष्य, भूमिका।

मंत्रार्थ-ज्ञान-कौशल से मनुष्य की श्रेष्ठता मानी गई है।"[1] अर्थज्ञानी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा है 'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा'[2] और ऐसे अर्थज्ञ केलिए 'वाणी अपने रहस्यों का अनावरण उसी प्रकार कर देती है, जैसे कामिनी पति के समक्ष अपने वस्त्रों का।'[3]

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मंत्रों के निगूढ़ अर्थ को परिश्रमपूर्वक, विशेष प्रसंग और बुद्धि-वृत्ति के द्वारा ही समझा जासकता है। ऐसे निगूढ़-शैली वाले रहस्य प्रधान मंत्रों की संज्ञा, यास्क और उनके प्रमुख टीकाकार दुर्गाचार्य ने, 'प्रवह्लित' दी है।[4] ऋग्वेद में ऐसे अनेक गूढ़ार्थक मंत्र और कथन हैं, जिनमें 'वाणी की सूक्ष्मता'[5] के साथ-साथ उलटवाँसी शैली जैसा वाच्य विरोध भी देखने को मिलता है। शरीर-रचना के सम्बन्ध में ऋषि का कथन है—'हे मनुष्यो, यह शरीर निश्चय ही ध्यान देने योग्य है। इसमें नदियाँ बहती हैं और जल स्थिर रहता है।'[6] कैसा विचित्र विरोधाभास है कि जहाँ नदियाँ बहें और जल स्थिर रहे। इसमें शरीरस्थ रक्त वाहिनी शिराओं का कथन है। इसी प्रकार विरोधाभास गर्भित उलटवाँसी-शैली के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(१) 'इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वे:।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥'[7]

अर्थात् 'जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो, बतलावे। इसकी इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया

---

१. 'अनर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः।·· अथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति।··· अथापि विप्रतिपिद्धार्था भवन्ति।·· अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति।···नैष स्थाणोपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराध : स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविधः प्रशस्यो भवति।' 'निरुक्तम्', १।५

२. 'निरुक्तम्', १।१६

३. 'उत त्व : पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥'
ऋग्वेद १०।७१।४

४. 'एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्य :। यच्च किंचित् प्रवह्लितम्। आदित्य कर्मैव तत्।
'निरुक्तम्', ७।१३
'अथ एषा वाचः प्रवह्लितेव।' दुर्गाचार्य, (निरुक्तम्', १३।८)

५. 'ब्रह्मायं वाच : परमं व्योम।' 'ऋग्वेद' १।१६४।३५; 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।' 'ऋग्वेद' १०।७१।२' 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां'
'ऋग्वेद' १०।१२५।३

६. 'इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।' 'ऋग्वेद संहिता', ५।४७।५

७. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।७, 'अथर्ववेद-संहिता', ९।९।५

करती हैं।' सूर्य अथवा आत्मा के धर्म को निगूढ़ करके लिखी गई यह एक सुन्दर उलटवाँसी है, जिसे पं० जयदेव शर्मा ने पहेली कहा है।[1]

(२) तिस्रोमातॄस्त्रीन पितृन बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥'[2]

अर्थात् 'तीन माता और तीन पिता का जनक कोई एक है, जो सीधा स्थित है। इन छः का बोझा उठाकर भी वह थकता नहीं, झुकता नहीं। आकाश की पीठ पर आरूढ़ होकर और सर्वज्ञ से सम्पर्क पाकर भी, वाणी की सर्वव्यापकता को नहीं समझ पाते।' 'तीन माता और तीन पिता का जनक' यह उक्ति अतिक्रान्त उक्ति है, जो विस्मय को प्रश्रय दे रही है। इतना अधिक भार-वहन करने पर भी न थकना, न झुकना भी विस्मयकारक है। इस गूढ़-कथन का अर्थ सूर्य अथवा परमेश्वर पक्ष में करने पर, विरोध का परिहार हो जाता है। सूर्य पृथ्वी, अन्तरिक्ष और तेज इन तीनों को पालन करने वाले अग्नि वायु और विद्युत इन तीनों को धारण करता हुआ ऊर्ध्वस्थ है। इसी प्रकार सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन से युक्त और पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ अथवा अग्नि, वायु और जल जीवों के पालक इन तीनों को धारण करता हुआ परमेश्वर सबके ऊपर अविष्ठित है।

(३) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'[3]

अर्थात् 'सदा परस्पर मिलकर रहने वाले दो सखा (समान नाम वाले), सुपर्ण (सुन्दर गति वाले), एक ही वृक्ष पर अधिष्ठित हैं, एक उसके स्वादिष्ट फलों का भोक्ता है और दूसरा उनका द्रष्टा है।' इस कथन में चमत्कार यह है कि एक ही परिस्थिति में अधिष्ठित दो पक्षियों की प्रवृत्ति और प्रकृति पृथक्-पृथक् है? विरोधी प्रकृति वाले जीव और ब्रह्म संसार रूपी वृक्ष पर आरूढ़ हैं। दोनों (जीवात्मा और परमात्मा) उत्तम पोषक शक्ति से युक्त होने के कारण 'सुपर्ण' हैं। काटेजाने वाले वृक्ष के समान नश्वर देह में जीवात्मा आश्रित है और विराट् ब्रह्माण्ड में परमेश्वर। जीवात्मा सुस्वाद, मधुर फल के समान अपने पुण्य-पाप रूप कर्मों का, सुख-दुःख रूप फल का भोग करता है और परमेश्वर साक्षीमात्र है।

---

१. 'यह एक सुन्दर पहेली के समान है कि 'उस सुन्दर पक्षी का स्वरूप बतलाओ जिस की गौएँ पैरों से रस पिएँ और सिर से रस बरसावें? इसके दो उत्तर हैं, एक सूर्य-दूसरा आत्मा। सूर्य की किरणें चरणों से भूमि पर से जलपान करती हैं और आकाश-रूप सिर से मेघ रूप में बरसाती हैं। इसी प्रकार देह में लगी इन्द्रियां बाह्य विषयों का रसपान करती हैं और शिरोभाग से आनन्द या ज्ञान-रस उत्पन्न करती हैं।' 'अथर्ववेद-संहिता' भाषा-भाष्य, (द्वितीय खण्ड), पृ० ६६१

२. 'ऋग्वेद-संहिता' १।१६४।१०

* टिप्पणी—प्रथम मण्डल के सूक्त १६४ के उदाहृत मंत्रों की विशेष व्याख्या केलिए द्रष्टव्य है पं० जयदेव शर्मा कृत 'ऋग्वेद-संहिता' भाषा-भाष्य, (द्वितीय खण्ड)।

३. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२०

विरोधी स्वभाव वाले जीव और ब्रह्म की परिस्थिति व्यक्त करने केलिए इस मंत्र की कथन-शैली इतनी प्रसिद्ध हुई कि वैदिक[1] और धार्मिक संस्कृत[2] साहित्य में उसी रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उक्त मंत्र की आवृत्ति हुई है।

(४) 'सप्त युंजन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहित सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥'[3]

अर्थात् 'सात मिलकर एक चक्रवाले रथ को हाँक रहे हैं। सात नामों वाला एक ही घोड़ा उसे खींच रहा है। इस अमर्त्य की तीन नाभियाँ हैं। यह चक्र निरन्तर चल रहा है। इसमें सभी भुवन स्थित हैं।' कितना विचित्र है यह एक चक्र वाला रथ जो एक पहिये वाला होने पर भी सम्पूर्ण भुवनों का भार-वहन करने में समर्थ है। इस मंत्र में प्रयुक्त निश्चित संख्याएँ गूढ़ार्थ प्रधान हैं। प्रयोक्ता ऋषि ने इन के द्वारा वाणी के रहस्य को निगूढ़ बनाया है। यह विचित्र 'रथ' सूर्य का है। यज्ञ के सात पुरोहित, यज्ञ के द्वारा इस रथ को अग्रसर करते हैं। उसमें जुता हुआ सप्तवर्णी अश्व एक ही है। इस अमरणधर्मा चक्र के फलस्वरूप ही तीन ऋतुओं का आविर्भाव होता है, जो उसकी तीन नाभियाँ हैं। सम्पूर्ण लोक इस 'काल-चक्र' पर आरूढ़ हैं।

(५) 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥'[4]

अर्थात् 'आकाश मेरा पिता और जनयिता है। यही मेरा बन्धु और नाभि है। यह महती पृथ्वी मेरी माता है। इन दोनों के मध्य-भाग में सोम पात्र के आकार की योनि फैली हुई है। उसी योनि में पिता ने पुत्री में गर्भाधान किया है।' ऋचा के अन्तिम चरण में विधि-विरोध है।* सायण इस वाच्य विरोध का परिहार इस प्रकार करता है—नाभि=भोमरस, पितादुहितुर्गर्भमाधात्=सूर्य ने अपनी किरणों से अथवा इन्द्र ने वृष्टि के माध्यम से पृथ्वी को उर्वर किया।[5]

---

१. 'अथर्ववेद-संहिता', ६।९।२०; 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', ४।६
२. 'श्रीमद्भागवतपुराण', ११।११।६-७
३. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२
४. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।३३,'; 'अथर्व-वेद-संहिता', ९।१०।१२
* टिप्पणी—नाथ-संतों की उलटवाँसियों में 'धी घर ब्याह बाप ने कीन्हा, माता पुत्र वियाही' ('तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली' (पहला भाग), पृ० १३६) आदि विधि विरोध परक अनेक उदाहरण मिलते हैं।
५. 'नाभिरत्र भौमो रसोऽत्र तिष्ठतीति शेषः। ततश्चान्नं जायते। अन्नाद्रेतो रेतसो मनुष्य इत्येवं पारपर्येण जननसंबंधिरेतो रसस्यात्र सद्भावात्। अत्र अस्मिन्नन्तरिक्षे पिता द्युलोकः। अधिष्ठात्रधिष्ठानयोः अभेदेन आदित्यो द्यौरुच्यते। स स्वरश्मिभिः। अथवा इन्द्रः पर्जन्योवा। दुहितः दूरे निहिताया भूम्याः गर्भं सर्वोत्पादनसमर्थं वृष्ट्युदक लक्षणम् आधात् सर्वतः करोति। 'ऋग्वेद संहिता' मंत्र का सायण-भाष्य।

(६) 'अपाङ्-प्राङ् एति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ।।'[1]

अर्थात् 'न मरने वाला मरने वाले के साथ एक योनि होकर अन्नेच्छा या भोगेच्छा से पकड़ा हुआ है । (वह) कभी नीचे जाता है और कभी ऊपर आता है । वे दोनों सदा साथ रहने वाले और सब स्थानों पर फिरने वाले हैं । पर, उनमें से एक (मर्त्य) को लोक जानता है, दूसरे को नहीं ।' मंत्र का वाच्य विरोधाश्रित और रहस्य प्रधान है । विपरीत स्वभाव वाले ये दोनों कौन हैं ? जिज्ञासु की मनीषा विरोधी स्वभाव वाले जीव और ब्रह्म के पक्ष में सोचने के लिए प्रेरित होती है । 'सयोनि' होते हुए भी ये दोनों विरोधी स्वभाव वाले हैं । इन दोनों की मध्यम कड़ी 'स्वधा' है । 'स्वधा' से पकड़ा हुआ 'अमर्त्य' अपने 'मर्त्य' साथी के साथ एक शरीर हुआ फिर रहा है । कर्मों की विवशता से उसे निकृष्ट और उच्च योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है ।[2]

(७) 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ।'[3]

अर्थात् 'एक चक्र है, जिसमें बारह अरे हैं, तीन नाभि स्थान हैं । इसमें तीन सौ साठ कीलक (शंकवाः) लगे हैं । कौन है जो इस एक चक्र के रहस्य को समझ सकता है ?' इस मंत्र में विशेष संख्याओं की योजना द्वारा अर्थ को निगूढ़ रखा गया है । यह विशेष चक्र है काल-चक्र अथवा संवत्सर । इसके बारह अरे बारह मास हैं । तीन नाभिस्थान तीन ऋतुएँ और चलाचल तीन सौ साठ कीलक वर्ष के अहोरात्र हैं । यह निरन्तर गतिशील रहता है ।

(८) 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश ।'[4]

अर्थात् 'एक बैल है जिसके चार सींग हैं, तीन चरण हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उद्घोष करता है ।' इस विचित्र वृषभ का वर्णन विरोध गर्भित असम्बद्ध कथन शैली में है । सायण ने इस मंत्र के एकाधिक अर्थों की ओर संकेत किया है ।[5] यज्ञपरक अर्थ इस प्रकार है –'इस यज्ञ रूपी वृषभ के चार सींग चार

---

१. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।३८; 'अथर्ववेद संहिता', ९।१०।१६; 'एतरेयारण्यक', २।८
२. 'मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनि सहस्राणि मयोपितानि यानि वै ।।' 'निरुक्तम्', १४।१९
३. 'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।४८
४. 'ऋग्वेद-संहिता', ४।५८।३; 'यजुर्वेद-संहिता', १७।९१; 'तैत्तिरीयारण्यक', १०।१०।२
५. 'यद्यपि सूक्तस्याग्निसूर्यादिपञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधायं मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्तायुक्त नीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते।'... एवं त्ववादिपक्षेऽपि योज्यम् । शाब्दिकास्तु शब्दब्रह्मपरतया चत्वारि शृङ्गेति चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्च इत्यादिना व्याचक्षते । अपरेत्वपरथा । तत्सर्वंमंत्रद्रष्टव्यम् ।' 'ऋग्वेद-संहिता', मंत्र का सायण भाष्य ।

वेद अथवा चार पुरोहित (होता, उद्गाता, ऋत्विक् अध्वर्य) हैं, तीन पैर तीन सवन (प्रातः, मध्याह्न, सायं) हैं, दो सिर (ब्रह्मोदन और प्रवर्ग्य) हैं, सात हाथ सात वैदिक छन्द (त्रिष्टुप, जगती, उष्णिक, गायत्री, पंक्ति, अनुष्टुप, बृहती) हैं। यज्ञाग्नि रूप देवता मंत्र, ब्राह्मण और कल्प से त्रिधाबद्ध है। इसे 'वृषभ' इसलिए कहा जाता है कि यह यज्ञ-फलों की वर्षा करता है।'

सूर्यपरक अर्थ है—'इस सूर्य रूप वृषभ के चार सींग चार दिशाएँ हैं, तीन पैर तीन वेद हैं, दो सिर अहोरात्रि हैं और सात हाथ सात किरणें हैं, वह तीन स्थानों (पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश) में बँधा हुआ है। वृष्टि करने वाला होने से उसे वृषभ कहते हैं।'*

शब्द-ब्रह्म परक अर्थ है—'इस शब्द ब्रह्म रूप वृषभ के चार सींग चार प्रकार के शब्द (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) हैं, तीन पाद ही तीन काल (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) हैं, दो सिर (शब्द और अर्थ) हैं और सात हाथ सात विभक्तियाँ हैं। यह शब्द-ब्रह्म रूपी वृषभ तीन स्थानों (उर, कण्ठ, सिर) में बँधा हुआ है।'[1] वाणी के इस निगूढ़ रहस्य को कोई मनीषी ब्राह्मण ही समझ पाता है।[2]

ईश्वर परक अर्थ है—'हे मनुष्यो, जो स्वप्रकाश स्वरूप (देव), सुखों को बरसाने वाला, मरण धर्मा मनुष्यादि को सब प्रकार से व्याप्त करने वाला महान् देव है, वह त्रिधा-(श्रद्धा, पुरुषार्थ, योगाभ्यास) बद्ध हुआ निरन्तर उपदेश (रोरवीति) देता है। इस धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध स्वरूप दो सिर (उन्नति और मोक्ष), तीन पैर (कर्म, उपासना और ज्ञान), चार सींग (चार वेद) आप लोगों को जानने योग्य हैं। इसके बोध के लिए सात हाथ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा पाँच कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा) हैं।'[3]

(६) **'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।**
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम ॥'[4]

अर्थात् 'पूषन् अपनी माता का पति और सहोदरा का प्रेमी है।' कथन में माता का पति और सहोदराक। प्रेमी कहने में विधि-विरोध है। विरोध का परिहार इस प्रकार होता है कि सूर्य अपनी माता रात्रि का पति है और सहोदरा भगिनी उषा से आलग्न है। निरुक्त में कहा गया है कि साहचर्य से उषा इसकी स्वसा है।[5]

---

* टिप्पणी—हिन्दी-व्याख्या के लिए द्रष्टव्य है पं० जयदेव शर्मा कृत 'ऋग्वेद संहिता' भाषा-भाष्य (षष्ठ-भाग)

१. पतञ्जलि 'महाभाष्य', १।१-१

२. 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण:।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदान्ति ॥'
'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।४५

३. पं० जयदेव शर्मा कृत 'ऋग्वेद-संहिता' भाषा-भाष्य।

४. 'ऋग्वेद-संहिता', ६।५५।५

५. 'उपसमयस्स्वसारमाह सहाचर्यात्। रसहरणाद्वा।', 'निरुक्तम्', ३।१६

(१०) 'तद्वामृतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति ।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताऽग्निरङ्ग विचेताः सप्रचेताः ॥'[1]

प्रथम पंक्ति के द्वितीय चरण का अर्थ है—(अग्नि) जन्म लेते ही अपनी माताओं का भक्षण कर लेता है।' 'जन्म लेते ही नव जातक अपनी माताओं का भक्षण कर लेता है।' इस कथन में तीन रूपों में विरोध विद्यमान है, कि नवजातक में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वह ऐसा दुष्कर कार्य कर सके; अपनी जन्मदात्री माताओं को वह क्यों भक्षण करता है और फिर एक को जन्म देने वाली एक ही माता होती है, माताएँ कैसे ? विरोध का परिहार इस प्रकार होता है—'पार्थिव-अग्नि की उत्पत्ति समिधाओं से होती है, अतः वे उसकी माताएँ हुईं और प्रज्ज्वलित होते ही वह उन्हें भस्म कर देती है।'यही उसका भक्षण है।

ऋग्वेद के उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त ऐसे अनेक कथनांश या वाक्यांश मिलते हैं, जिनमें उलटवाँसी के समकक्ष विरोधगर्भित असम्बद्धता और प्रतीक-प्रयोग हैं। उदाहरण केलिए 'न थकने वाली दश कुमारियों ने त्वष्टा के इस बालक (अग्नि) का भरण-पोषण किया।'[2] लोक में दिखाई देने वाली गाय से विचित्र गाय का वर्णन, जो अपने बछड़े को साथ लिए रहकर विचित्र प्रकार की क्रियाएँ और कार्य करती है।[3] 'पैर वालों से पहले बिना पैरों वाला आ जाता है। मित्रवरुण इस रहस्य को नहीं जानते।'[4] 'जल के बीच में भी प्यास बनी है।'[5] इन उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में उलटवाँसी अथवा प्रवह्लिता शैली का, जिसे विद्वानों ने समाधि-भाषा[6] भी कहा है, सम्यक् प्रयोग हुआ है।

अथर्ववेद में वैदिक-साहित्य की कथन-शैली की इस परम्परा का विकास भली प्रकार देखने को मिलता है। ऋग्वेद के विरोधगर्भित गूढ़ार्थक शैली के बहुत से मन्त्र

---

१. 'ऋग्वेद-संहिता', १०।७९।४
२. 'दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम् ।' 'ऋग्वेद-संहिता', १।९५।२
३. 'अव : परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्त : ॥'
'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।१७
'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥'
'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२९
४. 'अपादेति प्रथम पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणाचिकेत ।'
'ऋग्वेद-संहिता', १।१५२।३
५. 'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।' 'ऋग्वेद-संहिता', ७।८९।४
६. 'दि ग्रेटर पार्ट ऑफ दि स्टेटमेन्ट्स मेड बाइ दीर्घतमस एज़ हैव बीन कोच्ड इन 'समाधिभाषा, दैट, सिम्बौलिक लैंग्वेज। दि की टु सच लैंग्वेज कैन नॉट बी एप्लाइड मेअरली बाइ ए केअरफुल स्टडी ऑफ टैक्सट्स।' डॉ० सम्पूर्णानन्द, (फोवर्ड ऑफ 'अस्य वामस्य हिम्' बाइ डॉ० जी० कुन्नराजा, से उद्धृत)

अथर्ववेद में ज्यों के त्यों मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डलान्तर्गत सूक्त १६४ ('अस्यवामस्यसूक्त') के समान अथर्ववेद के 'कुन्तापसूक्त', 'कवपऐलूप' आदि सूक्त अपनी गूढ़ार्थता केलिए प्रसिद्ध हैं।[1] शैली की परम्परा निर्वाह केलिए अथर्ववेद के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

'हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाभ्येति या व्रतम।
त्रीन धर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयतेपयोभिः।।'[2]

अर्थात्—'मधुकशा समस्त प्राणों या लोकों को धारण करने वाली है। उच्च घोष करती हुई व्रती केलिए साक्षात् होती है। तीन धर्मो द्वारा वशीभूत होकर रसों से पुष्ट करती है।' यह वर्णन उलटवाँसियों में वर्णित 'अनहदनाद' और 'कामधेनु' के वर्णन के समान है। विचित्र कथन है कि जो तीन धर्मो के द्वारा वशीभूत होकर रस को स्रवित करती है। इस कथन का अर्थोद्बोधन इस प्रकार होता है—'यह मधुकशा शक्ति ब्रह्म-शक्ति है, जो प्राण, अन्न तथा लोकों को धारण करने वाली है और जो सामगान करती हुई ज्ञानी अथवा कर्मनिष्ठ अभ्यासी के प्रति साक्षात् होती है। जो ज्ञान कर्म और उपासना इन तीन धर्मों के वशवर्ती होकर व्रती के प्रति अपना घोष करती हुई ज्ञान-धाराओं से उसे पुष्ट करती है।'[3] इसी प्रकार उलटवाँसी शैली में वर्णित 'पिण्डस्थ ब्रह्माण्ड की कल्पना'[4] और शरीर के लिए नवद्वार वाले पुण्डरीक का रूपक'[5] अथर्ववेद में देखने को मिलता है। अथर्ववेद में विचित्र स्वभाव वाली गाय का वर्णन मिलता है, जो अपने ऊर्ध्व भाग से अपनी माता के प्रति शब्द करती है और वशवर्ती होकर रस स्रवित करती है। तथा जो एकपदा, द्विपदा, चतुष्पदा, अष्टपदा, नवपदा आदि रूपों में देखी जाती है :—

'गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सक्वाणं धर्मभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभि।।'[6]

---

१. 'अथर्ववेद-संहिता', २०।१२७-१३७ तक
२. 'अथर्ववेद-संहिता', ६।१।८
३. 'वही, पं० जयदेव शर्मा कृत 'भाषा-भाष्य'
४. 'आवि : सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम।।' 'अथर्ववेद-संहिता', १०।८।६
अर्थात् 'गुहा में (ब्रह्माण्ड और शरीर में) वह व्यापक और महान् ज्ञातव्य है। वह अति समीप स्थित है। 'व्यापक' के ही ये सब चर-अचर (प्रणान क्रिया करने वाला शरीर, इन्द्रिय, चित्त आदि; ब्रह्माण्ड में सूर्य, नक्षत्र, वायु आदि) आश्रित हैं।'
५. 'पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तत् वै ब्रह्मविदो विदुः।।' वही, १०।८।४३
अर्थात् 'नवद्वार वाले पुण्डरीक कमल के समान यह शरीर तीन गुणों से आवृत है, उसमें जो सबका संगमस्थान (आत्मा) है उसी को ब्रह्मज्ञानी पुरुष साक्षात् करते हैं।'
६. 'अथर्ववेद-संहिता', ६।१०।६

'गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षात्येकपदी द्विपदीसा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्योः
समुद्रा अधि विक्षरन्ति ।'[1]
'कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो अजायत ।
सह द्यामधि रोहति रुहोरुरोह रोहितः ॥'[2]

अर्थात् 'काली (रात्रि) ने एक श्वेत बच्चे को उत्पन्न किया है। वह आकाश में ऊँचा चढ़ गया है।' 'कृष्ण' का पुत्र 'अर्जुन' है, यही विरोध गर्भ गूढ़क्ति है। यहाँ रात्रि में चन्द्रोदय अथवा प्रभात समय में सूर्य के गगनारूढ़ होने का वर्णन है।

'अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्व बुध्नस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपम् ।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी संविदाना इति ॥'[3]

अर्थात् 'एक चम्मच, जिसका मुख नीचे की ओर और पेंदा ऊपर की ओर है। उसके किनारे पर सप्त ऋषि और आठवीं वाक् देवता है।' चम्मच की उपमा 'सिर' से दी है, जिसमें प्राण वायु, इन्द्रियाँ और वाक्देवी का अधिष्ठान है।

इस प्रकार अथर्ववेद में ऐसे अनेक मंत्र मिलते हैं जिनकी अभिधामें विरोधगर्भित असम्बद्धता दिखाई देती है। अनेक मंत्रों में प्रतीकों के पीछे अर्थ को निगूढ़ रखा गया है। एक स्थान पर तो ब्रह्म-प्रकृति परक छः पहेलियों का संकलन मिलता है।[4] उनमें से एक यहाँ प्रस्तुत है—

'विततौ किरणौ तत द्वौ तावा पिनाष्टि पूरुषः ।
न वै कुमारि तत तथा यथा कुमारि मन्यसे ।'

अर्थात् 'पीस पीस कर फेंकने वाले चक्की के दो पाट अतिविस्तृत हैं। उनके द्वारा एक ही पुरुष निरन्तर पीसता है। हे नव यौवने ! यह वैसा सरल नहीं हैं, जैसा तू मानती है।' यहाँ आकाश और पृथ्वी, स्त्री-पुरुष अथवा जीव और प्रकृति ये कर्त्ता-भोक्ता के रूप में दो पाट हैं, जिनको वह ब्रह्म तत्त्व अकेला ही रचकर चलाता है। उस तत्त्व को समझ पाना उतना सरल नहीं है।[5]

संहिता-भाग में यह शैली देववाची अमूर्त्त शक्तियों के विस्मयकारी कृत्यों, ब्रह्म-चर्चा के रूप में यज्ञ सम्बन्धी प्रसंगों में प्रयुक्त होती थी।[6] इसप्रकार की शैली में अध्यात्म विषय का

---

१. 'अथर्ववेद संहिता' ६।१०।२१
२. 'अथर्ववेद संहिता' १३।३।२६
३. 'अथर्ववेद-संहिता', १०।८।६
४. 'इति प्रवल्हिकाः षट् ।' 'अथर्ववेद संहिता', २०।१३३।१-६
५. पं० जयदेव शर्मा कृत 'अथर्ववेद संहिता', भाषा-भाष्य पर आधारित ।
६. 'ब्रह्मोद्य' ब्राह्मणों 'शतपथ ब्राह्मण' ४, ६।६।२०; 'ऐतरेय ब्राह्मण' ५।२५) में ऐसी ईश्वर-शास्त्र-विषयक समस्याओं की द्योतक है जो अश्वमेध अथवा दाशरात्र जैसे वैदिक यज्ञों से सम्बद्ध विभिन्न संस्कारों का अनिवार्य अंग होती थी।' 'वैदिक-इण्डेक्स' भाग २, (हिन्दी अनुवाद) पृ० ८७

प्रतिपादन होता था, जिसमें सृष्टि और उसके विकास सम्बन्धी समस्याओं पर विचार होता था। विषय की जटिलता अथवा सूक्ष्मता के कारण, इस प्रकार की अभिव्यक्ति गूढ़ोक्तियों के रूप ही सम्भव थीं। साथ ही इस शैली के माध्यम से जिज्ञासा को प्रवुद्ध और बुद्धिवृत्ति को प्रोत्साहित करने केलिए भी कथन की विरोधगर्भित शैली का आश्रय लिया जाता होगा। 'एक पाद होते हुए भी द्विपाद से अधिक तीव्रगामी है और द्विपाद त्रिपाद से अग्रगामी है। द्विपाद के आह्वान से चतुष्पाद आता है।'[१] ऐसे कथनों को सुनकर श्रोता या साधक की चित्तवृत्ति केन्द्रित होकर विचार करने के लिए तत्पर होती है। उक्त कथन में एकपाद-एक चक्र वाला सूर्य, द्विपाद-मानव, त्रिपाद-यष्टिधारी वृद्ध पुरुष तथा चतुष्पाद श्वान् है। इसी प्रकार साक्षी ईश्वर केलिए ऐसे कथन 'जो दर्शक है वह सबसे पृथक् और छिपा हुआ है',[२] विचार करने को बाध्य करते हैं।

उक्त कारणों के अतिरिक्त वैदिक ऋषियों के सम्मुख गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की समस्या प्रधान रूप से रही होगी। वह गुरु-गम्भीर अनुभूति सीमित प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है, अतः अर्थ संक्षेप की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है। 'आँखों और कानों वाले भी मन के वेगों को समझने में समर्थ नहीं हैं।'[३] अतः 'समर्थ अधिकारी तक ही ज्ञान की गति हो'।[४] इसलिए भी प्रतीक और विशिष्ट कथन-शैली के कारण वाणी में निगूढ़ता का होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के कथनों से उक्तियों में चमत्कार और वाणी की शोभा में वृद्धि होती है, क्योंकि कथन की शोभा वाणी में निहित रहती है।[५]

उपनिषदों में :

उपनिषदों तक आते-आते विरोधाश्रित गूढ़ोक्ति-शैली का सम्यक् विकास हो चुका था। इस समय तक वैदिक विचारक ऋषि कर्म-काण्ड से चिन्तन की ओर मुड़ गया था। उपनिषद् काल का विवेच्य विषय सूक्ष्म-तत्त्व, आत्मा या ब्रह्म है। उस परमानुभूत तत्व की अभिव्यक्ति 'मौन-व्याख्यान' अथवा विरोधाश्रित शैली के द्वारा ही सम्भव थी, क्योंकि उस तत्त्व को प्राप्त करने में वाणी और मन भी असमर्थ हैं।[६] जो पुरुष उस तत्त्व को गुहा (बुद्धि, आकाश)

---

१. 'एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥'
'ऋग्वेद-संहिता', १०।११७।८

२. 'य ईं चकार न सो अस्य वेद ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।' वही, १।१६४।३२

३. 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।' वही, १०।७१।७

४. 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥' 'नरुक्तम्', २।२०

५. 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।'
'ऋग्वेद संहिता', १०।७१।२

६. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति॥' 'तैत्तिरीयोपनिषद्' २।४।१

में निहित जानता है, वह एक साथ ही सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है।[१] यहाँ 'गुहा' का अर्थ 'बुद्धि'[२] बताने में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता द्योतित होती है। समर्थ अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए उपनिषदों के अनेक कथनों में विरोधगर्भित अभिधा दिखाई देती है।

(१) 'स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्।
सर्वस्यैतस्यात्ता भवित सर्वस्यान्नं भवति ये एवमेतदितेरदितित्व वेद ॥'[३]

अर्थात् 'जो जिसकी रचना करता है, वह उसे खाता भी है। अर्थात् उस (मृत्यु) ने जिस-जिस की रचना की उसी-उसी को खाने का भी विचार किया।' लोक-व्यवहार में निर्माता या रचयिता अपनी निर्मिति या रचना के विनाश की बात नहीं सोचता। यही इसका वाच्य-विरोध है। इस उपनिषद् में वाणी और मन के प्रतीक रूप में धेनु, वृषभ और वछड़े को गृहण किया गया है।[४] इनका विकास तन्त्रों, सहजयानी बौद्धों और नाथ-सन्तों की वाणी में देखने को मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् में हठयोगी साधना जैसे 'इस पिण्ड के भीतर ही ब्राह्माण्ड है' और 'हृदय की एक सौ एक नाड़ियों में से एक ऊर्ध्वगमन करती है जो अमरत्व प्रदान कराती', के अनेक कथन मिलते हैं।[५]

(२) 'अपाणि पादो जवनो गृहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुंग्र्य पुरुषं महान्तम् ॥'[६]

अर्थात् 'वह हाथ-पाँव रहित होकर भी वेगवान् और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है, कर्ण रहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वैद्य को जानता है, पर, उसको

---

१. 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।' 'तैत्तिरीयोपनिषद्', २।१।१

२. 'गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः गूढावस्यां भोगापवर्गौ पुरुषार्थवितिं वा तस्यां परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योम्न्याकाशेऽव्याकृताख्ये।' वही, मंत्र का 'शाङ्कारभाष्य'

३. 'वृहदारण्यकोपनिषद्', १।२।५

४. 'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥' 'वृहदारण्यकोपनिषद्', ५।८।१

५. 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावा पृथ्वी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वंतदस्मिन्समाहितमिति ॥' 'छान्दोग्योपनिषद्', ८।१।३
'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥' वही, ८।६।६

६. 'श्वेताश्वरोपनिषद्', ३।१९

जानने वाला कोई नहीं है, उसको सबका आदि पुरुष और महान् कहा गया है।' इस प्रकार अपने इन विरोधी धर्मों वाला वह पुरुष बड़ा विचित्र है। ऐसा विचित्र पुरुष (आत्मा) अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है और वह मनुष्य की गुहारूप बुद्धि में विद्यमान है।[1] कुछ और उदाहरण :—

(३) 'सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥'[2]

अर्थात् 'वह पुरुष सहस्र शिर, सहस्र नेत्र और सहस्र चरणों वाला है, वह भूमि को सब ओर से व्याप्त करके दशाङ्गुलि परिमाण वाले हृदय में स्थित है।' इस वाच्य में विरोध और अद्‌भुत तत्त्व का चमत्कार है।

(४) 'त्वं स्त्रीं त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातोभवसि विश्वतोमुखः ॥'[3]

अर्थात् 'तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है तथा तू ही उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है।' एक का अनेक रूपों में कथन होने से वाच्य में विरोध है।

(५) 'न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र तारकं, नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥'[4]

अर्थात् 'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र और तारे प्रकाशित होते हैं। न ये बिजलियाँ ही चमकती हैं, फिर यह अग्नि कहाँ प्रकाशित हो सकता है ? ये सब उसके प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं।' सूर्य-चन्द्र-तारागण विहीन देश-काल की स्थिति का वर्णन बड़ा विचित्र है।

(६) 'कार्य-ब्रह्म' या संसार का वर्णन एक नदी के रूप में किया गया है, जिसमें सांगरूपक के आधार पर शैली की निगूढ़ता द्रष्टव्य है—

'पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्र वक्रां, पञ्च प्राणोर्मि पञ्चबुद्ध्यादि मूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां, पञ्चाशद्‌भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥'[5]

अर्थात् 'पाँच स्रोत (चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) जिसमें जल की धाराएँ हैं। पाँच उद्‌गम स्थानों (कारण रूप पंचभूत) के कारण जो बड़ी उग्र और वक्र हैं, जिसमें पंचप्राण अथवा वाक्, पाणि, पादादि रूप पाँच तरंगे हैं, पाँच प्रकार के ज्ञानों (चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होने वाला ज्ञान) का मूल (अर्थात् मन) जिसका कारण है, जिसमें पाँच आवर्त्त (शब्दादि पाँच विषय) हैं जो पाँच प्रकार के दुःख (गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि और मरण) रूप औघ वाली है और जो पाँच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) रूप पर्वों वाली है, इस प्रकार इस पचास भेदों वाली नदी को हम जानते हैं।'[6] इस प्रकार बुद्धि में स्थित

---

१. 'अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।' श्वेताश्वतरोपनिषद' ३।२०
२. श्वेताश्वरोपनिषद् ३।१४;
३. वही, ४।३
४. 'श्वेताश्वतोरोपनिषद्', ६।१४;
५. वही, १।५
६. वही, मंत्र के शाङ्कर भाष्य के आधार पर।

उस परमतत्त्व की अनुभूति को विरोधी धर्मों के द्वारा अभिव्यक्त किया है।[1] और उस स्थिति तक पहुँचने के लिए बुद्धि को सारथी बनाना भी अपेक्षित है।[2]

(७) 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
कस्तंमदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥'[3]

अर्थात् 'वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। हर्ष से युक्त तथा मद से रहित (मद तथा अमद दोनों की स्थति वाले) उस देव को मेरे सिवा कौन जान सकता है।' यहाँ, स्थित रहने पर भी दूर तक जाने और शयन करते हुए भी सर्वत्र गमन करने में, दृष्ट विरोध है। इसी प्रकार एक ऐसे 'अश्वत्थ' वृक्ष का वर्णन मिलता है, जिसका वाच्य असम्बद्ध और व्यवहार पक्ष में असम्भव है—

(८) 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ : सनातन: ।'[4]

अर्थात् 'जिसका मूल ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है।' जड़ का नीचे की ओर होना और शाखाओं का ऊपर की ओर होना 'धर्म' है; परन्तु उक्त उदाहरण में विपरीत कथन है। अतः दृष्ट रूप में वाच्य विरुद्ध 'धर्म' के आश्रित है। श्रीमद्भगवत् गीता में भी संसार वृक्ष का वर्णन करते हुए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया गया है—

'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥'[5]

अर्थात् 'वेद जिसके पत्ते हैं, मूल जिसका ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर। ऐसे अश्वत्थ वृक्ष को जो जानता है...वही वेदविद् है।' इसका अर्थ 'संसार रूपी वृक्ष'[6] के पक्ष में लगता है। यह संसार रूपी वृक्ष 'आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाला और ब्रह्मा रूप मुख्य शाखा वाला है।* इस अविनाशी संसार रूप पीपल के वृक्ष को जो जानता

---

१. 'तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।' 'कठोपनिषद्', १।२।१२
२. 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि', वही, १।३।३
३. कठोपनिषद्', १।२।२१;
४. वही, २।३।१
५. 'श्रीमद्भगवद् गीता', १५।१
६. वृक्ष रूप में संसार की उपमा अनेक स्थानों पर दी गई है। द्रष्टव्य हैं—'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२०; 'अथर्ववेद संहिता', ६।६।२०; 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', ४।६; मुण्डकोपनिषद् ३।१।३

* टिप्पणी — आदि पुरुष परमात्मा ही नित्य और अनन्त हैं। वह सब का आधार और सबके ऊपर अधिष्ठित होने के कारण ऊर्ध्व है। वही इस संसार रूप वृक्ष का कारण है। अतः यह संसार ऊर्ध्वमूल हुआ। उस आदि पुरुष से ही उत्पत्ति होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में निवास करने के कारण हिरण्य-गर्भ रूप ब्रह्मा इस संसार का विस्तार करने वाला है, अतः वह इस संसार-वृक्ष की अधः शाखा है। इस वृक्ष का मूल कारण परमात्मा अविनाशी है और अनादि काल से इसकी परम्परा चली आई है, अतः यह संसार रूप वृक्ष भी अविनाशी है।

है, वह वेदविद् है। मंत्र के अन्तिम चरण 'यस्तं वेद स वेदवित्' में 'सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि विचारै' जैसे कथन की ध्वनि निकल रही है।

(९) 'तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत :।।'[1]

अर्थात्—'वह चलता है और नहीं (भी) चलता। वह दूर है और समीप (भी) है, वह सबके अन्तर्गत है और सबके बाहर (भी) है।' इस प्रकार उस सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति विरोधाश्रित गुणों के आधार पर ही सम्भव हो सकी है। तभी तो वह 'ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे निकला हुआ बताया है।'[2]

(१०) 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्ति के च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।।'[3]

अर्थात् 'वह महान् और अचिन्त्य रूप है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है, वह दूर से भी दूरतर और वह अत्यन्त समीप (भी) है। वह प्राणियों की बुद्धिरूप गुहा में छिपा है।' इस सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति, विरोधाश्रय के अतिरिक्त, वाणी अपनी सीमित सामर्थ्य से किस प्रकार कर सकती थी, क्योंकि वह तत्त्व न तो नेत्र से ग्रहण किया जा सकता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से, ज्ञान के प्रसाद से ही उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है।[4] उस अनुभूत पक्ष को वाणी येन केन प्रकारेण अभिव्यक्त कर पाती है।

उपनिषदों में चरम-तत्त्व की अभिव्यक्ति केलिए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया गया है। उपनिषदों में तर्क-विश्लेषण के आधार पर ज्ञान-काण्ड का प्रारम्भ हुआ। और सूक्ष्म-तत्त्व की उपलब्धि पूर्ण अभिव्यक्ति केलिए 'सूक्ष्म-बुद्धि'[5] की आवश्यकता होती है। इसीलिए ज्ञान-मार्ग तीक्ष्ण और दुस्तर 'छुरे की धार'[6] के समान है। वह अजन्मा तत्त्व अथर्ववेद के 'पुण्डरीकं नवद्वारं'[7] से बढ़कर उपनिषद् में 'एकादश द्वार वाले पुर'[8] में खोजा गया है। ऐसे तत्त्व की अभिव्यक्ति में वाणी की असामर्थ्य इसलिए भी है कि 'वह स्वयं उसी तत्त्व से प्रकाश ग्रहण करती है।'[9] अभिव्यक्ति की समस्या के सम्बन्ध में 'शतपथ-ब्राह्मण' में

---

१. 'ईशावास्योपनिषद्,' मंत्र ५
२. 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' वही, मंत्र ४
३. 'मुण्डकोपनिषद्', ३।१।७
४. 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान :।।'
'मुण्डकोपनिषद्', ३।१।८
५. 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि :।' 'कठोपनिषद्,' १।३।१२
६. 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।' वही, १।३।१४
७. 'अथर्ववेद-संहिता,' १०।८।४३
८. 'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्र चेतस :।' 'कठोपनिषद्,' २।२।१
९. 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।' केनोपनिषद्', १।४

उस परमतत्त्व की अनुभूति को विरोधी धर्मों के द्वारा अभिव्यक्त किया है।[1] और उस स्थिति तक पहुँचने के लिए बुद्धि को सारथी बनाना भी अपेक्षित है।[2]

(७) 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
कस्तंमदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥'[3]

अर्थात् 'वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है। हर्ष से युक्त तथा मद से रहित (मद तथा अमद दोनों की स्थति वाले) उस देव को मेरे सिवा कौन जान सकता है।' यहाँ, स्थित रहने पर भी दूर तक जाने और शयन करते हुए भी सर्वत्र गमन करने में, दृष्ट विरोध है। इसी प्रकार एक ऐसे 'अश्वत्थ' वृक्ष का वर्णन मिलता है, जिसका वाच्य असम्बद्ध और व्यवहार पक्ष में असम्भव है—

(८) 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ : सनातनः ।'[4]

अर्थात् 'जिसका मूल ऊपर की ओर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है।' जड़ का नीचे की ओर होना और शाखाओं का ऊपर की ओर होना 'धर्म' है; परन्तु उक्त उदाहरण में विपरीत कथन है। अतः दृष्ट रूप में वाच्य विरुद्ध 'धर्म' के आश्रित है। श्रीमद्भगवत् गीता में भी संसार वृक्ष का वर्णन करते हुए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया गया है—

'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥'[5]

अर्थात् 'वेद जिसके पत्ते हैं, मूल जिसका ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर। ऐसे अश्वत्थ वृक्ष को जो जानता है...वही वेदविद् है।' इसका अर्थ 'संसार रूपी वृक्ष'[6] के पक्ष में लगता है। यह संसार रूपी वृक्ष 'आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाला और ब्रह्मा रूप मुख्य शाखा वाला है।* इस अविनाशी संसार रूप पीपल के वृक्ष को जो जानता

---

१. 'तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।' 'कठोपनिषद्', १।२।१२
२. 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि', वही, १।३।३
३. कठोपनिषद्', १।२।२१;
४. वही, २।३।१
५. 'श्रीमद्भगवद् गीता', १५।१
६. वृक्ष रूप में संसार की उपमा अनेक स्थानों पर दी गई है। द्रष्टव्य हैं—'ऋग्वेद-संहिता', १।१६४।२०; 'अथर्ववेद संहिता', ९।९।२०; 'श्वेताश्वतरोपनिषद्', ४।६; मुण्डकोपनिषद् ३।१।३

* टिप्पणी — आदि पुरुष परमात्मा ही नित्य और अनन्त है। वह सब का आधार और सबके ऊपर अधिष्ठित होने के कारण ऊर्ध्व है। वही इस संसार रूप वृक्ष का कारण है। अतः यह संसार ऊर्ध्वमूल हुआ। उस आदि पुरुष से ही उत्पत्ति होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में निवास करने के कारण हिरण्य-गर्भ रूप ब्रह्मा इस संसार का विस्तार करने वाला है, अतः वह इस संसार-वृक्ष की अधः शाखा है। इस वृक्ष का मूल कारण परमात्मा अविनाशी है और अनादि काल से इसकी परम्परा चली आई है, अतः यह संसार रूप वृक्ष भी अविनाशी है।

है, वह वेदविद् है। मंत्र के अन्तिम चरण 'यस्तं वेद स वेदवित्' में 'सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि बिचारै' जैसे कथन की ध्वनि निकल रही है।

(९) 'तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत :॥'[1]

अर्थात्---'वह चलता है और नहीं (भी) चलता। वह दूर है और समीप (भी) है, वह सबके अन्तर्गत है और सबके बाहर (भी) है।' इस प्रकार उस सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति विरोधाश्रित गुणों के आधार पर ही सम्भव हो सकी है। तभी तो वह 'ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे निकला हुआ बताया है।'[2]

(१०) 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्ति के च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥'[3]

अर्थात् 'वह महान् और अचिन्त्य रूप है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है, वह दूर से भी दूरतर और वह अत्यन्त समीप (भी) है। वह प्राणियों की बुद्धिरूप गुहा में छिपा है।' इस सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति, विरोधाश्रय के अतिरिक्त, वाणी अपनी सीमित सामर्थ्य से किस प्रकार कर सकती थी, क्योंकि वह तत्त्व न तो नेत्र से ग्रहण किया जा सकता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से, ज्ञान के प्रसाद से ही उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है।[4] उस अनुभूत पक्ष को वाणी येन केन प्रकारेण अभिव्यक्त कर पाती है।

उपनिषदों में चरम-तत्त्व की अभिव्यक्ति केलिए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया गया है। उपनिषदों में तर्क-विश्लेषण के आधार पर ज्ञान-काण्ड का प्रारम्भ हुआ। और सूक्ष्म-तत्त्व की उपलब्धि पूर्ण अभिव्यक्ति केलिए 'सूक्ष्म-बुद्धि'[5] की आवश्यकता होती है। इसीलिए ज्ञान-मार्ग तीक्ष्ण और दुस्तर 'छुरे की धार'[6] के समान है। वह अजन्मा तत्त्व अथर्ववेद के 'पुण्डरीकं नवद्वारं'[7] से बढ़कर उपनिषद् में 'एकादश द्वार वाले पुर'[8] में खोजा गया है। ऐसे तत्त्व की अभिव्यक्ति में वाणी की असामर्थ्य इसलिए भी है कि 'वह स्वयं उसी तत्त्व से प्रकाश ग्रहण करती है।'[9] अभिव्यक्ति की समस्या के सम्बन्ध में 'शतपथ-ब्राह्मण' में

---

१. 'ईशावास्योपनिषद्,' मंत्र ५
२. 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' वही, मंत्र ४
३. 'मुण्डकोपनिषद्', ३।१।७
४. 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान :॥'
'मुण्डकोपनिषद्', ३।१।८
५. 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि :।' 'कठोपनिषद्,' १।३।१२
६. 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।' वही, १।३।१४
७. 'अथर्ववेद-संहिता,' १०।८।४३
८. 'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्र चेतस :।' 'कठोपनिषद्,' २।२।१
९. 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।' केनोपनिषद्', १।४

उल्लिखित मन-वाणी का विवाद[1] द्रष्टव्य है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपनिषदों में अनुभूत तत्त्व की सूक्ष्मता के कारण कहीं-कहीं विरोध-मूलक वक्र कथन का आश्रय लिया गया है। सम्भव है देवताओं के 'परोक्ष प्रिय' तथा 'प्रत्यक्ष द्वेषी'[2] होने की कल्पना 'विद्या' की पवित्रता बनाए रखने केलिए ही हो। इसमें पात्र की परख होने के पश्चात् ही तत्त्व-ज्ञान का उपदेश देना प्रधान है। अत: ऐसी दशा में इस विरोध गुण सम्पन्न वक्र शैली का ही सामर्थ्य है, जो उस अनुभवगम्यात्मक 'अहम्' की स्थिति को यत्किंचित् अभिव्यक्त कर सकी है।[3]

(ख) धार्मिक तथा मध्यकालीन संस्कृत-युग : इस युग का संस्कृत साहित्य दो भागों में आता है—धार्मिक साहित्य तथा काव्य कलात्मक साहित्य। धार्मिक साहित्य में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत पुराणादि आते हैं और कलात्मक साहित्य में कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, दण्डी आदि के काव्य हैं। धार्मिक साहित्य में सगुण ईश्वर की कल्पना, इष्ट की उपासना-पूजा आदि के कारण शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि तथा आत्मा को रथी मानने की धारणा स्वत: ही लुप्त हो गई अथवा दब गई, क्योंकि अवतार के साथ ही अनुभूति की सूक्ष्मता का स्थान आनुष्ठानिक सघनता ले लेती है, अत: उपासक की अभिव्यक्ति केलिए विरोधी धर्म वाली प्रतीक प्रधान वक्रशैली की उतनी आवश्यकता नहीं रहती।

दूसरी ओर कलात्मक साहित्य में व्युत्पत्तिजन्य विदग्धता का प्राधान्य रहा है, जिसमें चिन्तन पक्ष गौण तथा काव्य शास्त्रीय, व्याकरण शास्त्रीय पक्ष प्रधान होता है। ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति के लिए जिस मार्ग को अपनाना पड़ता है वह ऋजु न होकर वक्र ही होता है, परन्तु उसमें बुद्धि तत्त्व की अभिव्यक्ति विरोधाश्रित न होकर, विदग्धता जन्य होती है। ऐसी स्थिति में उलटवाँसी शैली का प्रयोग न होकर, इसी वर्ग की 'दृष्टकूट', 'ग्रन्थग्रन्थि' आदि शैलियों का प्रयोग होता है। विरोध मूलक वक्र शैली या उलटवाँसी में चिन्तन, साधना, विचार अथवा बुद्धितत्त्व की प्रधानता होती है, परन्तु ग्रंथग्रन्थि आदि में काव्यशास्त्रीय अथवा व्याकरण शास्त्रीय बहुज्ञता का प्रदर्शन। एक की समस्याएँ सृष्टि, जीव अथवा तत्त्व सम्बन्धी रहती हैं, तो दूसरे का प्रयोजन कलात्मक ज्ञान की योजना तथा कौतूहल-सृष्टि आदि हैं। सामान्यत: कहा जा सकता है कि अपनी मूल प्रवृत्ति के अभाव में उलटवाँसी शैली का उपयोग धार्मिक तथा मध्य कालीन संस्कृत युग में कम हुआ है। परम्परा निर्वाह के लिए कुछ उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं जो उलटवाँसी शैली अथवा उसके निकट के हैं।

---

१. 'शतपथ ब्राह्मण', १।४।५।८-१२

२. 'परोक्षप्रिया इव देवा:।' 'बृहदारण्यकोपनिषद्', ४।२।२; 'ऐतरेयोपनिषद्', १।३।१४
'देवा: प्रत्यक्ष द्विष: प्रत्यक्षनामग्रहणं द्विषन्ति।' मंत्र का शाङ्कर भाष्य।

३. 'अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्ति : पश्याम्यचक्षु : स शृणोम्यकर्ण :।
अहं विजानामि विविक्त रूपो न चास्तिवेत्ता मम चित्सदाऽहम्॥'
'कैवल्योपनिषद्', मंत्र २१

महाभारत में सौति का कथन है कि ग्रन्थग्रंथियाँ वे गूढ़ श्लोक हैं, जिन्हें महर्षि व्यास ने विशेष प्रयोजन से रचा है।[१] यह प्रयोजन विदग्धता जन्य कौशल ही है, जिसमें यमक, श्लेष आदि के द्वारा अर्थ को निगूढ़ रखा जाता है। जैसे—

> 'प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
> प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञं प्रलापज्ञो वचोऽब्रवीत् ॥'[२]

यहाँ 'प्राज्ञ' शब्द के तीन अर्थ हैं—बुद्धिमान, ग्राम्य (अज्ञ) और समझने में कठिन। तथा 'प्रलापज्ञ' के दो अर्थ—ग्राम्य लोगों की बोलियों को समझने वाला, प्रलाप करने वाला। इस श्लोक में विदुर ने गूढ़भाषा में, लाक्षागृह में भस्म कर देने वाला दुर्योधन का षड्यंत्र युधिष्ठिर को बतलाया है। अर्थ इस प्रकार है—'प्राज्ञप्रलापज्ञः = प्रादेशिक बोलियों के ज्ञाता विदुर, प्रलापज्ञं = युधिष्ठिर को ये वचन कहे। उन बोलियों को न जानने वाले उन शब्दों को न समझ सके, केवल उनको जानने वाले ही समझ सके।'*इसका उत्तर युधिष्ठिर ने भी गूढ़भाषा में दिया है—

> 'अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम् ।
> यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥
> कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
> न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति' ॥'[३]

अर्थात् 'वह प्रासाद अग्नि ग्राही पदार्थों का बना है, जो बाहर से दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः उसे रात्रि में त्याग दो। जो व्यक्ति प्रतिघात को सम्यक्तया जानता है, उसे शत्रु नष्ट नहीं कर सकते। वह धूर्त उस घर में आग लगा देगा। वह भयंकर शत्रु है, तुम उससे अपनी रक्षा तभी कर सकते हो, जब सुरंग मार्ग से निकल जाओ।' यहाँ 'अलोहं', 'निशितं', 'शस्त्रं', 'कक्षघ्नः', 'शिशिरघ्नः', 'कक्षे' आदि शब्द अभिधेयार्थक नहीं हैं।[४] परन्तु ये उदाहरण विरोध-गर्भित वक्र शैली अथवा उलटवाँसी शैली के भी नहीं हैं, वरन् कूटत्व पर आश्रित दृष्टकूट

---

१. 'ग्रंथाग्रंथितदाचक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात् ।' 'महाभारत' (आदि पर्व), १।८०
२. 'महाभारत', आदि पर्व, १४५।२०
* टिप्पणी...महाभारत के उद्धृत कूट श्लोकों की हिन्दी-व्याख्या 'कूट काव्य-एक अध्ययन' पर आधारित है।
३. 'महाभारत', आदिपर्व, १४५।२२-२३
४. 'कक्षे' (निकट में), 'दन्ति' (चलता है), अर्थात् जो पास-पास चलता है। इसका प्रयोग धूर्त पुरोचन के लिए हुआ है, जिसे दुर्योधन ने यह कह कर वारणावत भेजा था, कि लाक्षागृह में अग्नि लगाकर पाण्डों को जलादे। 'शिशिर' की व्युत्पत्ति 'शृ' धातु से है, जिसका अर्थ है—'विनाश करना'। यहाँ इसका अर्थ है 'विनाशाग्नि' और 'शिशिरघ्नः' का अर्थ है—'अग्नि की सहायता से नष्ट करने वाला'। 'महाकक्षे' का अर्थ है, 'उस महाशत्रु के सामने।' यहाँ 'कक्ष' की व्याख्या है 'कं सुखं हन्ति इति' (सुख का हनन करने वाला) अर्थात् शत्रु।' 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० ६२

शैली के हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें असम्बद्ध कथन के रूप में उलटवाँसी शैली और उसका विचार पक्ष द्रष्टव्य है—

'तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ वयसस्तंतून् सततं वर्तयन्त्यौ।
कृष्णान सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्त्रं भुवनानि चैव ।।'[1]

अर्थात् 'विश्वरूपा दो युवतियाँ एक के बाद दूसरे श्वेत और कृष्ण रंग के तन्तुओं से (वस्त्र) निरन्तर बुनती जा रही हैं, और सम्पूर्ण जीवों तथा लोकों को विवर्तित करती जा रही हैं।' यहाँ संसार की परिवर्तनशील अवस्था का चित्रण किया गया है। बाल्यावस्था और वृद्धावस्था इन दो को प्रतीक रूप में दो युवतियाँ बताया गया है। बाल्यावस्था के पश्चात् जीवन का उत्साह या आशा रूप श्वेतता और वृद्धावस्था के पश्चात् नैराश्य का अन्धकार, ये ही दो श्वेत और कृष्ण तन्तु हैं, जो प्राणीमात्र के जीवन को अच्छादित किये रहने वाले सुख और दुःख नामक दो भाव कहे जा सकते हैं।

श्रीमद्भागवत महापुराण भक्ति का मूर्धन्य काव्य माना जाता है, फिर भी उलटवाँसी शैली के मुख्य प्रयोजन 'गोपन'[2] के सम्यक् उदाहरण देखने को मिलते हैं। सगुणमार्गी धर्म-ग्रंथों में गोपन की यह प्रवृत्ति धार्मिक अनुष्ठानों को सर्वगम्य न होने देने के लिए ही प्रयुक्त होती रही है। परम्परा निर्वाह के लिए श्रीमद्भागवत के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पंचविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादि वृक्ष ।।'[3]

अर्थात्—'यह संसार एक सनातन वृक्ष है। इस (संसार रूपी) आदिवृक्ष का (प्रकृति ही) एक अयन है, (सुख-दुःख) दो फल हैं, (त्रिगुण) तीन मूल हैं, पुरुषार्थ रूप (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) चार रस हैं। इसको जानने के (पंचेन्द्रियों द्वारा) पाँच प्रकार हैं। इसके छः स्वभाव (उत्पन्न होना, रहना, बढ़ना, परिवर्तित होना, घटना और नष्ट होना) हैं। सात वल्कल (रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र) हैं। आठ शाखाएँ (पंचमहाभूत, मन,

---

१. 'महाभारत' आदिपर्व, ३।१४७

२. सभी लोग ज्ञान के अधिकारी नहीं होते। चित्त-वृत्ति के केन्द्रित होने तथा अन्तःकरण निर्मल होने पर ही कोई निगूढ़ और आध्यात्मिक विषय सम्बन्धी बात समझ में आती है। इसी सम्बन्ध में श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं:—
'वेदा ब्रह्मात्म विषयास्त्रिकाण्ड विषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ।।' 'श्रीमद्भागवत' ११।२१।३५
अर्थात् 'वेदों में तीन काण्ड हैं, इन तीनों काण्डों के द्वारा प्रतिपादित विषय ब्रह्म और आत्मा की एकता है। सभी मंत्र और मंत्र द्रष्टा ऋषि इस विषय को परोक्ष रूप से कहते हैं और मुझे भी इस विषय का परोक्ष रूप में कहना प्रिय है।'

३. वही, १०।२।२६

बुद्धि और अहंकार) हैं। नौ आँखें अथवा खुखाल (मुख, नासिका छिद्र, नेत्र, कर्ण, पायु, मूत्रेन्द्रिय) हैं। दस पत्ते (प्राण. अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) हैं। और इस संसार रूप वृक्ष पर दो पक्षी (जीव और ब्रह्म) बैठे हैं।' इसी प्रकार—

'द्व अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पंचस्कंधः पंचरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्वि सुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥'[1]

अर्थात् 'इस संसार वृक्ष के दो बीज (पाप और पुण्य) हैं, सौ जड़ें (अनेक प्रकार की वासनाएँ) हैं, तीन तने (सत्, रज, तम) हैं, पाँच मोटी-मोटी शाखाएँ (पंचस्कंध) हैं, पाँच रस (शब्दादि पाँच विषय रस) हैं, ग्यारह (छोटी) शाखाएँ (मन सहित पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं, दो पक्षी (जीव और ईश्वर) यहाँ घोंसला बनाकर रहते हैं। इस वृक्ष में तीन प्रकार की छाल (वात, पित्त, कफ) हैं और दो प्रकार के फल (सुख-दुःख) लगते हैं।'

संस्कृत के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त मध्यकालीन संस्कृत युग में विरोधगर्भित वक्र शैली का उपयोग तो हुआ है, परन्तु उसमें कला-प्रधानता होने के कारण दृष्टकूट और प्रहेलिकाओं के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत-साहित्य का प्रमुख ग्रंथ 'नैषध-चरित', धर्मसूरि का 'विदग्ध मुख मण्डन' तथा रामानुज का 'कूट सन्दोह' आदि ऐसी रचनाएँ हैं, जिन में कूटवर्ग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इनमें उलटवाँसी-शैली का यह लक्षण 'अर्थ को निगूढ़ रखना' और यह प्रयोजन 'इस मार्ग से बुद्धि को विशद करना' तो मिल जाते हैं, परन्तु इस युग के विरोध प्रधान वक्रकथन में विचार या अध्यात्म पक्ष का अभाव है। साधनात्मक प्रक्रिया की गोपनीयता नहीं है, इसीलिए ये उलटवाँसी के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि दृष्टकूट रचना का मुख्य उद्देश्य कलात्मक नैपुण्य या मनोविनोद ही है।[2] उदाहरण के लिए आचार्य दण्डी ने—समागता, वंचिता, व्युत्क्रान्ता, प्रमुषिता, समानरूपा, परुषा, संख्याता, प्रकल्पिता, नामांतरिता, निभृता, समानशब्दा, संमूढा, योगमालात्मिका, एकच्छन्ना, उभयच्छन्ना, संकीर्णा, ये सोलह प्रहेलिकाओं के भेद दिये हैं।[3] ये प्रहेलिका अर्थ को निगूढ़ रखने के कारण दुष्कर हैं और विद्वानों का प्रयोग प्रश्नोत्तर आदि के रूप में जाना जाता है।[4] इसके द्वारा विदग्ध प्रयोक्ता श्रोता की मति में विभ्रम अथवा प्रतीक-प्रयोग से अर्थ को निगूढ़ रखता है। अर्थ को निगूढ़ रखने के अतिरिक्त इस प्रहेलिका-मार्ग से

---

१. 'श्रीमद्भागवत महापुराण' ११।१२।२२

२. 'क्रीडार्थाः वादार्थाश्च' वात्स्यायन 'कामसूत्र', अधिकरण १।अध्याय ३
'विशदबुद्धि रत्नेन सुवर्त्मना सुकर दुष्करमार्गमवैति हि।
न हि तदन्यनयेपि कृतश्रमः प्रभुरिमं नयमेतुमिदं विना॥' 'काव्यादर्श', ३।१२५

३. 'एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः।' -'काव्यादर्श', ३।१०६

४. 'इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शितः।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः॥' वही, ३।१२५

उलटवाँसी शैली का कोई साम्य नहीं है, क्योंकि उलटवाँसी के प्रयोक्ता केलिए काव्यशास्त्र एवं व्याकरण शास्त्र की विदग्धता का होना आवश्यक नहीं। स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

'विजितात्म भवद्वेषि गुरूपाद हतो जनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥'[1]

अर्थात् 'वि=पक्षी (गरुड़) उसके द्वारा जित=इन्द, उसका आत्मभव=पुत्र अर्जुन, उसका द्वेषी=शत्रु करण, उसके गुरु=पिता सूर्य, उसके पाद=किरणों से, आहत=संतप्त लोग हिम=शीत के विनाशक अग्नि, उसका अमित्र=शत्रु जल, उसको धारण करने वाले मेघों से व्याप्त आकाश का अभिनन्दन कर रहे हैं। सीधा अर्थ है—'सूर्य की किरणों से संतप्तजन मेघाच्छन्न आकाश का स्वागत कर रहे हैं।' इस उदाहरण को दण्डी ने योगमालिका या परिहारिका प्रहेलिका भेद के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसमें दृष्टकूट के ही लक्षण घटित होते हैं उलटवाँसी के नहीं। इसी प्रकार—

'सदारिमध्यापि न वैरियुक्ता नितान्तरक्तापि सितैव नित्यम्।
यथोक्तवादिन्यपि नैव दूतिका का नाम कान्तेति निवेदयाशु ॥'[2]

अर्थात् 'शीघ्र ही उस वस्तु का नाम बताओ जो सदा अरिमध्या=शत्रु के बीच में रहते हुए भी शत्रुओं से युक्त नहीं है; नितान्त रक्त वर्णा होते हुए भी सदा सिता (श्वेत अथवा 'सा'[2] वर्ण से युक्त) है; यथोक्तवादिनी होते हुए भी जो दूतिका नहीं है और जो अत्यन्त कान्ता, रमणीया है (जिसके अन्त में 'का' वर्ण है)। इसमें विरोधगर्भित निगूढ़शैली का प्रयोग है, फिर भी यह प्रहेलिका ही है, उलटवाँसी नहीं। क्योंकि इसमें वर्णो की योजना से प्रयोक्ता की विदग्धता या कौशल ही प्रकट होता है, जिसका उत्तर 'सारिका' इस एक शब्द में निहित है। उलटवाँसी जैसी अर्थ परम्परा इसमें नहीं है। इन उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि कला के क्षेत्र में कूट वर्ग की दृष्टकूट, प्रहेलिकादि का ही प्रयोग होता रहा है, उलटवाँसी शैली के द्वारा किसी कवि ने अपनी विदग्धता प्रदर्शित नहीं की है, क्योंकि इस केलिए जिस विचारानुभूति अथवा ज्ञान-विरह की स्थिति की आवश्यकता होती है, वह अन्य शैलियों में देखने को नहीं मिलती।

(ग) **परवर्ती संस्कृत-साहित्य** : संस्कृत-भाषा में लिखी सम्प्रदाय विशेष अथवा साधना सम्बन्धी परवर्ती रचनाओं में उलटवाँसी शैली के अनेक उदाहरणों के साथ प्रतीक-रूढ़ शब्दावली आदि ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियों ने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। इस प्रसंग में हठयोग प्रदीपिका, शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, गोरक्षविजय, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, ज्ञान सिद्धि, अद्वय वज्र-संग्रह, साधन माला, सुभाषित रत्न भण्डागार तथा कुछ तान्त्रिकग्रन्थ आदि उल्लेखनीय हैं। कालक्रम से ये रचनाएँ पालि-प्राकृत आदि की रचनाओं से बाद की हैं, परन्तु

---

१. 'काव्यादर्श', ३।१२०
२. 'विदग्धमुखमण्डन', ('कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृष्ठ ६८ से उद्धृत)

उलटवाँसी पद-रचना इन्हीं का मूर्त्त संस्कार है। इन रचनाओं में उलटवाँसी शैली के लक्षण और प्रयोजन का बीज निहित है। हठयोग विद्या को वीर्यवती बनाने केलिए तथा गुप्त रखने केलिए यह कथन हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियों में समग्रता से व्याप्त दिखाई देता है—

'हठ विद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीयातु प्रकाशिता॥
'गोपनीय प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा॥'[1]

उलटवाँसी शैली की परम्परा प्रस्तुत करने के लिए प्रमुख सम्प्रदाय शास्त्रीय रचनाओं के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुल घातकाः॥'[2]

अर्थात् 'जो योगी प्रतिदिन गोमांस खाता है और अमर वारुणी पीता है उसी को हम कुलीन मानते हैं, अन्य लोग तो कुल घातक हैं।' 'गोमांस' और 'अमरवारुणी' का तात्पयार्थ अगले दो श्लोकों में स्पष्ट किया है—

'गाशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांस भक्षणं तत्तु महापातक नाशनम्॥
जिह्वा प्रवेश संभूतवह्निनोत्पादित : खलु।
चंद्रात्स्रवति य : सार : स स्यादमरवारुणी॥'[3]

'गो पद से जिह्वा कही जाती है और तालु के समीप जो ऊर्ध्व छिद्र उसमें जो जिह्वा का प्रवेश है, वही गोमांस-भक्षण है। यह गोमांस भक्षण महापातकों का नाश करने वाला है। उस ऊर्ध्व छिद्र में जिह्वा के प्रवेश से जो ऊष्माजनित अमृतरूप चन्द्रमा का सार झरता है, वही अमरवारुणी है।'

'यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिण :।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुत :॥'[4]

अर्थात् 'चन्द्रमा से जो अमृत रूप दिव्य रस स्रवित होता है, उस सबको सूर्य ग्रस लेता है। इससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है।' लोक में सूर्य प्रकाश और जीवन का दाता माना जाता है, वह यहाँ पर वृद्धत्व के कारण रूप में कथित है। यही कथन का विरोध-गर्भत्व है, जिसका परिहार तालुस्थ चन्द्रमा और नाभिस्थ सूर्य करके 'विपरीतकरणी मुद्रा'[5] के रूप में, साम्प्रदायिक अर्थ करने पर, हो जाता है।

---

१. 'हठयोग प्रदीपिका', १।११ तथा ३।६ ; २. वही, ३।४७
३. 'हठयोग प्रदीपिका', ३।४८।४९;
४. वही, ३।७७
५. ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरध : शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥' 'गोरक्षापद्धति', पृ० ४७

'गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥'[1]

अर्थात् 'गंगा-यमुना के मध्य में जो बाल-विधवा तपस्विनी है, उसका बलात्कार पूर्वक ग्रहण करना ही विष्णु के परमपद की प्राप्ति है ।' लोक में विधवा नारी पूजास्पदा, आदरणीया होती है, उसके प्रति बलात्कार की भावना-अधम पद की द्योतक है, परन्तु यहाँ 'परम पद' की प्राप्ति में सहायक बताई है । इस असंगति का परिहार, श्लोक में प्रयुक्त विशेषरूढ़ शब्दों का अर्थ अगले ही श्लोक में इस प्रकार करके, किया गया है—

'इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडा पिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥'

अर्थात् 'इडा अर्थात् वाम निःश्वास की नाडी भगवती गंगा कहलाती है और पिंगला अर्थात् दक्षिण निःश्वास की नाडी यमुना नदी कहलाती है । इन दोनों के मध्य में विद्यमान कुंडली 'बालरंडा' कहलाती है ।' इसी प्रसंग में गंगा-यमुना और सरस्वती के विशेष संगम पर स्नान को, मुक्ति का कारण बताया है—

'इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्क पुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽति दुर्लभ : ॥
ब्रह्मरंध्रमुखे तासां संगम : स्यादसंशयः ।
तस्मिन् स्नाते स्नातकानां मुक्ति : स्यादविरोधत : ॥'[2]

ब्रह्मरन्ध्र के मुख में उन तीनों सरिताओं का संगम है, उस में स्नान करने वाला निश्चय ही मुक्ति पाता है ।

उक्त रचनाएँ योगादि शास्त्र विषयक हैं, जिनमें ग्रहीत प्रतीकों का अर्थ भी निश्चित कर दिया गया है । हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त उलटवाँसीपदों में ऐसी रूढ़ शब्दावली का अर्थ परम्परा से ही ग्रहण करना पड़ता हैं । इस साम्प्रदायिक कथन की वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साधकों का स्वभाव ही विरोधमूलक कथन करने का हो गया । इससे उनका प्रभाव और अधिक बढ़ा है ।[3]

(घ) **पालि-प्राकृत युग** : पालि भाषा गौतम बुद्ध के धर्मोपदेश की भाषा है इसका सम्बन्ध जनसाधरण से होने के कारण गूढ़ार्थक शैली के लिए यह उपयुक्त भाषा नहीं रही है । अतः भगवान् गौतम बुद्ध की वाणी में गुह्य एवं एकता का अभाव रहा है । इसका मुख्यकारण

---

१. 'हठयोग प्रदीपिका', ३।१०६
२. 'शिव संहिता', ५।१३१-३२
३. 'इस साम्प्रदायिक वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि योगी और तान्त्रिक लोग दुनियाँ से उल्टी बात कहने के अभ्यस्त हो गए । विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई, घटी बिल्कुल नहीं । और ये लोग अधिकाधिक उत्साह से, डंके की चोट, सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके, घक्कामार बना कर कहते गए ।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर,' पृ० ८०-८१

उनका लोकोपयोगी व्यवहार अथवा आचरण पर बल देना था। उनका स्पष्ट कथन था कि 'किसी गौरव अथवा प्रभाव के कारण उनके वचनों को ग्रहण न किया जाय, प्रत्युत-परीक्षण के पश्चात् ग्रहण किया जाय।'[1] उपदेश प्रधान एवं आचरण पर विशेष बल देने वाले बुद्ध-वचनों में वाणी की सूक्ष्मता के रूप में 'निर्वाण' और सांसारिक लाभ के मार्ग पृथक्-पृथक् बताए हैं।'[2] इसी प्रकार प्राकृत भाषा के लिए भी किसी सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति की कठिनाई नहीं। अतः उसमें भी विरोधगर्भित, प्रतीक प्रधान उलटवाँसी शैली का प्रयोग यत्र-तत्र ही हुआ है। राज शेखर का कहना है कि 'प्राकृत प्रायः सुकुमार रचना की भाषा समझी जाती है, परुष रचना की नहीं।'[3] हाँ, परम्परा-निर्वाह केलिए पालि-प्राकृत से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठ सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥'[4]

अर्थात् माता, पिता, दो क्षत्रिय राजाओं और अनुचर के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को मारकर ब्राह्मण पाप रहित हो जाता है। 'इस कथन में विधि-विरोध के माध्यम से उलटवाँसी शैली का प्रयोग है। यहाँ, माता=तृष्णा, पिता=अहंकार, दो क्षत्रिय राजा=शाश्वत् दृष्टि और उच्छेद दृष्टि, राष्ट्र सहित अनुचर का घात-वासना सहित सम्पूर्ण आसक्तियों का विनाश, के द्योतक हैं।

'मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥'[5]

अर्थात् 'माता-पिता, दो श्रोत्रिय (ब्राह्मण, राजा) और पाँचवें व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।' यहाँ 'व्याघ्र' का घात बहिर्मुखी मन के दमन के लिए है।

बौद्ध-उपदेशों की आचरण प्रधान पद्धति के समान ही जैन मुनियों ने भी अहिंसा, अस्मिता आदि के द्वारा जीवन का चरमलक्ष्य प्राप्त करने पर बल दिया है। अतः प्राकृत की प्रमुख रचनाएँ 'गाथा सप्तशती', 'रावण बहो', 'गौडबहो', 'कर्पूरमंजरी', 'पाहुड़ दोहा' आदि में वाणी का कूटत्व और विरोध गर्भत्व देखने को नहीं मिलता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन रचनाओं में उलटवाँसी शैली का नितान्त अभाव हो। उदाहरण के मुनि रामसिंह का एक प्रयोग प्रस्तुत है—

---

१. 'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो नतु गौरवात्।' 'बागची दोहा कोष', पृ० ११
२. 'वची पकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया।' 'धम्मपद', १७।१२
अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान गामिनी।' वही, ५।१२
३. 'परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुअमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअ मिहतरं तेत्तिअ मिमाणम् ॥' 'कर्पूरमंजरी', १।८
४. 'धम्मपद', २१।५
* टिप्पणी—इन चर्याओं की हिन्दी-व्याख्या केलिए भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा की गई 'धम्मपद' की व्याख्या द्रष्टव्य है।
५. 'धम्मपद', २१।६

'उब्बस वसिया जो करइ, बसिया करइ जु सुराणु ।
बलि किज्जउ तसु जोइयहु, जासु रम पाउ ण पुराणु ।।'[1]

अर्थात् 'जो उजाड़ को वसाता है और जो बसे हुए को उजाड़ता है, हे योगी, ! उस व्यक्ति की वलिहारी है। उसे न तो पाप हैं न पुण्य।' 'पाहुड़ दोहा' में रहस्यात्मक प्रवृत्ति और गूढ़ात्मक उक्तियाँ अधिक मिलती है। डॉ० रामकुमार वर्मा का तो यहाँ तक कहना है कि 'सरहपा, गुण्डरीपा, वीणापा, डोणिपा आदि के चर्यापदों के समानान्तर ही मुनिरामसिंह ने पाहुड़ दोहा की रचना की है।'[2] और ये सहज यानी सिद्ध उलटवाँसी शैली अथवा संध्या भाषा-शैली के मूल प्रयोक्ता माने जाते हैं।

तान्त्रिक प्रभाव : पांच रात्र, पाशुपत, शैव, कापालिक, शक्ति आदि उल्लिखित तन्त्रसम्प्रदायों ने अपनी विचार-परम्परा और साधना-प्रक्रिया से बौद्ध-सिद्धों की वाणी को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित किया है। किसी युग का मूल्यांकन करते समय उसके पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक होता है। पूर्ववती साहित्य का प्रभाव किसी न किसी रूप में आगे के साहित्य पर पड़ता ही है।'[3] तान्त्रिक-पद्धति में अद्भुत की प्रधानता है, जो वेद-मार्ग से व्यतिक्रम के द्वारा पुष्ट हुई है।[4] सहजयानी बौद्ध सिद्धों की वाणियों में प्रतीक-चयन की पद्धति सीधी तन्त्रों से ही आयी है। शिव-शक्ति के मिलन का सिद्धान्त शैव या शक्त सम्प्रदाय से सम्वन्वित है। तन्त्रों की पंच मकार वाली मान्यता को सिद्धों ने सम्यक् रूप से गहण किया है। साधनाओं में स्त्री-साधिकाओं को साधना का आवश्यक अंग होना पड़ता था, यह प्रभाव तन्त्रों से ही सिद्ध-साधनाओं में आया, ऐसी साधनाओं में मनोरथ-सुखों[5] की सिद्धि के लिए स्त्री का विशेष उपयोग किया जाता था। ऐसी सावनाओं का वर्णन अन्य अर्थप्रधान भाषा-शैली में किया जाता रहा है। सिद्धों में वामाचार, वाम-साधना अथवा 'उलटा-साधना'[6] का क्रम तन्त्रों से ही आया है। इन विपरीतकरणी साधनाओं और कथनों के दारा तंत्राचार्यों ने जनता को तो चमत्कृत किया ही, अपनी सावना पद्धति की गुह्यता की भी रक्षा की। बौद्ध-सिद्धों की वाणी प्रतीक संकेत प्रधान तन्त्र पद्धति से प्रत्यक्षत: प्रभावित हुई है।

●

---

१. 'पाहुड़ दोहा' (करंजा), १६२)
२. 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,' पृ० ८४
३. 'हिंदी साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०१
४. 'महायान सूत्रालंकार', श्लोक १५-२०
५. 'अद्वयवज्रसंग्रह', पृ० ३
६. 'सिद्धों में उस (उलटा-साधना) शब्द का प्रयोग नहीं है, किंतु सूर्य को उलटकर चन्द्र में लीन करने का रूपक मिलता है। लगभग सभी तांत्रिक पद्धतियों में वामायुक्त साधना या उलटी (वामा) साधना प्रचलित थी।' सिद्ध-साहित्य', पृ० ४१४; द्रष्टव्य है—'साधनमाला' खण्ड एक, पृ० ८०

तृतीय अध्याय

अपभ्रंश अथवा प्राकृताभास हिन्दी-साहित्य में उलटवाँसी

अपभ्रंश युग परवर्ती हिन्दी की पृष्ठभूमि है। इसकी परम्परा १५वीं शताब्दी के मध्य तक चलती है।[१] इस सुदीर्घकाल को, उलटवाँसी शैली का परम्परा-विकास दिखानेके लिए दो भागों में विभक्त कर लिया है—(१) चौरासी सिद्धों की परम्परा,* (२) नव नाथों की परम्परा।

१. **चौरासी सिद्धों की परम्परा** : उपयुक्त सामग्री के अभाव में सिद्धों का काल-निर्णय करना कठिन है, परन्तु उनकी जो रचनाएँ मिलती हैं, उनसे अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी का परिचय हमें मिलता है। इन सिद्धों की बानियों को हिन्दी का आदि रूप माना जाता है।[२] इन्होंने दोहों और चर्यापदों में तंत्र-भावना से प्रभावित वज्रयानी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उपदेश और प्रचार किया है।[३] 'वाम-मार्ग के अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियों के समान सिद्ध लोग भी अपनी साधना पद्धति को सरल और स्पष्ट रूप में जनता के सम्मुख रखना नहीं चाहते थे। अतः अपने सम्प्रदाय के रहस्यों की रक्षा केलिए उन्होंने प्रतीकात्मक भाषा का आश्रय लिया, जिसमें शब्दों के वाच्यार्थ की अपेक्षा कुछ अधिक गंभीर अर्थ निहित होता था। सिद्धों की यह वाणी सन्धावचन अथवा सन्धा भाषा कहलाती है।'[४] सिद्धों की

---

१. 'इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है, जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है।·· ·· अपभ्रंश की यह परम्परा विक्रम की १५वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही।'

आचार्य शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४-५

* टिप्पणी—सिद्धों की नाम-सूची केलिए द्रष्टव्य है—आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ८। इस विस्तृत सूची में नाथ-पंथी योगियों के नाम भी आगये हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि नाथ-पंथ सिद्धों की परम्परा से विच्छिन्न होकर ही स्वतन्त्र अस्तित्व वाला हुआ है। सामान्यतः सिद्धों का युग १०वीं शताब्दी तक और उसी परम्परा से विच्छिन्न हुआ नाथ-युग १४वीं शताब्दी तक माना जाता है।

२. राहुल सांकृत्यायन-'हिन्दी काव्यधारा' भूमिका

३. डॉ० धर्मवीर भारती 'हिन्दी साहित्य-कोश' (प्रथम खण्ड), पृ० ८५४

४. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन', पृ० ७५

यह प्रतीक-प्रधान संध्या-भाषा विरोध-गर्भित असम्बद्धता लिए हुए उलटवाँसी-पद-रचना का आदि रूप है। इस कथन-शली ने नाथ-सम्प्रदाय के माध्यम से समग्र रूप में हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियों को प्रभावित किया है।[१]

बौद्ध-सिद्धों की संध्या-भाषा शैली में लिखी गई वाणी को देखने से ज्ञात होता है कि ये लोग प्रतीक के माध्यम से उलटी या विरोध मूलक बात कहने के अभ्यासी हो गए थे। ऐसा लगता है जैसे सीधी या सहज बात कहने से उन्हें किसी प्रकार का संतोष ही नहीं होता था। इतने पर भी उनकी वाणी लोक-प्रिय हुई। इसका मुख्य कारण उनकी भाषा का लोक व्यावहारिक होना था। और प्रायः लोक में चमत्कार उ पन्न कराने का एक कारण नमस्कार को प्रश्रय देना भी रहता है।

बौद्धों की संध्या-भाषा में लिखित पद उलटवाँसी के पूर्व रूप हैं, इस बात का निश्चय अन्यत्र किया गया है। संध्या-भाषा में दार्शनिक और (वाच्य के अश्लील होने में के रूप में) दूषित दोनों ही प्रकार के अर्थ समाविष्ट रहते हैं, केवल इस आधार पर दोनों को एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया जासकता, जैसाकि डॉ० रामधन शर्मा ने माना है।[२] दूषित या कर्मकाण्डी अर्थ की प्रधानता का होना इसीलिए ही सम्भव नहीं है कि वे पद संध्या-भाषा में लिखे गए हैं। इसके विपरीत दोनों युगों की पद-रचनाओं में विरोधगर्भित असम्बद्धता, प्रतीक प्रधानता, वाच्यार्थ के पीछे विशेष अर्थ, चमत्कार सृष्टि आदि विशेषताएँ मिलती हैं। इसीलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन युगों की पद-रचनाओं में कालभेद, अवस्था भेद और व्यक्ति भेद के मानते हुए भी, दोनों को एक मानते हैं।[३] सिद्धों की वाणी में प्रयुक्त

---

१. 'शैली की दृष्टि से भी सिद्धों की 'संधा भाषा में जो कूट और प्रतीक हैं, उन्हीं से कबीर के रूपक और उल्टवाँसियों का निर्माण हुआ है। सिद्ध-सिद्धान्त की विचार-धारा का संत साहित्य पर विचार और शैली दोनों ही की दृष्टियों से बड़ा प्रभाव है। यह प्रभाव, सम्भव है, नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से आया हो।'

'हिन्दी-साहित्य' द्वितीय खण्ड, पृ० २०३

'सिद्धों की रहस्यमयी उक्तियों ने कबीर आदि संतों की उलटवाँसियों को जन्म दिया। जिस प्रकार वज्रयानियों ने जानबूझ कर अपनी भाषा को गूढ़ रखा इसी प्रकार कबीर की भाषा भी गूढ़ है।' 'अपभ्रंश साहित्य', पृ० ३९२

२. द्रष्टव्य है—'कूटकाव्य-एक अध्ययन' पृ० ७८

३. 'लेकिन इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की उलटवाँसियाँ उस युग में नाथपंथी योगियों और सहजयानियों में खूब प्रचलित थीं। बंगाल में मुसलमान नामधारी योगियों की लिखी हुई पोथियों में ऐसी उलटवाँसियों की भरमार हुआ करती थी।...... उस युग के सभी कवि किसी न किसी रूप में इन विरोधाभास मूलक उलटवाँसियों की रचना करते रहे। श्री राहुल सांकृत्यायन ने यह पहले ही कहा है कि संत कवियों की उलटवाँसियों पर सिद्धों का प्रभाव है। एक अन्य विद्वान् का कहना है कि सहजयानियों की संधा-भाषा और संतों की उलटवाँसियों

प्रतीकों का अर्थ 'हेवज्रतन्त्र' में विस्तारपूर्वक समझाया गया है।[1] इनमें से कुछ शब्द उलट-वाँसियों में रूढ़ और पारिभाषिक बन गए हैं। सिद्धों की इस अटपटी वाणी के रहस्य को समझने केलिए उनकी कुछ विशेष मान्यताओं और साधना प्रक्रियाओं को समझना आवश्यक हैं, क्योंकि उन्हीं साधनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति केलिए उन्होंने वाणी के द्वारा प्रकृत विरोध, चमत्कार आदि की सृष्टि की है।

सिद्धों की कुछ विशेष साधनाएँ

(१) **प्रज्ञोपाय अथवा युगनद्ध प्रक्रिया :** बुद्ध के आविर्भाव के बहुत पीछे बौद्ध-भिक्षुओं में साधना अथवा आचरण निष्ठा के स्थान पर विलासिता अथवा कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति प्रधान होगई थी। उनकी मंत्र-सिद्धि की साधना में चमत्कार प्रदर्शन केलिए हठ-यौगिक क्रियाओं का आग्रह प्रधान होगया था। वज्रयानी सिद्धों की विचारधारा मैथुन क्रियाओं को प्रचारित करने में प्रमुख मानी जाती है। इसके मूल में प्रज्ञोपाय की विचारधारा कार्यशील है। महायान की 'शून्यता' और 'करुणा' को 'प्रज्ञा' और 'उपाय' रूप में ग्रहण किया गया है, जिसमें आगे चलकर स्त्री-पुरुष की भावना का समावेश हुआ और 'युगनद्ध' की साधना साकार हुई। इस मान्यता में 'प्रज्ञा' धर्म है और 'उपाय' बुद्ध और संग। दोनों का युगनद्ध रूप ही चरम लक्ष्य अथवा 'महासुख' की प्राप्ति का माध्यम है।[2] सिद्धों की अटपटी वाणी में प्रतीकों के माध्यम से इस विशेष दशा का वर्णन 'समरसता' अथवा 'महासुअ' नाम से वर्णित है।

में बड़ा अन्तर है। सन्तों का उद्देश्य विरोधाभास को अप्रकृत करके उसके अन्तर्निहित महान् अर्थ को प्रकृत बनाना है, पर सिद्धों का ऐसा नहीं है। इसीलिए, सिद्धों की वाणियाँ, उक्त विद्वान् के मत से बाद में चलकर विकृत अर्थ उत्पन्न करने का कारण हुई। मुझे इस भेदारोप में कोई विशेषता नहीं दिखती। अद्वयवज्र की टीका से साफ जान पड़ता है कि इन सिद्धों का उद्देश्य भी वही था, जो सन्तों का था। काल भेद, व्यक्ति भेद और अवस्था भेद के कारण जो भेद स्वाभाविक है, वही भेद इन दोनों में है।' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (सन्त-मत), पृ० ३३-३५

१. देखिये 'स्टडीज इन तन्त्राज़' में डॉ० बागचीका 'संध्या भाषा' विषयक लेख, पृ० ३७-३३

२. 'बौद्धधर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश होने के बाद शिव और शक्ति के सम्मिलन के समानान्तर युगनद्ध की कल्पना का विकास हुआ। 'पंचक्रम' में युगनद्ध की व्याख्या तत्त्व दर्शन के आधार पर करते हुए कहा गया है कि 'पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की एकता ही युगनद्ध है, संवृत्ति और परमार्थ की एकता युगनद्ध है, करुणा औरउपाय की एकता युगनद्ध है।' तथा 'अद्वयवज्र संग्रह' में शून्यता और करुणा के ऐकात्म्य को युगनद्ध की संज्ञा दीगई है। 'शून्यता' नारी है और 'करुणा' पुरुष और दोनों का अद्वय ही युगनद्ध है, वही धर्मकाया है।' इसी सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न वज्रयानी देवताओं को अपनी शक्तियों के साथ समागम करते हुए वर्णित

यह प्रतीक-प्रधान संध्या-भाषा विरोध-गर्भित असम्बद्धता लिए हुए उलटवाँसी-पद-रचना का आदि रूप है। इस कथन-शली ने नाथ-सम्प्रदाय के माध्यम से समग्र रूप में हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियों को प्रभावित किया है।[1]

बौद्ध-सिद्धों की संध्या-भाषा शैली में लिखी गई वाणी को देखने से ज्ञात होता है कि ये लोग प्रतीक के माध्यम से उलटी या विरोध मूलक बात कहने के अभ्यासी हो गए थे। ऐसा लगता है जैसे सीधी या सहज बात कहने से उन्हें किसी प्रकार का संतोष ही नहीं होता था। इतने पर भी उनकी वाणी लोक-प्रिय हुई। इसका मुख्य कारण उनकी भाषा का लोक व्यावहारिक होना था। और प्राय: लोक में चमत्कार उ पन्न कराने का एक कारण नमस्कार को प्रश्रय देना भी रहता है।

बौद्धों की संध्या-भाषा में लिखित पद उलटवाँसी के पूर्व रूप हैं, इस बात का निश्चय अन्यत्र किया गया है। संध्या-भाषा में दार्शनिक और (वाच्य के अश्लील होने में के रूप में) दूषित दोनों ही प्रकार के अर्थ समाविष्ट रहते हैं, केवल इस आधार पर दोनों को एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया जासकता, जैसाकि डॉ० रामधन शर्मा ने माना है।[2] दूषित या कर्मकाण्डी अर्थ की प्रधानता का होना इसीलिए ही सम्भव नहीं है कि वे पद संध्या-भाषा में लिखे गए हैं। इसके विपरीत दोनों युगों की पद-रचनाओं में विरोधगर्भित असम्बद्धता, प्रतीक प्रधानता, वाच्यार्थ के पीछे विशेष अर्थ, चमत्कार सृष्टि आदि विशेषताएँ मिलती हैं। इसीलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इन युगों की पद-रचनाओं में कालभेद, अवस्था भेद और व्यक्ति भेद के मानते हुए भी, दोनों को एक मानते हैं।[3] सिद्धों की वाणी में प्रयुक्त

---

१. 'शैली की दृष्टि से भी सिद्धों की 'संधा' भाषा में जो कूट और प्रतीक हैं, उन्हीं से कबीर के रूपक और उल्टवाँसियों का निर्माण हुआ है। सिद्ध-सिद्धान्त की विचार-धारा का संत साहित्य पर विचार और शैली दोनों ही की दृष्टियों से बड़ा प्रभाव है। यह प्रभाव, सम्भव है, नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से आया हो।'

'हिन्दी-साहित्य' द्वितीय खण्ड, पृ० २०३

'सिद्धों की रहस्यमयी उक्तियों ने कबीर आदि संतों की उलटवाँसियों को जन्म दिया। जिस प्रकार बज्रयानियों ने जानबूझ कर अपनी भाषा को गूढ़ रखा इसी प्रकार कबीर की भाषा भी गूढ़ है।' 'अपभ्रंश साहित्य', पृ० ३९२

२. द्रष्टव्य है—'कूटकाव्य-एक अध्ययन' पृ० ७८

३. 'लेकिन इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की उलटवाँसियाँ उस युग में नाथपंथी योगियों और सहजयानियों में खूब प्रचलित थीं। बंगाल में मुसलमान नामधारी योगियों की लिखी हुई पोथियों में ऐसी उलटवाँसियों की भरमार हुआ करती थी।······ उस युग के सभी कवि किसी न किसी रूप में इन विरोधाभास मूलक उलटवाँसियों की रचना करते रहे। श्री राहुल सांकृत्यायन ने यह पहले ही कहा है कि संत कवियों की उलटवाँसियों पर सिद्धों का प्रभाव है। एक अन्य विद्वान् का कहना है कि सहजयानियों की संधा-भाषा और संतों की उलटवाँसियों

प्रतीकों का अर्थ 'हेवज्रतन्त्र' में विस्तारपूर्वक समझाया गया है।[1] इनमें से कुछ शब्द उलट-वाँसियों में रूढ़ और पारिभाषिक बन गए हैं। सिद्धों की इस अटपटी वाणी के रहस्य को समझने केलिए उनकी कुछ विशेष मान्यताओं और साधना प्रक्रियाओं को समझना आवश्यक हैं, क्योंकि उन्हीं साधनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति केलिए उन्होंने वाणी के द्वारा प्रकृत विरोध, चमत्कार आदि की सृष्टि की है।

सिद्धों की कुछ विशेष साधनाएँ

(१) **प्रज्ञोपाय अथवा युगनद्ध प्रक्रिया :** बुद्ध के आविर्भाव के बहुत पीछे बौद्ध-भिक्षुओं में साधना अथवा आचरण निष्ठा के स्थान पर विलासिता अथवा कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति प्रधान होगई थी। उनकी मंत्र-सिद्धि की साधना में चमत्कार प्रदर्शन केलिए हठ-यौगिक क्रियाओं का आग्रह प्रधान होगया था। वज्रयानी सिद्धों की विचारधारा मैथुन क्रियाओं को प्रचारित करने में प्रमुख मानी जाती है। इसके मूल में प्रज्ञोपाय की विचारधारा कार्यशील है। महायान की 'शून्यता' और 'करुणा' को 'प्रज्ञा' और 'उपाय' रूप में ग्रहण किया गया है, जिसमें आगे चललर स्त्री-पुरुष की भावना का समावेश हुआ और 'युगनद्ध' की साधना साकार हुई। इस मान्यता में 'प्रज्ञा' धर्म है और 'उपाय' बुद्ध और संग। दोनों का युगनद्ध रूप ही चरम लक्ष्य अथवा 'महासुख' की प्राप्ति का माध्यम है।[2] सिद्धों की अटपटी वाणी में प्रतीकों के माध्यम से इस विशेष दशा का वर्णन 'समरसता' अथवा 'महासुअ' नाम से वर्णित है।

में बड़ा अन्तर है। सन्तों का उद्देश्य विरोधाभास को अप्रकृत करके उसके अन्त-निहित महान् अर्थ को प्रकृत बनाना है, पर सिद्धों का ऐसा नहीं है। इसीलिए, सिद्धों की वाणियाँ, उक्त विद्वान् के मत से बाद में चलकर विकृत अर्थ उत्पन्न करने का कारण हुईं। मुझे इस भेदारोप में कोई विशेषता नहीं दिखती। अद्वयवज्र की टीका से साफ जान पड़ता है कि इन सिद्धों का उद्देश्य भी वही था, जो सन्तों का था। काल भेद, व्यक्ति भेद और अवस्था भेद के कारण जो भेद स्वाभाविक है, वही भेद इन दोनों में है।' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (सन्त-मत), पृ० ३३-३५

१. देखिये 'स्टडीज इन तन्त्राज' में डॉ० बागचीका 'संध्या भाषा' विषयक लेख. पृ० २७-३३

२. 'बौद्धधर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश होने के बाद शिव और शक्ति के सम्मिलन के समानान्तर युगनद्ध की कल्पना का विकास हुआ। 'पंचक्रम' में युगनद्ध की व्याख्या तत्व दर्शन के आधार पर करते हुए कहा गया है कि 'पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की एकता ही युगनद्ध है, संवृत्ति और परमार्थ की एकता युगनद्ध है, करुणा औरउ पाय की एकता युगनद्ध है।' तथा 'अद्वयवज्र संग्रह' में शून्यता और करुणा के ऐकात्म्य को युगनद्ध की संज्ञा दीगई है। 'शून्यता' नारी है और' करुणा' पुरुष और दोनों का अद्वय ही युगनद्ध है, वही धर्मकाया है।' इसी सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न वज्रयानी देवताओं को अपनी शक्तियों के साथ समागम करते हुए वर्णित

(२) **महामुद्रा-साधना :** सिद्धों में 'महामुद्रा' साधना सब से कठिन मानी गई है। बौद्ध-सिद्धों ने भगवती नैरात्मा को 'महामुद्रा' के रूप में कल्पित किया है। इस साधना की सिद्धि के पश्चात् ही साधक सिद्धकोटि में पहुँचता है। 'महामुद्रा' की साधना केलिए साधक किसी निम्नवर्णा स्त्री से सम्बन्ध रखता है। वह स्त्री साधक के गुरु के समक्ष 'महामुद्रा' के रूप में उपस्थित होती है और गुरु के निर्देशानुसार साधक की सम्पूर्ण क्रियाएँ उस स्त्री के सहवास में सम्पन्न होती हैं।[1] इस साधना को सम्पन्न कर लेने पर साधक समस्त बाह्यानुष्ठानों से मुक्त होजाता है। बौद्धाचार्यों ने इस साधना को भौतिक अर्थों में ग्रहण न करके परमसुख की सिद्धि के माध्यम के रूप में ग्रहण किया है। सिद्धों की यह मान्यता थी कि कठोर नियमों के पालन से सिद्धि शीघ्र प्राप्त नहीं हो सकती, उससे अधिक शीघ्र कामोपभोग से होती है।[2]

(३) **बोधिचित्तसमुत्पाद :** जब भव-जाल से मुक्त होने पर चित्त करुणा समन्वित-होकर साधना केलिए अग्रसर होता है तो उसे साधना का समुत्पाद, महारम्भ, चित्त का महोदय, साधक का महोत्साह कहा जाता है।[3] इस समुदित तथा करुणा-समन्वित 'चित्त' को सिद्धों ने पृथ्वी, रत्नाकर, चिंतामणि, नौका, मेघ आदि के रूपकों से अभिव्यक्त किया है।[4] चित्तवृत्तियों के शान्त होने को 'शीतल रजनी का उदय' कहा है। यह 'रजनी' प्रज्ञा या शून्य की रजनी मानी गई है। जिस में महोष्णीश कमल का खिलना बताया गया है।[5] यही दशा बोधिचित्त समुत्पाद की है।

(४) **चित्त शुद्धि :** 'प्रज्ञोपाय' की स्थिति तक पहुँचने केलिए चित्त शुद्धि का होना आवश्यक है। सिद्ध सरहपाद का कहना है कि 'महासुख' की अवस्था प्राप्त करने केलिए चित्त-शुद्धि आवश्यक है।[6] मूषक रूप चित्त को, साधना मार्ग पर प्रवृत्त करके करुणा या

किया गया है। भगवान् वज्रधर अपनी शक्ति भगवती प्रज्ञा (नैरात्मा, वज्रवाराही, वज्रधात्वीश्वरी) के साथ रहते हैं। हेरुक अपनी शक्ति वज्रवैरोचिनी के आलिंगन में आबद्ध हैं।...इसी को प्रज्ञोपाय साधना भी कहा गया है।'
'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम खण्ड), पृ० ६१०तथा 'ऑब्सक्यौर रिलीजस कल्ट्स', पृ० २३

१. 'चाण्डालकुलसम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सितां कुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धि माप्नुयात्॥
स्त्रीन्द्रियं च यथापद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥' 'ज्ञानसिद्धि'

२. 'दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगास्तु सेवयंश्चाशु सिध्यति॥' 'गुह्य समाज तन्त्र', पृ० २७

३. 'महोत्साह महारम्भा महार्थाय महोदया।' 'महायान् सूत्रालंकार', पृ० १४

४. वही, श्लोक १५-२०, पृ० ७६

५. 'बौद्धगान और दोहा', पृ० ४२

६. 'बागची दोहाकोष', पृ० ३७

उपाय की स्थिति में पहुँचाकर गजेन्द्र की स्थिति में पहुँचाना होता है। यही चित्त प्रज्ञोपाय की सिद्धि के पश्चात् वज्रचित्त अथवा सहजचित्त हो जाता है।[1]

(५) पिण्ड रहस्य : सिद्धाचार्यों ने साधना-सिद्धि केलिए शरीर को विशेष महत्त्व दिया है। 'शरीर माद्यम् खलु धर्म साधनम्' कालिदास की यह उक्ति यहाँ चरितार्थ होती है। सिद्धों ने अपने विशेष धर्म की सिद्धि केलिए, चित्तवृत्ति के निरोध केलिए शरीर को प्रमुख माना है। 'पिण्ड के भीतर ही ब्रह्माण्ड निवास करता है', सिद्धों में यह धारणा बलवती रही है। सिद्ध सरहपाद का कहना है कि 'देह के समान कोई तीर्थ न मैंने सुना न देखा।'[2] 'घर स्थित वस्तु को बाहर पूछना मूर्खता है।'[3] काण्हपा का कहना है कि 'शरीर पर्वत के समान सम-विषम है, उसकी कन्दरा में सारा जगत् विनष्ट होकर शून्य में विलीन होजाता है।'[4]

(६) महासुख : 'महासुख' की अवस्था सिद्धों केलिए साधना की चरम अवस्था है। इसे चरमावस्था, सहजज्ञान, अनुत्तरज्ञान, अनुत्तर सिद्धि आदि नामों से जाना जाता है। सम्पूर्ण साधनाएँ इस अवस्था की प्राप्ति केलिए माध्यम हैं।[5] इस अवस्था की अनुभूति अतिसूक्ष्म होती है, जिसकी अभिव्यक्ति सिद्धों ने प्रतीकों, रूपकों तथा विरोध गर्भित असम्बद्ध कथनों के माध्यम से की है जैसे, 'शून्य महिला को ग्रहण कर विलास करना।'[6]

सिद्धों की उलटबाँसियों के कुछ प्रयोग : पूर्व-परम्परा की पुष्टि केलिए सिद्धों* द्वारा संध्या-भाषा में रचित कुछ उलटबाँसियों के उदाहरण और प्रयोक्ता विशेष की प्रयोग सम्बन्धी दक्षता तथा रचना की मात्रा का संकेत यहाँ प्रस्तुत है :—

(१) कुक्करीपाद* : संध्या-भाषा या उलटबाँसी शैली में लिखे गये चर्या गीतों में मात्रा और प्रभाव दोनों की दृष्टि से कुक्करीपाद का नाम उल्लेखनीय है। आपने विभिन्न

---

१. 'सिद्धों ने यह कहा है कि चित्त-साधना का आधार है। जब तक इसमें सहज सम्बोधि नहीं जगती, तब तक वह चंचल रहता है, मूषक के समान काल में प्रवेश कर जाता है। जब यह नैरात्म्य ज्ञान के प्रति जाग्रत होकर करुणा या उपाय से समन्वित होजाता है, तब वह उस गजेन्द्र की भाँति होजाता है, जो नलिनी बन में विहार करता है।' डॉ० धर्मवीर भारती, 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रथम भाग), पृ० ५१६

२. 'दोहाकोष गीति' (हिन्दी छाया), पृ० २३

३. 'घर अच्छइ वाहिरे पुच्छइ', 'बागची दोहा कोष', पृ० १२१

४. वही, काण्हपा, दोहा संख्या ४-६

५. 'बागची दोहा कोष', पृ० ४८

६. 'महासुहे विलसन्ति शवरो लइआ सुणमेहेली।' 'चर्यागीतिकोष', पृ० १६२

* टिप्पणी—इन सिद्धों का पृथक्-पृथक् आविर्भाव काल का निश्चय न होने के कारण यहाँ इनका क्रम 'चर्यागीति कोष' के क्रम के अनुसार ही दिया गया है

* टिप्पणी—सभी बौद्ध-सिद्धों के नाम के आगे अन्त में 'पा' आता है। यह आदरार्थ संस्कृतरूप 'पाद' है। इन चर्यागीतों का वाच्यार्थ और संकेतार्थ डॉ० प्रबोधचन्द्र

रूपकों, उदाहरणों तथा विरोधगर्भित असम्बद्ध कथनों के द्वारा साधना-मार्ग की कठिनाइयां और 'सहजानन्द' अथवा 'महासुख' की अवस्था का वर्णन किया है। प्रतीकों का चयन सामाजिक और प्राकृतिक (पशु-पक्षी जगत्, जड़ प्रकृति) दोनों ही धरातलों से किया गया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

'दुलि दुहि पिटा धरण न जाअ। रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥
अङ्गण घरपण सुन भो विआती। कानेट चौरी निल अधराती॥ ध्रुवपद॥
सुसुरा निद गेल वहुड़ी जागअ। कानेटचोरे निल का गइ मागअ॥
दिवसइ वहुड़ी काउइ डरे भाअ। राति भइले कामरू जाअ॥
अइसन चर्या कुक्कुरीपाएँ गाइड़। कोड़ि माझें एक हिअहिं समाइड़॥'[1]

अर्थात् 'कच्छपी अपने पृष्ठ भाग से दुही जाती है, परन्तु उसको ग्रहण नहीं किया जाता। कुम्भीर (मगर) के द्वारा वृक्ष की इमली खाई जाती है। अरे, यह विज्ञिप्त सुनो—घर में प्रवेश करो और उस घर में चोरी की वस्तु 'कर्णपीठ' को अर्धरात्रि के समय ले जाओ। ससुर के गहन निद्रा में हो जाने पर वधू जागती रहती है। ऐसी अवस्था में यदि चोर के द्वारा कर्णाभूषण ले जाया गया तो उसको लौटा के लिए किससे प्रार्थना करे। दिन में तो वधू कौए के भय से भी डरती है, पर रात्रि में सम्पूर्ण प्राणियों को काम-रूपता प्रदान करती है। इस प्रकार की चर्चा कुक्करीपाद के द्वारा गाई गई है, पर, करोड़ों में से कोई विरला ही इसे समझ पाता है।' 'कोड़ि माझँ एक हिअहि समाइड़', चर्या की यह अन्तिम पंक्ति 'कहै कबीर कोइ विरला बूझै' जैसी सन्त-उलटवाँसियों की अन्तिम पंक्ति की मूलरूप कही जा सकती है। उक्त चर्या का संकेतार्थ दुलि, पिटा, रुख, तेन्तलि, कुम्भीर, कानेट, ससुरा, वहुड़ी, दिवस, काउइ, राति, कामरू आदि प्रतीकों के पीछे निहित है। प्रयोक्ता का इस चर्या के द्वारा भव-दशा को बताना, साधक को साधना-पथ पर अग्रसर करना और परमसुख की अवस्था की ओर संकेत करना है। तात्पर्य है—कच्छपी रूप सहस्रार चक्र का दोहन कर्णमुद्रा द्वारा सम्भव है और उसी से आनन्द की अनुभूति होती है। अवधूति-मार्ग से जाकर साधक का पतन नहीं होता। इस अवस्था की उपलब्धि सब केलिए सहज नहीं है। कुम्भक प्राणायाम के द्वारा ही कायारूप तेंन्तलि वृक्ष का संयमन और तत्पश्चात् चित्त का निःस्वभावी-करण सम्भव है। इसके लिए सर्वप्रथम 'व्युत्थान वात' को 'प्रेक्षागृह' में प्रवेश कराना चाहिये। अर्थात् इन्द्रिय-संयम के द्वारा चित्तवृत्ति की शुद्धि और वज्रोपदेश से समरसावस्था की प्राप्ति रूप 'आधूतिका गृह' में अधिष्ठान कराना चाहिए। और चतुर्थी की संध्या को कर्णाभूषण रूप 'सहजानन्द' की प्राप्ति (चोरी) करनी चाहिए। साधनावस्था में श्वसुर रूप श्वसनक्रिया योगनिद्रा में लय हो जाती है और अनादि भव-विकल्प से परिशुद्ध होकर अवधूति रूपी योगिनी (वधू) अहर्निशि जागरण करती है। उस अवस्था में कर्णाभूषण रूप प्राप्ति के फलस्वरूप अन्तमुखी साधक स्वस्थ चित्त की अनुभूति करता है। और उस

वागची द्वारा दिये गए संस्कृत रूपान्तर और अंग्रेजी पाद टिप्पणियों के आधार पर किया गया है।

१. 'चर्यागीति कोषः' पृ० ६

अमूल, भास्वर रत्नकी प्राप्ति होने पर उसे दसो दिशाओं में कहीं याचना की आवश्यकता नहीं रहती। अवधूति शुक्र रूप से त्रैलोक्य का सृजन करती है, परन्तु इस सृष्टि में वह कामरूप काल से संत्रस्त रहती है। जब यह अवधूति पंचस्कन्ध आदि से नैर्मल्य प्राप्त कर लेती है, तो स्वयं भी उसी महासुख चक्र में, निर्विकल्प होकर, प्रवेश कर लेती है।

(२) गुण्डरीपाद :— संग्रहीत चर्याओं में आपकी चर्याओं की संख्या कम है। परन्तु जितनी भी हैं उनमें संध्या-भाषा अथवा उलटवाँसी शैली में लिखित रहस्यात्मक पदों का प्राधान्य देखने को मिलता है। एक उदाहरण:—

'तिअड्डा चापी जोइणि अङ्कवाली। कमल कुलिश घाण्ट करहूँ बिआली॥
जोइन तँइ बिनु रवणीहिं न जीवमि। तो मुह चुम्बी कमलरस पीवमि॥ध्रुव॥
सासु घरे घालि कोञ्चा ताल। चान्दसुज वेणि पखा फाल॥
भणइ गुण्डरी अम्मे कुन्दुरे वीरा। नरअ नारी माझें उभिल उभिल॥''

अर्थात् 'त्रिवृत्त आकार को चापित करके योगिनी अँकवार (साधनात्मक दशा) देती है। तत्पश्चात् 'कमल कुलिश' का घर्षण करके 'विकाल'* को प्राप्त होती है। हे योगिनी, तेरे बिना मैं क्षण-भर भी जीवित न रहूँगा। तेरे मुख को चुम्बित करके कमल रस का पान करूँगा। सासुलि को ताला-कुंजी के द्वारा घर में अवरुद्ध करके, चन्द्र-सूर्य दोनों के पक्षों को विदीर्ण करके अवस्थित होना चाहिए। गुण्डरीपाद कहते हैं कि मैं द्वीन्द्रि समापत्ति के द्वारा वीर हूँ। इसी प्रकार स्त्री-पुरुषों के बीच अपनी चीर अर्थात् प्रतिष्ठा स्थापित करनी चाहिए।' इस शाब्दिक अर्थ के पीछे सिद्धों की साधना-पद्धति निहित है। तिअड्डा=तीन योगनाड़ियाँ (ललना, रसना, अवधूति) अथवा 'ट्रेंगिल ऑफ दि फीमेल औरगन' को चापि =निराभासित अथवा परिशुद्ध करके, कमलकुलिश रूप सिद्धि चिह्नों का संयोग कराके। काल की सीमा का अतिक्रमण करके महामुद्रा अवस्था का साक्षात् करना और महासुख की अनुभूति करना। साधना की उस अवस्था में साधक नैरात्मा रूप योगिनी के बिना क्षण भर भी प्राण-वायु का ग्रहण करने में असमर्थ है। इस अवस्था में साधक सहजानन्द रूप उष्णीश कमल रस का सेवन अर्थात् बोधिचित्त अवस्था की अनुभूति करता है। साधनावस्था में, कायावज्र के द्वारा अपने को स्थिर चित्त करके, 'वज्रजाप' से श्वास रूप सास का अवरोध करके, चन्द्र-सूर्य रूप इडा-पिंगला नाड़ियों की सीमा का अतिक्रमण करके, चित्तवज्र को दृढ़ करने के लिए, वाक्वज्र को स्थिर कर 'सास' को सहजानन्द की भावना से सुमेरु-शिखर रूप गृह में ले जाकर, मणिमूल द्वार से प्रवेश कराना योगी का लक्ष्य है। गुण्डरीपाद कहते हैं कि मैं इन्द्रिय संयम करने में वीर हूँ। स्त्री-पुरुषों के बीच इसी प्रक्रिया से अपनी प्रतिष्ठा-पताका को स्थिर करना चाहिए।

(३) भुसुकपाद : मात्रा में आपके चर्यागीतों की संख्या पर्याप्त है। इन में बहुविधि संध्या भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है। साधनात्मक बिम्बों को सफल बनाने के लिए आपने प्रतीकाश्रित रूपकबन्धों का सम्यक् अवलम्बन लिया है। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

---

१. 'चर्यागीति कोषः', पृ० १२
* 'समयउत्क्रान्त संध्या' (टाइमलेस ईवनिंग)

'अपणामांसें हरिण वैरी। खणह न छाड़अ भुसुकअहेरी ॥ध्रु व॥
तिण न च्छुपइ हरिणा पिवइन पाणीं। हरिणा हरिणीर निलअ न जाणीं॥
हरिणी बोलअ सुण हरिणा तो। ए वन च्छाड़ी होहु भान्तो॥
तरसॅन्ते हरिणार खुर न दीसइ। भुसुकु भणइ मूढ हिअहि न पइसइ॥'[१]

अर्थात् 'अपने मांस के लिए हरिण स्वयं शत्रु होता है। भुसुकपाद आखेटक होनेके कारण क्षणभर भी उसका परित्याग नहीं करता। हरिण तृण-जल आदि छूता तक नहीं। हरिण हरिणी का गृह भी नहीं जानता। हरिणी कहती है, 'हे हरिण, तू इस वन का परित्याग कर दे। त्रास के कारण हरिण के खुर भी दिखाई नहीं देते। भुसुकपाद का कहना है कि इस कथन का मन्तव्य मूर्ख के मन में ग्रहण नहीं हो पाता।' इस चर्यापद में मांस, हरिण, हरिणी, अहेरी निलअ, बन आदि पद सांकेतिक हैं, जिनका अर्थ इन्द्रिय-विषय, चंचलचित्त, ज्ञानमुद्रा, साधक, पवन-निलय, काया पक्ष में लगता है। प्रयोक्ता का उद्देश्य, चित्त-वृत्ति के संयमन, साधना-मार्ग का अभ्यास तथा नैरात्म्य भाव को लेकर महासुख रूप कमल-वन में निवास कराने का, उपदेश देना है।

'निसि अन्धारी मुसा अचारा। अमिअ भखअ मुसा करअ अहारा॥
मार रे जोइआ मुसा पवणा। जेण (ण) तुटअ अवणा-गवणा॥ध्रु व॥
भव-बिन्दारअ मुसा खणअ गाती। चन्चल मुसा कलिआँ नाशक थाती॥
काला मुसा उहण बाण। गअणे उठि करअ अमिअ पाण॥
तब से मुसा उन्चल पान्चल। सद्‌गुरु बोहे करह सो निच्चल॥
जबें मुसा अचार तुटअ। भुसुकु भणअ तबे बान्धन फिटअ॥'[२]

अर्थात् 'अन्धेरी रात्रि में मूषक आचरण करता है। अमृत का भक्षण करके मूषक अपना आहार करता है। अरे योगी, इस मूषक को पवन से मार, क्योंकि यह आवागमन को अवरुद्ध नहीं करता है। भव-विदारक मूषक ग्रन्थि को कुतर देता है। चंचल मूषक धरोहर का नाशक है। काल-मूपक के कोई वर्ण नहीं है। अतः आकाश में उठाकर अमृत का पान करो। तब वह मूषक आँचड़-पाँचड़ अर्थात् बेचैन दिखाई देगा, सत् गुरु के अनुशासन से तब उसे निश्चल करो। जब मूषक अपने आचरण से उपरमित होजायेगा तब, भुसुकपाद कहते हैं कि 'सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो जायेंगे।' इस गीत में भव-बन्धन को काटने और महासुख की अवस्था प्राप्त करने केलिए उपदेश है। निशा (अज्ञानावस्था), मूषक (चंचलचित्त), आचरण (साधनाभ्यास), अमृत (सात्विक अवस्था), भव (संसार), गाती (त्रिगुण की ग्रन्थि), बान्धन फिटअ (मोक्ष) आदि प्रयोग सांकेतिक हैं।

(४) कान्हुपाद :—आपके गीतों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक है। संध्या-भाषा-शैली में लिखे गये विभिन्न रूपकों के द्वारा आपने विभिन्न साधनावस्थाओं का वर्णन किया

---

१. 'चर्यागीति कोष:', पृ० १९
२. वही, पृ० ७१

है। आपका प्रतीक-चयन प्रकृति के व्यापक धरातल पर आधारित है। गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक एक रूपक प्रस्तुत है :—

'नगर बाहिरे रे डोम्बि तोहारि कुड़िआ। छोइ छोइ जाहि सो बाह्मण नाड़िया ॥
आलो डोम्बि तोए समकरिबो मो साङ्ग। निघिन काह्ण कापालि जोइ लाङ्ग ॥
एक सो पदुमा चौषठी पाखुड़ी। तहिं चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी ॥
हालो डोम्बी तो पुछमिसदभावे। आइससि जासि डोम्बि काहरि नावें ॥
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चाँगेड़ा। तोहोर अन्तरे छाड़ि नड़ पेड़ा ॥
सरोवर भाञ्जिअ डोम्बी खाअ मोलाण। मारमि डोम्बी लेमि पराण ॥'[१]

अर्थात् 'अरे डोम्बी, तेरी कुटिया नगर के बाहर है। उस ब्राह्मण बटुक के निकट शनैः शनैः जाओ। हे डोम्बी, तेरे साथ में सहवास करूँगा। मैं लज्जा रहित, कृष्ण कापालिक योगी हूँ। एक पद्म है, जिसमें चौंसठ पंखुड़ियाँ हैं; वहाँ चढ़कर डोम्बी-नृत्य करती हैं। हे डोम्बी, मैं तुझ से सत्भाव पूर्वक पूछता हूँ कि तू किस नौका के द्वारा आती जाती है। तन्त्री को विकीर्ण करने के पश्चात् तुम्हारे लिए दूसरा पुष्प-भाजन नहीं है, क्योंकि तुमने नडपेटक=मृणालसूत्र को भी छोड़ दिया है। सरोवर को खाने के बाद डोम्बी=मृणाल को खाती है। मैं डोम्बी को मारकर प्राणों के द्वारा ग्रहण करूँगा।' इसमें डोम्बी-परिशुद्धा अवधूती, नैरात्मा=सुरति अथवा चित्तैकाग्रता है। चंचल चित रूप ब्राह्मण बटुक विरमानन्द के स्पर्श से नैरात्म भाव को प्राप्त होता है। नगर से दूर कुटिया=रूपादि विषयसमूह से वहिर्मुख, शरीर सीमा से दूर समाधि रूप कुटिया। पद्म=निर्वाण-चक्र रूप पद्म जिसमें चौसठ पंखुड़ियाँ मानी गई हैं। उस पर महाह्लाद से प्रेरित होकर डोम्बी नैरात्मा का नृत्य करना माना गया है। अन्तिम पंक्ति के द्वारा साधक का कहना है कि गुरू परम्परा से विहीन, कायारूप पुष्कर को खानेवाली और शुक्र रूप से बोधिचित्त रूप मृणाल को नष्ट करने वाली अपरिशुद्धा डोम्बी (नैरात्मा) को मारूँगा, अर्थात् वाणीको नैरात्म्य भाव की करूँगा।

(५) कृष्णाचार्यपाद :—आपके चर्यागीतों की संख्या अधिक है, जिनमें साधना के व्यवहारिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया गया है। उलटवाँसी शैली में लिखी गयी आपकी चर्या का एक अंश यहाँ प्रस्तुत है :—

'नाड़ि शवित दिढ़ धरिअ खाटे। अनहा डमरू बाजइ बीरनादे ॥
काह्न कपाली योगी पइठ अचारे। देह नअरी विहरइ एकारे ॥ ध्रुव ॥
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे। रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे ॥
मारिअ सासु नणन्द घरे शाली। माअ मारिआ काह्न भइल कबाली ॥'[२]

अर्थात् 'नाड़ी-शक्ति को दृढ़ करके खाटपर रखकर वीरनाद वाला अनहद डमरू बजाना चाहिए। योगी काह्न कापालिक आचरण में प्रविष्ट होगया है। वह देह-नगरी में एकनिष्ठ होकर

---

१. 'चर्यागीतिकोष :' पृ० ३३
   चर्यागीति कोषः, पृ० ३८

विहार करता है, उसके चरणों में अलंकार रूप में घंटा-नूपर शोभित हैं और कुण्डलों के रूप में सूर्य-चन्द्र विराजमान हैं। सास और माता को मार कर, नन्द और साली को घर में रखकर कान्हपा (कृष्णाचार्यपाद) कापालिक होगया है।' इसमें खाट, अनहद, डमरू, घण्टा, नेउर, सासु, नणन्द, शाली, माअ आदि शब्द सांकेतिक हैं। नाड़ी-विशिष्ट बत्तीस नाड़ियों केलिए, खाट=खं, शून्यता केलिए, वीरनाद अनाहत नाद केलिए, आभरण रूप चन्द-सूर्य=इड़ा-पिंगला योग नाड़ियों के एकीकरण केलिए, सास-माँ, प्राणवायु और माया केलिए, नाणन्द-साली-नाना विकारों केलिए प्रयुक्त हैं। इनका अवरोध करके कृष्णाचार्य कापालिक होगया है। इस प्रकार के अवरोध से चित्त-वृत्ति निःस्वभाव की होजाती है। उस समय योगी अविद्या-माया की सीमा को पार करके वज्रकापालिक होकर घूमता है।

(६) **डोम्बीपाद** : इनकी बहुत कम चर्यायें उपलब्ध हैं। जो भी हैं, उनकी कथन-शैली संकेत प्रधान ही है। एक उदाहरण देखिए :—

'गंगाजउना माझें रे वहइ नाइ। तहिं बुड़िली मातङ्गी पोइआ लीले पार करेइ॥
पाञ्चकेडु आलपड़न्ते माङ्गे पिठत काच्छी बान्धि।
गअण हुखोलें सिञ्चहुं पाणी न पइसइ सांन्धि॥ ध्रुव॥
चन्दसूज्ज दुइ चका सिठि संहार पुलिन्दा।
वामदाहिण दुइ माग न चेवइ बाहतु छन्दा॥
कवड़ी न लेइ बोड़ी न लेइ सुच्छड़े पार करइ।
जो रथे चड़िला वाहवा न जाइ कुलें कुलें बुड़इ॥'[१]

अर्थात् 'गंगा-यमुना के बीच में नौका संतरित होरही है। उसमें डूबकर मातंग पोतिका लीला-पूर्वक पार उतरती हैं। इस नौका की पाँच बल्लियाँ (केडुआल=केनिपात) हैं जो मंगिनी (नौका, 'मङ्गोमङ्गिनीशीर्ष:' हेमचन्द) के ऊपरी भाग से सीढ़ी का काम करते हैं, वहाँ आकाश को सिंचिनी (हुखौलें=सींचने का पात्र) द्वारा सिंचन करो, अथवा वहाँ से पानी उलीचो, जिससे वह सन्धि में प्रविष्ट न होजाय। चन्द्र और सूर्य ये दोनों सृष्टि और संहार के मस्तूल (पोलिन्द) हैं, इन्हें वाम-दक्षिण मार्ग से, जो दिखाई नहीं देते हैं, स्वच्छदता पूर्वक लेजाना चाहिए। यह मातंगी कौड़ी आदि प्रतिफल, पार कराने के रूप में, कुछ भी नहीं लेती प्रत्युत स्वेच्छा से ही पार कर देती है। जो रथ पर चढ़कर संतरित नहीं होता है, वह किनारे-किनारे डूब जाता है।' इसमें गंगा-यमुना इड़ा-पिंगला नाड़ियों का, नौका सहजानन्द प्रमत्त डोम्बी नैरात्मा का, चन्द्र-सूर्य प्रज्ञाज्ञान और अद्वयज्ञान का, पुलिन्द तटस्थता के (ये तीनों सृष्टि और संहार के हेतु हैं) प्रतीक हैं। दक्षिण-वाम मार्ग को न देखकर स्वच्छन्दता पूर्वक अग्रसर होना, यह कथन परम्परित मार्ग का व्यतिक्रम कराने का सूचक है। सहजानंद प्रमत्त नैरात्मा रूप नौका, सांसारिक नौका के समान, प्रतिफल के रूप में साधक को पार उतारने का कुछ नहीं लेती और स्वेच्छा से ही संसार-सागर से पार उतार देती है। जो नैरात्मधर्म से वहिर्मुखी हैं, वे कूलरूप शरीर में ही (अज्ञानवश) डूबे रहते हैं हैं।

---

१. 'चर्यागीतिकोष:', पृ० ४७

(७) सरहपाद :—आप मूलत: रहस्यवादी विचारक हैं। आपके सिद्धांत सहजयानी विचारधारा को पुष्ट करते हैं। आपकी रचना में विरोधमूलक वक्र-कथन के द्वारा विशेष चमत्कार आया है। प्रस्तुत कथन के द्वारा आप कहना यह चाहते हैं कि चित्त स्वभावत: विशुद्ध होता है पर सांसारिक बन्धनों में वासना के कारण इतस्तत: दौड़ता है और वासना आदि से मुक्त होने पर स्थिर हो जाता है, परन्तु इस बात को उलटवाँसी शैली में इस प्रकार कहा है :—

'बद्धो धावइ दस दिसाहि, मुक्को णिच्चल ट्ठअ।'[१]

सरहपाद की उलटवाँसियों ने हिंदी-साहित्य की उलटवाँसियों को प्रभावित किया है।[२] अन्य सिद्धों के समान सरह का भी कहना है:—

'चंद-सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ। सो आणुत्तर एत्थु पहट्ठइ॥
एव्वहि सवल जाण णिगूढो। सहज सहावे ण जाणिअ मूढो॥'[३]

अर्थात् 'जो साधक चन्द्र-सूर्य रूप इड़ा-पिंगला को साधनाभ्यास द्वारा साधता है, वही अनुत्तर अवस्था को प्राप्त हो पाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान निगूढ़ रहता है, अपने सहज-स्वभाव के कारण मूढ़ लोग उसे समझ नहीं पाते हैं। सांकेतिक शब्दावली में, वाच्य रूप में शृंगार भावना प्रधान उनका निम्न पद* संध्याभाषा शैली का अच्छा उदाहरण है—

'ऊँचा-ऊँचा पाबत तहिं वसइ सबरी वाली।
मोरङ्गी पिच्छि प (हि) रहि सबरी गिवत गुजरी माला।
ऊमत सबरो पागल सबरो, मा कर गुली-गुहाडा।
तोहारि णिअ घरिणी सहज सुन्दरी॥ ध्रुव॥

---

* टिप्पणी —राहुल सांकृत्यायन ने सरहपाद आदि सिद्धों का आविर्भाव काल ८वीं-९वीं शताब्दी के बीच का माना है। इसके लिए द्रष्टव्य है 'दोहाकोश' भूमिका-भाग

१. 'दोहाकोश', भूमिका, पृ० २४

२. 'सरह ने अपनी कविताओं में कुछ नई मान्यताएँ स्थापित की हैं, जिनका पता उनसे पहले नहीं मिलता; यद्यपि उनका अस्तित्व लोक-काव्य में रहा होगा। यही मान्यताएँ गोरख, कबीर, नानक, दादू आदि सभी संतों में पाई जाती हैं। यही आगे चलकर संत काव्य की कसौटी बन गईं। इसमें व्यंग्योक्तियाँ-उलटवाँसियाँ भी शामिल हैं।'
'दोहाकोश', भूमिका, पृ० २३-२४

३. 'दोहाकोश'—गीति मूल, पृ० १०

* टिप्पणी—उदाहृत पद को राहुल जी ने सरहकृत माना है (देखिए 'दोहाकोश' भूमिका, पृ० २४-२५) परन्तु इसी पद को 'चर्यागीति कोष' (पृ० ९२) में सिद्धशबरपाद की चर्या के रूप में संग्रहीत किया गया है। आगे शवरपाद का एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किया जायेगा।

णाणा तरु वर मौलिल रे, गअणत लागेलि डाली ।
ए कली सबरी ए वन हिण्डइ, कर्ण कुंडल वज्रधारी ।
तिअ धाउ खाट पडिला सबरी, महासुह सेज छाइली ।
सबरो भुजंग णइरामणि दारी, पेक्ख (त) राति पोहाइली ।
हिए ताबोला महासुहे कापुर खाई ।
सून निरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई ।
गुरू वाक पुंछआ विन्ध णिअ मणे बाणें ।
एके शर-सन्धानें बिन्धह, बिन्धह परम णिवाणें ।
उमत सबरो गरुआ रोषे,
गिरिवर सिहर सन्धि पइसन्ते, सबरो लोड़िब कइसे ।'[1]

अर्थात् 'ऊँचे-ऊँचे पर्वत पर शबर-बालिका निवास करती है। उस के सिर पर मयूर-पंख और ग्रीवा में गुंजा की माला सुशोभित है। उसका प्रिय शबर प्रेम में उन्मत्त है। वह उससे कहती है—ओ शबर, तू शोर-गुल न कर, क्योंकि तेरी स्वयं की गृहणी सहज सुन्दरी है। उस पर्वत पर गगन स्पर्शी शाखाओं वाले नाना प्रकार के वृक्ष प्रफुल्लित हो रहे हैं। वह शबर-बालिका, कर्णभूषण कुण्डल वज्र धारण करके, उस वन में अकेली ही भ्रमण कर रही है। उसकी ओर दौड़ते-दौड़ते शबर महासुख रूप खाट पर पड़ गया और भुजंग-शबर तथा वेश्या-नैरात्मा को देखते देखते प्रभात होगया। हृदय-ताम्बूल को महासुख-कपूर के साथ खाकर भुजंग-शबर ने वेश्या-नैरात्मा का आलिंगन किया और उसी महासुख की अनुभूति में प्रभात होगया। इस प्रकार गुरु से पूछकर परमपद रूप निर्वाण को प्राप्त करे। गुरू के वचन रूप एक ही बाण से विद्ध होकर साधक परमपद निर्वाण से आलग्न होजाता है। गुरू निर्देशन से पर्वत-शिखर की सन्धि में प्रविष्ट हुआ उन्मत्त शबर कैसे लौट सकता है ? अर्थात् नहीं लौट सकता।' इसमें शबरी-बाला के रूप में सहजावस्था का वर्णन हैं, जिसकी प्राप्ति अति उत्कण्ठित शबररूप साधक के द्वारा, कठिनाई अथवा साधनाभ्यास से की जाती है।

(८) ढेण्ढणपाद :—संत-साहित्य के प्रसंग में जहाँ भी उलटवाँसी का थोड़ा-बहुत विवेचन हुआ है, वहाँ ढेण्ढणपाद की उलटवाँसी को पूर्व परम्परा के रूप में उद्धृत किया गया है।* डॉ० शशिभूषणदास ने ढेण्ढणपाद की उलटवाँसी का उदाहरण देते हुए स्पष्ट कहा है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में चर्यापदों से लेकर वर्तमानकाल तक रहस्यपूर्ण

---

१. 'दोहाकोश' भूमिका, पृ० २४-२५ से उद्धृत।

* 'बलद बिआएल गविया बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे ॥
निति निति सिआला सिहे सम जुझअ। ढेण्ढण पाएर गीत विरले बुझअ ॥'
—ढेण्ढणपाद

'बैल वियाइ गाइ भई बाँझ। बछरा दूहै तीन्यूं साँझ ॥
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै। कहै कबीर कोई बिरला बूझै ॥'—कबीर

उलटवाँसी के ढंग की, निगूढ़शैली की परम्परा मिलती है, जिनमें धार्मिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति हुई है।[1] विरोधाश्रित उलटवाँसी का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है :—

'टालट मोर घर नाहि पड़वेशी। हाड़ीत भात नाहि निति आवेशी।
बेङ्गस साप वड्हिल जाअ। दुहिल दुधु कि घेण्टे समाअ॥
वलद विआअल गविआ बाँझे। पिटा दुहिअइ एतिणा साँझे॥
जो सो बुधी सोध निबुधी। जो सो चोर सोइ साधी॥
निति निति सिआला सिहे सम जुझअ। ढेण्ढणपाएर गीत विरले बुझअ॥'[2]

अर्थात् 'नगर में मेरा घर है, जहाँ मेरा कोई प्रतिवेशी नहीं है। हण्डिका में ओदन (भात) न होने पर भी (अतिथि) नित्यप्रति खाने को आते हैं। मण्डूक ने सर्प को खण्ड-खण्ड कर दिया है। दुहा हुआ दुग्ध किस प्रकार स्तन वृन्त में प्रविष्ट हो सकता है। बलीवर्द प्रसूति धर्म को ग्रहण करता है और गाय वन्ध्या है। पृष्ठ भाग से संध्या-पर्यन्त दोहन क्रिया होती है। जो बुद्धिमान है, वही मूर्ख है और जो चोर है वही साधु है। शृगाल नित्य प्रति उठकर सिंह से जूझता है। ढेण्ढणापाद के इस गीत को कोई बिरला ही समझ पाता है।'

अन्तिम पंक्ति प्रतिद्वन्द्वी को गीत का अर्थोद्बोधन कराने केलिए चुनौती का स्वर लिये हुए हैं। इस गीत में 'नगर' काय-वाक् चित्त से उत्पन्न दोषों से रहित स्थिति में निवास का प्रतीक है। इस दशा में पहुँचे हुए साधक का कोई भी प्रतिवेशी अथवा प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहता। 'हण्डिका' साधक की काया, 'भात' राग युक्त चित्त का प्रतीक है। अर्थात् शरीर रूप हाँडी में भात रूप रागात्मक चित्त के न होने पर भी अपने-अपने विषयों में आलग्न इन्द्रियरूप अतिथि नित्यप्रति आते हैं, परन्तु उन्हें निराश होकर ही जाना पड़ता है। अंग शून्यत्व अथवा प्रभास्वर रूप वैङ्गस (विगताङ्गं यस्य स व्यङ्गः मण्डूक) ने संशयरूप सर्प के खण्ड-खण्ड कर दिये हैं। कर्म-मुद्रा प्रसंग से जो बोधिचित्त रूप दुग्ध का दोहन हुआ है, वह महासुख चक्र में प्रवेश करादे तो आश्चर्य इसमें कैसा? अथवा बोधिचित्त अवस्था में जो अनुभूति रूप दुग्ध का दोहन हुआ है, वह शरीर रूप पात्र में किस प्रकार समा सकता है। 'बलं ददातीति बलद:' के आधार पर जो बोधिचित्त रूप वज्रत्व अवस्था की प्रसूति करे, यही वृषभ का प्रसूति कर्म है। नैरात्मावस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ निष्क्रियत्व पा लेती हैं, यही योगी केलिए गाय का वंध्या होना है। 'पिटा' यहाँ कुलिशत्व अथवा वज्रत्व का सूचक है, उससे निरन्तर निःस्वाभावीकरण रूप दुग्ध दुहा जाता है। अर्थात् वज्रावस्था सार्वकालिक निःस्वाभावीकरण की अवस्था है। 'जो बुद्धिमान होता है वह मूर्ख होता है' का अभिप्राय आत्म परिचय से है। योग की प्रारम्भिक अवस्था में जो बुद्धि होती है, वह सविकल्पक

---

१. 'दि मोस्ट रिमार्केबिल फैक्ट इज दैट दिस यूज ऑफ दि एनिगमैटिक स्टाइल हैज इट्स अनब्रोकिन हिस्ट्री इन दि मोड्रन इण्डियन लिटरेचर्स फ्रोम दि टाइम ऑफ दि चर्यापदाज डाउन टु दि प्रिजेण्ट टाइम। ऐसोटेरिक पोइट्स ऑफ ऑल पीरियड्स हैव यूज्ड राच एक्सट्रीमली ऐपिग्रेमैटिक एण्ड ऐनिगमैटिक स्टाइल इन गिविंग एक्सप्रेशन टु देअर रिलीजस डोक्ट्रन्स।' 'ऑब्सक्यौर रिलीजस कल्ट्स', पृ० ४१६

२. 'चर्यागीतिकोष :', पृ० १०८

होने से पूर्णज्ञान की अवरोधक है और परमार्थज्ञान अर्थात् शून्यमय होने पर जो वुद्धि होती है लोक में वह बुद्धिहीनता की द्योतक मानी जाती है। इसप्रकार सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक दशा की प्राप्ति कराता है। कहा भी है—'यदिदं सनिमित्तासुखं तदेव महतां निमित्तं परिहीणमिति।' चित्त को यहाँ 'चोर' बताया है। जब वह अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हो जाता है तब वह साधु बन जाता है। मरण से भयभीत चित्त शृगाल के समान दीन और भीरू स्वभाव का होता है, परन्तु साधनाभ्यास से वही विशुद्ध होकर युगनद्ध की अवस्था के प्रति स्पर्धाशील हो जाता है। इस प्रकार ढेण्ढणपाद की इस चर्या के आदेश को कोई विशुद्ध चित्त वाला ही समझ पाता है। अर्थात् महासत्त्व की अवस्था सर्वग्राह्य नहीं है।

(९) धामपादः—आपकी बहुत कम चर्यायें उपलब्ध हैं, परन्तु जो भी हैं, उनमें सांकेतिक प्रयोगों के द्वारा साधनात्मक अनुभूतियों को सम्यक् अभिव्यक्ति मिली है। एक उदाहरण प्रस्तुत है:—

'कमलकुलिश माझें भवइ लेली। समताजोएँ जलिल चण्डाली॥
डाह डोम्बी घरे लागेंलि आगि (णी)। ससहर लइ सिञ्चहुँ पाणी॥ ध्रुव॥
नउ खर जाला धूम न दिसइ। मेरु शिखर लइ गअण पइसइ॥
दाढ़इ हरिहर बाह्म भडारा। दाढ़इ णवगुण शासन पाड़ा॥
भणइ धाम फुड़ लेहुं रे जाणी। पञ्च नालें उठे गेल पाणी॥'[1]

अर्थात् 'भव को ग्रहण करके कमलकुलिश के मध्य में, समता योग के द्वारा, चाण्डाली जल रही है। जलने वाले डोम्बिका-गृह में अग्नि प्रज्ज्वलित है, अत: शशक को ग्रहण करके उसे पानी से सींचो। न तो तीक्ष्ण अग्नि-ज्वाला ही है और न धूम ही दिखाई देता है। मेरु-शिखर को ग्रहण करके वह डोम्बी गगन में प्रवेश करती है। वह अग्नि-ज्वाला ब्रह्मा-विष्णु-महेश के भण्डार को जलाती है। इससे नवगुण प्रधान शासन पुर भी जलता है। धामपाद स्पष्ट कहते हैं कि अरे, यह जान लो कि पंच नलिकाओं से पानी बहने लगा है।' इस प्रकार बड़ी विचित्र है यह अग्नि और उसका प्रभाव। वक्ता के मन्तव्य को वाच्य अपनी सीमा बाँध में नहीं पा रहा है।

उक्त गीत में चाण्डाली का दाहन, प्रज्ञोपाय अवस्था में महासुख राग की अग्नि से उद्दीप्त होने का सूचक है। और कमलकुलिश वज्रत्व-अवस्था का प्रतीक है। इस प्रकार 'डोम्बी' परिशुद्धा अवधूति है और 'अग्नि' महासुख राग। महासुखराग के दाह वाली अग्नि डोम्बी रूप परिशुद्धा अवधूति के घर में लगी है, जिससे सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय जलकर भस्म हो गए हैं। 'शशक' यहाँ परिशुद्ध बोधि चित्त का प्रतीक है। गुरु की कृपा से और इस विशिष्ट चित्त के माध्यम से उस विशेष अग्नि का सिंचन अर्थात् पोषण अभिधेय है। वह अग्नि इतनी विचित्र स्वरूप और प्रभाव वाली है कि उसकी न तो तीक्ष्ण ज्वाला ही दिखाई देती है और न धूम ही। साधना द्वारा मेरुदण्ड के ऊर्ध्व रूप सुमेरु पर्वत को ग्रहण करके, भावाभाव को दग्ध करके चाण्डाली गगन रूप महासुख चक्र में प्रवेश

---

१. 'चर्यागीत कोषः', पृ० १५४

करती है। वह 'महासुखरागानल' ब्रह्मा-विष्णु-महेश के भण्डार को नष्ट करदेती है। अर्थात् साधना की उस अवस्था में हरि=मूत्रनाडी, हर=शुक्रनाडी, वाह्म=पिङनाडी को नष्ट कर देती है। अर्थात् योगी तत्तत् नाड़ियों की क्रियाओं से मुक्त हो जाता है। इस अग्नि से नवगुणों का शासन समाप्त हो जाता है। अर्थात् शरीर के नवद्वारों का शासन समाप्त हो जाता है। धामपाद का कहना है कि इस प्रकार समता योग और कुलिश-संयोग से जो सहजानन्द प्राप्त होता है, वह अमृतरस पाँच नलिओं के जल-प्रवाह के समान होता है। अथवा पंचज्ञानेन्द्रियाँ, विषय-रस के स्थान पर, आनन्द-रस को स्रवित करती हैं। 'हरिहर वाह्म भंडार' संसार का भी द्योतक है।

(१०) **शवरपादः**—बौद्ध-चर्याओं में 'शवर' शब्द का बाहुल्य देखने को मिलता है, जो सर्वत्र साधक का प्रतीक है। 'चर्यागीति कोष' में शवरपाद नामक सिद्ध की कुछ चर्याओं का संग्रह है, जिनमें प्रतीकात्मक शब्दावली के बाहुल्य से अद्भुत प्रधान विरोध-मूलक शैली को प्रश्रय मिला है। उनमें से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है:—

'छाड़ु छाड़ु माआ मोहा विषम दुन्दोली।
महासुहे विलसन्ति शवरो लइआ सुणमेहेली ॥ ध्रुव ॥
हेरि से मेरि तइला बाड़ीं खसममे समतुला।
सुकड़ ए से रे कपासु फुटिला ॥
तइला बाड़िर पासेंर जोह्णा बाड़ी उएला।
फिटेलि अन्धारि रे आकाश फुलिआ ॥
चारिवासें भाइला रे दिआ चञ्चाली।
तहिं तोलि शवरो डाह कएला कान्दइ सगुण शिआली ॥
मारिल भवमत्ता रे दहदिहे दिधलि बली।
हेर से सबर निरवण भइला फिटिलि सबराली ॥''[1]

अर्थात् 'माया-मोह रूप विषम द्वन्द्व को छोड़ो। शून्य महिला को ग्रहण करके शबर महासुख में क्रीड़ा कर रहा है। खसम के समान मेरी तृतीय बाड़ी को देखकर यह शुक्लवर्णी कपास प्रकट हुई है। उस तृतीय वाड़ी के पीछे अथवा पार्श्व में ज्योत्स्ना उदित हुई है। इससे अन्धकार का ध्वंस हो गया है और आकाश पुष्पित हुआ है। चार दिनों में ही भाववती ने चंचाली देदी है। वहीं पर सन्तुलन करके शवर दाह उत्पन्न करता है, जिससे पक्षी और शृगाल क्रन्दन करते हैं। भव मत्तों को मारकर दस-दिशाओं में बलि दो। उस शबर को देखकर सर्वभूत निवृत्त हो गये हैं और उन्होंने शवरत्व का परित्याग कर दिया है।'

इस विचित्र कथन में साधनावस्था की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें शवर साधक का, शून्य महिला नैरात्मज्ञान मुद्रा का, तृतीय वाड़ी अवधूतिमार्ग का, खसम प्रभास्वर तुल्यता का, कपास शून्यका, ज्योत्स्ना ज्ञान-मण्डल से उद्भूत प्रभा का, अन्धकार क्लेशों का, आकाश शून्यावस्था का, चारिवास चतुरानन्द का, चञ्चाली चंचलवृत्ति का, शकुनि-शृगाल आदि

१. 'चर्यागतिकोषः,' पृ० १६२

इन्द्रिय-मन आदि का, शवमत्ता भव-निमग्न चित्त का और शवरत्व साधनावस्था के सूचक हैं।

नवनाथों की परम्परा : सामान्यत: सहयानी सिद्धाचार्यों को 'सिद्ध' तथा नाथ-योगियों को 'नाथ' संज्ञा से जाना जाता है। 'गोरक्ष सिद्धांतसंग्रह' के अनुसार मार्ग प्रवर्त्तक इन नाथों के नाम हैं—नागार्जुन, जड़ भरत, हरिश्चन्द्र, पत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटनाथ, जलंधरनाथ, मलयार्जुन। इनमें नागार्जुन, चर्पट, जलंधर आदि सिद्धों की परम्परा में भी हैं।[1] इन नाथों में सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व गोरखनाथ* का है। आपकी प्रामाणिक रचनाएँ 'गोरख-बानी' नाम से डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई हैं। अन्य नाथों की वाणियों का कोई प्रामाणिक संकलन उपलब्ध नहीं हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुछ नाथ योगियों की रचनाओं का संकलन 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' नाम से किया है। इसमें चौबीस नाथों की रचनाएँ संग्रहीत हैं, परन्तु उनके आविर्भाव काल का निर्धारण और उनकी रचनाओं की भाषा की प्रामाणिकता संदिग्ध है।[2] ऐसी परिस्थिति में संगृहीत उलटवाँसी पदों का क्रम पुस्तक में संग्रहीत रचनाओं के आधार पर ही रखा गया है।

नाथ-परम्परा में लिखित और प्रचलित उलटवाँसियों ने, हिन्दी-साहित्य के, निर्गुणी संतो द्वारा रचित उलटवाँसियों को विषय और शैली दोनों ही क्षेत्रों में पर्याप्त सामग्री प्रदान की हैं।[3] सन्तों के उलटवाँसी-पदों की कुछ पंक्तियों के कथन तो रूपान्तर मात्र प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए गोरखनाथ और कबीर की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं:—

---

१. देखिए—आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृ० १४

* टिप्पणी—डॉ० रांगेय राघव ने अपने शोध प्रवन्ध 'गोरखनाथ और उनका युग' में गोरखनाथ का समय अनेक तथ्यों के आधार पर दशवीं का उत्तरार्द्ध और ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना है। वही यहाँ भी मान्य है।

२. 'प्रस्तुत संग्रह में अपेक्षाकृत अधिक नाथसिद्धों की रचनाएँ सम्पादित हैं। इनके रचयिता नाथ-सिद्धों की कुल संख्या २४ है।...इन रचनाओं के प्रकाशन से रचयिता नाथ-सिद्धों की संख्या के साथ ही रचनाओं की वृद्धि हुई है, परन्तु प्राप्त रचनाओं की वृद्धि के साथ ही उनकी प्रामाणिकता में कोई वृद्धि नहीं हुई है। प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि ये रचनाएँ उन्हीं सिद्धों की हैं जिनके नाम से वे प्रचलित और प्रचारित हैं।......जितनी पोथियाँ प्रकाशित की जा रही हैं उनकी भाषा कहीं-कहीं १५-१६वीं के बाद की है।' रुद्रकाशिकेय (प्रधान-संपादक, विड़ला ग्रंथ-माला)' 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ', परिचय, पृ० ६-७

३. 'नाथ संप्रदाय की आचरननिष्ठा, विवेक सम्पन्नता, अन्धविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकांडों की निरर्थकता आदि सन्त सम्प्रदाय में सीधी चली आई हैं। यहाँ तक कि उलटवाँसियों की कुतूहल जनक शैली भी सन्तों को नाथ सम्प्रदाय से ही प्राप्त हुई है। अनेक प्रसंगों और उनकी अभिव्यक्ति में भी साम्य है।' 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

'नाथ बोलै अमृतवानी, बरसैगी कंवली भीजैगा पानी ।' ('गोरख-वानी', पृ० १४१)
'धरती वरसै अंबर भीजै, बूझै विरला कोई ।' ('कवीर ग्रंथावली', पृ० १४२)
अथवा 'कवीर की यहै बानी, बरसैगी कंवली भीजैगा पानी ।'
'वीज विन निसपती मूल विन विरषा पांन फूल विन फलिया ।'
(गो० वा०, पृ० १०८)
'वीज बिन अंकुर पेड़ बिन तरवर बिन साखा तरवर फलिया' । (क० ग्र०,पृ० १४०)
'वांझ केरा वालूड़ा' (गो० वा०, पृ० १०८)
'वांझ का पूत बाप बिन जाया' (क० ग्र०, पृ० १४०)
'चींट्यां परवत ढोल्या रे अवधू' (गो० वा०, पृ० १५४)
'चींटी परबत ऊपण्यां लै राख्यौ चौड़ै' (क० ग्र०, पृ० १४१)
'डूंगरि मंछा जलि सुसा' (गो० वा०, पृ० ११२)
'ऊंचै टीबै मछ वसत है, ससा वसै जलमाँहीं ।' (क० ग्र०, पृ० १४०)

जिस कारण से सहजयानी सिद्धों ने संध्याभाषा शैली को, अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम बनाया, लगभग वही कारण नाथ-योगियों के हैं । वे हैं—साधनात्मक रहस्य की अभिव्यक्ति और उसकी रक्षा । उलटवांसी शैली में रचित नाथ-योगियों के अनेक पदों में साधनात्मक रहस्य को ही निगूढ़ रखा गया है ।[1] परन्तु इतना निश्चित है कि जिन प्रतीक-प्रयोगों के माध्यम से सहजयानी सिद्ध संध्या-भाषा में रचित अपनी अनुभूतियों को उलटवांसियों के रूप में रूपायित करते थे, उनमें और नाथों के प्रतीक-प्रयोगों में अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार दोनों की प्रक्रिया देखने को मिलती है । इसका एक कारण यह है कि नाथों में तान्त्रिक पद्धतियों का उतना आग्रह नहीं है, जितना कि सिद्धों में । दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ ही नाथों में कुछ नये प्रतीक-प्रयोग भी समाविष्ट हुए हैं ।

नाथ-यगियों में हठयोगी विचारधारा का आग्रह रहा है । अत: चित्तवृत्ति के निरोध के लिए अष्टांग योग की प्रक्रिया का प्रवेश हुआ और साधना-चक्र से नारी का बहिष्कार हुआ । यही कारण है कि नाथ-परम्परा में शृंगार-प्रधान वाच्य वाले रूपक-बन्धों की पद-रचना का अभाव है और इसीलिए डोम्बी, मातंगी, शवर, छिनाली, ललना, रसना, महिला, अवधूति आदि प्रयोग नाथों की उलटवांसियों में देखने को नहीं मिलते । साथ ही

---

१. 'बिकौज आफ दिस उलटा नेचर आफ दि साधना, दि लैंग्वेज आफ दि सौंग्स इन ह्विच दि सीक्रेट आफ दि साधना इज़ कौन्ड, इज़ ऑलसो जनरली आफ ए उल्टा नेचर, और एक्स्ट्रीमली पैराडौक्सीकल एण्ड एनिगमैटिक' 'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० २३१

इन्द्रिय-मन आदि का, शवमत्ता भव-निमग्न चित्त का और शवरत्व साधनावस्था के सूचक हैं।

नवनाथों की परम्परा : सामान्यतः सहयानी सिद्धाचार्यों को 'सिद्ध' तथा नाथ-योगियों को 'नाथ' संज्ञा से जाना जाता है। 'गोरक्ष सिद्धांतसंग्रह' के अनुसार मार्ग प्रवर्तक इन नाथों के नाम हैं—नागार्जुन, जड़ भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटनाथ, जलंधरनाथ, मलयार्जुन। इनमें नागार्जुन, चर्पट, जलंधर आदि सिद्धों की परम्परा में भी हैं।[1] इन नाथों में सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व गोरखनाथ* का है। आपकी प्रामाणिक रचनाएँ 'गोरख-बानी' नाम से डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई हैं। अन्य नाथों की वाणियों का कोई प्रामाणिक संकलन उपलब्ध नहीं हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कुछ नाथ योगियों की रचनाओं का संकलन 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' नाम से किया है। इसमें चौबीस नाथों की रचनाएँ संग्रहीत हैं, परन्तु उनके आविर्भाव काल का निर्धारण और उनकी रचनाओं की भाषा की प्रामाणिकता संदिग्ध है।[2] ऐसी परिस्थिति में संगृहीत उलटवाँसी पदों का क्रम पुस्तक में संग्रहीत रचनाओं के आधार पर ही रखा गया है।

नाथ-परम्परा में लिखित और प्रचलित उलटवाँसियों ने, हिन्दी-साहित्य के, निर्गुणी संतों द्वारा रचित उलटवाँसियों को विषय और शैली दोनों ही क्षेत्रों में पर्याप्त सामग्री प्रदान की हैं।[3] सन्तों के उलटवाँसी-पदों की कुछ पंक्तियों के कथन तो रूपान्तर मात्र प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए गोरखनाथ और कबीर की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं:—

---

१. देखिए—आचार्य शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृ० १४

* टिप्पणी—डॉ० रांगेय राघव ने अपने शोध प्रबन्ध 'गोरखनाथ और उनका युग' में गोरखनाथ का समय अनेक तथ्यों के आधार पर दशवीं का उत्तरार्द्ध और ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना है। वही यहाँ भी मान्य है।

२. 'प्रस्तुत संग्रह में अपेक्षाकृत अधिक नाथसिद्धों की रचनाएँ सम्पादित हैं। इनके रचयिता नाथ-सिद्धों की कुल संख्या २४ है।...इन रचनाओं के प्रकाशन से रचयिता नाथ-सिद्धों की संख्या के साथ ही रचनाओं की वृद्धि हुई है, परन्तु प्राप्त रचनाओं की वृद्धि के साथ ही उनकी प्रामाणिकता में कोई वृद्धि नहीं हुई है। प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि ये रचनाएँ उन्हीं सिद्धों की हैं जिनके नाम से वे प्रचलित और प्रचारित हैं।......जितनी पोथियाँ प्रकाशित की जा रही हैं उनकी भाषा कहीं-कहीं १५-१६वीं के बाद की है।' रुद्रकाशिकेय (प्रधान-संपादक, बिड़ला ग्रंथ-माला)' 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ', परिचय, पृ० ६-७

३. 'नाथ संप्रदाय की आचरनिष्ठा, विवेक सम्पन्नता, अन्धविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकांडों की निरर्थकता आदि सन्त सम्प्रदाय में सीधी चली आई हैं। यहाँ तक कि उलटवाँसियों की कुतूहल जनक शैली भी सन्तों को नाथ सम्प्रदाय से ही प्राप्त हुई है। अनेक प्रसंगों और उनकी अभिव्यक्ति में भी साम्य है।' 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

'नाथ बोलै अमृतवानी, बरसैगी कंवली भीजैगा पानी ।' ('गोरख-वानी', पृ० १४१)

'धरती वरसै अंबर भीजै, बूझै विरला कोई ।' ('कवीर ग्रंथावली', पृ० १४२)

अथवा 'कवीर की यहै वानी, वरसैगी कंवली भीजैगा पानी ।'

'वीज विन निसपती मूल विन विरपा पांन फूल विन फलिया ।'

(गो० वा०, पृ० १०८)

'वीज विन अंकुर पेड़ विन तरवर विन साखा तरवर फलिया'। (क० ग्र०,पृ० १४०)

'वांझ केरा वालूड़ा' (गो० वा०, पृ० १०८)

'वांझ का पूत वाप विन जाया' (क० ग्र०, पृ० १४०)

'चींट्यां परवत ढोल्या रे अवधू' (गो० वा०, पृ० १५४)

'चींटी परवत ऊपण्यां लै राख्यौ चौड़ै' (क० ग्र०, पृ० १४१)

'डूंगरि मंछा जलि सुसा' (गो० वा०, पृ० ११२)

'ऊंचै टीबै मछ बसत है, ससा बसै जलमाँहीं ।' (क० ग्र०, पृ० १४०)

जिस कारण से सहजयानी सिद्धों ने संध्याभाषा शैली को, अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम वनाया, लगभग वही कारण नाथ-योगियों के हैं। वे हैं—साधनात्मक रहस्य की अभिव्यक्ति और उसकी रक्षा। उलटवाँसी शैली में रचित नाथ-योगियों के अनेक पदों में साधनात्मक रहस्य को ही निगूढ़ रखा गया है।[1] परन्तु इतना निश्चित है कि जिन प्रतीक-प्रयोगों के माध्यम से सहजयानी सिद्ध संध्या-भाषा में रचित अपनी अनुभूतियों को उलटवाँसियों के रूप में रूपायित करते थे, उनमें और नाथों के प्रतीक-प्रयोगों में अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार दोनों की प्रक्रिया देखने को मिलती है। इसका एक कारण यह है कि नाथों में तान्त्रिक पद्धतियों का उतना आग्रह नहीं है, जितना कि सिद्धों में। दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ ही नाथों में कुछ नये प्रतीक-प्रयोग भी समाविष्ट हुए हैं।

नाथ-यगियों में हठयोगी विचारधारा का आग्रह रहा है। अतः चित्तवृत्ति के निरोध के लिए अष्टांग योग की प्रक्रिया का प्रवेश हुआ और साधना-चक्र से नारी का वहिष्कार हुआ। यही कारण है कि नाथ-परम्परा में शृंगार-प्रधान वाच्य वाले रूपक-वन्धों की पद-रचना का अभाव है और इसीलिए डोम्बी, मातंगी, शवर, छिनाली, ललना, रसना, महिला, अवधूति आदि प्रयोग नाथों की उलटवाँसियों में देखने को नहीं मिलते। साथ ही

१. 'विकोज आफ दिस उलटा नेचर आफ दि साधना, दि लैंग्वेज आफ दि सौंग्स इन ह्विच दि सीक्रेट आफ दि साधना इज़ कौच्ड्, इज ऑलसो जनरली आफ ए उल्टा नेचर, और एक्स्ट्रीमली पैराडौक्सीकल एण्ड एनिगमैटिक' 'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स', पृ० २३१

नाद-विन्दु प्रक्रिया,[1] मनोमारण[2], आत्मचिन्तन[3] का स्वर प्रधान हो गया है। नाथों के द्वारा विपरीत-मार्ग की स्थापना का दृष्टिकोण यह था कि सीधे मार्ग या भव-धारा के अनुकूल चलने से जीवन के मूल स्रोत अर्थात् ईश्वर से सभी प्राणी दूर होते चले जा रहे हैं और इस धारा-क्रम से विपरीत चलने पर अथवा विपरीत क्रम की व्यवस्था करने पर ही हम आदि उद्गम तक पहुँच सकते हैं। 'गोरक्षा सिद्धान्त संग्रह'[4] के आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद जी ने लिखा है कि नाथ-पंथी पुत्रक्रम की अपेक्षा शिष्यक्रम को प्रधानता देते हैं और सांसारिक व्यवस्थाओं को विपरीतक्रम से स्वीकार करते हैं, क्योंकि श्रेष्ठ की प्रतिष्ठा पहले होनी चाहिए। इसलिए योगी लोग दुनिया से उलटी बात कहने के अभ्यासी हो गए थे।[5] इस विपरीत कथन के मूल में आगमपंथ से विपरीत चलने तथा अपनी साधना-रहस्य को गुप्त रखने की प्रवृत्ति प्रधान थी।[6] इस उलटी स्थापना के सम्बन्ध में गोरखनाथ का स्पष्ट कथन है कि 'गुरू के अभाव में पृथ्वी प्रलय के गर्त में समाविष्ट हो जाती, इसलिए हमने ईश्वर (शिव) को चेला के रूप में और मत्स्येन्द्रनाथ को नाती के रूप में कहकर उलटी स्थापना स्थापित की है।[7] परवर्ती सन्तों की उलटवाँसियों के विकसित स्वरूप केलिए इन नाथों के उलटवाँसी-पद पूर्व-रूप कहे जा सकते हैं। यहाँ प्रमुख नाथों की उलटवाँसियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

(१) **गोरखनाथ:**—उलटवाँसी प्रयोग में गोरखनाथ का स्थान प्रतिपाद्य और प्रतिपादन दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इनकी अनेक उलटवाँसी प्रधान उक्तियों को कबीर आदि सन्तों ने ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिया है। लोक प्रसिद्धि में आपकी उलटवाँसियाँ 'गोरख-धन्धा' नाम से जानी जाती हैं।[8] गोरखनाथ की उलटवाँसियाँ 'सबदी' और 'पद' दोनों में ही उपलब्ध होती हैं। 'सबदी' छन्द में लिखी उलटवाँसियाँ अधिक व्याख्या की अपेक्षा रखती हैं। कोई-कोई तो पहेली जैसी लगती है। जैसे:—

---

१. देखिए 'गोरख-बानी' पृ० १६ तथा ६८   २. वही, पृ० ११८-२०
३. वही, पृ० १३५-३६.
४. 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह', पृ० ५८-५९
५. 'कबीर' (योगपरक रूपक और उलटवाँसियाँ), पृ० ८०
६. 'विमुखे आगम पन्थ राखिचे गोपते। चलिले विमुख पन्थे सिद्धि सर्वमते ॥
समुखेर शव पथ विमुखकरिया। पलटि विमुख पन्थे जाइब चलिया ॥' 'ज्ञान-संग्रह'
'गुरू मीननाथ रे उलटा धारा। पुकुर मुरे धान शुकाइया उगार तले बाढ़ा ॥'
'गोरक्षाविजय' की भूमिका में उद्धृत ('ऑब्सक्यौर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३१ से')
७. 'अवधू ईश्वर हमारे चैला भणीजे मछीन्द्र बोलिये नाती।
निगुरी पिरथी परलै जाती तार्थे हम उल्टी थापना थापी ॥' 'गोरख-बानी', पृ० ५०
८. ऐनिगमाज़ आर फाउण्ड एवण्डेण्टली इन दि नाथ लिटरेचर ऑल ओवर इण्डिया। दीज़ एनिगमाज़ ऑफ गोरख आर स्टिल नाउ पॉपुलर एज़ गोरख धन्धा ऑर दि पज़िल्स ऑफ गोरख। इट इज़ सैड इन दि गोरक्ष-विजय (पृ० १४४) 'देअर इज़ नो वाटर इन दि पोण्ड, यट भाइ इज़ इट दैट दि बैंक्स आर ओवरफ्लडड ? देअर

'बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन-सिखर माँहि बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा ॥'[1]

पदों में लिखित उलटवाँसियों में लय और राग तत्त्व की प्रधानता है । 'टेक' वाली पंक्ति में कोई बात सिद्धान्त रूप में या सारांश में कही हुई रहती है । इनके अतिरिक्त 'प्राण-संकली', 'आत्म बोध', 'ग्यान तिलक' आदि रचनाओं में भी अनेक उलटवाँसी पद मिलते हैं । सब मिलाकर सौ के लगभग सबदी और तीस के लगभग पद हैं, जिनमें उलटवाँसी तत्त्वों के सम्यक्-दर्शन होते हैं । इन उलटवाँसी-पदों का शब्द-भण्डार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के शब्दों तथा अनेक लोक-प्रयोगों से सम्पन्न है । नमूने के तौर पर यहाँ गोरखनाथ के दो उदाहरण संकेतार्थ सहित प्रस्तुत हैं,* जिनमें उनकी प्रयोग सम्बन्धी प्रकृति-प्रवृत्ति के दर्शन किये जासकते हैं:—

(१) 'अमावस के घरि झिलिमिलि चंदा, पूंनिम के घरि सूरं ।
नाद के घरि ब्यंद गरजै, बाजंत अनहद तूरं ॥'[2]

अर्थात् 'अमावस्या के घर में चन्द्र ज्योत्स्ना छिटक रही है । पूर्णिमा सूर्य-प्रकाश से दीपित है । नाद के घर विन्दु की गर्जना होरही है और विना बजाये ही तूर्य शब्द हो रहा है ।' इसमें धर्म-विरोध दृष्ट है, क्योंकि अमावस्या और पूर्णिमा का कथन उनके धर्म 'अन्धकार' और चन्द्र की स्थिति के विरुद्ध है । प्रयोक्ता का मन्तव्य इस 'सबदी' के द्वारा साधक की विशेष साधनावस्था की ओर है । भव-धारा में बहे जाते हुए जीवों का अमृत तत्त्व (जो सहस्रारस्थ चन्द्र द्वारा स्रवित होता है, मूलाधारस्थ सूर्य द्वारा सोख लिया जाता है) विनष्ट होता रहता है । इस अमृत से वंचित रहना ही 'अमावस्या' द्वारा संकेतित है । सामान्यावस्था में जहाँ चन्द्रमा के रहते हुए भी अमावस्या थी, क्योंकि वह अपने धर्म से जीव को प्रभावित नहीं कर रहा था । साधनाभ्यास से योगी ने सूर्य को चन्द्र-रस ग्रहण करने से वंचित कर दिया है, यही अमावस्या के घर चन्द्रमा का झिलमिलाना है । साधक इड़ा-पिंगला नाड़ियों का संयोग कराता है । यही चन्द्र-सूर्य संयोग भी है । अतः 'पूंनिम कै घरि सूरं'[3] कहने का अभिप्राय है कि साधक ने पिंगला मार्ग से सूर्य को चन्द्र में मिला दिया है । इस अवस्था में पहुँचकर साधक 'नाद' में विन्दु (वीर्य) को समाविष्ट कर देता है । तभी समाधि-काल में अनाहतनाद सुनाई देने लगता है । दूसरा उदाहरण :—

इज नो एग इन दि नैस्ट, हाउ इज इट दैन दैट दि यंग-वंस ऑफ दि वर्ड्स आर फ्लाइंग एवव ? देअर इज नो मैन इन दि सिटी, बट एव्री हाउस हैज़ इट्स रूफ । दि ब्लाइण्ड मेंन इज सेलिंग एण्ड दि डीफ मेंन वाइज ।'

'ऑब्सक्यौर रिलीजस कल्ट्स', पृ० ४२०

१. 'गोरख-बानी', पृ० १

* टिप्पणी—गोरखनाथ के उलटवाँसी पदों की व्याख्या केलिए 'गोरख-बानी' की व्याख्या से सहायता ली गई है ।

२. 'गोरख-बानी', पृ० २०

३. 'अवधू ईड़ा मारग चन्द्र भणीजै, प्यंगुला मारग भांनं ।' 'गोरख-बानी', पृ० ३३

(२) 'चलि रे अबिला कोयल मोरी। धरती उलटि गगन कूं दौरी ॥टेक॥
गईयाँ बपड़ी सिघ नै घेरै। मृतक पसू सूद्र कूं उचरै ॥
काटै ससत्र पूजै देव। भूप करै करसा की सेव ॥
तलि करि ढकणी ऊपरि झाल। न छीजैगा महारस बंचेगा काल ॥
दीपक बालि उजाला कीया। गोरष कै सिरि परबत दिया ॥'[1]

अर्थात् 'अरे आम्र वृक्ष ! तू चल, कोकिला मंजरी युक्त होगई है। पृथ्वी (अपने स्वभाव के विरुद्ध) आकाश की ओर दौड़ने लगी है। सिंह को विचारी गायों ने घेर लिया है। मृतक पशु शूद्र के प्रति उच्चकरण करने लगा है। शस्त्र काटा जारहा है। और देवता पूजा कर रहा है। राजा प्रजा की सेवा में प्रवृत्त हो गया है। ऐसी अवस्था में ढकनी नीचे की ओर और झाल ऊपर की ओर करना चाहिए। इससे अमृत-रस निःशेष नहीं होगा और काल की सीमा का अतिक्रमण हो सकेगा। गोरखनाथ ने दीपक प्रज्ज्वलित करके प्रकाश किया है और अपने सिर पर पर्वत उठाया है।'

संकेतार्थ :—अबिला=आम (मायाकृत रचना)। कोयल=कोकिला (मनसा या सूक्ष्म मनोवृत्ति)। मौरी=मंजरीयुक्त हुई (आनन्द की अवस्था)। धरती=पृथ्वी (कुण्डलिनी)। गगन=आकाश (ब्रह्मरन्ध्र)। गईयाँ=गउएँ (इन्द्रियाँ)। सिघ=सिंह (मृगराज अर्थात् इन्द्रियों का राजा-मन)। मृतक पसू=(जीवन-मुक्त अथवा मरजीवा)। सूद्र 7 शूद्र=चर्मकार, मृतक पशुओं को किनारे लगाने वाला (पशु रूप जीवों को किनारे लगाने वाला अर्थात् यमराज)। करसा=प्रजा (इन्द्रियाँ)। ढकनी=ढक्कन (शिरोभाग)। झाल=ज्वाला (ऊर्ध्व-मुख कुण्डलिनी)। महारस=अमृत (ब्रह्मानन्द)। बंचेगा=वंचित होगा। काल=मृत्यु। दीपक=(ब्रह्मज्योति)। बालि=जलाकर। सिर परबत दिया=मुहावरा-सिर पर पर्वत उठाना, अर्थात् पर्वत के समान दुर्वह कार्य-भार को संभालना।

साँकेतिक व्याख्या :—सिद्धि-अवस्था में पहुँचते ही साधक की कायाकल्प हो जाती है और वह लोक-व्यवहार को विपरीत दृष्टिकोण से देखने लगता है। यही उसके लिए धरती उलटी दिखाई देना है। वसन्त में मंजरी-मण्डित आम्रतरुओं को देखकर कोकिला कुहुकने लगती है। यह कुहुकना उसकी आनन्दित मनोदशा का सूचक है। साधक की आनन्दित मनोदशा को अभिव्यक्त करते हुए गोरखनाथ कहते हैं कि सिद्धि अवस्था में साधक की चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होजाती है और कोकिला रूप मनसा या सूक्ष्म मनोवृत्ति आनन्दोप-भोग केलिए, वाह्य आकर्षण रूप मंजरित आम्रवृक्षों की ओर नहीं दौड़ती, प्रत्युत स्वयं में ही आनन्द की अनुभूति करती है, क्योंकि उस समय उसका स्वभाव आनन्दमय, ब्रह्ममय ही होता है। यही कोकिला रूप मनसा का मंजरित होना है। इस अवस्था में मन रूप आम्र वृक्ष की विकल्पात्मक प्रवृत्तियाँ भी, अन्तर्मुखी होने के कारण सुखानुभव करने लगती हैं। इस अवस्था में धरती रूप मूलाधार निवासिनी अधोमुखी कुण्डलिनी गगनरूप ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होने लगती है। मन का (अहं के साथ) वाह्य विषयों में प्रवृत्त होना ही सिंहत्व है और इन्द्रियाँ भी उसी के अनुकूल होकर विचरण करती रहती हैं। इससे आध्यात्मिक

१. 'गोरख-बानी', पृ० १५२-५३

मार्ग और उसकी सात्विक प्रवृत्तियों का अवरोध होता रहता है। यही सिंह के द्वारा गायों का घेरा जाना है। परन्तु इस कथन में चमत्कार तभी आसकता है, जब कहा जाय कि गायों ने सिंह को घेर लिया है। तब अर्थ होगा साधनाजन्य सात्विक प्रवृत्तियों रूप गायों के फलस्वरूप बाह्यविषयों में विचरने वाला मनरूप सिंह अन्तर्मुखी होगया है। शैवमत के अनुसार सामान्य जीव पशु कोटि में आते हैं। जीव भव-दशा में यमराज रूप शूद्र के द्वारा मृत्यु के घाट उतारे जाते हैं। परन्तु साधनाभ्यास के फलस्वरूप साधक 'जीवनमुक्ति' की दशा को प्राप्त कर लेता है। उस समय 'मरजीवा' होकर वह मृत्यु की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।[1] यही अवस्था मृतक के द्वारा शूद्र रूप यमराज के प्रति कथन करना है। सिद्धि अवस्था में पहुँचकर साधक केलिए किसी भी देवादि की पूजा-अर्चा करना अपेक्षित नहीं रहता, क्योंकि सिद्धि-अवस्था स्वयं ही ब्रह्ममय है। अतः देवता ही उसकी पूजा में निरत हो जाते हैं। 'करणी से कारण भी मिट जाता है'[२] इसीलिए सिद्धि की अवस्था में पहुँचने पर, अनुपयोगी होने के कारण शस्त्ररूप साधन स्वयं ही नष्ट होने लगते हैं। अन्तःप्रेरित मनरूप भूप मनसारूप प्रजा की सेवा में निरत होजाता है। साधक योगाभ्यास जन्य ज्वाला रूप कुण्डलिनी को ऊर्ध्वस्थ तथा शीर्षासन आदि के रूप में ढक्कन रूप शिरोभाग को नीचे की ओर करता है। इसी का यहाँ उपदेश है। इस विपरीत करणी से महारस, अमृततत्त्व क्षय को प्राप्त नहीं होता और उस योगी के ऊपर काल की शक्तियाँ सीमित होजाती हैं। इस प्रकार गोरखनाथ ने ज्ञान-ज्योति को प्रज्ज्वलित कराने का उपदेश तो दिया ही है, स्वयं भी ज्ञान-दीपक दीपित किया है। परन्तु यह कार्य पर्वत-भार के समान दुष्कर एवं दुर्वह है, क्योंकि सर्वसामान्य को ज्ञान के प्रकाश में लाना कठिन ही है।

विशेष :—

(१) उक्त पद विषय की दृष्टि से उपदेशात्मक है तथा सिद्धि-अवस्था में चित्तवृत्ति की दशा को बतलाता है।

(२) प्रथम पंक्ति साधक की सुखानुभूतिजन्य मस्तमौला प्रकृति की व्यंजना करने में समर्थ हैं।

(३) शैली की दृष्टि से प्रस्तुत पद विरोध मूलक है, जिसमें प्रकृति-विरोध तथा धर्म-विरोध दृष्ट हैं। और उलटवाँसी तत्त्वों के निर्वाह की दृष्टि से पूर्णपद उलटवाँसी है।

(४) प्राणों की शून्य पदवी अथवा सिद्धि अवस्था होने पर काल का अतिक्रमण हो जाता है। यह हठयोग प्रतिपादित हैं।

(५) 'सिरपर पर्वत देना' मुहावरा है, जिसके प्रयोग के कारण अन्तिम पंक्ति पहेलीवत् हो गई है, साथ ही उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई है। पद में गेयत्व भी पर्याप्त है।

---

१. 'करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम्।
इदंहि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्॥' 'हठयोगप्रदीपिका', ३।७

२. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० २००

गोरखनाथ की उलटवाँसियों की सामान्य प्रवृत्ति : 'गोरख-बानी' में 'सबदी' रूप में जो उलटवाँसियाँ मिलती हैं, उनमें व्याख्या की अपेक्षा अधिक दिखाई देती है। उनके लिए हठयोग शास्त्रीय शब्दावली का सम्यक् परिचय होना आवश्यक है। जबकि पदों के रूप में रचित उलटवाँसियों का कलेवर बड़ा होने के कारण उनमें अर्थगाम्भीर्य अधिक है। पदों में रचित उलटवाँसियों में गीति तत्त्व तथा भाव-व्यंजना के अवसर अधिक दिखाई देते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि पदों में रूपक तत्त्व का निर्वाह सहज ही हो जाता है।

विषय की दृष्टि से गोरख की उलटवाँसियों में उपदेश प्रधानता, परीक्षा सम्बन्धी तथा सिद्धि अवस्थाजन्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही अधिक हैं। इनमें विरोधमूलकता के कारण कौतूहल-सृष्टि में अभिवृद्धि हुई है। उलटवाँसियों की रूपरचना के लिए आपने योगशास्त्रीय रूढ़ शब्दों के अतिरिक्त, प्रकृति के व्यापक धरातल से प्रतीकों का चयन किया है।

भाषा में लोक-प्रयोग अथवा आंचलिकता के आजाने से उनमें लोक-जीवन का दर्शन होता है। अनेक प्रकार के दृष्टान्त, लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि के प्रयोग, प्रयोक्ता के मन्तव्य को स्पष्ट करने में सहायक हुए हैं। कहीं-कहीं उलटवाँसी-पद की प्रथम या अन्तिम पंक्ति में प्रयोक्ता का चुनौतीपूर्ण स्वर भी मुखरित दिखाई देता है। अतः कहा जा सकता है कि अपने स्वरूप में गोरखनाथ की उलटवाँसियाँ परवर्ती प्रयोक्ताओं के लिए सुदृढ़ पूर्वपीठिका हैं। गोरख की उलटवाँसियों को समझने के लिए निम्नलिखित प्रतीक शब्द और उनके सांकेतिक अर्थों की सूची सहायक होगी।

शब्द	संकेतार्थ	शब्द	संकेतार्थ
अंगीठी	मनसा, जीवात्मा	अहूठपटण	शरीर
अंबर अतीत अगम	शून्य, ब्रह्मरन्ध्र	आकास आंवलियो ऊँट	ब्रह्मरन्ध्र, शून्य, ब्रह्म मनसा, आत्मा मन, अहंकार, काया, श्वास-प्रश्वास
अरध	मूलाधार, अधोगामी शुक्र	कली	जीवन या यौवन की प्रारम्भिक अवस्था
असवार	चेतन		
कामधेनु	आध्यात्मिक अनुभूति	जमना	पिंगला
कांमलि	काया	ज्वाला	ऊर्ध्वगमित कुण्डलिनी
कामिनी	कामना	जोगिण	प्रबुद्ध मनसा
काग	काल, मन	झाल	विरहाग्नि
कुत्ता	मन	डुकरिया	माया, वासना
कुंजर	मन	डोकरी	आत्मा (जीव)

शब्द	संकेतार्थ	शब्द	संकेतार्थ
कूई	अधोमुख कूप, ब्रह्म-कमल	डीबी	कुंडलिनी, मनसा
केदार	ब्रह्मद्वार	डूंगरि (पहाड़ी)	मेरुशिखर, सहस्रार-चक्र, मेरुदण्ड का ऊपर भाग
कौआ	मन	डोरी	सुरति, समाधि
कोयला	मन, विषय	ठौर	संसार
कोयल	वाणी, मनसा	तत्त्व	ईश्वर विचार
कंथा	काया	तत वेलि	आत्मा
कांवरू	काया	तेल	आयु
कूकर	मन	त्रिभुवन	त्रिगुणात्मक शरीर
पाट	पटचक्र	थेगली	काया
पीर	अमृत	थूंटा	मन
गगन	सहस्रारचक्र, ब्रह्म	दसमद्वार	ब्रह्मरन्ध्र
गरूड़	मन	दसवें	उन्मनी अवस्था
गगनसिषर	मेरुदण्ड का ऊर्ध्वभाग, ब्रह्मरन्ध्र	दीपक	ब्रह्म-ज्योति
गगन गाय	मनसा	दीया	जीवन
गजिन्द्र	मन	दूध	सत्वगुण, तीर्थ
घट-भाँडा	शरीर	देवी	कुण्डलिनी
घाटी	द्वार, मार्ग	धेनि	मनसा आत्मा
चन्दवा	अमृत, वीर्य	नगर	शरीर
चीता	सात्विकचित्त, आत्मतत्त्व	नाद	शब्द
चाबुक	चित्त	नीझर झरिया	अमृत की वर्षा
चितामणि	प्रबुद्ध मनसा, चित्त	निबोंली	मायामूल
चींटी	मनसा	नाला	नाड़ी
चूल्हौ	चित्त	नौवछड़ा	नवद्वार, नौ इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्दियाँ और मन, बुद्धि चित्त और अहंकार)
चोर	मन, विषय, काम, संसार		
छीरू	इन्द्रिय	पडरवा	मन
जल	विंदु, माया, संसार	पारा	विंदु
पाताल	स्वाधिष्ठान या मूलाधार चक्र	भण्डार	ब्रह्मसुख
पारधी	मन	भुयंगम	मन, श्वसन-क्रिया

शब्द	संकेतार्थ	शब्द	संकेतार्थ
पाणी	बिंदु, प्राण, रामरस	मछ	मन
पंचदेव	पंचेन्दियाँ	मछली	मनसा
पीपल	ब्रह्म	मूल	वीर्य, आदि पुरुष
पुरुष	शिव, ब्रह्मरन्ध्र	मोती	ज्ञान
पूर्णिमा	अमृत	मगरी	माया
पच्छिम	पिछड़ी हुई बुद्धि	मृघला	इन्दिय समूह, मनोरथ
पाँच ग्वालिया	पंचेन्द्रियाँ	मृग	मन
पणिदारी	कुण्डलिनी	मंद्दा (मत्स्य)	मन
फूल	यौवन, जीवन, कामना	मट्ठा	मायिक वस्तु
बटक	प्राण	मूंसा	मन, सूक्ष्मतया अन्तर्मुखी मन
बक	सुरति	माणिक	जीवन, केवल्य
बद्दरा-राहु	मूलाधारस्थ सूर्य	रहट	रटणि
बाघ	ज्ञान	रंडिया	आत्मा
बाघिणीं	स्त्री	लगाम	लगन, संयम
बेटों	ज्ञान	लोह	ब्रह्मरन्ध्र
बाँझ	माया, आत्मा, निष्क्रिम-बुद्धि	लोइ	माया
बिल्ली	माया, कुबुद्धि	लक्कड़	सांसारिक जीव
बनिज	अभ्यास, आवागमन	व्यन्द	बिंदु
बछरा	इन्द्रिय	विमल जल	अमृत
बाप	वपु, शरीर	शिवपुरी	ब्रह्मरन्ध्र
बांवन	वीर मन	शून्य	,,
बैसंदर	ज्ञानाग्नि	शक्ति	कुण्डलिनी
बिरौलै	विचार	शूद्र, शिशुपाल	काल
बाज	मृत्यु	सास	श्वास, सुरति
बाड़ी	काया	सुस्सा	मन, माया
		सूल	विरह
बांझ का पूत	ज्ञान	सूई	सुरति
		समुद्र	ब्रह्म, गुरू
बारह बछरा	सूर्य की बारह कलाएँ	सिचांणे	काल, शब्द
		सींगी	सुरति, लगन
बुगुला	काल, मन, माया	हंस	प्राण, आत्मा
		हीरा	ब्रह्मतत्त्व, निरंजन
ब्रह्मकुण्ड	ब्रह्मद्वार	हस्ती	मन
		हाडी	माया

(२) **चौरंगी नाथ** :—इनके विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'चौरंगीनाथ तिब्बती परंपरा में गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गए हैं। इस संग्रह में उनकी 'प्राण-संकली' नामक रचना प्रकाशित की जारही है। इससे पता चलता है कि ये राजा सालवाहन के पुत्र मच्छन्द्रनाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरु भाई थे। चौरंगीनाथ की प्राण संकली की भाषा आरंभ में पूर्वी है जो बाद में चलकर राजस्थानी मिश्रित हो जाती है।'[१] संग्रहीत 'प्राण संकली' गद्यात्मक है। इसके अतिरिक्त एकपद भी संग्रहीत है। इसमें उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। देखिए—

> **'अंगनि सैति अंगनि जालिबा। पानी सैती सोषिवा पानी॥**
> **बाई सेती बाइ फेरिबा। लव आकास मुषि बोलिबा बाँणीं॥**
> **माली लो भल माली लो। सींचै सहज कियारी।**
> **उनमनी कला एक पुहुप निपाया। आवागमन निवारी॥'**[२]

(३) **चर्पट या चरपटीनाथ**:—इनका समय गोरखनाथ से कुछ बाद का है। सिद्ध-परम्परा में इनका नाम प्रचलित है। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि तिब्बती परम्परा में इन्हें मीनपा का गुरु तथा नाथ परम्परा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य कहा गया है। एक पद में इन्होंने अपने को गोपीचंद का गुरु भाई कहा है। इनकी वानियों से ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में ये रसेश्वर सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे होंगे और बाद में गोरख के प्रभाव में आकर नाथ सम्प्रदाय में आगये होंगे।[३] संग्रहीत वानियों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि इनके कथन में उलटवाँसी तत्त्व को निर्वाहित करने की सम्यक् प्रवृत्ति देखने को मिलती है—

> **'जटा बिटंबन आंगे छार। मोटी कंथा वहु विस्तार॥**
> **विचित्र बांनी अंगा चंगा। बँटुवा सीवैं बहुविध रंगा॥'**[४]

'विचित्र बानी' से किसी सिद्ध अथवा नाथ की विचित्र अथवा अटपटी उलटवाँसी कथन की ओर संकेत है। इसी प्रकार 'वायु के संयमन के द्वारा ही योगी का उत्थान होता है। अन्यथा भूँकते हुए गधा रूप मन को विषय रूप चोर अपहृत कर लेते हैं।'[५] चरपट के निम्नकथन में रसेश्वरवादी होने का संकेत मिलता है—

> **'सरसा ही सुहागा सो देह धमाल। अम्बर बेल सो खरलहिं डाल॥**
> **खरल करै जब वासर तीनि। गर परसादी होय महीन॥'**[६]

---

१. 'नाथ-सिद्धों की वानियाँ', भूमिका पृ० २०
२. वही, भूमिका, पृ० ४८
३. 'नाथ-सिद्धों की वानियाँ', पृ० २१
४. वही, पृ० २७
५. 'कथनी वदनी वलि करि जाव। वंधि सकहु तौ वंधौ वाव॥
चरपट कहै पवन की डोर। भूँकत गदहा ले गयी चौर॥' वही, पृ० ३२
६. वही, पृ० ३५;

(४) **जालंधरी पाव :**—ये सिद्ध कृष्णपाद (काणेरी) के गुरू माने गए हैं। राजा गोपीचन्द की माता मयनावती इनकी शिष्या थी। माता के कहने से ही गोपीचन्द ने इनसे दीक्षा ली थी। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि ये नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे।[1] उलटवाँसी शैली में लिखित एक उदाहरण प्रस्तुत है—

> 'सुनि मण्डल मैं मन का वासा। तहाँ परम जोति प्रकासा॥
> आपैं पूछै आपैं कहै। सतगुरु मिलै तो परमपद लहै॥
> एक अचंभा ऐसा हुआ। गागरि माँहि उसारवा कूवा॥
> वोछी लेज पहूँचै नाँहीं। लोक पयासा मरि-मरि जाहीं॥'[2]

प्रथम दो पंक्तियों में 'शून्यवास' का उपदेश और अन्तिम दो में कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने का वर्णन है।

(५) **काणरी :**—'योगि संप्रदायाविष्कृति' के आधार पर आचार्य द्विवेदी ने कृष्णपाद कान्हुपा, कानफा, काणेरी आदि नामों को एक ही माना है। दीर्घ ईकारान्त होने के कारण कुछ लोग इन्हें स्त्री सिद्ध मानते हैं। इसीलिए कहीं सती काणेरी और कहीं काणेरीपाव नाम से इनकी बानियाँ मिलती हैं। ये जलन्धर पाद के शिष्य और गोरखनाथ के समसामयिक थे। कान्हपा नाम से चर्यापदों में इनके गीत मिलते हैं। परन्तु यहाँ उनका एक परवर्ती पद प्रस्तुत है, जिसमें उन्होंने सिद्धि अवस्था का वर्णन और उपदेश किया है—

> 'द्योसैं चंदा रातैं सूर। गगन मण्डल में बाजे तूर॥
> सति का सबद कणेरी कहै। परम हंस काहे न रहै॥'[3]

उक्त नाथ-योगियों की बानियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नाथों की वाणी भी संग्रहीत हैं, जिनके आविर्भाव कालके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इनमें एक भरथरी का नाम आता है। ये संस्कृत काव्य रचना करने वाले भर्तृहरि नहीं हैं, वरन् इनकी भाषा से इनका काल चौदहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। एक पद में उलटवाँसी शैली का प्रयोग देखा जा सकता है—

> 'नउ द्वार जड़ि ले कपाट। दसवैं द्वारैं सिध करि बाट॥
> एक लष चंदा दोइ लष भाँण। बेधणा मृघ गगन अस्थान॥
> बेध्या मृघ न छाड़ै पास। भणंत भरथरी गोरष का दास॥
> पंच षंडा अधिक बलिषंडा, मनराइ मैमंता गाजै।
> विषय लहरि कंद्रप की उठै हो सिध। तहाँ कूंण कूकै कूंण भाजै॥'[4]

इसमें नउद्वार, कपाट, दसवांद्वार, चंदा, मृघ, गगन स्थान पंचपंडा, कूकना आदि प्रतीकात्मक प्रयोग हैं जो मन के संयमन और योगाभ्यास का संकेत कराते हैं। इनके अतिरिक्त

---

१. 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ', पृ० २२
२. 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ', पृ० ५२
३. वही पृ० ११
४. 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ', पृ० १००

गरीबनाथ की बहुत कम बानियाँ उपलब्ध हैं। इन्हें कबीर का समकालीन (१४वीं का उत्तरार्द्ध) माना जाता है। इनकी उलटवाँसी शैली में लिखित एक सबदी प्रस्तुत है—

'पाताल की मींडकी अकास जंत्र बावै।
चन्द सूरिज मिलै गंग जमन गीत गावै ॥
सकल ब्रह्मंड उलटि अधर नाचै डीब।
सति सति भाषंत सिध गरीब ॥'[१]

इसमें सिद्धि-अवस्था अथवा कुण्डलिनी के ब्रह्माण्ड में निवास का वर्णन है। हणवंत जी को भी कबीर से कुछ पूर्ववर्ती माना गया है। इनका उलटवाँसी शैली में 'तत्त्ववेलि' वर्णन प्रस्तुत है—

'आकासां उड़ि चढै विहंगम, पीछै षोज न दरसै।
बाल जती हणवंत यूं प्रणवै, कोई बिरला हरि पद परसे ॥
तत बेली लो तत बेली लो, अलष बिरष बिलंबेलो।
बाड़ी विरह बीज निज बाह्या, भगयहि जाइ रहेली ॥
अमी कुंड सों धोए बांध्या, अमरा कूल भरेली।
चेतनि पांण लि प्यांउंन लागा, अंबर छेकि बधेली।
पेड दिसा थैं पावक पोषै, सेली अमी पीवेली।
रूप रेष ताकै कछु नांहो, बप बिन मृग चरेली ॥'[२]

सूफी विचारधारा का पूर्वयोग :

सूफी विचार-धारा का भी प्रभाव संत-साहित्य पर पड़ा है। जिन उलटवाँसियों में भाव-विरह की स्थिति है अथवा पारिवारिक सम्बन्धों की प्रेषणीयता से रूपकों की सृष्टि है, वहाँ यह प्रभाव झाँकता है। इस प्रकार संतों द्वारा रचित उलटवाँसियों पर हठयौगिक परम्परा का पूर्ण प्रभाव है, वहीं वष्णव विचारधारा और सूफीसाधना ने भी आंशिक रूप में प्रभाव डाला है। समासोक्ति तथा अन्योक्ति पद्धति में वर्णित सूफियों की रहस्यात्मक प्रवृत्ति उलटवाँसी पद-रचना के निकट की है। दोनों में ही प्रतीकात्मक सांकेतिक शब्दों का उपयोग हुआ है। काथनिक असम्बद्धता भी रहती है। पिण्ड में ब्रह्माड की कल्पना (चौदह भुवन जे तर उपराहीं। ते सब मानस के घटमाहीं) ने उनकी कथन-शैली को कौतूहल प्रधान बनाया है। उलटवाँसी पद की पंक्ति ('पण्डित होइ सो भेद बतावैं') के समान सूफी कवि जायसी ने अपने कथन के रहस्य को पण्डितों से पूछा है। ('मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा।') इसमें गर्वोक्ति का स्वर निहित है। इतना होने पर भी उलटवाँसी पदों में जो विरोध-अभिधीत रहता है, वह सूफी-कथन शैली समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में देखने को नहीं मिलता। समासोक्ति शैली में लिखा गया सिंहलगढ़ का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, जो शरीर-रचना पर भी लागू होता है, असम्बद्धता प्रधान होते

---

१. 'नाथ-' सिद्धों की बानियाँ', पृ० १३
२. वही, पृ० १२४-२५

हुए भी उलटवाँसीके निकट का है उलटवाँसी नहीं है। सूफी रचना-शैली से उलटवाँसी पद-रचना प्रतीकादिचयन क्षेत्र में सहयोग लेती रही है। उदाहरण केलिए:—

'नौ पौरी तें गढ़ मँझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोतवारा॥
दसवें दुआर गुपुत इक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांका॥
भेदे जाइ कोइ वह घाटी। जो लह भेद चढ़े सोइ चांटी॥
गढ़तर कुँड सुरँग तेहि मावा। तहँ वह पँथ, कहौं तोहि पावा॥
दसँम दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥"[1]

इतना निश्चित है कि भाव-विरह में लिखी गई उलटवाँसियों पर सूफी 'भावना' का प्रभाव अवश्य रहा है।

---

१. 'पद्मावत' सिंहलगढ़ वर्णन खण्ड

चतुर्थ अध्याय

उलटवाँसी पद—प्रतीक-योजना, आधार तथा विश्लेषण

प्रतीक शब्द :

'प्रतीयते प्रत्येति वा इति' के रूप में प्रति+इ+अलीकादयश्चेति' ईकन् प्रत्ययेन साधु: अथवा प्रति+कन्, निपातन से दीर्घ होने पर प्रतीक शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसके अनेक प्रसंगों में अनेक अर्थ हैं।[1] अवयव,[2] मुख, दर्शन,[3] प्रतिमा,[4] अंग',[5] रूप,[6] संकेत,[7] उलटा-

---

१. 'आहु: प्रतीकमवयवमपघनमङ्ग तथैकदेशं च।
उल्वणमुद्धतमुद्भटमुत्कटमिति नातिनानार्था: ॥' —हलायुध कोश:
(अभिधान रत्नमाला, चतुर्थ खण्ड, श्लोक, ७४४)

२. 'विसानुनापृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्नि: ।' —ऋग्वेद-संहिता, ७।३६।१
'तथाग्नि: पृथु विस्तीर्णं प्रतीकं पृथिव्या अवयवम् ।' (मंत्र का सायण भाष्य)

३. 'यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३वसते मातरिश्व: ।'—ऋग्वेद-संहिता, १०।८८।१९
'प्रतीकं मुखं प्रकाशाख्यं दर्शनं वा' (मंत्र का सायण भाष्य)
'यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन ।' —बृहदारण्यकोपनिषद्, १।५।१
अर्थात् जो इस (अन्न) के अक्षयभाव को जानता है, वह मुख रूप प्रतीक के द्वारा अन्न भक्षण करता है।

४. 'स्रुचा प्रतीकमज्यते' —ऋग्वेद-संहिता, १०।११८।३
'तथा प्रतीकं सर्वेषां देवानां पूर्वमेव स्रुचा घृतसहितया अज्यते सिच्यते' (सायण भाष्य)
'ऐक्सटीरियर सरफेस, आउटवर्ड फोर्म ऑर शेप' (मौनियर विलियम्स)

५. 'कीर्णारिजे साजिभूमि: समन्तादप्राणङ्गि: प्राणभाजां प्रतीकै: ।'
—शिशुपालवध महाकाव्य, १८।७९
अर्थात् वह रणस्थली मृत प्राणियों के अंग-प्रत्यंगों द्वारा सब ओर से व्याप्त थी।

६. 'जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे' —ऋग्वेद-संहिता, ६।७५।१
'यदा अयं राजा वर्मी कवची याति तदा लोहमयेन वर्मणा संनद्धस्य राज्ञ: प्रतीकं रूपं जीमूतस्येव मेघस्येव भवति ।' (मंत्र का सायण भाष्य)
'यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन' —ऋग्वेद-संहिता, ७।८।१
'यस्य अग्ने: प्रतीकं रूपं घृतेन आहुतं भवति ।' (मंत्र का सायण भाष्य)

७. 'त इतोम इति ह प्रतीकान्युदाजहार' —बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।३
अर्थात् 'वे (प्रश्न)-ये थे, ऐसा कहकर उसने उन प्रश्नों के संकेत बतलाए।'

विलोम[1] आदि अर्थों में इस प्रतीक-शब्द की व्यवस्था मिलती है। प्रतीक-शब्द से यहाँ हमारा तात्पर्य उसके मूल अर्थ—रूप, प्रतिमा बिम्ब, संकेत, आदि से ही है, जो वक्ता के द्वारा श्रोता अथवा पाठक के मस्तिष्क में सजीव होती है। इस अर्थ में 'शब्द' स्वयं प्रतीक ही है।[2] इस रूप में 'प्रतीक' शब्द चिह्न, आकृति, बिम्ब, किसी वस्तु या भाव का स्थानापन्न, संकेत, इंगित आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

प्रतीक-चयन की मानसिक प्रक्रिया :

प्रतीक के माध्यम से वस्तु अथवा घटना का स्थानापन्न मानसिक बिम्ब अथवा रूप ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रतीक-संकेत के रूप में जो अभिव्यक्ति हमें देखने को मिलती है, वह वास्तविक तथ्य नहीं हुआ करती। उसके पीछे जो संकेतार्थ अथवा संकेतित पदार्थ रहता है उसी की सफल अभिव्यक्ति अथवा उसके निकटतम प्रभाव-साम्य को प्रयोक्ता प्रतीक द्वारा साकार रूप देना चाहता है।[3] अभिव्यक्ति से पूर्व प्रयोक्ता के मन में एक प्रकार की प्रक्रिया होती रहती है, जिसमें चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ भी समन्वित रूप प्रदान करने में अपना सहयोग प्रदान करती रहती हैं।[4] इस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर बलवती हुई अनुभूति अभिव्यक्ति के लिए उच्छलित हो उठती है, तब प्रयोवता उस अमूर्त्त भाव को साकार रूप प्रदान करने केलिए मचल उठता है, ऐसी परिस्थिति में वह अप्रस्तुत रूप प्रतीकों की शरण जाता है और यथासाध्य अपने भाव-विचारों का मूर्त्त विधान करता है। इस प्रकार 'किसी अन्य स्तर की समान रूप-वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु 'प्रतीक' बन जाती है। प्रतीक अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय

---

१. 'विलोमः, प्रतिकूले' 'हलायुधकोशः' 'प्रतीक—इमेज, कन्ट्रेरी, रिवर्स्ड, इनवर्टेड, एडवर्स' आदि 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' (मो०वि० तथा वी०एस० आप्टे)

२. 'दि वर्ड इज़ ए सिम्बल, एण्ड इट्स मीनिंग इज़ कन्स्टीट्यूटेड बाइ दि आइडियाज़, एण्ड इमोशन्स, ह्विच इट रेज़ेज़ इन दि माइण्ड ऑफ दि हीअरर।'
—सिम्बॉलिज़्म—इट्स मीनिंग एण्ड इफ़ैक्ट, पृ० २

३. 'संकेतों को विचार, भाव या अनुभूति समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। 'संकेत' पूर्ण तथ्य नहीं होते। संकेतों के पीछे संकेतित पदार्थ होना चाहिए। संकेत, संकेतित वस्तु के तात्विक स्वरूप को उपस्थित नहीं करता। केवल उसका आभास और संकेत ही उपस्थित करता है।'
—हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० २१४

४. 'जब किसी वस्तु को देखकर उससे परिचय प्राप्त किया जाता है, तो वह प्रारम्भ से ही कतिपय भावनाओं के साथ मिश्रित हो जाया करता है। यह मानसिक व्यापार, हमारे भीतर बिना हमारे किसी प्रयत्न के, आपसे आप हो जाया करता है। इस प्रक्रिया में आँखों के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ भी काम करती हैं। ये इन्द्रियाँ पहले किसी वस्तु का एक प्रतिबिम्ब मात्र ग्रहण कर मानस-पटल तक पहुँचा देती हैं, जहाँ पर मन उनका एक न्यूनाधिक परिचित चित्र अपने ढंग से निर्मित कर लेता है।'
—कबीर-साहित्य की परख, पृ० १३८-३६

का विधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।'[1] प्रतीक के माध्यम से प्रयोक्ता के मस्तिष्क की सजीव झाँकी अथवा क्रियाशीलता मुखर हो उठती है, क्योंकि प्रतीक-चयन में प्रयोक्ता के मानसिक बिम्ब के साथ-साथ प्रासंगिक वातावरण, तत्सम्बन्धी प्रसंगों तथा प्रयोक्ता के अनुभवों को अन्विति मिलती है।

इस प्रकार प्रतीकों के रूप में, सादृश्य के बल पर, प्रयोक्ता की मानसिक प्रक्रिया ही मूर्त रूप धारण करती है। परन्तु, इसी प्रकार की सादृश्य पर आधारित प्रक्रिया अप्रस्तुत विधान अथवा उपमान-प्रयोग में देखी भी जाती है। भावों को मूर्त रूप प्रदान करने के रूप में, विशेष अनुभूति को प्रस्तुत मानकर, प्रतीक भी अप्रस्तुत हैं। सादृश्य-प्रधान होने के कारण, प्रतीक और उपमान दोनों को एक मानने का भ्रम हो सकता है। परन्तु 'उपमान' में जहाँ अंग-विशेष अथवा प्रभावांश का ही सादृश्य रहा है, वहाँ 'प्रतीक' में वस्तु का बिम्ब, वातावरण की सजीवता, प्रसंगों की अन्विति आदि एक सजीव आकार धारण किये रहती है। इस प्रकार 'प्रतीक' का क्षेत्र 'उपमान' से कहीं अधिक व्यापक रहता है।[2]

प्रतीकों के कार्य :

अनुभूति की अभिव्यक्ति में ही नहीं, विस्तृत समाज में भी व्यक्ति से समिष्ट तक के व्यवहार का बहुत बड़ा अंश प्रतीकों पर आश्रित है, क्योंकि प्रतीकीकरण के रूप में अपनी अनुभूति को सन्तुष्टि प्रदान करना मानव का सहज स्वभाव है। जिन विषयों को प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा समझा नहीं जा सकता, उन्हें प्रतीक, घनीभूत करके, मुखर कर देते हैं। व्यवहार में अनेक प्रकार के प्रतीक देखने को मिलते हैं, जैसे वाणी से सम्बन्धित, संकेतों से सम्बन्धित, चिह्नों से सम्बन्धित, प्रतिमाओं से सम्बन्धित। इन सभी प्रतीकों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—संदर्भीय और संघनित।[3] संघनित प्रतीकों में धार्मिक अनुष्ठानों की साकार भावना से सम्बन्धित तथा स्वप्न-शकुन आदि से सम्बन्धित विशेष आकार-प्रधान चिह्न आते है तथा संदर्भीय में भाषा, लिपि आदि से सम्बन्धित चिह्न रहते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन पूर्णतः प्रतीकों पर आधारित रहता है। यहाँ हमारा अभिप्राय साहित्य में प्रयुक्त भाषा-प्रतीकों से ही है।

मूलतः भाषा स्वयं प्रतीकात्मक संयोजना है। भाषा अथवा साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक-

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' प्रथम खण्ड, पृ० ४७१

२ 'सादृश्य दीख पड़ने के कारण इसे (प्रतीक को) कभी-कभी उपमानों का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नहीं है; यह उससे कहीं अधिक व्यापक है। इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है, जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त-सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्ता के भाव, विविध भाव-शिला से चतुर्दिक् टकराने वाले स्रोतों की भाँति, फूट पड़ने केलिए मचलने-से लग जाते हैं।'

—कबीर-साहित्य की परख, पृ० १४२

३. देखिए—'हिन्दी साहित्य कोश', प्रथम खण्ड, पृ० ४७२

विलोम[1] आदि अर्थों में इस प्रतीक-शब्द की व्यवस्था मिलती है। प्रतीक-शब्द से यहाँ हमारा तात्पर्य उसके मूल अर्थ—रूप, प्रतिमा विम्ब, संकेत, आदि से ही है, जो वक्ता के द्वारा श्रोता अथवा पाठक के मस्तिष्क में सजीव होती है। इस अर्थ में 'शब्द' स्वयं प्रतीक ही है।[2] इस रूप में 'प्रतीक' शब्द चिह्न, आकृति, विम्ब, किसी वस्तु या भाव का स्थानापन्न, संकेत, इंगित आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

प्रतीक-चयन की मानसिक प्रक्रिया :

प्रतीक के माध्यम से वस्तु अथवा घटना का स्थानापन्न मानसिक विम्ब अथवा रूप ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रतीक-संकेत के रूप में जो अभिव्यक्ति हमें देखने को मिलती है, वह वास्तविक तथ्य नहीं हुआ करती। उसके पीछे जो संकेतार्थ अथवा संकेतित पदार्थ रहता है उसी की सफल अभिव्यक्ति अथवा उसके निकटतम प्रभाव-साम्य को प्रयोक्ता प्रतीक द्वारा साकार रूप देना चाहता है।[3] अभिव्यक्ति से पूर्व प्रयोक्ता के मन में एक प्रकार की प्रक्रिया होती रहती है, जिसमें चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ भी समन्वित रूप प्रदान करने में अपना सहयोग प्रदान करती रहती हैं।[4] इस प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर बलवती हुई अनुभूति अभिव्यक्ति के लिए उच्छलित हो उठती है, तब प्रयोक्ता उस अमूर्त्त भाव को साकार रूप प्रदान करने केलिए मचल उठता है, ऐसी परिस्थिति में वह अप्रस्तुत रूप प्रतीकों की शरण जाता है और यथासाध्य अपने भाव-विचारों का मूर्त्त विधान करता है। इस प्रकार 'किसी अन्य स्तर की समान रूप-वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु 'प्रतीक' बन जाती है। प्रतीक अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय

---

१. 'विलोमः, प्रतिकूले' 'हलायुधकोशः' 'प्रतीक—इमेज, कन्ट्रेरी, रिवर्स्‌ड, इनवर्टेड, एडवर्स' आदि 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' (मो०वि० तथा वी०एस० आप्टे)

२. 'दि वर्ड इज़ ए सिम्बल, एण्ड इट्स मीनिंग इज़ कन्स्टीट्यूटड वाइ दि आइडियाज़, एण्ड इमोशन्स, ह्विच इट रेज़ेज़ इन दि माइण्ड ऑफ दि हीअरर।'

—सिम्बॉलिज़्म—इट्स मीनिंग एण्ड इफ़ैक्ट, पृ० २

३. 'संकेतों को विचार, भाव या अनुभूति समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। 'संकेत' पूर्ण तथ्य नहीं होते। संकेतों के पीछे संकेतित पदार्थ होना चाहिए। संकेत, संकेतित वस्तु के तात्विक स्वरूप को उपस्थित नहीं करता। केवल उसका आभास और संकेत ही उपस्थित करता है।'

—हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ० २१४

४. 'जब किसी वस्तु को देखकर उससे परिचय प्राप्त किया जाता है, तो वह प्रारम्भ से ही कतिपय भावनाओं के साथ मिश्रित हो जाया करता है। यह मानसिक व्यापार, हमारे भीतर विना हमारे किसी प्रयत्न के, आपसे आप हो जाया करता है। इस प्रक्रिया में आँखों के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ भी काम करती हैं। ये इन्द्रियाँ पहले किसी वस्तु का एक प्रतिविम्ब मात्र ग्रहण कर मानस-पटल तक पहुँचा देती हैं, जहाँ पर मन उनका एक न्यूनाधिक परिचित चित्र अपने ढंग से निर्मित कर लेता है।'

—कबीर-साहित्य की परख, पृ० १३८-३६

का विधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।'[1] प्रतीक के माध्यम से प्रयोक्ता के मस्तिष्क की सजीव झाँकी अथवा क्रियाशीलता मुखर हो उठती है, क्योंकि प्रतीक-चयन में प्रयोक्ता के मानसिक बिम्ब के साथ-साथ प्रासांगिक वातावरण, तत्सम्बन्धी प्रसंगों तथा प्रयोक्ता के अनुभवों को अन्विति मिलती है।

इस प्रकार प्रतीकों के रूप में, सादृश्य के बल पर, प्रयोक्ता की मानसिक प्रक्रिया ही मूर्त्त रूप धारण करती है। परन्तु, इसी प्रकार की सादृश्य पर आधारित प्रक्रिया अप्रस्तुत विधान अथवा उपमान-प्रयोग में देखी भी जाती है। भावों को मूर्त्त रूप प्रदान करने के रूप में, विशेष अनुभूति को प्रस्तुत मानकर, प्रतीक भी अप्रस्तुत हैं। सादृश्य-प्रधान होने के कारण, प्रतीक और उपमान दोनों को एक मानने का भ्रम हो सकता है। परन्तु 'उपमान' में जहाँ अंग-विशेष अथवा प्रभावांश का ही सादृश्य रहा है, वहाँ 'प्रतीक' में वस्तु का बिम्ब, वातावरण की सजीवता, प्रसंगों की अन्विति आदि एक सजीव आकार धारण किये रहती है। इस प्रकार 'प्रतीक' का क्षेत्र 'उपमान' से कहीं अधिक व्यापक रहता है।[2]

प्रतीकों के कार्य :

अनुभूति की अभिव्यक्ति में ही नहीं, विस्तृत समाज में भी व्यक्ति से समिष्ट तक के व्यवहार का बहुत बड़ा अंश प्रतीकों पर आश्रित है, क्योंकि प्रतीकीकरण के रूप में अपनी अनुभूति को सन्तुष्टि प्रदान करना मानव का सहज स्वभाव है। जिन विषयों को प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा समझा नहीं जा सकता, उन्हें प्रतीक, घनीभूत करके, मुखर कर देते हैं। व्यवहार में अनेक प्रकार के प्रतीक देखने को मिलते हैं, जैसे वाणी से सम्बन्धित, संकेतों से सम्बन्धित, चिह्नों से सम्बन्धित, प्रतिमाओं से सम्बन्धित। इन सभी प्रतीकों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—संदर्भीय और संघनित।[3] संघनित प्रतीकों में धार्मिक अनुष्ठानों की साकार भावना से सम्बन्धित तथा स्वप्न-शकुन आदि से सम्बन्धित विशेष आकार-प्रधान चिह्न आते है तथा संदर्भीय में भाषा, लिपि आदि से सम्बन्धित चिह्न रहते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन पूर्णतः प्रतीकों पर आधारित रहता है। यहाँ हमारा अभिप्राय साहित्य में प्रयुक्त भाषा-प्रतीकों से ही है।

मूलतः भाषा स्वयं प्रतीकात्मक संयोजना है। भाषा अथवा साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक-

---

१. 'हिन्दी साहित्य कोश' प्रथम खण्ड, पृ० ४७१

२ 'सादृश्य दीख पड़ने के कारण इसे (प्रतीक को) कभी-कभी उपमानों का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नहीं है; यह उससे कहीं अधिक व्यापक है। इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है, जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त-सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्त्ता के भाव, विविध भाव-शिला से चतुर्दिक् टकराने वाले स्रोतों की भाँति, फूट पड़ने केलिए मचलने-से लग जाते हैं।'

—कबीर-साहित्य की परख, पृ० १४२

३. देखिए—'हिन्दी साहित्य कोश', प्रथम खण्ड, पृ० ४७२

शब्दों का विशेष महत्त्व होता है।[1] प्रतीकों में सान्निध्य से अधिक सारूप्य की भावना मुखर रहती है।

प्रतीक-योजना की प्राचीनता :

प्रतीकों का अस्तित्व मानव-जाति के अस्तित्व के साथ ही जुड़ा है, क्योंकि व्यवहार में मानव थोड़े समय केलिए भी विना प्रतीक-प्रयोग के नहीं रह सकता।[2] लिखित रूप में प्रतीकों का प्रयोग हमें वैदिक साहित्य में सम्यक् रूप से देखने को मिलता है। ऋग्वेद में आया हुआ ब्रह्म-जीव की परिस्थिति को सूचित करने वाला 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (१।१६४।२०) मंत्र, पक्षी और वृक्ष के रूपक से, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ही है। इन प्रतीकों के द्वारा ब्रह्म, जीव और संसार की परिस्थिति का सम्पूर्ण वातावरण मुखर हो उठा है। अथर्ववेद (१४।२।६४) में चक्रवाक-युगल के द्वारा दम्पती की विशेष परिस्थिति का चित्रण किया गया है। विभिन्न स्थानों पर गौ के प्रतीक द्वारा 'वाणी' का चित्रण किया गया है। उपनिषदों के अनेक रूपक प्रतीक शैली में हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् (१।१०।१) में संसार को वृक्ष बताया गया है। त्रिशंकु का वेदानुवचन है—'अहं वृक्षस्य रेरिवा' अर्थात् 'मैं (उच्छेद रूप संसार) वृक्ष का प्रेरक हूँ।' इसका भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर ने स्पष्टतः 'वृक्ष' को संसार बताते हुए लिखा है—'अहं वृक्षस्योच्छेदात्मकस्य संसारवृक्षस्य रेरिवा प्रेरयिताऽन्तर्याम्यात्मना।' उपनिषदों में 'हंस' या 'पक्षी' को अप्रस्तुत बनाकर आत्मा का प्रस्तुत रूप में वर्णन मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि नवद्वार वाले देह-रूप पुर में हंस (—रूप आत्मा) निवास करता है। वह कार्य-करण उपाधि से हंस है—

---

१. 'दि फक्शन ऑफ दीज एलीमेन्ट्स इज टु वी डेफ़ीनिट, मैनेजिएविल, रिप्रोड्यूसिविल एण्ड ओलसो टु वी चार्ज्ड विद् देअर ओन इमोशनल एफीकेसिटी, सिम्वौलिक ट्रान्सफ़रेन्स इन्वेस्ट्स देअर कोरिलेटिव मीनिंग्स विद् सम ऑर ओल ऑफ दीज़ ऐट्रीव्यूट्स ऑफ दि सिम्वल्स, एण्ड देअर वाइ लिफ्ट्स दि मीनिंग्स इन्टू एन इन्टेन्सिटी ऑफ डेफीनिट इफ़ैक्टिवनैस—एज़ एलीमेन्ट्स इन नॉलिज, इमोशन एण्ड परपज़,—एन इफ़ैक्टिवनैस ह्विच दि मीनिंग मे, ऑर मे नॉट, डिजर्व ऑन देअर ओन एकाउण्ट। दि ओब्जैक्ट ऑफ सिम्वॉलिज़्म इज़ दि एनहैन्समेण्ट ऑफ दि इम्पॉरटैन्स ऑफ ह्वाट इज़ सिम्वौलाइज्ड।'

—सिम्वौलिज़्म-इट्स मीनिंग एण्ड इफ़ैक्ट, पृ० ७४

(१. अ) जीवन के अन्तस्तल तक प्रवेश पाये हुए तथा सूक्ष्म दृष्टि वाले आत्मद्रष्टाओं की प्रतिभा द्वारा अनुभूत सत्य मानव-जाति के उपयोग में तभी आते हैं, जब उन्हें गहरे रंगों में रंजित एवं पूर्ण सौन्दर्ययुक्त प्रतीकों के बने रूपकों का आश्रय मिल जाता है।'

—हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ० ३७७

२. 'मैन काइण्ड, इट सीम्स, हैज टु फ़ाइण्ड ए सिम्वल इन ओर्डर टु एक्सप्रैस इटसैल्फ। इनडीड एक्सप्रैशन' इज 'सिम्वॉलिज़्म'। 'सिम्वॉलिज़्म-इट्स मीनिंग एण्ड इफ़ैक्ट' पृ० ७३

'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।।' (३।१८)

'नवद्वारे पुरे देही विज्ञानात्मा भूत्वा कार्यकरणोपाधिः सन्हंसः परमात्मा हन्त्यविद्यात्मकं कार्यमिति......' —शाङ्करभाष्य । इसी प्रकार रथ, रथी, सारथि, आदि प्रतीकों द्वारा शरीर, आत्मा, बुद्धि और मन की स्थिति का रूपक प्रस्तुत किया है।[1] पुराणों में देवताओं के विशेष वाहन ही देवताओं के प्रतीक बन गए, जैसे मूषक गणेश का, मयूर कार्तिकेय का, गरुड़ विष्णु का; आदि ।

तंत्र-युग तक आते-आते हम देखते हैं कि प्रतीक शैली को माध्यम बनाकर ही तांत्रिक क्रियाएँ सम्पन्न होने लगी थीं ।[2] तंत्र-युग के इन प्रतीकों ने सहजयानी बौद्ध सिद्धों के संध्या-भाषा में लिखित चर्या-गीतों को बहुत अधिक प्रभावित किया है ।

प्रतीकों के प्रयोग की दृष्टि से चर्या-गीतों का युग समृद्ध है, क्योंकि उस युग में साधनापरक प्रत्येक बात प्रतीकों के माध्यम से ही कही जाती थी । फलतः बौद्ध सिद्धों की बात दुरूह, अस्पष्ट, रहस्य-प्रधान तथा उनकी कथन-शैली अभिप्राय-गर्भित संध्या-भाषा-शैली के रूप में प्रसिद्ध हुई । चर्यागीतों में प्रयुक्त प्रतीकों का अर्थ बिना समझे, उनकी बात का अर्थ समझना कठिन है । अतः अर्थ समझने केलिए सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित होना आवश्यक हो गया था ।[3] हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियों के समान ही सिद्धों के चर्यागीतों

---

१. 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।' —कठोपनिषद्, १।३।३
'तत्रात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि । शरीरं रथमेव तु रथबद्धहय-स्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि ।...... मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि ।'—शाङ्करभाष्य ।

२. 'तारा तन्त्र', 'षोडशी तन्त्र', 'धूमावती तन्त्र', 'त्रिपुरसुन्दरी तन्त्र' आदि अनेक तन्त्र ऐसे हैं, जिनमें गुह्य साधना-पद्धति प्रतीकात्मक शैली में वर्णित है । 'तन्त्रालोक' में 'ए' प्रतीक के द्वारा इच्छा, ज्ञान, क्रिया का त्रिकोण वर्णित है । इसकेलिए द्रष्टव्य है तंत्रों का विशेष संग्रह 'शाक्तप्रमोद' ।

३. 'रहस्यवादियों ने प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है । उनके साध्य और उनकी अनुभूति का स्वरूप भाषा में अप्रेषणीय होने के कारण, इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा है वह प्रतीकों के माध्यम से ही । इस कारण उनकी भाषा दुरूह 'सन्धा-भाषा' हो गई, जिसके प्रतीकों का अर्थ जाने बिना कोई अदीक्षित व्यक्ति उसे समझ ही नहीं सकता । यही कारण है कि अनेक मर्मियों की अभिव्यक्ति साधारण पाठक को उद्दाम प्रणय-अभिसार और उत्कट मिलन की अभिलाषा लगती है, उनकी उलटवाँसियाँ प्रलाप प्रतीत होती हैं ।'
—'हिन्दी-साहित्य कोश' (प्रथम खण्ड), पृ० ४७३

में औपम्यमूलक तथा विरोधमूलक प्रतीकों का प्रयोग होने लगा था ।[१]

नाथ-युग में आकर प्रतीकों का प्रयोग और बढ़ा । इस युग में नाथपंथी योगियों की बानियों में 'वाम' अथवा 'वामा' साधना सम्बन्धी अनेक प्रतीक प्रचलन से हट गए और हठयोग-साधना के अनेक प्रतीकों ने नाथों की अनुभूति का भार-वहन किया । जगत् की मायात्मक स्थिति तथा सिद्धि अवस्थाजन्य परिस्थिति को चित्रित करने में, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति बड़ी सफल हुई है ।[२]

हिन्दी के परवर्ती कालों में लिखित उलटबाँसियाँ, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में, जिस प्रकार अन्य बातों में प्रभावित हुई हैं,[३] उसी प्रकार प्रतीक-ग्रहण के रूप में, उन पर, पूर्व परम्परा का सम्यक् ऋण है । यहाँ तक आते-आते अनेक प्रतीक अपने प्रयोग में रूढ़ हो गए थे । सन्तों ने अनेक प्रतीकों की सृष्टि कल्पना तथा विभिन्न व्यवसायों के बल की है, उनके अनेक उलटबाँसी पदों के प्रतीक नए परिवेश में प्रयुक्त हुए हैं। बहुतों का अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार हुआ है । सिद्ध-नाथ परम्परा में प्रयुक्त प्रतीक, अपनी रहस्यात्मकता के कारण बहुत दुरूह हो गए थे, अतः जन-जीवन के अधिक निकट नहीं आ सके हैं । सन्तों की उलटबाँसियों में प्रयुक्त प्रतीक व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण लोक-जीवन में बहुत प्रचलित हुए हैं । इसीलिए अनेक उलटबाँसी-पद जन-जीवन की जिह्वा पर विराजमान रह सके हैं ।

अभिव्यंजना की दृष्टि से, उलटबाँसी शैली में प्रयुक्त अनेक प्रतीक विशेष महत्त्व के हैं । यही कारण है कि उनका प्रयोग परिष्कृत काव्य में भी हुआ है । परन्तु, जैसे ही कोई विशेष प्रतीक व्यवहार में आता है, वह अपनी अभिव्यंजनात्मक शक्ति खो बैठता है । उदाहरण केलिए व्यवहार में प्रयुक्त 'चर्खा' शब्द का वही अर्थ नहीं है, जिस अर्थ में कवि श्री पन्त ने 'बापू' शीर्षक कविता में प्रयुक्त किया है और वहाँ भी वह अर्थ नहीं है जो कबीर के उलटबाँसी पद में इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है—

चरषा जिनि जरै ।
× × ×
सब जगही मरि जाइयो, एक बढ़इया जिनि मरै ।
सब राँडनि कौ साथ, चरषा को धरै ॥[४]

---

१. 'इन प्रतीकों की दो प्रकार की योजनाएँ थीं—औपम्यमूलक और विरोधमूलक । औपम्यमूलक प्रतीक योजना से विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और विरोधमूलक से उलटबाँसी-शैली का विकास हुआ ।'—धर्मवीर भारती
('हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ७९३ से उद्धृत)

२. उदाहरण केलिए, 'गोरख-बानी', पद ५६,५७ द्रष्टव्य हैं ।

३. 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

४. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ९२

इसी प्रकार सूत, जुलाहा, वृक्ष, कामधेनु, मूषक, गंगा-यमुना आदि अनेक प्रतीकात्मक शब्द हैं जिनका प्रयोग परिवेश विशेष में भिन्न-भिन्न अर्थ में हुआ है। उदाहरण केलिए कह सकते हैं कि अरण्यवासी वैदिक ऋषि, अपनी अभिव्यक्ति केलिए प्राकृतिक उपकरणों में से प्रतीक चुनते थे। राज-दरबारों में कवि-मंच को सुशोभित करने वाले संस्कृत-कवियों ने अपने परिवेश से प्रतीकों को चुना। पर्वतों और गुफाओं में रहने वाले सिद्ध-नाथ योगियों ने पर्वत, अहेरी, शबरी, साँप, मेंढ़क, गज, हरिणी, गंगा-यमुना, आम्र-कोयल, चन्द्र-सूर्य आदि के द्वारा अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान की। संतों ने चरखा, सूत, जुलाहा, चूल्हा, तवा, मछली, बगुला, बिंदु-सिन्धु, स्यार-सिंह, गौ-सिंह, बकरी-सिंह, दीपक-बाती आदि प्रतीकों के द्वारा जीवात्मा की विभिन्न परिस्थितियों को भाषा प्रदान की है। इन प्रतीकों का ऐसा प्रभाव बढ़ा कि इनमें से अनेक प्रतीकों को, छायावादी युग में भावों को मूर्त्त रूप प्रदान करने केलिए प्रयुक्त किया गया है, परन्तु उन प्रयोगों में, प्रयोक्ता के कौशल से, व्यंजकता में अभिवृद्धि हुई है। इस प्रकार प्रतीकों के अर्थ-परिवर्तन[1] के कारण भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का विकास होता रहता है।

प्रतीकों की सुबोधता और दुरूहता तत्सम्बन्धी विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। साधना-क्षेत्र के प्रतीकों का अर्थ-ग्रहण करना सहजलभ्य नहीं हुआ करता। विशिष्ट साधकों तथा सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित व्यक्तियों केलिए वे प्रतीक सुलभ और जन-सामान्य को दुरूह प्रतीत होते हैं। भक्ति तथा प्रेम-सम्बन्धी प्रतीकों के प्रति जन-रुचि सहज ही आकृष्ट दिखाई देती है।

उलटवाँसियों में प्रतीक-चयन :

उलटवाँसी पदों की शरीर-रचना प्रतीक-योजना पर निर्भर है। परन्तु, उलटवाँसी-शैली के प्रयोक्ताओं ने किसी न किसी साम्य अथवा औपम्य के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों से प्रतीकों को चुना है। इस औपम्य या साम्य के कारण उलटवाँसी शैली में दुरूहता तो आई, परन्तु प्रयोक्ता की मानसिक स्थिति की सफल अभिव्यक्ति भी उनमें देखने को मिलती है। उलटवाँसियों में जीवात्मा की विभिन्न परिस्थितियों को प्रस्तुत बनाकर, अप्रस्तुत रूप प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। इस परिस्थिति-चित्रण केलिए प्रतीकों में अनेक प्रकार का साम्य अथवा औपम्य रहता है। यह साम्य इस प्रकार है :—

(क) आदि-वर्ण-साम्य—उलटवाँसियों में अनेक प्रतीक शब्द ऐसे हैं, जिनका वर्ण्य-विषय और प्रतीक के नामों में आदि वर्ण समान हैं। उदाहरणार्थ 'मन' ज्ञानेन्द्रिय केलिए मच्छ, मतंग, मृग, मीन, मेंढ़क आदि; 'चित्त' केलिए चकवा, चातक, चिड़ा, चूल्हा आदि;

---

१. 'यह (प्रतीक-विधान की) क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है। यह भाषा-विकास की अनिवार्य क्रिया है। शब्दों में चमत्कार बढ़ता है और चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार-सृष्टि की समस्या बनी रहती है। वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता रहता है।'

—दूसरा तार-सप्तक, भूमिका, पृ० ११

में औपम्यमूलक तथा विरोधमूलक प्रतीकों का प्रयोग होने लगा था।[1]

नाथ-युग में आकर प्रतीकों का प्रयोग और बढ़ा। इस युग में नाथपंथी योगियों की वानियों में 'वाम' अथवा 'वामा' साधना सम्बन्धी अनेक प्रतीक प्रचलन से हट गए और हठयोग-साधना के अनेक प्रतीकों ने नाथों की अनुभूति का भार-वहन किया। जगत् की मायात्मक स्थिति तथा सिद्धि अवस्थाजन्य परिस्थिति को चित्रित करने में, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति बड़ी सफल हुई है।[2]

हिन्दी के परवर्ती कालों में लिखित उलटवाँसियाँ, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में, जिस प्रकार अन्य बातों में प्रभावित हुई हैं,[3] उसी प्रकार प्रतीक-ग्रहण के रूप में, उन पर, पूर्व परम्परा का सम्यक् ऋण है। यहाँ तक आते-आते अनेक प्रतीक अपने प्रयोग में रूढ़ हो गए थे। सन्तों ने अनेक प्रतीकों की सृष्टि कल्पना तथा विभिन्न व्यवसायों के बल की है, उनके अनेक उलटवाँसी पदों के प्रतीक नए परिवेश में प्रयुक्त हुए हैं। बहुतों का अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार हुआ है। सिद्ध-नाथ परम्परा में प्रयुक्त प्रतीक, अपनी रहस्यात्मकता के कारण बहुत दुरूह हो गए थे, अतः जन-जीवन के अधिक निकट नहीं आ सके हैं। सन्तों की उलटवाँसियों में प्रयुक्त प्रतीक व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण लोक-जीवन में बहुत प्रचलित हुए हैं। इसीलिए अनेक उलटवाँसी-पद जन-जीवन की जिह्वा पर विराजमान रह सके हैं।

अभिव्यंजना की दृष्टि से, उलटवाँसी शैली में प्रयुक्त अनेक प्रतीक विशेष महत्त्व के हैं। यही कारण है कि उनका प्रयोग परिष्कृत काव्य में भी हुआ है। परन्तु, जैसे ही कोई विशेष प्रतीक व्यवहार में आता है, वह अपनी अभिव्यंजनात्मक शक्ति खो बैठता है। उदाहरण केलिए व्यवहार में प्रयुक्त 'चर्खा' शब्द का वही अर्थ नहीं है, जिस अर्थ में कवि श्री पन्त ने 'बापू' शीर्षक कविता में प्रयुक्त किया है और वहाँ भी वह अर्थ नहीं है जो कबीर के उलटवाँसी पद में इस प्रकार प्रयुक्त हुआ है—

चरषा जिनि जरै।

× × ×

सब जगही मरि जाइयौ, एक बढ़इया जिनि मरै।
सब रांडनि कौ साथ, चरषा कौ धरै॥[4]

---

१. 'इन प्रतीकों की दो प्रकार की योजनाएँ थीं—औपम्यमूलक और विरोधमूलक। औपम्यमूलक प्रतीक योजना से विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और विरोधमूलक से उलटवाँसी-शैली का विकास हुआ।'—धर्मवीर भारती
('हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ७६३ से उद्धृत)

२. उदाहरण केलिए, 'गोरख-बानी', पद ५६,५७ द्रष्टव्य हैं।

३. 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड), पृ० २०४

४. 'कबीर-ग्रंथावली', पृ० ९२

इसी प्रकार सूत, जुलाहा, वृक्ष, कामधेनु, मूषक, गंगा-यमुना आदि अनेक प्रतीकात्मक शब्द हैं जिनका प्रयोग परिवेश विशेष में भिन्न-भिन्न अर्थ में हुआ है। उदाहरण केलिए कह सकते हैं कि अरण्यवासी वैदिक ऋषि, अपनी अभिव्यक्ति केलिए प्राकृतिक उपकरणों में से प्रतीक चुनते थे। राज-दरबारों में कवि-मंच को सुशोभित करने वाले संस्कृत-कवियों ने अपने परिवेश से प्रतीकों को चुना। पर्वतों और गुफाओं में रहने वाले सिद्ध-नाथ योगियों ने पर्वत, अहेरी, शबरी, साँप, मेंढ़क, गज, हरिणी, गंगा-यमुना, आम्र-कोयल, चन्द्र-सूर्य आदि के द्वारा अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान की। संतों ने चरखा, सूत, जुलाहा, चूल्हा, तवा, मछली, बगुला, बिंदु-सिन्धु, स्यार-सिंह, गौ-सिंह, बकरी-सिंह, दीपक-बाती आदि प्रतीकों के द्वारा जीवात्मा की विभिन्न परिस्थितियों को भाषा प्रदान की है। इन प्रतीकों का ऐसा प्रभाव बढ़ा कि इनमें से अनेक प्रतीकों को, छायावादी युग में भावों को मूर्त्त रूप प्रदान करने केलिए प्रयुक्त किया गया है, परन्तु उन प्रयोगों में, प्रयोक्ता के कौशल से, व्यंजकता में अभिवृद्धि हुई है। इस प्रकार प्रतीकों के अर्थ-परिवर्तन[1] के कारण भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का विकास होता रहता है।

प्रतीकों की सुबोधता और दुरूहता तत्सम्बन्धी विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। साधना-क्षेत्र के प्रतीकों का अर्थ-ग्रहण करना सहजलभ्य नहीं हुआ करता। विशिष्ट साधकों तथा सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित व्यक्तियों केलिए वे प्रतीक सुलभ और जन-सामान्य को दुरूह प्रतीत होते हैं। भक्ति तथा प्रेम-सम्बन्धी प्रतीकों के प्रति जन-रुचि सहज ही आकृष्ट दिखाई देती है।

उलटवाँसियों में प्रतीक-चयन :

उलटवाँसी पदों की शरीर-रचना प्रतीक-योजना पर निर्भर है। परन्तु, उलटवाँसी-शैली के प्रयोक्ताओं ने किसी न किसी साम्य अथवा औपम्य के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों से प्रतीकों को चुना है। इस औपम्य या साम्य के कारण उलटवाँसी शैली में दुरूहता तो आई, परन्तु प्रयोक्ता की मानसिक स्थिति की सफल अभिव्यक्ति भी उनमें देखने को मिलती है। उलटवाँसियों में जीवात्मा की विभिन्न परिस्थितियों को प्रस्तुत बनाकर, अप्रस्तुत रूप प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। इस परिस्थिति-चित्रण केलिए प्रतीकों में अनेक प्रकार का साम्य अथवा औपम्य रहता है। यह साम्य इस प्रकार है :—

(क) **आदि-वर्ण-साम्य**—उलटवाँसियों में अनेक प्रतीक शब्द ऐसे हैं, जिनका वर्ण्य-विषय और प्रतीक के नामों में आदि वर्ण समान हैं। उदाहरणार्थ 'मन' ज्ञानेन्द्रिय केलिए मच्छ, मतंग, मृग, मीन, मेंढ़क आदि; 'चित्त' केलिए चकवा, चातक, चिड़ा, चूल्हा आदि;

---

१. 'यह (प्रतीक-विधान की) क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है। यह भाषा-विकास की अनिवार्य क्रिया है। शब्दों में चमत्कार बढ़ता है और चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार-सृष्टि की समस्या बनी रहती है। वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता रहता है।'
—दूसरा तार-सप्तक, भूमिका, पृ० ११

'काया' केलिए कमली, कलसा, कंथा आदि शब्द हैं। इस प्रकार के प्रतीक प्रायः ज्ञानेन्द्रिय अथवा ज्ञानेन्द्रियों केलिए प्रयुक्त हुए हैं।

(ख) **धर्म-साम्य**—'वस्तु' की वह विशेषता जो वस्तु में सर्वथा विद्यमान रहे, 'धर्म' है। अप्रस्तुत रूप प्रतीकों की योजना प्रस्तुत के चंचलत्व, स्थैर्य, गुरुत्व, व्यापकता, गति आदि गुणों के आधार पर हुई है। जैसे मन केलिए 'भ्रमर' कहने में उसकी इधर-उधर घूमने की प्रवृत्ति; 'गजेन्द्र' कहने में उसकी मस्ती, बलाधिक्य आदि; 'गरुड़' कहने में उसकी गति; 'मीन', 'मृग' कहने में उसके चंचलत्व आदि धर्मों की प्रतीति होती है।

(ग) **क्रिया-साम्य**—अनेक प्रतीकों की योजना क्रिया, स्वभाव आदि के साम्य पर हुई है। जैसे—'काया' को चरखा; 'जीवात्मा' को सुन्दरी, सुहागिन; 'बद्ध जीव' को स्यार, जुलाहा; 'इच्छा' को बगुली; 'मन' को मर्कट, बैल आदि कहा गया है। काया केलिए 'चरखा' प्रतीक का प्रयोग उसके निरन्तर क्रियाशील रहने, बन्धन के घेरे में चक्कर काटते रहने की क्रिया को द्योतित करता है। प्रबुद्ध जीवात्मा केलिए सुन्दरी अथवा सुहागिन प्रयोग में उसके स्वरूप का आकर्षण, उसके कार्यों की सात्विकता, सत्त्वगुण से प्रेरित होकर लोक-जीवन में कार्य करने की बात प्रधान है। जिस प्रकार सुन्दरी (अथवा अपने को सुन्दर, मलरहित रखने वाली) अथवा सद्गुणों वाली स्त्री के प्रति उसका पति स्वयमेव आकृष्ट होता है वैसे ही ऐसे गुणों की प्रधानता वाली जीवात्मा के प्रति परमात्मा आकृष्ट होता है। बद्ध जीव को 'स्यार' कहने में उसकी भीरुता, 'जुलाहा' कहने में बन्धन केलिए आवरण की सृष्टि करने वाला; इच्छा को 'बगुली' कहने में अपने विषय की प्राप्ति में सन्नद्ध रहने की क्रिया, मन को 'मर्कट' कहने में संकल्प-विकल्प के रूप में तोड़-फोड़ करना और 'बैल' कहने में कर्मों का बोझा ढोना आदि क्रियाएँ मुखरित हैं।

(घ) **लिंग-साम्य**—प्रतीक-योजना में लिंग-साम्य का अतिक्रमण प्रायः नहीं मिलता। जैसे 'मन' पुल्लिंग है, तो उसके किसी गुण-साम्य के आधार पर 'बिलाई', 'चींटी' आदि की प्रतीक-रूप में योजना नहीं है। मतंग, मृग, मेंढक, मर्कट आदि ही प्रतीक रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार 'माया' स्त्रीलिंग केलिए नागिनि, बिलाई, कामधेनु आदि स्त्रीलिंग शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार 'मनसा' केलिए सुरही, गायत्री, चील्ह, चोट्टी; 'दुविधा' केलिए द्रौपदी; 'बुद्धि' केलिए चींटी; 'कुंडलिनी' केलिए भुजंगी, धरती, गागरि; 'शरीर' केलिए घट, महल, देवल आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(ङ) **संख्या-साम्य**—जिन कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रियों अथवा नाड़ियों, चक्रों, गुणों आदि की निश्चित संख्या प्रसिद्ध है, उन केलिए उतनी ही निश्चित संख्या को प्रधानता देते हुए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण केलिए पंच कर्मेन्द्रियों अथवा ज्ञानेन्द्रियों केलिए 'पंच कुत्ती', पंचविकारों केलिए 'पंचलरिका', 'पाँच कुत्ता'; ज्ञानेन्द्रियों की पच्चीस प्रकृतियों केलिए 'पच्चीस कुत्ती'; तीन योग नाड़ियों अथवा त्रिकुटी आदि केलिए 'त्रिवेणी'; षट् चक्रों केलिए 'षट् कमल'; एक माया केलिए 'एक जेवड़ी', शरीर के नव छिद्रों केलिए नौ खिड़की, नवद्वारों वाला पुर, दस इन्द्रियों केलिए दस गज, एक मन के लिए 'एक नाइक' आदि संख्यावाचक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(च) **परिस्थिति अथवा रूपक-साम्य**—प्रत्येक प्रतीक के पीछे एक मानसिक बिम्ब झाँकता है। कतिपय प्रतीकों में धर्म, प्रकृति, क्रिया आदि किसी विशेष तत्त्व के स्थान पर रूपक के रूप में सम्पूर्ण परिस्थिति ही मुखर हो उठती है। उदाहरण केलिए माया को कामधेनु; संसार को वृक्ष, बाजार, पीहर, प्रबुद्ध जीवात्मा को सुहागिनि; बद्ध जीवात्मा को राँड; कार्य-कारण शृंखला से मुक्त अथवा सात्त्विक बुद्धि को 'वन्ध्या गऊ' आदि कहा गया है। ऐसे प्रतीकों में उनकी परिस्थिति विशेष साकार होकर अभिव्यक्त हो उठती है।

(छ) **रूढ़ि-साम्य**—उलटवाँसी पदों के कुछ प्रतीक, उक्त विभिन्न प्रकार की समता न रहने पर भी, प्रयोग में रूढ़ हो गए हैं। ऐसे प्रतीकों को रूढ़ि अथवा परम्परा के आधार पर गृहीत कहा जा सकता है। प्रयोग-रूढ़ि के कारण ही ऐसे प्रतीकों को शास्त्रीय व्यवस्था के रूप में व्यक्ति वाचक संज्ञा के रूप में निश्चित मान लिया गया है। कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो स्थूल साम्य के आधार पर, लोक-जीवन से आकर सम्प्रदाय में रूढ़ हो गए हैं, जैसे हिंडोला, बसन्त, होली, पिचकारी, सावन, मण्डप, विवाह, गौना, हंस, कैलाश, मानसरोवर, स्नान, गंगा-यमुना, त्रिवेणी आदि। ऐसे शब्दों का प्रयोग दो रूपों में होता है—एक तो रूढ़ प्रतीकों के रूप में; दूसरा योगशास्त्रीय अथवा साम्प्रदायिक रूढि के रूप में। यह निश्चित है कि बहुत से शब्द प्रचलन के कारण ही शास्त्र अथवा सम्प्रदाय में रूढ़ हो जाते हैं, अर्थात् प्रयोग से ही इनका शास्त्र बनता है। धीरे-धीरे ऐसे शब्दों में पारिभाषिकता का आग्रह बढ़ जाता है। ऐसे शब्दों का विवेचन अगले अध्याय में किया गया है। इस अध्याय में भी कुछ ऐसे शब्द आये हैं जिनका प्रयोग द्विरूपात्मक है; जैसे—'हंस'। यह शब्द प्रतीक भी है और पारिभाषिक भी। जिन उलटवाँसी पदों में इस शब्द का प्रयोग निर्मल अथवा उद्‌बुद्ध स्वभाव की जीवात्मा केलिए हुआ है, वहाँ यह प्रतीक है। परन्तु, श्वास-प्रश्वास के आवागमन के रूप में रूढ़ हुई 'हं' और 'स' की ध्वनि योग-शास्त्र में विशेष अर्थ की द्योतक है और संतों में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रतीक रूढ़ि-साम्य वाले होते हैं और पारिभाषिक भी। इस अध्याय में सांकेतिक प्रतीकों का ही विवेचन विश्लेषण है।

उलटवाँसियों में सांकेतिक प्रतीक :

यद्यपि, सांकेतिक प्रतीकों में भी परम्परा का प्रभाव रहता है; पर सांकेतिक प्रतीकों के प्रयोग में प्रयोक्ता का व्यक्तित्व ही अधिकांश में प्रतिबिम्बित रहता है। गुण, क्रिया आदि के आधार पर, वर्ण्य-वस्तु का संकेत प्रदान करने में समर्थ स्थूल एवं सुपरिचित प्रतीकों का चयन वह (प्रयोक्ता) अखिल सृष्टि (समाज एवं प्रकृति) में से करता है। ऐसे प्रतीकों में प्रयोक्ता का वैयक्तिक क्षेत्र अधिक कार्यशील रहता है, जिनमें उसकी कल्पना, कलेवरा होकर, सजीव हो उठती है। इसीलिए सांकेतिक प्रतीक प्रतिभा और मौलिकता की एक कसौटी होते हैं। इन प्रतीकों के पीछे साम्प्रदायिक भावना का पुष्ट होना अनिवार्य नहीं है। साथ ही, ऐसे प्रतीकों में यह निश्चित नहीं कि उनका एक ही अर्थ लिया जाय; क्योंकि, ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष-ज्ञान की भाँति कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं देते। इनसे, पदार्थ या विषय के सम्बन्ध में, क्रिया, भावना और विश्वास को आनुमानिक निश्चय प्राप्त होता है; प्रत्यक्ष

'काया' केलिए कमली, कलसा, कंथा आदि शब्द हैं। इस प्रकार के प्रतीक प्रायः ज्ञानेन्द्रिय अथवा ज्ञानेन्द्रियों केलिए प्रयुक्त हुए हैं।

(ख) **धर्म-साम्य**—'वस्तु' की वह विशेषता जो वस्तु में सर्वथा विद्यमान रहे, 'धर्म' है। अप्रस्तुत रूप प्रतीकों की योजना प्रस्तुत के चंचलत्व, स्थैर्य, गुरुत्व, व्यापकता, गति आदि गुणों के आधार पर हुई है। जैसे मन केलिए 'भ्रमर' कहने में उसकी इधर-उधर घूमने की प्रवृत्ति; 'गजेन्द्र' कहने में उसकी मस्ती, बलाधिक्य आदि; 'गरुड़' कहने में उसकी गति; 'मीन', 'मृग' कहने में उसके चंचलत्व आदि धर्मों की प्रतीति होती है।

(ग) **क्रिया-साम्य**—अनेक प्रतीकों की योजना क्रिया, स्वभाव आदि के साम्य पर हुई है। जैसे—'काया' को चरखा; 'जीवात्मा' को सुन्दरी, सुहागिन; 'बद्ध जीव' को स्यार, जुलाहा; 'इच्छा' को बगुली; 'मन' को मर्कट, बैल आदि कहा गया है। काया केलिए 'चरखा' प्रतीक का प्रयोग उसके निरन्तर क्रियाशील रहने, बन्धन के घेरे में चक्कर काटते रहने की क्रिया को द्योतित करता है। प्रबुद्ध जीवात्मा केलिए सुन्दरी अथवा सुहागिन प्रयोग में उसके स्वरूप का आकर्षण, उसके कार्यों की सात्विकता, सत्त्वगुण से प्रेरित होकर लोक-जीवन में कार्य करने की बात प्रधान है। जिस प्रकार सुन्दरी (अथवा अपने को सुन्दर, मलरहित रखने वाली) अथवा सद्गुणों वाली स्त्री के प्रति उसका पति स्वयमेव आकृष्ट होता है वैसे ही ऐसे गुणों की प्रधानता वाली जीवात्मा के प्रति परमात्मा आकृष्ट होता है। बद्ध जीव को 'स्यार' कहने में उसकी भीरुता, 'जुलाहा' कहने में बन्धन केलिए आवरण की सृष्टि करने वाला; इच्छा को 'बगुली' कहने में अपने विषय की प्राप्ति में सन्नद्ध रहने की क्रिया, मन को 'मर्कट' कहने में संकल्प-विकल्प के रूप में तोड़-फोड़ करना और 'बैल' कहने में कर्मों का बोझा ढोना आदि क्रियाएँ मुखरित हैं।

(घ) **लिंग-साम्य**—प्रतीक-योजना में लिंग-साम्य का अतिक्रमण प्रायः नहीं मिलता। जैसे 'मन' पुल्लिंग है, तो उसके किसी गुण-साम्य के आधार पर 'बिलाई', 'चींटी' आदि की प्रतीक-रूप में योजना नहीं है। मतंग, मृग, मेंढक, मर्कट आदि ही प्रतीक रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार 'माया' स्त्रीलिंग केलिए नागिनि, बिलाई, कामधेनु आदि स्त्री-लिंग शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार 'मनसा' केलिए सुरही, गायत्री, चील्ह, चोट्टी; 'दुविधा' केलिए द्रोपदी; 'बुद्धि' केलिए चींटी; 'कुंडलिनी' केलिए भुजंगी, धरती, गागरि; 'शरीर' केलिए घट, महल, देवल आदि प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(ङ) **संख्या-साम्य**—जिन कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रियों अथवा नाड़ियों, चक्रों, गुणों आदि की निश्चित संख्या प्रसिद्ध है, उन केलिए उतनी ही निश्चित संख्या को प्रधानता देते हुए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। उदाहरण केलिए पंच कर्मेन्द्रियों अथवा ज्ञानेन्द्रियों केलिए 'पंच कुत्ती', पंचविकारों केलिए 'पंचलरिका', 'पाँच कुत्ता'; ज्ञानेन्द्रियों की पच्चीस प्रकृतियों केलिए 'पच्चीस कुत्ती'; तीन योग नाड़ियों अथवा त्रिकुटी आदि केलिए 'त्रिवेणी'; षट् चक्रों केलिए 'षट् कमल'; एक माया केलिए 'एक जेवड़ी', शरीर के नव छिद्रों केलिए नौ खिड़की, नवद्वारों वाला पुर, दस इन्द्रियों केलिए दस गज, एक मन के लिए 'एक नाइक' आदि संख्यावाचक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(च) **परिस्थिति अथवा रूपक-साम्य**—प्रत्येक प्रतीक के पीछे एक मानसिक बिम्ब झाँकता है। कतिपय प्रतीकों में धर्म, प्रकृति, क्रिया आदि किसी विशेष तत्त्व के स्थान पर रूपक के रूप में सम्पूर्ण परिस्थिति ही मुखर हो उठती है। उदाहरण केलिए माया को कामधेनु; संसार को वृक्ष, बाजार, पीहर, प्रबुद्ध जीवात्मा को सुहागिनि; बद्ध जीवात्मा को राँड; कार्य-कारण शृंखला से मुक्त अथवा सात्त्विक बुद्धि को 'बन्ध्या गऊ' आदि कहा गया है। ऐसे प्रतीकों में उनकी परिस्थिति विशेष साकार होकर अभिव्यक्त हो उठती है।

(छ) **रूढ़ि-साम्य**—उलटवाँसी पदों के कुछ प्रतीक, उक्त विभिन्न प्रकार की समता न रहने पर भी, प्रयोग में रूढ़ हो गए हैं। ऐसे प्रतीकों को रूढ़ि अथवा परम्परा के आधार पर गृहीत कहा जा सकता है। प्रयोग-रूढ़ि के कारण ही ऐसे प्रतीकों को शास्त्रीय व्यवस्था के रूप में व्यक्ति वाचक संज्ञा के रूप में निश्चित मान लिया गया है। कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो स्थूल साम्य के आधार पर, लोक-जीवन से आकर सम्प्रदाय में रूढ़ हो गए हैं, जैसे हिंडोला, वसन्त, होली, पिचकारी, सावन, मण्डप, विवाह, गौना, हंस, कैलाश, मानसरोवर, स्नान, गंगा-यमुना, त्रिवेणी आदि। ऐसे शब्दों का प्रयोग दो रूपों में होता है—एक तो रूढ़ प्रतीकों के रूप में; दूसरा योगशास्त्रीय अथवा साम्प्रदायिक रूढ़ि के रूप में। यह निश्चित है कि बहुत से शब्द प्रचलन के कारण ही शास्त्र अथवा सम्प्रदाय में रूढ़ हो जाते हैं, अर्थात् प्रयोग से ही इनका शास्त्र बनता है। धीरे-धीरे ऐसे शब्दों में पारिभाषिकता का आग्रह बढ़ जाता है। ऐसे शब्दों का विवेचन अगले अध्याय में किया गया है। इस अध्याय में भी कुछ ऐसे शब्द आये हैं जिनका प्रयोग द्विरूपात्मक है; जैसे—'हंस'। यह शब्द प्रतीक भी है और पारिभाषिक भी। जिन उलटवाँसी पदों में इस शब्द का प्रयोग निर्मल अथवा उद्‌बुद्ध स्वभाव की जीवात्मा केलिए हुआ है, वहाँ यह प्रतीक है। परन्तु, श्वास-प्रश्वास के आवागमन के रूप में रूढ़ हुई 'हं' और 'स' की ध्वनि योग-शास्त्र में विशेष अर्थ की द्योतक है और संतों में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रतीक रूढ़ि-साम्य वाले होते हैं और पारिभाषिक भी। इस अध्याय में सांकेतिक प्रतीकों का ही विवेचन विश्लेषण है।

उलटवाँसियों में सांकेतिक प्रतीक :

यद्यपि, सांकेतिक प्रतीकों में भी परम्परा का प्रभाव रहता है; पर सांकेतिक प्रतीकों के प्रयोग में प्रयोक्ता का व्यक्तित्व ही अधिकांश में प्रतिबिम्बित रहता है। गुण, क्रिया आदि के आधार पर, वर्ण्य-वस्तु का संकेत प्रदान करने में समर्थ स्थूल एवं सुपरिचित प्रतीकों का चयन वह (प्रयोक्ता) अखिल सृष्टि (समाज एवं प्रकृति) में से करता है। ऐसे प्रतीकों में प्रयोक्ता का वैयक्तिक क्षेत्र अधिक कार्यशील रहता है, जिनमें उसकी कल्पना, कलेवरा होकर, सजीव हो उठती है। इसीलिए सांकेतिक प्रतीक प्रतिभा और मौलिकता की एक कसौटी होते हैं। इन प्रतीकों के पीछे साम्प्रदायिक भावना का पुष्ट होना अनिवार्य नहीं है। साथ ही, ऐसे प्रतीकों में यह निश्चित नहीं कि उनका एक ही अर्थ लिया जाय; क्योंकि, ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष-ज्ञान की भाँति कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं देते। इनसे, पदार्थ या विषय के सम्बन्ध में, क्रिया, भावना और विश्वास को आनुमानिक निश्चय प्राप्त होता है; प्रत्यक्ष

ज्ञान जन्य अनुभूति की अभिव्यक्ति में भी प्रतीकों का माध्यम आवश्यक है।[1] उलटवाँसियों में परप्रत्यक्ष दशा को वाणी में, सांकेतिक प्रतीकों के माध्यम से, समेटने का प्रयत्न रहता है। अतः प्रतीकों का सहारा लिए विना उलटवाँसी शैली एक पग भी आगे नहीं बढ़ पाती। यही कारण है कि प्रतीक-प्रयोग की दृष्टि से उलटवाँसी-पद समृद्ध हैं।

'प्रस्तुत' और उनके लिए प्रयुक्त प्रतीक :

उलटवाँसी-पदों में प्रयुक्त उन सभी प्रतीकों की विस्तृत सूची यहाँ प्रस्तुत है, जो किसी न किसी रूप में, प्रस्तुत विशेष केलिए, प्रयुक्त हुए हैं। उलटवाँसियों का वर्ण्य-विषय प्रमुख रूप से साधनात्मक अथवा वैचारिक-दशा से सम्बन्धित है और साधना का सम्बन्ध शरीर तथा उसमें विद्यमान अथवा अनुभवगम्य कुछ उपकरणों से रहता है, जिनसे साधक या विचारक जगत् तथा उनकी विशिष्ट अवस्थाओं अथवा समस्याओं पर विचार करता है। इन उपकरणों द्वारा ही परम तत्त्व का ज्ञान होता है। उलटवाँसी-पदों में जीवन और जगत् के विभिन्न अंगों-परिस्थितियों का वर्णन प्रतीकों के माध्यम से किया गया है। अतः उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता केलिए मूल रूप में जीवन और जगत् का यह पक्ष ही 'प्रस्तुत' रूप में रहता है और उपमान रूप में प्रयुक्त प्रतीक 'अप्रस्तुत' रूप में। उक्त प्रकार के प्रस्तुतों के साथ प्रतीक रूप में प्रयुक्त उनके अप्रस्तुतों का विवरण इस प्रकार है—

अमृतानन्द—**अमीरस** 'नीझर झरै अंमीरस निकसै' (क० ग्रं०, पद १५५); **चंदवा** (अमृतस्राव) 'चालत चंदवा षिसि षिसि पड़ै। बैठा ब्रह्म-अगनि परजलै' (गो०बा०, सबदी ४६); **जल** 'हरषि हरषि जल पीवै कबीर' (क० ग्रं०, पद १४०); **झर** 'झर लागौ निस दिन इकसार' (सु० ग्रं० (द्वितीय खण्ड)[2] अंग २२); **नीर** 'ऊपरि नीर लेज तलि-हारी' (क० ग्रं०, पद १४०); **फूल** (सहस्रार चक्र अथवा आनन्द) 'एक फूल सोलह करंडियाँ (कलाएँ), मालनि मन में हरिष न माइ' (गो० बा०, पद २०); **भोजन** 'सुन्दर जीमत अति सुख पायौ अबकै भोजन कियौ अघाइ' (सु० ग्रं०, अंग २२); **मधुकरी** 'दसवैं द्वारि अवधू मधुकरी माँगै' (गो० बा०, पद ५३); **महारस** 'धरणि महारस खावा' (गो० बा०, पद ५६; क० ग्रं०, पद १६२)।

---

१. 'देअर इज़ वन ग्रेट डिफ़रेन्स बिट्वीन सिम्बॉलिज़्म एण्ड डाइरेक्ट नॉलिज। डाइरेक्ट ऐक्सपीरिएन्स इज़ इन्फ़ालिबिल। ह्वाट् यू हैव ऐक्सपीरिएन्स्ड, यू हैव ऐक्सपीरिन्स्ड। बट सिम्बॉलिज़्म इज़ वैरी फ़ालिबिल, इन दि सैन्स दैट इट मे इण्ड्यूस ऐक्शन्स, फीलिंग्स, इमोशन्स, एण्ड बिलीफ्स एबाउट थिंग्स व्हिच आर मेअर नोशन्स विदाउट दैट ऐग्जेम्प्लीकेशन इन दि वर्ल्ड ह्विच दि सिम्बालिज़्म लीड्स अस टु प्रिसपोज़। आइ शैल डिवलप दि थीसिस दैट सिम्बॉलिज़्म इज़ एन एसैन्शिअल फैक्टर इन दि वे वी फंक्शन एज़ दि रिजल्ट ऑफ अवर डाइरेक्ट नालिज।'
—सिम्बॉलिज़्म—इटस मीनिंग एण्ड इफैक्ट, पृ० ७

२. टिप्पणी—'सुन्दर ग्रन्थावली' के 'द्वितीय खण्ड' में ही 'विपर्यय कौ अंग' है। अतः शोध-प्रबन्ध में इसी खण्ड से उद्धरण दिए गए हैं।

अज्ञान—काँटा (अज्ञान-भ्रम) 'सूलै कांटा भागा' (गो० बा०, पद २०); **जाड़न** (जड़ता) 'जाड़न मरै सपैदी सौरी' (क० बी०, रमैनी ७३); दादुल∠दादुर (भ्रम) 'एक ही दादुल खायी पाँच हूँ भुवंगा' (क० बी०, शब्द १११); **दुतिया** (अज्ञान-भेद-बुद्धि) 'दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँध परोसिन' (प० वा० (पहला भाग), पृ०७५); **पड़वा** 'गाड़ि पड़वा बाँधिलै षूँटा' (गो० बा०, पद ४७); **पावक** (त्रयताप) 'पानी मंह पावक बरै' (क०बी०, शब्द १११); **पूत** (भ्रम) "देखो पूत कलार का मद मैया को देय" (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ०३५); **बदरिया** (अज्ञान-घटा) 'उनइ बदरिया परिगौ संझा, अगुआ भूले बन-खंड मंझा' (क० बी०, रमैनी १५); **बिलूंटा** (अज्ञान-भ्रम) 'भाई रे, चूंन बिलूंटा खाई' (क० ग्रं०, ८१); **बैल** (अविवेक) 'बैल करै पटवारी" (क० बी०, शब्द ९); **भाई** (अविवेक) 'भाइ के सँगै सासुर गवनी' (क० बी०, शब्द ६); **भार** (अज्ञान-जनित जन्म-मरण का बोझ) 'सुन्दर सिरतैं उतर्यौ भार' (सु० ग्रं०, अंग २२); **भैंसा** (वंचक) 'कहँहि कबीर सुनहु हो सन्तो, भैसे न्याव निबेरी' (क० बी०, शब्द ९); **मैंढुक**∠मेंढुक 'मेंढुक सरप रहै एक संगै' (क० बी०, शब्द ५२); **मांस-मदिरा** (मोह-ममता) 'मांस षाइ मदिरा पुनि पीवै ताहि मुक्ति को संसय नांहि' (सु० ग्रं०, अंग २२); **राति**∠रात्रि—'दिवस मांहि हम देखी राति' (सु० ग्रं०, अंग २२); **स्वान**∠श्वान् (अविचार) 'स्यार खायो स्वाना' (क० बी०, शब्द १११); **सासु** (अविद्या) 'सासुहि सावत दीन्हा' (क० बी०, शब्द ६)।

अन्तःकरण—(मन, बुद्धि, चित्त और अंहकार के समवाय को **अन्तःकरण**-चतुष्टय माना जाता है) 'स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै। 'उंदरी बपुरी मंगल गावै कछू-एक आनंद सुनावै।।' (क० ग्रं०, पद १२) इसमें चार **स्यंघ**=मन, **घूंस**=बुद्धि, **उंदरी** (चूहा)=चित्त, **कछुआ**=अहंकार हैं। **चौक** 'चौक के रंगि धर्‌यौ सगौ भाई (क० ग्रं०, पद २२६; क० बी०, शब्द २५); **चौका** 'विप्र रसोई करनै लागौ चौका भीतरि बैठौ आइ' (सु० ग्र०, अंग २२); **जनाचारि** 'जनाचारि गिलि लगन सुधायौ' (क० बी०, शब्द ५४); कमल, घड़ा, कलस, गगन, आँगण, कुवाँ आदि (देखिए, 'हि० का० में निर्गु० सं०,' परिशिष्ट सं० १)।

अन्तर्मुखी (उलटवासी) साधक—**अन्ध**∠अन्धा (वशी, अन्तर्दृष्टि वाला) 'देखै अन्ध तमासा'(क० बी०, शब्द २३; सु० ग्र०, अंग २२); **उल्लू** (उलटा) 'राधास्वामी उल्टी गाई। उल्लू को सूर दिखाई।।, (सा० व० छं० बं० (दूसरा भाग) पृ० ४५४); **गुंगा**∠गूँगा=मूक 'गुंगा ज्ञान विज्ञान प्रगासै' (क० बी०, शब्द २३): **पंगा**∠पंगु, 'पंगा मेर सुमेर उलंघै (गो० वा०, पद १८; क० बी०, शब्द २३; सु० ग्रं०, अंग २२); **टूंटा, नकटा, बहिरा** आदि (सु० ग्रं०, अंग २२); **पशु-घातक** (इन्द्रिय-वशी) 'निर्दय होइ तिरै पशु घातक दयावंत बूड़ै भवमांहि' (सु० ग्रं० अंग २२); **पच्छिउँ गंगा बहना**=अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होना 'पच्छिउँ गंगा वहै पानी है जोर का' (प० बा०, (भाग दूसरा), पृ० ७८); **भुनगा** (तमोगुण-रहित) 'भुनगे ने घरन तुलाई' (सा० वा० छं० बं० (दूसरा भाग), पृ० ४५३); **मूरष**∠मूर्ख 'मूरष होइ सु अर्थ हि पावैं' (सु० ग्रं०, अंग २२), 'मूरख से चतुरा हारा' (सा० व० छं० बं० (दूसरा भाग) पृ० ४५४); **मूसा** (अन्तर्मुखी जीवन

(तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); भुजंगी, ईश्वरी, अरुधन्ती, शक्ति आदि देखिए—

'कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दा: पर्यायवाचका:॥' (ह०प्र० ३।१०४)

गन्तव्य—नगरि∠नगर 'ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।' (क०ग्रं०, पद १७५); बेगमपुर 'बेगमपुर तहाँ गम नहीं, लह सतगुर तें भेव।' (नि० सं०, संत सेवादास जी की वानी, पृ० १८३)

गुरु—**धोबी** (दोष-प्रक्षालन करने वाला) 'धोबी को नहिं देइ घरहिं में आप छुड़ावै' (प०वा० (पहला भाग), पृ० ८०); **पारथि**∠पार्थ 'पारथि बाना मेलै' (क०बी०, शब्द ५२); बढ़ई 'बढ़ई चरषा भल्यौ संवार्‌यौ' (सु० ग्रं०, अंग २२); रँगरेज 'ऐरी रँगरेज मिले कोइ चतुर रँगइया' (तु० शब्दा० (भाग दूसरा), पृ० २६८); सिकलीगर, साह, सुनार, चंदन, चिंतामणि, पारस, वैद्य, भृङ्गी' आदि (देखिए, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

चित्त और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—कागा∠काक (कुटिल चित्त प्रधान) जीव 'कागा कापर धोवन लागे' (क० बी०, शब्द ५५); **चकवा** (प्रबुद्ध चित्त) 'चकवा बैसि अंगारे निगलै' (क० ग्रं०, पद १२; क० बी०, शब्द १०१; तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३५); **चरखा**, चरषा∠चक्र (फिरने वाला चित्त) 'बढ़ई चरषा भलौ संवार्‌यौ' (सु० ग्रं०, अं० २२); **चात्रिग**∠चातक अथवा चित्रा नक्षत्र (एकाग्र चित्त) 'चात्रिग मैं चौमासा बौलै' (गो० बा०, ग्यानतिलक १७); **चीता** 'हरिन खायौ चीता' (क० ग्रं०, पद १६०), क० बी०, शब्द १११); **चूल्ह, चूल्हा** (उद्दीप्त चित्त) 'मछरी चढ़ी पहार चूल्ह में फन्दा लावा' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ७४, ८४), 'मगरी परि चूल्हा धूंधाइ' (गो० बा०, पद ४७; सु० ग्रं०, अंग २२); **पत्र** (सत्त्वगुण-प्रधान चित्त) 'पत्र मांहि झोली गहि रापै' (सु० ग्रं०, अंग २२); **माँखी** (मलिन चित्त-वृत्ति) 'माँखी मूँड मुडावन लागै' (क० बी०, शब्द ५५); **शिष्य** (सत्त्वगुण-प्रधान चित्त) 'शिष्य गुरुहि उपदेशन लागौ' (सु० ग्रं०, अंग २२); **हाली**∠हल (साधक का चित्त) 'हाली भींतरि षेत निदांणीं' (गो० बा०, ग्यान-तिलक १६), 'हाली मांहै निपज्यौ षेत' (सु० ग्रं०, अंग २२); **हींग** 'हींग लगाइस भात में भूल गई है नार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०५)। 'चिड़ा, चोर, चक्की' आदि (देखिये, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

जीवात्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—**अबला** 'मैं अबला तिरि-न सकूं गहूँ किस विधि तीर' (नि० सं०, संत तुरसीदास की वानी, पृ० १५३); **कउवा**, (चेष्टावान् जीव), **काक, कागा**, 'कउवा की डाली पीपल वासै' (गो० बा०, पद ४७), 'अभाजैसी रोटली कागा लै जाइला' (वही, पद ३४), 'काक कवीश्वर त्रिपई जेते ते सब दौरि करं-कहिं जांहि' (सु० ग्रं०, (अंग २२), सवैया ३०); **कानी** 'यह अचरज हम देखिया कानी काजर देइ' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०७); **कामिनि** 'कांमिनि जलै अंगीठी तापै'

गो० बा०, पद ४७); **खसम** (ब्रह्म-स्वभाव का जीव) 'खसम पर्‌यौ जोरू कै पीछे कह्यौं न मानैं भौंडी रांड' (सु० ग्रं, अंग २२, सवैया २७); **चेला** (सत्त्वगुण-प्रधान जीव) 'चेला के गुर लागै पाइ' (क० ग्रं०, पद ११); **जुलाहा** 'जग जीतैं जाइ जुलाहा' (क० ग्रं०, पद १६३; क० बी०, रमैनी २८); **तमोलिन बिटिया** (विचारवान् जीवात्मा) 'बैठी तमोलिन बिटिया हो, कतरै बँगला पान (प० बा० (तीसरा भाग), पृ० ६८) **दुलहा, दुलहिनि,** 'मौर के माथे दुलहा कीन्हौ' (क० बी०, शब्द २५); 'दुलहिनि सजी बरात लै सुरति सेहरा बाँधि' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२); **देव** (चेतन) 'देव चढ्यौ पाती के ऊपर' (सु० ग्रं०, अंग २२); **धी** (प्रबुद्ध जीवात्मा) 'माइ बाप तजि धी उमदानी' (वही, अंग २२); **धुबिया** (रजक, रजोगुण प्रधान जीव) 'धुबिया रहै पियासा जल बिच' (प०बा०(तीसरा भाग), पृ० ३५); (पहला भाग पृ०३); **नलिनी** 'काहे री नलिनी तूं कुमिलानी' (क०ग्रं०, पद ६४); **नाहर** (प्रबुद्ध चेतना) 'गाय तौ नाहर खायौ' (क० बी० शब्द ११२); **पनिहारी** (प्रयत्नशील जीवात्मा) 'ऊपर नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरै पनिहारी' (क० ग्रं०, पद १४०); **पिता** (जीव) 'मात पिता दोउ जने पूत ने बैठ खटोली' (सा० ब० छं० वं०, (दूसरा भाग), पृ० ४५५); **पुत, पुत्र, पूत** (अविचारी जीव) 'माय घरै पुत धियसंग जाई (क० बी०, शब्द १००), 'पुत्र घइल महँतारी' (क० बी०, शब्द ६), **पूत** (ब्रह्मांश, प्रबुद्ध जीव) 'पहलें पूत पीछै भई माइ' (क० ग्रं०, पद ११), 'हमहिं बाप हरिपूत हमारा' (क० बी०, शब्द १००); **पोवणहारा**=पकाने वाला (कर्म करने वाला जीव) 'पोवणहारा कौं रोरी खाइ' (गो०बा०, पद ४७); **फुलवा** 'फुलवा भार न ले सकै, कहै सखिन सौं रोय' (क० बी०, रमैनी १५); **फूहरि** (भूली जीवात्मा) 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै, (प० बा०, (पहला भाग), पृ० ८०); **बच्छा, बछरुआ** 'बच्छा बड़ा अयान जान रहै ताकी लारा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४); 'गैया पियै बछरुवहिं दुहिया' (क० बी०, शब्द-३१); **बटाऊ** 'हारी बाट बटाऊ जीत्या' (क० ग्रं०, पद १७६); **बनकि**=वणिक 'बनकि भुलइया चरवुर फेरे' (क० बी०, शब्द ५५); **बहनोई** (मायाबद्ध जीव, जिसका परिणय माया से हो गया है और माया तथा ईश्वर का अस्तित्व साथ-साथ होता है अत: भेद-बुद्धि के कारण, ब्रह्म स्वरूप जीव) 'हम बहनोई राम मोर सारा' (क० बी०, शब्द १००); **बाघ** 'छेरी बाघहिं व्याह होत है' (वही, शब्द ५५); **बाप** (ईश्वर अंस जीव अविनासी) **बिस्वा**∠वेश्या 'बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १७); 'एकअचम्भा देखिया बिटिया जाये बाप' (क० ग्रं०, पद १३); **बेटी** 'बेटी अपनी मा गहि पाई' (सु० ग्रं०, अंग २२); **बैल, काला बैल** (भारवाही जीवात्मा) 'बैल उलटि नाइक को लांघो (वही, अंग २२), (तमोगुण प्रधान जीव) 'जुग-जुग देखौ खेत में काला बैल जुताय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४); **भौंरा**∠भ्रमर (चंचल जीवात्मा) मारी स्रमणीं जगाईल्यौ भौंरा' (गो० बा०, पद ४५); **मराल** (जीव) 'ता सुत भयौ मराल काग को बोलै बानी' (तु० शब्दा० (पहला भाग) पृ० २६); **मालनि** (विचारवान् जीवात्मा) 'मालनि मन में हरिप न माइ' (गो० बा०, पद २०); **मुसाफिर** 'पानी का को देइ प्यास से मुवा मुसाफिर' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ८०); **मंजार**∠मार्जार (निर्भय जीवात्मा) 'मूसै तो मंजार खायौ' (क० बी०, शब्द ११); **रढिया** (प्रबुद्ध जीवात्मा) 'एक जु रढिया रढती आई। बहू व्याई सासू जाई' (गो० बा०, पद ४७); **राजा** (रजोगुण-

(तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); भुजंगी, ईश्वरी, अरुधन्ती, शक्ति आदि देखिए—
'कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः॥' (ह०प्र० ३।१०४)

गन्तव्य—**नगरि**∠नगर 'ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।' (क०ग्रं०, पद १७५); **वेगमपुर** 'वेगमपुर तहाँ गम नहीं, लह सतगुर तें भेव।' (नि० सं०, संत सेवादास जी की बानी, पृ० १८३)

गुरु—**धोबी** (दोष-प्रक्षालन करने वाला) 'धोबी को नहिं देइ घरहिं में आप छुड़ावै' (प०वा० (पहला भाग), पृ० ८०); **पारथि**∠पार्थ 'पारथि बाना मेलै' (क०बी०, शब्द ५२); **बढ़ई** 'बढ़ई चरपा भल्यौ संवार्‌यौ' (सु० ग्रं०, अंग २२); **रँगरेज** 'ऐरी रँगरेज मिले कोइ चतुर रँगइया' (तु० शब्दा० (भाग दूसरा), पृ० २६८); सिकलीगर, साह, सुनार, चंदन, चिंतामणि, पारस, वैद्य, भृङ्गी' आदि (देखिए, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

चित्त और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—**कागा**∠काक (कुटिल चित्त प्रधान) जीव 'कागा कापर धोवन लागे' (क० बी०, शब्द ५५); **चकवा** (प्रबुद्ध चित्त) 'चकवा वैसि अंगारे निगलै' (क० ग्रं०, पद १२; क० बी०, शब्द १०१; तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३५); **चरखा, चरषा**∠चक्र (फिरने वाला चित्त) 'बढ़ई चरपा भली संवार्‌यौ' (सु० ग्रं०, अं० २२); **चात्रिग**∠चातक अथवा चित्रा नक्षत्र (एकाग्र चित्त) 'चात्रिग मैं चौंमासा बोलै' (गो० वा०, ग्यानतिलक १७); **चीता** 'हरिन खायो चीता' (क० ग्रं०, पद १६०), क० बी०, शब्द १११); **चूल्ह, चूल्हा** (उद्दीप्त चित्त) 'मछरी चढ़ी पहार चूल्ह में फन्दा लावा' (प० वा० (पहला भाग), पृ० ७४, ८४), 'मगरी परि चूल्हा धूंधाइ' (गो० वा०, पद ४७; सु० ग्रं०, अंग २२); **पत्र** (सत्त्वगुण-प्रधान चित्त) 'पत्र मांहिं झोली गहि रापै' (सु० ग्रं०, अंग २२); **माँखी** (मलिन चित्त-वृत्ति) 'माँखी मूंड मुडावन लागै' (क० बी०, शब्द ५५); **शिष्य** (सत्त्वगुण-प्रधान चित्त) 'शिष्य गुरुहि उपदेशन लागौ' (सु० ग्रं०, अंग २२); **हाली**∠हल (साधक का चित्त) 'हाली भींतरि पेंत निदांणीं' (गो० वा०, ग्यान-तिलक १६), 'हाली मांहै निपज्यौ पेत' (सु० ग्रं०, अंग २२); **हींग** 'हींग लगाइस भात में भूल गई है नार' (प० वा० (पहला भाग), पृ० १०५)। 'चिड़ा, चोर, चक्की' आदि (देखिये, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

जीवात्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—**अवला** 'मैं अवला तिरि-न सकूं गहूँ किस विधि तीर' (नि० सं०, संत तुरसीदास की बानी, पृ० १५३); **कउवा**, (चेष्टावान् जीव), **काक, कागा**, 'कउवा की डाली पीपल वासै' (गो० वा०, पद ४७), 'अमाजैसी रोटली कागा लै जाइला' (वही, पद ३४), 'काक कवीश्वर विपई जेते ते सब दौरि करं-कहिं जांहि' (सु० ग्रं०, (अंग २२), सवैया ३०); **कानी** 'यह अचरज हम देखिया कानी काजर देइ' (प० वा० (पहला भाग), पृ० १०७); **कामिनि** 'कामिनि जलै अंगीठी तापै'

गो० बा०, पद ४७); **खसम** (ब्रह्म-स्वभाव का जीव) 'खसम परयौ जोरू कै पीछे कह्यौं न मानै भौंडी रांड' (सु० ग्रं, अंग २२, सवैया २७); **चेला** (सत्त्वगुण-प्रधान जीव) 'चेला के गुर लागै पाइ' (क० ग्रं०, पद ११); **जुलाहा** 'जग जीतैं जाइ जुलाहा' (क० ग्रं०, पद १६३; क० बी०, रमैनी २८); **तमोलिन बिटिया** (विचारवान् जीवात्मा) 'बैठी तमोलिन बिटिया हो, कतरै बँगला पान (प० बा० (तीसरा भाग), पृ० ६८) **दुलहा, दुलहिनि,** 'मौर के माथे दुलहा कीन्हौ' (क० बी०, शब्द २५); 'दुलहिनि सजी बरात लै सुरति सेहरा बाँधि' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२); **देव** (चेतन) 'देव चढ्यौ पाती के ऊपर' (सु० ग्रं०, अंग २२); **धी** (प्रबुद्ध जीवात्मा) 'माइ बाप तजि धी उमदानी' (वही, अंग २२); **धुबिया** (रजक, रजोगुण प्रधान जीव) 'धुबिया रहै पियासा जल बिच' (प०बा०(तीसरा भाग), पृ० ३५); (पहला भाग पृ०३); **नलिनी** 'काहे री नलिनी तूं कुमिलानी' (क०ग्रं०, पद ६४); **नाहर** (प्रबुद्ध चेतना) 'गाय तौ नाहर खायौ' (क० बी० शब्द ११२); **पनिहारी** (प्रयत्नशील जीवात्मा) 'ऊपर नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरै पनिहारी' (क० ग्रं०, पद १४०); **पिता** (जीव) 'मात पिता दोउ जने पूत ने बैठ खटोली' (सा० व० छं० वं०, (दूसरा भाग), पृ० ४५५); **पुत, पुत्र, पूत** (अविचारी जीव) 'माय घरै पुत धियसंग जाई (क० बी०, शब्द १००), 'पुत्र घइल महँतारी' (क० बी०, शब्द ६), **पूत** (ब्रह्मांश, प्रबुद्ध जीव) 'पहलें पूत पीछै भई माइ' (क० ग्रं०, पद ११), 'हमहिं बाप हरिपूत हमारा' (क० बी०, शब्द १००); **पौवणहारा**=पकाने वाला (कर्म करने वाला जीव) 'पोवणहारा कौं रोरी खाइ' (गो०बा०, पद ४७); **फुलवा** 'फुलवा भार न ले सकै, कहै सखिन सौं रोय' (क० बी०, रमैनी १५); **फूहरि** (भूली जीवात्मा) 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै, (प० बा०, (पहला भाग), पृ० ८०); **बच्छा, बछरुआ** 'बच्छा बड़ा अयान जान रहै ताकी लारा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४); 'गैया पियै बछरुवहिं दुहिया' (क० बी०, शब्द-३१); **बटाऊ** 'हारी बाट बटाऊ जीत्या' (क० ग्रं०, पद १७६); **बनकि**=वणिक 'बनकि भुलइया चरखुर फेरे' (क० बी०, शब्द ५५); **बहनोई** (मायाबद्ध जीव, जिसका परिणय माया से हो गया है और माया तथा ईश्वर का अस्तित्व साथ-साथ होता है अतः भेद-बुद्धि के कारण, ब्रह्म स्वरूप जीव) 'हम बहनोई राम मोर सारा' (क० बी०, शब्द १००); **बाघ** 'छेरी बाघहिं व्याह होत है' (वही, शब्द ५५); **बाप** (ईश्वर अंस जीव अविनासी) **बिस्वा**∠वेश्या 'बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १७); 'एकअचम्भा देखिया बिटिया जाये बाप' (क० ग्रं०, पद १३); **बेटी** 'बेटी अपनी मा गहि पाई' (सु० ग्रं०, अंग २२); **बैल, काला बैल** (भारवाही जीवात्मा) 'बैल उलटि नाइक को लांघौ (वही, अंग २२), (तमोगुण प्रधान जीव) 'जुग-जुग देखौ खेत में काला बैल जुताय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४); **भौंरा**∠भ्रमर (चंचल जीवात्मा) मारी स्रमणीं जगाईल्यों भौंरा' (गो० बा०, पद ४५); **मराल** (जीव) 'ता सुत भयौ मराल काग की बोलै बानी' (तु० शब्दा० (पहला भाग) पृ० २६); **मालनि** (विचारवान् जीवात्मा) 'मालनि मन में हरिष न माइ' (गो० बा०, पद २०); **मुसाफिर** 'पानी का को देइ प्यास से मुवा मुसाफिर' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ८०); **मंजार**∠मार्जार (निर्भय जीवात्मा) 'मूसै तो मंजार खायौ' (क० बी०, शब्द ११); **रढिया** (प्रबुद्ध जीवात्मा) 'एक जु रढिया रढती आई। बहू ब्याई सासू जाई' (गो० बा०, पद ४७); **राजा** (रजोगुण-

सिंह द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) 'सुसिल्यो पौली न भाई' (गो० बा०, पद २०); 'सिंघ पौलि के पार झार नित उठि उठि आवैं' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३०); **लोह** 'ताते लोहें सोषिया पाँणीं' (गो० बा०, सब्दी १०५); सुंनिद्वार∠शून्यद्वार 'गगन मंडल में सुंनिद्वार' (वही, सबदी १७६)।

द्विविधा-दुर्मति—नँनद (दुर्मति) 'सासु नँनद मिलि अदल चलाई' (क० बी०, शब्द १००); **नंनद-भउजि** 'नँनद भउजि परिपंच रचौ है' (क० बी०, शब्द ६); **बिल्ली** 'बिल्ली घर में दासी' (क० बी०, शब्द ६); **'बिलइया** 'मूसा खेवट नाव बिलइया' (क० ग्रं०, पद ८०); **मिनकी** 'मुर्गा मिनकी सूं लड़ै' (वही, पद १६१); **'कागली, कुदाली, कुहू, द्रोपदी** 'आदि (देखिए, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १)।

ध्यान—कमठ दृष्टि 'कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ३८); **धनकि∠धनुप** 'उलटै धनकि पारधी मार्यो' (क० ग्रं०, पद १६२); **नैन्हों तार** (सूक्ष्मध्यान) 'नैन्हों तार न टूटै कबहूँ' (सु० ग्रं०, अंग २२); **बगु**=बगुला 'बगु में ताल समाई' (गो० बा०, ग्यान तिलक १६)।

निवृत्ति—रजनी (निवृत्ति अवस्था) 'रजनी माँहि दिवस हम देष्याँ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ११); रूई (सात्विक वृत्ति) 'पर्वत उड़ै रूई थिर बैठी' (वही, अंग २२, सवैया १०)।

पंच इन्द्रियाँ—**कुटुम्ब** (इन्द्रिय समुदाय) 'कीयो सब कुटुम्ब संहार' (सु० ग्रं०, अंग २२); **गाइ, गैया, गोरू,** 'पंच बरन दस दुहिये गाइ' (क० ग्रं०, पद ५३; क० बी०, शब्द ५५) **गैया** 'गैया पियै बछरावहि दुहिया' (क० बी०, शब्द ३१), **गैया** (वाणी रूप इन्द्रिय) 'भाईरे गैया एक विरंचि दियौ है, गैया भार अभार भौ भारी' (क० बी०, शब्द २८); 'जाति बिहूँणाँ लाल ग्वालिया अहनिस चारौ गोरू ली' (गो० बा०, पद २१); **ढोर** (पशु रूप इन्द्रियाँ) 'काढै धणीं पुकारै ढोर' (गो० बी०, पद ४७); **नौ गाई** (पंच इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप अन्तःकरण चतुष्टय) 'सहज गोरषनाथ बणिज कराई, पंच बदल नौ गाई' (गो० बा०, पद १५); **पशु** 'निर्दय होइ तिरै पशु घातक' (सु० ग्रं०, अंग २२); **पंच कटार** 'पंच कटार है भीतरि निमस करि बेहाल रे' (गो० बा०, सबदी २३६); **पंच पनिहारी** 'उघर्‌यौ कूप घाट भयौ भारी चली निरास पंच पनिहारी' (क० ग्रं०, पद १४०); **पंच भवंगा** (वही, पद १६०); **पंच सखी** 'पंच सखी मिलि मंगल गावैं' (क० ग्रं०, पद ८१, १६३; क० बी०, रमैनी १५); **पंच संगाती** 'पंच संगाती मिलि पेलो नव पंडा' (गो० बा, पद ५३); **पाँच मृग** 'या जंगल में पाँचो मृगा' (क० ग्रं०, पद ३५३); **बछरा** (आश्रित इन्द्रियाँ) 'बछरा दूहे तीन्यूं सांझ' (क० ग्रं०, पद ८०, १६१); **बरात** (इन्द्रिय-समूह) 'भातै उलटि बरातिहिं खायौ' (क० बी०, शब्द २५); **मृगनि** 'मारी बहुरि मृगनि की डार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २६); **हरनै** (मन अथवा इन्द्रियाँ) 'हरनै खायी चीता' (क० बी०, शब्द १११)।

पंच-विकार—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर) **चेला** (विकार) 'सो वह भिक्षा चेलाहि षाह' (सु० ग्रं०, अंग २२); **चोर, पंच चोर** 'चोरन पकड़ा साह-साह ने पहिरी चोली' (सा० व० छं० वं० (दूसरा भाग), पृ० ४५६); 'पंच चोर संगी लाइ दिए हैं' (क० ग्रं०, पद ३०८) **छागर**∠छागल (विकार, अहंवृत्ति) 'छागर भये किसाने' (क० बी०, शब्द ५५); **पहराइत**=पहरादेने वाले 'पहराइत घर मुस्यौ' (सु० ग्रं०, अंग २२); **पाइक पांच** 'पाइक पाँच पहरवा राष्या' (नि० सं०, हरिदासजी की बानी, पृ० १३१); **पंच किसान** 'पंचू मोर किसाना' (क० ग्रं०, पद १४); **पंच कुटम्ब** 'पंच कुटम्ब मिलि झूलन लागे' (वही, पद ६); **पंच ग्वालिया** 'पंच ग्वालियाँ कौं मारण आई' (गो० बा०, पद ५१); **पंच जना** 'पंच जनाँ मिलि मंडप छायौ' (क० ग्रं०, पद २३६); **पंच ढोटा** 'पाँच ढोटा एक नारी' (क० बी०, शब्द ३); **पंच दुहेबा** 'एक गाइ नौ बछड़ा पंच दुहेबा जाइ' (गो० बा०, पद २०); **पंचनि** 'इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेशा' (क० ग्रं०, पद १४), **पंच बलद** 'सहज गोरषनाथ बणिज कराई पंच बलद नौ गाई' (गो० बा०, पद १५); **पंच बाहक** 'पंच बाहक जब ग्यंद्रा प्रगट्या पौढ्या पौलि पगार' (गो० बा०, पद १०); **पंच भइया** 'पंचूं भइया भये सनमुखा तब यहु पान करीला' (क० ग्रं०, पद १०६); **पंच सुवटा** 'पंच सुवटा आइ बैठे उदै भई बनराइ' (वही, पद १६०); **बनजारे** 'नाइक एक बनजारे पाँच' (क०ग्रं०, पद ३८३); बैल-पचीस (पंच विकारों की पच्चीस प्रकृतियाँ) 'बैल पचीस कौ संग साथ' (वही, पद ३८३); **लरिका, पंच लरिका** 'ये लरिका क्यूं जीवैं खुराइ' (क० ग्रं०, पद २१); 'पंचूं लरिका पटिक करि' (वही, गुरु सिष हेरा कौ अंग, साखी ४); सिकार∠शिकार=सावज 'जंगल जंगल में फिरौं घर में रहैं सिकार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ३५; सु० ग्रं० २२); **धौरा-रबाबी** बैल तथा **कौआ, गधा, भैंसा** के रूप में (पंच विकार) 'धौल मंदलिया बैल-रबाबी, कऊवा ताल बजावै। पहरि चोलना गादह नाचै, भैंसा निरति करावै' (क० ग्रं०, पद १२)।

परमात्मा (ईश्वर)—कुल (पूर्ण) 'कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ' (क० ग्रं०, पद ३२६); **खसम** (ब्रह्म) 'खसम निपूतौ आंगणि सूतौ' (वही, पद ८१); **दूलह** (जीवात्मा का पति) 'पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह' (वही, पद २२६); **नणद का भइया** (ईश्वर) 'कातौंगी हजरी का सूत नणद के भइया की सौं' (क० ग्रं०, पद १३); **नणद के बीर** 'मोहि लै चलि नणद के बीर अपने देसा' (वही, पद १४); **निरंजन** 'अंजन अलप निरंजन सार' (वही, पद ३३७); **परवत**∠ पर्वत (ईश्वर-जीव) 'तिहि पानी दुइ परबत बूढ़े, दरिया लहर समानी' (क० बी०, शब्द १); **पिता** (ईश्वर) 'पिता के संगै भई है बावरी, कन्या रहलि कुमारी' (वही, शब्द ६); **पिया** 'सगो भईया लै सलि चढ़ि हूँ तब ह्वै हूँ पियहि पियारी' (क० ग्रं०, पद २३०); **पुरुष** (ईश्वर) 'नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी' (क० बी०, शब्द १); **पुरुष** (ब्रह्म) 'तार्थें भई पुरिषा थें नारी' (क० ग्रं०, पद २३१); **भरतार** 'सतगुरु गुरू बताइया, पूरिवला भरतार' (क० ग्रं०, पीव पिछाणन कौ अंग, साखी ३); **मादरिया**∠मदारी, मादरिया ग्रिह=मदारी का गृह अर्थात् हृदय अथवा संसार 'मादरिया ग्रिह बैठो जाई' (क० बी०, शब्द १००); **मांखा** (पति-ईश्वर) 'बहि मांखी (वृत्ति) के मांखा नाहीं, गरभ रहा बिन पानी' (क० बी०, शब्द १); **मूल**

(आदिपुरुष-परमात्मा) 'मूल गह्याँ फल पावा' (क० ग्रं०, पद १६२); **ससुर** (ईश्वर) 'सासु की दुखी ससुर की प्यारी' (वही, पद २३०)।

प्रकृति—पाती (प्रपंच) 'देव चढ़्यौ पाती के ऊपर जरप चढ़्यौ डाइनि परि नीठि' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ८); 'भूली मालिनि पाती तोड़ै' (क० ग्रं०, पद १६८)।

प्रवृत्ति—दिवस (कार्यशीलता, रजोगुण) 'दिवस माँहि हम देषी राति' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ११); **जरनि** (त्रय ताप) 'कबहूँ जरनि फेरि नहिं उपजै सुन्दर मुख में रहे समाइ' (वही, अंग २२, सवैया २६)।

बहिर्मुखी वृत्ति—जगते=जागरणशील, जगत्-मुख 'जगते ने माल गँवाई' (सा० ब० छं० बं० (दूसरा भाग), पृ० ४५७); **बिलैया** (अविचारी की बहिर्मुखी वृत्ति) 'बिलैया स्वान बियाही' (क० बी०, शब्द ५२)।

बुद्धि और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—कन्या (अपरिपक्व बुद्धि) 'घर घर फिरै कुमारी कन्या जनें-जनें सौं करती संग' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २०); **कीरी** (सूक्ष्म बुद्धि) 'कुंजर कों कीरी गिलि बैठी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ३); **गाइ** 'बैल बियाइ गाइ भई बांझ' (क० ग्रं० ८०, १६० तथा गो० बा०, पद २०); **गावडी**∠गाइ (सात्विक बुद्धि) 'गावडी के मुप में वाघला बिवाइला' (गो० बा०, पद ३४); **चयंत**∠ चिन्तामणि (विमल बुद्धि) 'उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई' (क० ग्रं०, पद ३२६); **चींटी** (सूक्ष्म बुद्धि) 'चींटी परवत ऊषण्यां ले राख्यौ चोड़ै' (क० ग्रं०, पद १६१; क० बी०, शब्द ५२,१०१); **जोरू** 'जोरू बड़ी विचार चार से लखै न पारी' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३५); **धी** (ज्ञान जन्य बुद्धि) 'पर धी कों राषे घर मांहि' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १८; तु० शब्दा (पहला भाग); पृ० १३६), **'धीय** (असद्बुद्धि) 'माय घरै पुत धिय संग जाई' (क० बी०, शब्द १००); **पतिवरता**∠पतिव्रता (एकनिष्ठ बुद्धि), **वेस्या**∠वेश्या (भटकने वाली बुद्धि) 'वेस्या सु तो भई पतिवरता एक पुरुष कै लागी अंग' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २०); **पपीलिका, पपील**∠पिपीलिका (सूक्ष्म बुद्धि) 'पांव न टिकै पपीलका लोगन लाधे बैल' (क० ग्रं०, सूषिम मारग को अंग, साखी ७), 'पपील नै पील गिरावा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३५); **बटेर**=छोटी चिड़िया (सूक्ष्म बुद्धि) 'बटेर बाज जीता' (क० ग्रं०, पद १६०); **बहिनी**∠भगिनी=वहिन (वहन करने वाली बुद्धि) 'भैया भाव ब्याह बहिनी संग' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३६); **बहू**∠वधू (एकनिष्ठ बुद्धि) 'बहू विचारी बड बपतावरि जाके कहे चलत है सास' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १७); **वंध्या, बांझ** (निष्क्रिय बुद्धि) 'वंध्या पुत्र पंगु इकु जायो' (वही, अंग २२, सवैया ६); 'बांझ का पूत बाप बिन जाया' (क० ग्रं०, पद १५८, गो०, बा०, पद १८); **भंवरी**∠भ्रमरी 'भंवरी बोलै अति उदास' (क० ग्रं०, पद ३८८); **भैंसि**∠ भैंस (तामसिक बुद्धि) 'पीली दूझै भैंसि बिरोलै' (गो० बा०, पद ६०); **मछलड़ी**∠मछली (चेतनावृत्ति) 'गगन मछलड़ी बगलों ग्रास्यौ (वही, पद ६०); **मालिनि** 'भूली मालिनि

पाती तोड़ै' (क० ग्रं०, पद १६८); **मीन** 'मीन मगर झगड़ा कही तुलसी तरक उपाव। मगर अंध माने नहीं मीन बचन विख्यात' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १०६); **लकरी** (लय अथवा शुष्क-निष्क्रिय बुद्धि) 'लकरी बढ़ई कों गहि छीलै' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); **राई** (सूक्ष्म बुद्धि) 'राई मांहि समानो मेर' (वही, अंग २२, सवैया ४); **समधी** (समत्वबुद्धि, समत्व बुद्धि वाला) 'समधी कै संग नाहीं आई, सहज भई घरवारी' (क० बी०, शब्द ६), 'भयौ बियाह चली बिनु दूलह बाट जात समधी समुझाई' (वही, शब्द ५४); **सूई**∠सूचिका 'गुरु प्रसादि सूई के नांके हस्ती आवैं जाहीं' (क० ग्रं०, पद १०)।

ब्रह्म, ब्रह्म-तत्त्व, ब्रह्म—**अग्नि मथन** (ब्रह्म विचार) 'अग्नि मथन करि लकरी काढ़ी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १४); **अंगीठी** (ब्रह्माग्नि) 'बाफ न निकसै बूंद न ढलकै, सहज अंगीठी भरि भरि रांधै' (गो० बा०, ग्यान तिलक ४४); **आकास की धेनु** (ब्रह्मानुभूति, समाधी जन्य अनुभूति) 'आकास की धेनु बछा जाया' (गो० बा०, पद ५१); **कुंभार** (ब्रह्मा) 'बहु विधि भांडे घड़ै कुंभार' (क० ग्रं०, पद ५३, १०५); **कांमध्येनि**∠कामधेनु=(ब्रह्मानुभूति) 'एक कांमध्येनि वारि सिधि के गगन सिषर लैं बांधी' (गो० बा०, सबदी २०७); **खसम** (ब्रह्म) 'खसम निपूतौ आंगणि सूतौ' (क० ग्रं०, पद ८१); **घाट** (आध्यात्मिक जीवन) 'सोवै डुकरिया ठोरै घाट' (गो० बा०, पद ४७); **गगन-गाइ** (ब्रह्मानुभूति, समाधि) 'गोरष लो गोपालं लो गगन गाइ दुहि पीवै लो' (गो० बा०, पद २१); **गाय** 'गगन मंडल में गाइ बियाई' (वही, सबदी १६६); **गावत्री**∠गायत्री (ब्रह्मानुभूति) 'ऐसी गावत्री घर बारि हमारै, गगन मंडल में लाधी लो' (गो० बानी, पद २१); **जल** (ब्रह्मतत्त्व) 'फूटा कुंभ जल जलहिंस मांना' (क० ग्रं०, पद ४४, ११२), 'मारी मारौ स्रपनीं निरमल जल पैठी' (गो० बा०, पद ४५ तथा प० बा० (भाग तीसरा), पृ० ६५); **दूध** 'पंच बरन दस दुहिए गाइ, एक दूध देखो पतिया' (क० ग्रं०, पद ५३); **पानी** 'पानी मांहि तुंबिका बूड़ी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ४); **पानी** (प्रेम तत्त्व) 'कमल मांहि सें पानी उपज्यौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ७); **बरी**=वट वृक्ष (ब्रह्म ज्ञान) 'सौदा कियौ पुनि घर कौ लेषा कियौ बरीतर बैठि' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २३); **बहू, बहुड़ी** (ब्रह्मानुभूति) 'बहू बिवाई सासू जाई' (गो० बा०, पद ४७), 'सासूड़ी पालनड़ै बहुड़ी हिंडोलै' (वही, पद ६०); **बाप** 'हमहिं बाप हरि पूत हमारा' (क० बी०, शब्द १००); **भिक्षा** (ब्रह्मज्ञान का संग्रह) 'भिक्षा करै बहुत करि ताकों सो वह भिक्षा चेलहि पाइ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १५); **रोटी**∠रोटली 'अभा जैसी रोटली कागा (चेष्टावान् साधक) लै जाइला' (गो० बा०, पद ३४); **बिम्ब** 'जल में बिम्ब प्रकासै' (क० ग्रं०, पद १६२); **समुद्र** 'बुंदहि मांहि समुद्र समानो' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ४); **सास** (ब्रह्म सत्ता) 'बहू बिवाई सासू जाई' (गो० बा०, पद ४७); **सीतलता** (ब्रह्मानन्द) 'सूर मांहि सीतलता उपजी, सीतलता में सुख भरपूर' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ७)।

मन एवं उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—**अबिला**∠आम्र (बहिर्मुखी मन)

'चलि रे अविला कोयल मौरी' (गो० बा०, पद ५६ तथा ६०); ऊँट (अहंकारी मन) 'ऊँट प्रनालै बहि गयौ' (वही, पद २०, ४७), कउवा 'कउआ धुन मधुरी बोलै' (सा० ब० छं० बं० (दूसरा भाग), पृ० ४५३): कलार (मदिरा बनाने वाला, मन) 'देखौ पूत कलार का मद मैया को देय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३५); कुत्ता (अविवेकी मन) 'कुत्ता कूं लै गई बिलाई' (क० ग्रं०, पद ११), 'कुत्ता हांडी फँसि मुवा दोस परोसिक देय' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०३); कुंजर (कामी या अभिमानी मन) 'कुंजर कौ कीरी गिलि बैठी, (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ३); कुम्हार 'माटी बपुरी घरै कुम्हार' (वही, सवैया ६); कूकर (द्रोही मन) 'ढ़ूकिलै कूकर भूकिलै चोर' (गो० बा०, पद ४७); कोतवाल 'कोतवाल काठी करि बांध्यौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २४); खूंटा-खूंटा∠क्षोड (मेख) (कर्मों का केन्द्र रूप मन) 'गाड़ि पड़रवा लै खूंटा' (गो० बा०, पद ४७); गइन्द∠गजेन्द्र 'खम्भा एक गइन्द दोइ, क्यूं करि बंधिसि बारि' (क० ग्रं०, चितावणी कौ अंग, साखी ४२); गरड़∠ गरुड़ 'सुरही धरि नहिं गरड़ रहाइ' (गो० बा०, सबद १८८); गुरु (तामसी-मन) 'शिष्य गुरुहिं उपदेशन लागौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); गीध∠गृध्र (लोभी मन) 'मांसु फैलाय गीध रखवरिया' (क० बी०, शब्द ६५); चोर (विकारी मन) 'हम घरि चोर पसारा हो राम' (क० ग्रं०, पद २०), 'चोर एक मुसै संसारा' (क० बी०, रमैनी ५६); जरष∠जरठ (निष्ठुर अथवा अनुभवी मन) 'जरष चढ्यौ डाइनि परि नीठि' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ८); जोगी∠योगी (उन्मन) 'फिरै इक जोगी नगर भुलाना, चढ़िगा महलै महल दिवाना' (प० बा० (तीसरा भाग), पृ० ७२); ठग 'यह ठग ठगत सकल जग डोलै' (क० ग्रं०, पद ३६४); दरजी (काट छांट करने वाला अर्थात् विश्लेषक मन) 'सुई विचारी दरजिहि सीवै' (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); दादुरि∠दर्दुर=मेंढ़क (विकारी मन) 'एकनि दादुरि खाये पंच भवंगा' (क० ग्रं०, पद १६०); दादर-भरंय∠दर्दुर-बर्हि=मेंढ़क और मयूर 'दादर भरंय झिलारैं' (गो० बा०, ग्यान तिलक १७); दुंदुर∠उन्दुर=चूहा (चंचल मन) 'दुंदुर राजा टीका बैठे' (क० बी, शब्द ८; गो०बा०, ग्यान तिलक २०); देव (सात्त्विक मन) 'देव चढ्यौ पाती के ऊपर' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ८); धोबी∠ रजक, रजोगुण प्रधान मन) 'कपरा धोबी कौं गहि धोवै' (वही, सवैया ६); नवल∠नकुल (सूक्ष्म वृत्ति वाला मन) 'ऐसा नवल गुणी भया सारदूलहिं मारै' (क० ग्रं०, पद १६१); नाइक 'नाइक एक बनजारे पांच'(वही, पद ३८३), 'बैल उलटि नाइक कौं लायौ (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया २२); नाहर 'गाइ नाहर खायौ काटि काटि अंगा' (क० ग्रं०, पद १६०); पुरुष, कुबुजा पुरुष 'चंचल पुरिष बिचपन नारी' (क० ग्रं०, पद ८०), 'कुबुजा पुरुष गले एक लागा' (क० बी०, शब्द ५८); बग∠बक 'वङ्कतेकुटिली भवति' (वृद्धावस्था का कुटिल मन) 'भंवर उड़े बग बैठे आय' (क० बी, शब्द १०६), बुगुला∠बगुला (विषय प्रवृत्त मन) 'मछरी बुगला कौं गहिपायौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ५); बढ़ई (कर्मप्रधान मन) 'लकड़ी बढ़ई कौं गहि छीलै' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); ब्रह्मा (सृष्टि कर्ता मन) 'हंस चढ़्यौ ब्रह्मा के ऊपर' (वही, सवैया ८); बाज (गतिशील मन) 'बटेरैं बाज जीता' (क० ग्रं०, पद १६०); बिगवा=भेड़िया (लालची मन) 'नगर बिच बिगवा गजत्र करै, सुधि बुधि ज्ञान हरै' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२); बिघार∠बाघ 'बकरी

बिघार खायो' (क० ग्रं०, पद १६०), 'बैल बैल वियाइ गाइ भई बांझ' (क०ग्रं०, पद ८०); (सत्त्व पुष्टमन) 'बैल चढ्यौ है शिव के ऊपर' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ८); भंवर (चंचल मन) 'बिन पाषा भंवर बिलंबिया' (क० ग्रं०, पद१५८, ३८८); 'भँवर उड़े बग बैठे आय' (क० बी०, शब्द १०६); 'फुलवा के छुवत भँवर मरि जाय' (वही, शब्द ६३); भरतार (सात्विक मन) 'नाइकनी पुनि हरषत डोलै मोहि मिल्यौ नीको भरतार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २२), भील (विषयों का शिकार करने वाला मन) 'भील लुक्या वन बीझ में, ससा सर मारै' (क० ग्रं०, पद १६२); मगर 'मगर अंध मानें नहीं मीन वचन विख्यात' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १०६); मंछ, मच्छ∠मत्स्य 'सायर जलै सकल बन दाझै, मंछ अहेरा खेलै' (क० ग्रं०, पद ६, १७६), मच्छ सिकारी रमें जंगल मँह' (क० बी०, शब्द २३); मींडक∠मेंढ़क∠मण्डूक 'मीडक सोवै साप पहरइया' (क० ग्रं०, पद ८०), 'मेंडक अब सागर तौले' (सा० ब० छं० बं०)दूसरा भाग), पृ० ४५३); मीन (चंचल मन) 'वेध्या मींन गगन अस्थान' (गो० बा०, सबदी १२७); मुर्गा 'मुर्गी मिनकी सूं लड़ै' (क० ग्रं०, पद १६१); मूसा∠मूषक संशयशील मन) 'मूसै तौ मंजार खायौ' (क० बी०, शब्द १११) 'मूसा खेवट नाव बिलइया'(क०ग्रं०, पद ८०, तथा १६०, १६१); मृघ∠(चंचल मन) 'मारयो मृघ भया अवधूता' (गो० बा०, पद २६); मेघ (सत्त्वशील मन)' उनयौ मेघ घटा चहुँ दिश तें' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १२); मोर∠मयूर (अन्तर्मुखी मन) 'बरषै मोर कहूकै सावण' (गो० बा०, ग्यान तिलक १६); राजा (रजोगुण प्रधान मन) 'राजा करै रंक की सेव' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६), 'राजा गांव छोड़ि करि भागौ' (वही, सवैया २४); लगवार, (उपपति रूप में मन या संसार) 'खसम छाँड़ि सँवरै लगवारै' (क० बी०, रमैनी ७३) प० बा० (पहला भाग), पृ० १०३); लुहार (कर्म प्रधान मन) 'षाल सु बैठी धवै लुहार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); व्याघ्र, सिंह (बहिर्मुखी प्रबल मनका रूप) 'मार्यौ सिंघ व्याघ्र पुनि मार्यौ, (वही, सवैया २६); ससा∠शशक (भीरु मन) 'बन कै ससै समंद घर कीया' (क० ग्रं०, पद २०); सारदूल (प्रबल मन) (क० ग्रं०, पद १६१); सिचाण (विषयों की ओर झपटने वाला मन) 'ऊँट सिचाणों जब ग्रह्यौ जाइ केरौ डाली बैठौ' (गो० बा०, पद २०); सुनहा∠श्वान 'डांइन डारै सुनहां डारै' (क० ग्रं०, पद ६, २०); स्यालि खायौ स्वांनां' (वही, पद १६०); स्यंघ∠सिंह 'स्यंध रहै वन घेरै' (वही, पद ६, ३४६); सुनार 'सोना तावै पकारि सुनार'(सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); हरिन∠हरिण (चंचल मन) 'हरिन खायौ चीता' (क०ग्रं०, पद १६०); हस्ती (संसार में व्याप्त मन)'गुर प्रसादि सूई के नांकै हस्ती आवैं जांही' (क० ग्रं०, पद, १०) । 'रावल, महादेव, पतिंगा, सैतान, काइथ, फटक स्फटिक, बकरी 'आदि (देखिए, हि० का० में नि० सं०, परिशिष्ट १) ।

माया और उसकी विभिन्न दशाएँ—अग्नि (माया जन्य त्रय ताप) 'अगनी को जाड़ा लागा' (सा० ब० छं० बं० (दूसरा भाग), पृ० ४५८); कुवारी∠कुमारी (अक्षत कौमार्य वाली मायिक सृष्टि) 'अजहूँ अकन कुवारो' (क०ग्रं०, पद २३१); कामधेनु 'अवधू कांमधेनु गहि बांधी रे' (वही, पद १५२); गंग (आद्या माया), 'पाहन फोरि गंग एक निकसी चहुंदिसि पानी पानी' (क०बी०, शब्द १); गैया, गाय 'गुरु महरमी संत बिन जग गैया

चरि जाय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४), 'गाय तौ नाहर खायौ' (क०बी०, शब्द, १११); **जेवड़ी**=रज्जु 'एक जेवड़ी सब लपटांनें, के बांधे के छूटे' (क० ग्रं०, पद १७५, ७६); **डाइन** 'डांइन डारै सुनहां डोरै' (वही, पद ६); **डुकरिया** 'सोवै डुकरिया ठोरै पाट, (गो० बा०, पद ४७); **दूध** (माया का प्रभाव) 'ब्रह्मा बिस्नु महेस दूध से बचे न भाई' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४); **नणद** (मायिक सम्बन्ध) 'नणद सहेली गरब गहेली' (क०ग्रं०, पद २३०); **नदी** (माया का वाह्य प्रभाव) 'बरपै मोर कहूकै सावण, नदी अपूठी आई' (गो०बा०, ग्यान तिलक १६); **नानी** 'दिवस में राजनी सजनमें साजनी, दास पलटू की मुई नानी' (प०बा० (दूसरा भाग), पृ० २६); **नारी** 'एकहि नारी जाल पसारा जग महँ भया अंदेसा' (क० बी०, शब्द ५), 'नारि एक संसारहिं आई, माय न बाके बापहिं जाई' (वही, रमैनी ७२), 'रूप बिन नारी' (क० ग्रं०, पद १५८); **पानी, पाणी** (माया का प्रभाव) 'पानी महँ पावक बरै' (क०बी०, शब्द १११), 'तुरसी पानी मांही प्रगटी पावक एक प्रचंड' (मि० सं०, संत तुरसीदास जी की बानी, पृ० १३५)' 'पानी जरै पुकारै निशदिन' (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया २६); 'बरिपैगी कंवली भीजैगा पांणी' (गो०बा०, पद ४७); **बंझा गऊ** (अमूर्त्त माया) 'तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३४); **बाघनि** 'बाघनि संगि भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई' (क०ग्रं०, पद ८१); **बिटिया** 'एक अचंभा देखिया बिटिया जायौ बाप' (वही, पद १३); **बिलाई** 'कुत्ता कूँ लै गई बिलाई' (क०ग्रं०, पद ११, ६७), पढ़्या गुंण्या सूबा बिलाई पाया '(गो०बा०, सब्दी ११९); **बेलड़ी बेलि** 'राम गुन वेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथ जांणी, (क०ग्रं०, पद १६३), 'बेलि एक त्रिभुवन लपटानी' (क०बी०, शब्द ५३); **मकड़ी** 'मकड़ी-घरि माखी छछिहारी' (क० ग्रं०, पद ८०); **महतारी** 'संतो अचरज एक भौ भारी, पुत्र घइल महतारी' (क० बी०, शब्द ५); **मंजारी** 'या मंजारी मुगध न मांनें, सब दुनियां डहकाई' (क० ग्रं०, पद ६७, १६०); भाई 'पहलै पूत पीछे भई माइ' (वही, पद ११), 'माय घरै पुत धीय संग जाई' (क० बी०, शब्द १००), माइ बाप तजि धी उमदानी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १७); **माता** 'बाप नहीं होतो तिह्यां बैठड़ै रे, माता बाल कुंवारी जी' (गो०बा०, पद ७); **रोरी**=रोटी (माया, वासना) 'पोवण हारा कौं रोरी खाइ' (वही, पद ४७); **लहुरी धीय** 'लहुरी धीइ सबै कुल खोयौ, तब ढिग बैठन पाई' (क०ग्रं०, पद २२); **लंका** (माया-नगरी) 'लंकाछाड़ि पलंका जाइबा' (गो०बा०, सबदी ६४); **वर्षा** 'वर्षा से सूखी साखा' (सा० व० छं० वं० (दूसरा भाग), पृ० ४५८); **सपनीं**∠सर्पिणी 'मारौ मारौ स्त्रपनीं निरमल जल पैठी' (गो० बा०, पद ४५); **सासु, सासुड़ी** 'सासु ननँद मिलि अदल चलाई' (क० बी०, शब्द १००), 'सासूड़ी पालनड़े बहुड़ी हिंडोलै' (गो०बा०, पद ६०); **सुरही** 'सुरही चूंपै बछतलि' (क० ग्रं०, पद १६१); **सुहागिनि** 'एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी' (वही, पद ३७०)।

मूलाधार चक्र—पताल, पाताल 'साधै तीर पताल कूं फिरि गगनहि मारै' (क० ग्रं०, पद १५४), 'आकासे मुखि औंधा कुवां पाताले पनिहारि' (वही, परचाकौ अंग, साखी ४५)।

मेरुदंड—**अम्बर** (मेरुदंड शीर्ष) 'धरती बरसै अंबर भीजै' (क० ग्रं०, पद१६२)

पद १६२), **आसमान,** आकाश 'आकासे मुखि ओंधा कुवाँ (क०ग्रं०, परचा कौ अंग, साखी ४५), 'फूटिगया आसमान सबद की धमक में' (प० बा० (दूसरा भाग), पृ० ६१); **आंबलियौ**∠आम्र 'आंबलियौ थलि मौरियौ ऊपरि नींब बिजौरौ फलियौ' (गो०बा०, पद २०); **केले की डाली** 'ऊँट सिचाणें जब गह्यौ जाइ केरौ डाली बैठो' (गो०बा०, पद २०); **गगन** (ऊर्ध्व भाग) 'बसै गगन में दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा' (क०ग्रं०, पद ६६), 'साधै तीर पताल कूं फिरि गगनहिं मारै' (वही, पद १५४ तथा १६६); **डूंगरि**=टीला, पहाड़ी (तुंग) 'डूंगरि मंछा जलि सुसा' (क०ग्रं०, पद २०); **तरुवर** 'जल की मछली तरुवर ब्याई' (क०ग्रं०, पद ११; गो०बा०, पद १८); **धरती** (मूलाधार, मेरुदंड का अधो भाग) 'ऐसा भुवंगम जोगी करै, धरती सोपै अंबर भरे' (गो०बा०, आत्मबोध ३); **परबत**∠पर्वत (ऊपरी भाग) 'कहै कबीर सुनहुँ रे संतो गडरी परबत खावा' (क०ग्रं०, पद १२); **बाँस** 'चढ़िउँ बाँस पर धाइ सहर के बिचै गड़ाई' (प०बा० (पहला भाग), पृ० २६); **बिरछ**∠ **वृक्ष** 'सखी री विरछ पर ताला, जहँ करकै न काला' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३४), 'धरती चढ़ वृक्षा बैठी' (सा० ब० छं० बं० (दूसरा भाग), पृ० ४५३)।

यम—सूद्र∠शूद्र 'मृतक पसू सूद्र कूं उचरे' (गो०बा०, पद ५६)।

वासना-विषय—**कउआ** (विकार) 'कऊवा उड़ावत मेरी बहियां पिरांनी' (क० ग्रं०, पद ३६१); **गुड़** (विषय) 'माषी गुड़ में गड़ि रही' (वही, कुसंगति कौ अंग, साखी ६); **दूध-दही** (विषय-भोग) 'दूध-दही की इच्छा माखी जाको मथत सकल संसार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १४); **बकरी**=अजा (आद्या वासना) 'बकरी बिघार खायौ' (क० ग्रं०, पद १६०), **भात** (विषय) 'भातै उलटि बरातहिं खायौ' (क० बी०, शब्द २५), 'हींग लगाइस भात में भूल गई है नार' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०५); **भूंभुरि** (त्रय ताप दायिनी वासना) 'पानी माँहि तलफि गै भूँभुरि' (क० बी०, शब्द ३१); **मछली** (वासना) 'काटी कूटी मछली छीकै धरी चहोड़ि' (क० ग्रं०, मन कौ अंग, साखी २४;) **मांस** (विषय) 'मांस पसारि चील्ह रखवारी' (क० ग्रं०, पद ८०); **मिठाई** (विषय-भोग) 'लागी सबै मिठाई-खारी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १०); **सालन-आक-धतूरा** (अभक्ष्य) 'षिचरी माँहें हडिया रांधी सालन आक धतूरा पाइ' (वही, सवैया २१); **सासु** (माया रूप वासना) 'सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ के तरसि डरों रे' (क० ग्रं०, पद २३०)।

वीर्य—**जल** 'जल के संजमि अटल अकास' (गो० बा०, सबदी १२३); **पांणीं** 'ताते लोहै सोषिया पांणी' (वही, सबदी १०५); **ब्यंद**∠बिन्दु 'अवधू नादें ब्यंद गगन गाजै' (क० ०ग्रं, पद १६६); **सरोवर**=जलाशय (वीर्य-भण्डार शरीर) 'दिवसें बाघणि मन मोहै राति सरोवर सोप' गो० बा०, पद ४३)।

शरीर और उसके विभिन्न रूप—**अष्टकुल परबत** (पंच विकार और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार वाला शरीर) 'अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया अदबुद् अचंभा भारी' (गो० बा०, पद ११) **अंगीठी** 'कांमिनि जलै अंगीठी तापै' (वही, पद ४७), 'सुन्दर एक अचम्भा वा पानी माँहैं जरै अंगीठि' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ८); **कपरा** (साधक की काया)

'कपरा धोबी कौं गहि धोवै' (सु०ग्रं०, सवैया ६), **कंथा** 'कथा डोरा लागा' (क०ग्रं०, पद ३१); **कंथी** (शरीर) 'तीन सै साठि थैंगली कंथी' (गो० वा०, पद १६); **कंवली** (काया-कर्म) 'वरिषैगी कंवली भीजैगा पांणीं; (गो बा०, पद ४७); **कुंभ** 'जल में कुंभ कुंभ में जल है' (क० ग्रं०, पद ४४); **खंभा** 'खंभा एक गइंद दोइ' (क० ग्रं०, चितावणी कौ अंग, साखी ४२); **षेत**∠खेत∠क्षेत्र (शरीर रूप उर्वर भूमि जहाँ सद्गुण पनपते हैं) 'हाली माँहिं निपज्यौ षेत' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १३); **गागरि**=घट 'अवधू सागर कंवै पाँणीहारी' (गो० वा०, पद २५), 'तलि गागरि ऊपर पनिहारी' (वही, पद ४७); **घर** 'संतो घर मंह झगरा भारी' (क० बी०, शब्द ३); **चमार की वस्ती** (चमड़े से आच्छादित शरीर) 'वस्ती माँहि चमार की बाम्हन करत बेगार' (प० वा० (पहला भाग), पृ० १०३); **चरषा** 'चरषा जिनि जरै' (क० ग्रं०, पद १३); **चादर** 'धुबिया फिरि मर जायगा चादर लीजै धोय' (प० बा० (पहला भाग), पृष्ठ ३); **चूनर** 'एरी रँगरेज मिलै कोइ चतुर रँगइया, चूनर रँग चटकइयाँ' (तु० शब्दा० (भाग दूसरा), पृ० २६८); **जंगल** 'जंगल में वस्ती ब्याई' (सा० वा० छं० वं० (दूसरा भाग) पृ० ४५३); **झोली** 'पत्र माँहि झोली गहि राषै' (सु० ग्रं०, अंग २२ सवैया १५); **तूंबी** 'तूंबी में तिरलोक समाणा' (गो० वा०, ग्यान तिलक ३५), 'पांनी मांहि तुंबिका बूड़ी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ४); **देवल** 'देवल माँहि तें प्रगट्यौ देव' (वही, सवैया ६); **धवणि**=धौंकनी 'बत्रणि बवंती रहि गई' (क० ग्रं०, काल कौ अंग, साखी २१); **नगर** 'केसौं नगरि करौं कुटवारी' (वही, पद ८० तथा पद २२२, २७३ आदि); **नवग्रिह** (नव द्वारों वाला शरीर) 'नवग्रिह मारि रोगिया वैठे' (वही, पद १६२); **नव घाटी** (नवद्वार) 'अवधू नव घाटी रोकिलै वाट' (गो० वा०, सवदी ५०); **परवत**∠पर्वत (पिंड) 'अवधू अहूँठ परवत मंझार' (वही, पद २६); **पाहन** 'पाहन तिरत न लागी वेर' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ४); **पिंजरि** 'परम पुरुष पिंजरि बिलंव्या' (गो० वा०, ग्यान तिलक २०); **पुरिया**∠पुर=नगर (स्थूल शरीर) 'पुरिया जरै वस्तु निज उबैर' (क० बी०, शब्द ५८); **फूल** (विकसित अवस्था, वृद्धावस्था) 'उलट्या फूल कली में आंणीं' (गो० वा०, सवदी ११५); **वम्बई**=वांबो (खोखला शरीर) 'वंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा' (क० ग्रं०, पद १६२) 'सरप मरै वांवी उठि नाचै' (गो० वा०, ग्यान तिलक ४); **वाग** 'नींझर नीर अगनि मुपि बरषै, सींचै वाग हमारा' (वही, ग्यान तिलक २६); **बाड़ी**∠वाटिका 'बाड़ी माहें माली निपज्यौ' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया १३); **विरप**∠वृक्ष 'एक विरप भीतर नदी चाली, कनक कलस समाइ' (क० ग्रं०, पद २८०); **भांडा** 'बहु विधि भांडे घड़ै कुंभार' (वही, पद ५३); **मगरी**=लकड़ी (राजस्थानी में जंगल) 'मगरी परि चूल्हा धूंधाइ' (गो० वा०, पद ४७); **मसीति**∠मस्जिद 'एक मसीति दसौं दरवाजा' (क० ग्रं०, पद ६१); **महल** 'दीपक बारा नाम का महल भया उजियार' (प० वा० (पहला भाग), पृ० ७); **मँडवक**∠मण्डप 'मँडवक चारन समधी दीन्हीं' (क० बी०, शब्द २५); **मंदिर** 'द्वै द्वै दीपक धरि धरि जोया, मंदिर सदा अँधारा' (क० ग्रं०, पद ८१), 'ढरि गये मंदिर टूटे वंसा' (वही, पद ३६७); **माटी** 'माटी बपुरी घड़ै, कुम्हार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); **मूवा** (जड़-शरीर) 'जीवता के तलि मुवा बिछायवा' (गो० वा०, सबदी १६४); **लहँगा** 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै' (प० बा० (पहला भाग), पृ० ८०); **लाकड़ी** 'जालइ आंणी लाकड़ी ऊंठी कूंपल मेल्हि' (क० ०ग्रं, वेली को अंग, साखी १);

लोई 'जल में पैसि जगावै ज्वाला, तामें होमै लोई' (नि० सं०, संत तुलसीदास की बानी, पृ० १४४); **सरवर**∠सरोवर 'सूने सरवर उड़िगए हंसा' (क०ग्रं०, पद ३६७); **सहर**∠शहर 'सहर जरै पहरु सुख सोवै' (क० बी०, शब्द ५८), 'चढिउँ बाँस पर धाइ सहर के बिचै गड़ाई' (प० बा० (पहला भाग), पृ० २६); **हवेली** 'तेरी काँची हवेली जड़ जाँच' (तु० शब्दा० (दूसरा भाग), पृ० २४७); **हंडिया**, **हाँडी** (कर्मों के पकाने का माध्यम शरीर) 'पिचरी माँहैं हंडिया रांधी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २१), कुत्ता हाँडी फँसि मुवा दोस परोसिक देय' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०३)।

शब्द—**तीर** 'बाहण लागा तीर' (क०ग्रं०, गुरुदेव कौ अंग, साखी ६); **बान**∠बाण 'पारथि बाना मेलै' (क०बी०, शब्द ५२); कूंची, निर्भय-वाणी, पलीता, सिचाण (देखिए, हि० का० में नि०सं, परिशिष्ट १); **सरि**∠सर∠शर 'जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या' (क०ग्रं०, विरह कौ अंग, साखी १७)।

श्वास-प्रश्वास—**ऊंट** (उच्छ्वास, प्राणतत्त्व) 'ऊंट मारि मैं चारै लावा' (क०ग्रं०, पद १७७), 'ऊंट सिचाणें जब ग्रह्यौ केरी डाली बैठौ' (गो०बा०, पद २०), 'ऊँटवा से करै केल' (तु० शब्दा० (पहला भाग) पृ० १३५); **षाल**=घोंकनी (श्वसन क्रिया) 'षाल सु बैठी धवै लुहार' (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); **धागं** (श्वास) 'इकवीस सहंस छ सै धागं' (गो०बा०, पद १६); **भुयंगम**∠भुजंग 'ज्यूं ज्यूं भुजंगम आवै जाइ' (गो० बा०, सबदी १८८)।

संसार और उसके विभिन्न पक्ष—**अंड** (शरीर या संसार) 'एकै अंड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा' (क०बी०, शब्द ५); **कुंड** 'बीच मंहै इक कुंड मुरेरा तोर का' (प०बा० (भाग दूसरा), पृ० ७८); **खेत, षेत** (कर्म-क्षेत्र अर्थात् संसार) 'जुग जुग देखौ खेत में काला बैल जुताय' (तु० शब्दा (पहला भाग), पृ० ३४), (सूक्ष्म संसार) 'हालौ भीतर षेत निदांणें' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६); **चौक**=चौराहा 'चौके रांड भई संग सांई' (क०बी०, शब्द ५४); **चौमासा**∠चतुर्मास (बहारों-मल्हारों का संसार) 'चात्रिग में चौमासा बोलै' (गो०बा०, ग्यानतिलक १७); **जड़** 'बहुत भांति जड़ लागे फूल' (क०ग्रं० पद ११); **जंगल** 'या जंगल में पाँचों मृगा। एई खेत सबन का चरिगा' (वही, पद ३५३), 'जंगल में सोवनां औघट है घाटा' (वही, पद ३७३); **डाल** (बाह्य संसार) 'डाल-गह्यां थें मूल न सूझै' (क०ग्रं०, पद १६२); **तरुवर** 'भौमि विनां अरु बीज बिन तरुवर एक भाई' (क०ग्रं०, पद १५६, १५८ ; क०बी०, शब्द २४); **ताल** 'बगु में ताल समाई' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६); **दरिया** 'दरिया पारि हिंडोलनां' (क०ग्रं०, सुंदरि कौ अंग, साखी ५); **दह** 'दह में पड़ी वहोड़ि' (वही, मन कौ अंग, साखी २४); **नगर** 'जलि जाई थलि ऊपजी आई नगर में आप' (वही, पद १३); **नदी** 'बिचालै नदी बहै जी, अब पीव क्यूंकरि आऊं पार' (नि०सं०, संत तुरसीदास की बानी, पृ० १५३); **नीर** (माया का प्रभाव, संसार) 'जलै नीर तिण षड सब उबरै' (क०ग्रं०, पद १७६); **पहार**∠पहाड़∠पर्वत (बाह्य जगत्) 'लड़िका घूल्हे में लुका ढूंढ़त फिरै पहार' (प०बा० (पहला भाग), पृ० ८४); **पहोकर**∠पुष्कर (पवित्र संसार) 'गऊ पद मांहीं पहोकर फदकै' (गो०बा०, ग्यानतिलक १७); **पांनी**

'कपरा धोबी कों गहि धोवै' (सु०ग्रं०, सवैया ६), **कंथा** 'कथा डोरा लागा' (क०ग्रं०, पद ३१); **कंथी** (शरीर) 'तीन सै साठि थैंगली कंथी' (गो० वा०, पद १६); **कंवली** (काया-कर्म) 'वरिषैगी कंवली भीजैगा पांणीं; (गो वा०, पद ४७); **कुंभ** 'जल में कुंभ कुंभ में जल है' (क० ग्रं०, पद ४४); **खंभा** 'खंभा एक गइंद दोइ' (क० ग्रं०, चितावणी को अंग, साखी ४२); **षेत**∠खेत∠क्षेत्र (शरीर रूप उर्वर भूमि जहाँ सद्गुण पनपते हैं) 'हाली माँहैं निपज्यौ षेत' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १३); **गागरि**=घट 'अवधू सागर कंधै पाँणीहारी' (गो० वा०, पद २५), 'तलि गागरि ऊपर पनिहारी' (वही, पद ४७); **घर** 'संतो घर मंह झगरा भारी' (क० बी०, शब्द ३); **चमार की वस्ती** (चमड़े से आच्छादित शरीर) 'वस्ती मांहि चमार की बाम्हन करत वेगार' (प० वा० (पहला भाग), पृ० १०३); **चरषा** 'चरषा जिनि जरै' (क० ग्रं०, पद १३); **चादर** 'धुबिया फिरि मर जायगा चादर लीजै धोय' (प० वा० (पहला भाग), पृष्ठ ३); **चूनर** 'एरी रँगरेज मिलै कोइ चतुर रँगइया, चूनर रँग चटकइयाँ' (तु० शब्दा० (भाग दूसरा), पृ० २६८); **जंगल** 'जंगल में वस्ती ब्याई' (सा० वा० छं० वं० (दूसरा भाग) पृ० ४५३); **झोली** 'पत्र मांहि झोली गहि राषै' (सु० ग्रं०, अंग २२ सवैया १५); **तूंबी** 'तूंबी में तिरलोक समाणा' (गो० वा०, ग्यान तिलक ३५), 'पांनी मांहि तुंबिका वूड़ी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ४); **देवल** 'देवल मांहि तें प्रगट्यौ देव' (वही, सवैया ६); **धवणि**=धौंकनी 'धवणि धवंती रहि गई' (क० ग्रं०, काल को अंग, साखी २१); **नगर** 'केसौं नगरि करौं कुटवारी' (वही, पद ८० तथा पद २२२, २७३ आदि); **नवग्रिह** (नव द्वारों वाला शरीर) 'नवग्रिह मारि रोगिया वैठे' (वही, पद १६२); **नव घाटी** (नवद्वार) 'अवधू नव घाटी रोकिलै वाट' (गो० वा०, सबदी ५०); **परबत**∠पर्वत (पिंड) 'अवधू अहूँठ परवत मंझार' (वही, पद २६); **पाहन** 'पाहन तिरत न लागी वेर' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ४); **पिंजरि** 'परम पुरुष पिंजरि बिलंब्या' (गो० वा०, ग्यान तिलक २०); **पुरिया**∠पुर=नगर (स्थूल शरीर) 'पुरिया जरै वस्तु निज उबैर' (क० बी०, शब्द ५८); **फूल** (विकसित अवस्था, वृद्धावस्था) 'उलट्या फूल कली में आंणै' (गो० वा०, सवदी ११५); **बम्बई**=**वांबी** (खोखला शरीर) 'वंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा' (क० ग्रं०, पद १६२) 'सरप मरै वांवी उठि नाचै' (गो० वा०, ग्यान तिलक ४); **बाग** 'नींझर नीर अगनि मुषि बरषै, सींचै बाग हमारा' (वही, ग्यान तिलक २६); **बाड़ी**∠वाटिका 'बाड़ी माहें माली निपज्यौ' (सु० ग्रं०, अग २२, सवैया १३); **बिरप**∠वृक्ष 'एक बिरप भीतर नदी चाली, कनक कलस समाइ' (क० ग्रं०, पद २८०); **भांडा** 'बहु विधि भांडे घड़ै कुंभार' (वही, पद ५३); **मगरी**=लकड़ी (राजस्थानी में जंगल) 'मगरी परि चूल्हा धूंधाइ' (गो० वा०, पद ४७); **मसीति**∠मस्जिद 'एक मसीति दसौं दरवाजा' (क० ग्रं०, पद ६१); **महल** 'दीपक बारा नाम का महल भया उजियार' (प० वा० (पहला भाग), पृ० ७); **मँडवक**∠मण्डप 'मँडवक चारन समधी दीन्हौं' (क० बी०, शब्द २५); **मंदिर** 'द्वै द्वै दीपक धरि धरि जोया, मंदिर सदा अँधारा' (क० ग्रं०, पद ८१), 'ढरि गये मंदिर टूटे वंसा' (वही, पद ३६७); **माटी** 'माटी वपुरी घढ़ै, कुम्हार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); **मूवा** (जड़-शरीर) 'जीवता के तलि मुवा बिछायबा' (गो० वा०, सबदी १६४); **लहँगा** 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै' (प० वा० (पहला भाग), पृ० ८०); **लाकड़ी** 'जालड़ आंणी लाकड़ी ऊंठी कूंपल मेल्हि' (क० ०ग्रं, वेली को अंग, साखी १);

लोई 'जल में पैसि जगावै ज्वाला, तामें होमै लोई' (नि० सं०, संत तुलसीदास की बानी, पृ० १४४); **सरवर**∠सरोवर 'सूने सरवर उड़िगए हंसा' (क०ग्रं०, पद ३६७); **सहर**∠शहर 'सहर जरै पहरु सुख सोवै' (क० बी०, शब्द ५८), 'चढिउँ बाँस पर बाइ सहर के विचै गड़ाई' (प० बा० (पहला भाग), पृ० २६); **हवेली** 'तेरी काँची हवेली जड़ जाँच' (तु० शब्दा० (दूसरा भाग), पृ० २४७); **हंडिया**, हाँडी (कर्मों के पकाने का माध्यम शरीर) 'पिचरी माँहैं हंडिया रांधी' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २१), कुत्ता हाँडी फँसि मुवा दोस परोसिक देय' (प० बा० (पहला भाग), पृ० १०३)।

शब्द—**तीर** 'बाहुण लागा तीर' (क०ग्रं०, गुरुदेव कौ अंग, साखी ६); **बान**∠बाण 'पारथि बाना मेलै' (क०बी०, शब्द ५२); कूंची, निर्भय-वाणी, पलीता, सिचाण (देखिए, हि० का० में नि०सं, परिशिष्ट १); **सरि**∠सर∠शर 'जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन वस्या' (क०ग्रं०, विरह कौ अंग, साखी १७)।

श्वास-प्रश्वास—**ऊंट** (उच्छ्वास, प्राणतत्त्व) 'ऊंट मारि मैं चारै लावा' (क०ग्रं०, पद १७७), 'ऊंट सिचाणें जब ग्रह्यौ केरी डाली बैठौ' (गो०बा०, पद २०), 'ऊँटवा से करै केल' (तु० शब्दा० (पहला भाग) पृ० १३५); **षाल**=धोंकनी (श्वसन क्रिया) 'षाल सु बैठी धवै लुहार' (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया ६); **धागं** (श्वास) 'इकवीस सहंस छ सै धागं' (गो०बा०, पद १६); **भुयंगम**∠भुजंग 'ज्यूं ज्यूं भुजंगम आवै जाइ' (गो० बा०, सबदी १८८)।

संसार और उसके विभिन्न पक्ष—**अंड** (शरीर या संसार) 'एकै अंड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा' (क०बी०, शब्द ५); **कुंड** 'बीच मंहै इक कुंड मुरेरा तोर का' (प०बा० (भाग दूसरा), पृ० ७८); **खेत**, **षेत** (कर्म-क्षेत्र अर्थात् संसार) 'जुग जुग देखौ खेत में काला बैल जुताय' (तु० शब्दा (पहला भाग), पृ० ३४), (सूक्ष्म संसार) 'हाली भीतर षेत निदांणें' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६); **चौक**=चौराहा 'चौके रांड भई संग सांई' (क०बी०, शब्द ५४); **चौमासा**∠चतुर्मास (बहारों-मल्हारों का संसार) 'चात्रिग में चौमासा बोलै' (गो०बा०, ग्यानतिलक १७); **जड़** 'बहुत भांति जड़ लागे फूल' (क०ग्रं० पद ११); **जंगल** 'या जंगल में पांचों मृगा। एई खेत सबन का चरिगा' (वही, पद ३५३), 'जंगल में सोवनां औघट है घाटा' (वही, पद ३७३); **डाल** (वाह्य संसार) 'डाल-गह्यां थें मूल न सूझै' (क०ग्रं०, पद १६२); **तरुवर** 'भौमि बिनां अरु बीज बिन तरुवर एक भाई' (क०ग्रं०, पद १५६, १५८ ; क०बी०, शब्द २४); **ताल** 'बगु में ताल समाई' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६); **दरिया** 'दरिया पारि हिंडोलनां' (क०ग्रं०, सुंदरि कौ अंग, साखी ५); **दह** 'दह में पड़ी वहोड़ि' (वही, मन कौ अंग, साखी २४); **नगर** 'जलि जाई थलि ऊपजी आई नगर में आप' (वही, पद १३); **नदी** 'बिचालै नदी बहै जी, अब पीव क्यूंकरि आऊं पार' (नि०सं०, संत तुरसीदास की बानी, पृ० १५३); **नीर** (माया का प्रभाव, संसार) 'जलै नीर तिण पड सब उबरै' (क०ग्रं०, पद १७६); **पहार**∠पहाड़∠पर्वत (वाह्य जगत्) 'लड़िका चूल्हे में लुका ढूंढ़त फिरै पहार' (प०बा० (पहला भाग), पृ० ८४); **पहोकर**∠पुष्कर (पवित्र संसार) 'गऊ पद मांहीं पहोकर फदकै' (गो०बा०, ग्यानतिलक १७); **पांनी**

(माया का प्रभाव, संसार के आकर्षण) 'रंजसि मीन देखि बहु पांनी' (क०ग्रं०, पद ८६, १६० तथा गो०बा०, पद २०); **पीहर**∠पितृ-गृह (संसार माया केलिये 'पीहर' है तथा जीवात्मा केलिए श्वसुरालय है।) 'पीहरि जाऊं न रहूँ सासुरै, पुरुषहि अंगि न लाऊं '(क० ग्रं०, पद २३१); **फूल** (आकर्षण, यौवन, संसार) 'पंडित जन फूल रहल लुभाई' (क०बी०, शब्द ६३); **बजार** 'बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार' (प०बा०(पहला भाग), पृ० १७); **बन** 'बन कै ससै समंद घर कीया' (क०ग्रं०, पद १०); **बाट** (संसार-मार्ग) 'चलै बटावा थाकी बाट'(गो०बा०, पद ४७), 'ऊघट चले सु नगरि पहूँते बाट चले ते लूटे; 'हारी बाट बटाऊ जीत्या, जांनतकी बलिहारी' (क०ग्रं०, पद १७५; ७६); **बिरष**∠वृक्ष 'बलिहारी ता बिरष की जड़ काट्यां फल होइ' (वही, बेली को अंग, साखी २)! **बिरवा**∠बिरवा 'बिरवा एक सकल संसारा' (क०बी०, शब्द ५०); **भेरा**=नौका 'भेरें चढ़े सु अबधर डूबे' (क ग्रं०, पद १७५); **रस्ता**=मार्ग 'बैठे ने रस्ता काटा, चलते ने बाट न पाई।' (सा० ब०छं०बं० (दूसरा भाग), पृ० ५५८); **समुद्र, सागर, सिन्धु,** 'उलटी-गंग समुद्रहि सोखै' (क०बी०, शब्द २); 'सायर जलै सकल बन दाझै (क०ग्रं०, पद ६), 'बेली एक सिंध तजि आई' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); **सरोवर** 'काहे री नलिनी तू कुंमिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पांनी' (क० ग्रं०, पद ६४); **सावण**∠श्रावण (हराभरा वाह्य संसार) 'बरषै मोर कहूकै सावण' (गो०बा०, ग्यानतिलक १६); **स्वांन**∠श्वान (मन अथवा स्वान रूप संसार) 'बिलिया स्वांन बियाही' (क०बी०, शब्द ५२); **हट्ट** ∠हाट 'बहुरि न आँवों हट्ट' (क०ग्रं०, गुरुदेव कौ अंग, साखी १२)।

सद्गुण—कपफ़न∠कफ़न (सत्त्वगुण) 'पलटू कपफन बाँधि कै खेचो सुरति कमान' (प०बा०(पहला भाग), पृ० ४२); **षासा**∠खासा=वस्त्र विशेष (श्रेष्ठ गुण) 'षासा निपजै ऊंची जाति' (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया १६); **चून** (श्वेतता, पुण्य) 'भाई रे चूंन बिलूंटा खाई' (क०ग्रं०, पद ८१); **प्रजा** (संतोष, क्षमा, दया, शील आदि गुण) 'परजा सुखी भई नगरी में' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २४); **बाम्हन**∠ब्राह्मण (सत्त्व गुण) 'बस्ती माहिं चमार की बाम्हन करत बेगार' (प०बा० (पहला भाग), पृ० १०३)।

सहस्रार-चक्र - **कनक-कलश** (परम ज्योति स्वरूप) 'गगन हीं भाठी सींगी करि चूंगी, कनक कलस एक पावा' (क०ग्रं०, पद १५३)।

संशय-शंका—**विषहर**∠ विषधर (सजग संशय) 'विषहर करै खवासी' (क० बी०, शब्द ६); **सांप-सांपणि**∠सर्प-सर्पिणी 'मींढक सोवै सांप पहरइया' (क० ग्रं०, पद ८०, १६२), 'मूसा बैठा बांबि में लारै सांपणि धाई' (वही, पद १६१); **सावन**=शिकार संसय सावज सब संसारा, काल अहैरी साँझ सकारा' (क० बी०, रमैनी १६); **सिंघ** (मन अथवा संशय) 'सिंघहि खाइ अघानों स्यार' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ३)।

स्त्री—**बाघणि**∠बाघनी∠ व्याघ्र (स्त्रीलिं०)=माया 'दिवसें बाघणि मन मोहै' (गो० बा०, पद ४३)।

साधक—**अहेरी** 'एक अहेरी वन में आयौ षेलन लागौ भली सिकार' (सु० ग्रं०, अंग २३, सवैया २६); **उल्टा-पंथ** (साधना-मार्ग) 'तुरसी उलटा पंथ यह' (नि० सं०, संत तुलसीदास जी की बानी, पृ० ३३७); **गऊपद** (साधक का सूक्ष्म जीवन) 'गऊपद मांहीं पहोकर फदकै' (गो० बा०, ग्यानतिलक १७); **करसन-पाकु**=पकी हुई कृषि अर्थात् योग-साधना 'करसन पाकु रषवालू साधू' (गो० बा०, पद ६०); **ग्वाड़ा**∠ग्वाला (इन्द्रि-रूप गायों को संयमन करने वाला) 'ग्वाड़ा माहें आनंद उपनौ, खूटै दोऊ बांधी रे' (क० ग्रं० पद १५२); **गारड़ी**∠गारूड़ी 'गोरषनाथ गारड़ी पवन वेगि ल्यावै' (गो० बा०, पद ४५); **तुसालवां**∠तृषालु (जिज्ञासु साधक) 'अरहट अहै तुसालवां, सूलैं कांटा भागा' (वही, पद २०); **धोबी** 'अहनिसि धोबी धोवै त्रिवेणी की घाटी' (वही, पद ५४); **पंछी**=यात्री (साधक) 'पंथी मांहि पंथ चलि आयौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २८); **पारधी** 'चरि-गया मृघला पारधी बांधू' (गो० बा०, पद ६०); उलटै घलकि पारधी मारयौ, यहु अचिरज कोइ बूझै' (क० ग्रं०, पद १६२); **बटावा**=यात्री (साधक) 'चलै बटावा थाकी बाट' (गो० बा०, पद ४७); **बिप्र**∠विप्र (शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक) 'बिप्र रसोई करनै लागौ, चौका भीतरि बैठो आइ' (सु०ग्रं०, अंग २२, सवैया २१); **भील** (प्रारम्भिक साधक) 'मृघ भील कूं चौड़े रोवया' (नि० सं०, संत सेवादास जी की बानी, पृ० १६५); **माली** (विचारक साधक) 'बाड़ी माहैं माली निपज्यौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १३); **रेडा-रूख**=अरंड का पेड़ (साधक) 'रेडा रूख भये मलयागिर' (क० बी०, शब्द २३); **रोगी** 'नवीग्रह मारि रोगिया बैठे' (क० ग्रं०, पद १६२)।

सुरति—**गऊ, गैया** (वृत्ति, सुरति) 'गऊ कीन्हा सिंह (काल) अहारा' (सा० व० छं० व० (दूसरा भाग) पृ० ४५२), 'गैया गली लख पाई करै नित-नित सैल' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३५); **चींटी** 'चींटीं चढ़ गगन समाई' (सा० बा० छं० वं० (दूसरा भाग), पृ० ४५२); **चुरियाँ** (सौभाग्य चिह्न, सुरति-चिह्न) 'कोई चुरियाँ लोरी ग्वारियाँ' (तु० शब्दा० (दूसरा भाग), पृ० २५७); **डोरा, डोरी** 'कंथा डोरा लागा, तब जुरा मरण भौ भागा' (क० ग्रं०, पद ३१); 'टूटी डोरी रस कस बहै' (गो० वा०, सबदी १२८); **तार** 'खूंटी खसक तार तब टूटा' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १४०); **दुलहिनि** (पवित्र भावना, सुरति) 'दुलहिनि लीपि चौक बैठायौ' (क० बी० शब्द २५); **नाव** (वृत्ति) 'उलटी बहै बयार नाव मुरकायदै' (प० वा० (दूसरा भाग), पृ० ७८); **बकरी** 'बकरी ने हाथी मारा' (स० व० छं० बं० (दूसरा भाग), पृ० ४५२); **बाति, बाती** 'दीपक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट' (क० ग्रं०, गुरुदेव कौ अंग, साखी १२), 'दीपक जरै जरै नहि बाति' (सु० ग्रं०, अंग २२), सवैया ११); **बेलि** (वृत्ति) 'बेली एक सिंध तजि आई, कँवल कूप किया वासा जी' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १००); **मक्खी** (सुरति) 'मक्खी ने मकड़ी खाई' (सा०ब० छं० वं० (दूसरा भाग), पृ० ४५३); **रंभा**= अप्सरा (माया अथवा सुरति) 'जल बिच नाचति रंभा री, सखी सुनो अचंभा' (तु०शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३७); **रोटी**=(रटणि नाम स्मरण अथवा प्रारब्ध कर्म) 'रोटी ऊपर तवा चढ़ाइ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया २१); **लकरी**∠लकड़ी (लय) 'अग्नि मथन करि लकरी काढ़ी' (वही, अंग २२, सवैया १४, तथा ६); **स्रुति**∠श्रुति 'स्रुति चढ़ि गई

अकास में सोर भया ब्रह्मांड' (तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३८); **सास** 'बहु विचारी बड़ बपतावरि जाके कहै चलत है सास' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया १७); **सुई** 'सुई बिचारी दरजिहि सीवै' (वही, अंग २२, सवैया ६)।

हृदय—**कमल** 'कमल माँहि ते पानी उपज्यौ' (सु० ग्रं०, अंग २२, सवैया ७); **दीपक** (शरीर या हृदय) 'दीपक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट' (क०ग्रं०, गुरुदेव कौ अंग, साखी १२); **पुहुप**∠ पुष्प 'पुहुप माँहि पावक प्रजरै' (वही, पद ३२९)।

सांकेतिक प्रतीकों का चयन-क्षेत्र :

सांकेतिक प्रतीकों का चयन विभिन्न स्रोतों से हुआ है। उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता संतों ने अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति को सफल और प्रभावपूर्ण बनाने केलिए प्रतीकों का चयन प्रायः व्यावहारिक जगत् से ही किया है। प्रतीक-परिवार को सुविधा केलिए कुछ विशिष्ट वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये वर्ग हैं—(क) परिवार सम्बन्धी प्रतीक, (ख) व्यवसाय सम्बन्धी प्रतीक, (ग) पशुवर्गीय प्रतीक, (घ) पक्षी वर्गीय प्रतीक, (ङ) जन्तु वर्गीय प्रतीक, (च) वनस्पति वर्गीय प्रतीक, (छ) प्रकृति वर्गीय प्रतीक।

(क) **परिवार सम्बन्धी प्रतीक**—इस वर्ग में वे प्रतीक आते हैं जिनका सम्बन्ध परिवार, पारिवारिक जीवन अथवा समाज से होता है। इन प्रतीकों में विशिष्ट संबंधों की कोई विशेष ध्वनि सन्निहित रहती है। उदाहरण केलिए दुलहिनि का पति से, माता का सन्तान से, पिता का पारिवारिक बड़प्पन से सम्बन्ध रहता है। इस वर्ग में पारिवारिक सम्बन्ध वाले, जैसे पति, पत्नी, नारी, सास-ससुर, माता-पिता, ननद, जेठ, देवर, प्रियतम, पिउ-प्यारी, आदि शब्द प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

(ख) **व्यवसाय सम्बन्धी प्रतीक**—इस वर्ग में वे प्रतीक आते हैं जिनमें किसी व्यवसाय, उसके अंग अथवा व्यवसायी को प्रतीकत्व प्रदान किया गया रहता है। जुलाहा, बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, धोबी, बनजारा, भील, व्यापारी आदि ऐसे ही व्यवसायी हैं, जिनका उलटवाँसी-पदों में प्रतीक रूप से प्रयोग हुआ है। इन व्यवसायियों के साथ ही साथ इनके व्यवसाय-कर्म के उपादानों को भी प्रतीकत्व मिला है, जैसे जुलाहा कर्म से सम्बन्धित चरखा, सूत आदि, बढ़ईगीरी से सम्बन्धित लकड़ी आदि, लुहार की धौंकनी, हथौड़ा आदि, कुम्हार का कुंभादि, भील के तीर-कमान, शिकारादि।

(ग) **पशु वर्गीय प्रतीक**—इस वर्ग में उन सभी पशुओं को प्रतीक-रूप में प्रयुक्त किया गया है, जिनकी कोई न कोई प्रवृत्ति मनुष्य की इन्द्रिय वृत्ति से सम्बन्धित होगई है। मृग अपनी चंचलता, सीधेपन केलिए, गाय अपने सीधेपन और दोहन केलिये, उसका बछड़ा पराश्रित होने केलिए, बैल मूर्खता और शक्तिमत्ता तथा भार-वहन करने केलिए, सिंह प्रबलता केलिए, गजेन्द्र शक्ति, स्वाभिमान और विशालता केलिए, शशक भीरुता केलिए, श्वान भौंकने केलिए, बिल्ली दुष्टता या कुटिलता केलिए प्रसिद्ध है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण ही इन पशुओं को उलटवाँसी-पदों में प्रतीकत्व मिला है।

(घ) **पक्षी-वर्गीय प्रतीक**—पशुओं के समान ही पक्षियों में भी बहुत से ऐसे हैं, जो अपनी किसी विशेषता केलिए प्रसिद्ध हैं। कउआ दुष्टता केलिए, गीध लालच केलिए, सिचाण (बाज) वेग केलिए, कोयल वाणी की मधुरता केलिए, हंस नीर-क्षीर विवेक केलिए, बगुला (मिथ्या) ध्यान केलिए प्रसिद्ध है। इस वर्ग में पक्षियों को उनके विशिष्ट गुण केलिए प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है।

(ङ) **जन्तु वर्गीय प्रतीक**—इस वर्ग के प्रतीक अपनी सूक्ष्मता केलिए प्रसिद्ध हैं। भ्रमर सूक्ष्मवृत्ति एवं चंचलता केलिए, चींटी सूक्ष्मता केलिए, मक्खी मलिनता तथा मकड़ी जाला पूरने या आवरण निर्मित करने केलिए, मीन चंचलता एवं धारा के विपरीत प्रवाह में चलने केलिए, मेंढक वाचालता एवं संकीर्णता केलिए, सर्प अहंकार एवं कुटिलता केलिए, मूषक संशय तथा चंचलता केलिए, चातक-चकोर एकाग्रता केलिए, पतंग लाघव और एक-निष्ठा केलिए प्रसिद्ध हैं। इस वर्ग में इसी प्रकार की अपनी विशेष प्रवृत्ति केलिए प्रसिद्ध प्रतिनिधि जन्तुओं को प्रतीकत्व मिला है।

(च) **वनस्पति वर्गीय प्रतीक**—वृक्ष, पौधे, लतादित प्रतीक इसी वर्ग के हैं। विशेष वृक्षों को अपनी किसी विशेषता के कारण प्रतीकत्व मिला है। जैसे वट अपनी विशालता, पीपल तथा केला अपनी सात्विकता, पवित्रता, आम्र अपनी शोभा, अरंड अपनी बाह्य अशोभा केलिए जन-जीवन में प्रसिद्ध हैं। उलटवाँसियों में ये वृक्ष अपनी इन्हीं विशेषताओं केलिए प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। वृक्ष का तना तथा पत्तियों वाला भाग बाह्य होता है, जड़ वाला भाग आन्तरिक होता है, यह विशेषता भी प्रतीक रूप में लक्षित हुई है। लता अथवा बेलि अपनी लम्बाई अथवा सूत्रबद्धता केलिए प्रसिद्ध है। कमल अपनी शोभा और पवित्रता केलिए फल-फूल अपनी अन्य विशेषताओं केलिए प्रसिद्ध हैं। विवेचित शैली उलटवाँसी में इन्हीं विशेषताओं केलिए वनस्पति वर्ग के प्रतीकों का प्रयोग मिलता है।

(छ) **प्रकृति-वर्गीय प्रतीक**—वैसे तो उक्त सभी प्रतीक प्रकृति से ही सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु इस वर्ग में विशेष रूप से वे ही प्रतीक चुने गए हैं, जिनकी सत्ता शाश्वत मान ली गई है। उदाहरण केलिए सागर, धरती, सरिता, पर्वत, नीर, मानसरोवर, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, आकाश, रात्रि, दिन, नक्षत्र आदि। ये प्रतीक अपने विशेष धर्म केलिए प्रसिद्ध हैं। अपनी तत्तत् विशेषताओं केलिए ही इनको उलटवाँसी-पदों में प्रतीकत्व मिला है।

उक्त वर्गों में प्रतीक सम्बन्धी चयन-क्षेत्र को देखते हुए कहा जा सकता है कि उलट-वाँसी-पदों में प्रतीकों का चयन-स्रोत अपनी व्यापक पृष्ठभूमि पर आधारित है। ये प्रतीक जन-व्यवहार के विशिष्ट धरातल से चुने गये हैं। अतः परम्परा-प्रयोग में ये भावी जीवन को भी प्रभावित करने में समर्थ कहे जा सकते हैं।

पंचम अध्याय

उलटवाँसियों में पारिभाषिक शब्दावली

पारिभाषिक शब्द :

यहाँ उन शब्दों की विवेचना प्रस्तुत की गई है जो शास्त्र-विशेष में अथवा यौगिक परम्परा में साधना अथवा साम्प्रदायिक अर्थ का द्योतन करते हैं। सम्प्रदाय विशेष की मान्यता अथवा व्यवहार में रूढ़ होने के कारण इन्हें शास्त्रीय अथवा रूढ़ शब्द कहा जासकता है। उलटवाँसी-पदों में ऐसे अधिकांश शब्द हठयोगी-परम्परा से आये हैं। परम्परा में व्यवहृत होने के कारण इनकी रूढ़ता भी पारिभाषिकता को पुष्ट करती है। अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से पारिभाषिक शब्दों की अपनी सीमा होती है, जिसके आगे, प्रतीक शब्द की भाँति, पारिभाषिक शब्द अर्थ-विस्तार नहीं कर पाता। सहजयानी बौद्ध-सिद्धों तथा नाथयोगियों की रचनाओं ने इन शब्दों की परिभाषिकता में सहयोग दिया है और उनमें भी ये शब्द तत्सम्बन्धी शास्त्रों से गृहीत हुए हैं। इनके प्रेरणा स्रोत के रूप में 'साधनमाला;' 'प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि'; अद्वयवज्र; 'हेवज्रतन्त्र'; 'शिवसंहिता'; 'घेरण्डसंहिता'; 'हठयोग-प्रदीपिका'; 'गोरक्ष-पद्धति'; 'गोरक्ष-सिद्धान्त' आदि ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। संतों की उलट-वाँसियों में इसप्रकार की पारिभापिक शब्दावली का उपयोग तो है, परन्तु उसका मूल अर्थ सदा वही नहीं है, जो सिद्धों और नाथों की वाणियों में था।[1] अध्ययन सुविधा केलिए ऐसे पारिभापिक शब्दों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

उलटवाँसी-पदों में प्रयुक्त प्रमुख पारिभाषिक शब्द :

अजपाजाप—उलटवाँसी-पदों में इस शब्द का प्रयोग बहुधा हुआ है। इस जप में गोपन की प्रधानता रहती है। सहजयानी-सिद्धों में 'बीजाक्षर' या 'मूल-मंत्र' पर चित-वृत्ति को केन्द्रित करके, बिना किसी वाह्य साधन के, जैसे—माला फेरना, उँगलियाँ चलाना, उच्चारण करना आदि, आन्तरिक प्रक्रिया के रूप में ही श्वास-प्रश्वास के द्वारा जप करने की पद्धति पर बल दिया जाता था, जिससे श्वास-निरोध के साथ-साथ 'चण्डाग्नि' प्रज्ज्व-लित हो सके। सिद्धों ने इस प्रकार के जप को 'वज्रजाप' की संज्ञा दी है। इस जाप के द्वारा वे 'णिरक्खर' (निरक्षर) या शून्यावस्था की सिद्धि करते थे। नाथ-योगियों में इस

१. 'कबीर ने योगियों और सहजयानियों के पारिभापिक शब्दों की अपने ढंग पर व्याख्या की। इस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से गृहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनका सहज शून्य, षट्चक्र, समाधि इड़ा-पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियों के इन्हीं शब्दों से भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी इन्होंने अपने ढंग पर व्याख्या की थी।'
—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृ० ३७

प्रकार का जाप 'गायत्री' नाम से जाना जाता था।[1] उनका विश्वास है कि इस प्रकार के 'अजपाजाप' के द्वारा श्वास-निरोध के साथ-साथ मन तथा चित्त-वृत्ति को केन्द्रित किया जाता है।[2] सिद्धों में प्रज्ञोपाय की अवस्था केलिए 'एवम्' बीजाक्षर का जाप प्रसिद्ध था, परन्तु नाथों में शिव-शक्ति के योग केलिए यह 'सोहम्' के रूप में प्रचलित हुआ। संतों में इस जाप की मूल भावना ज्यों की त्यों बनी रही है। यह सहज जप अथवा अजपाजाप, महामिलन, पिउ-मिलन, अथवा खसमावस्था की प्राप्ति में सहायक माना गया है।[3]

इस जप की साधना सहज सुलभ नहीं है। चित्त-वृत्ति निरोध की मूल भावना यहाँ भी विद्यमान है। जो साधक अहर्निशि में आने वाली २१६०० श्वास-प्रश्वासों का महत्त्व समझते हुए साधना करता है,[4] वही इस पथ पर अग्रसर होपाता है। संतों में 'सोहम्' के साथ-साथ 'ओहम्' जाप की मान्यता भी है।[5] स्वयं अजपाजाप' शब्द के प्रयोग में उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है।

अनाहत नाद—इसे अनहद या अनाहद नाद भी कहा गया है। इसका शाब्दिक अर्थ है वह शब्द अथवा ध्वनि जो किसी वाद्य आदि माध्यम के बिना ही सुनाई दे। टंकार के बिना झंकार का होना उलटवाँसी मूलक है। पिण्डस्थ घोष की कल्पना प्राचीन है। श्री मद्भागवत में ('भूतेपुघोष रूपेण' ११।२१।३७) वाणी या शब्द को प्राणियों के अन्तः-करण में विद्यमान बताया है।

हठयोगी परम्परा में यह प्रसिद्धि है कि जब साधक सुषुम्ना-मार्ग से, षट् चक्रों और तीन ग्रन्थियों का भेदन करता हुआ,[6] ऊर्ध्वगमन करता है, तो कुण्डलिनी के जागरण-काल

---

१. 'अजपा नाप गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी' —गोरक्ष पद्धति, १।४५

२. 'अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचौं इंद्री निग्रह करै।' —गोरख-बानी, सब्दी ४।१८
'अजपा जापु जपै मुखिनाम।' —नानक-वाणी (बिलवलु, थिती पउड़ी १६), पृ० ७५

३. 'करौ अजपाजाप कै जाप प्रेम उर लाइये।
मिलौ सखी सत पीव तो मंगल गाइये ॥' धनी धरमदास की शब्दावली, पृ० ३६

४. 'इकवीस सहंस पटसा आइ पवन पुरिष जपमाली।
इलाप्यंगुला सुषमन नारी अहनिसि वहै प्रनाली ॥' —गोरख-बानी, पृ० ९५

५. 'ओहं सोहं तनु विचारा। बंकनाल में किया पसारा ॥' —कबीर, ज्ञान-गुदड़ी

६. 'अनाहत्-चक्र में ब्रह्म-ग्रन्थि, विशुद्ध-चक्र में विष्णु-ग्रन्थि और आज्ञा-चक्र में रुद्र-ग्रन्थि की कल्पना है, इनका भेदन हठयोगी साधक केलिए आवश्यक माना है। देखिए—
'ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः। विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥
विष्णु ग्रंथस्ततो भेदात्परमानंद सूचकः। अति शून्ये विमर्दश्च भेरी शब्दस्तथा भवेत् ॥
रुद्र ग्रंथि यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणा क्वणो भवेत् ॥'
—हठयोग प्रदीपिका, ४।७०, ७३, ७६

में साधक को पिण्ड के भीतर ही ब्रह्माण्डस्थ नाद सुनाई देता है और जब वह कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वस्थ हो जाती है, तो यह नाद निरन्तर सुनाई देने लगता है। साधना-विकास के साथ-साथ यह ध्वनि अपने घोष रूप से परिवर्तित होती हुई और मधुरतर होती जाती है। जैसे प्रारम्भ में यह सागर या मेघ की गर्जन लेकर आती है, तत्पश्चात् भेरी, शंख, घंटा, किंकिणी, वंशी, वीणा, भ्रमर आदि के सूक्ष्म रव के रूप में परिणत होती जाती है।[1] और जब कुण्डलिनी आज्ञाचक्र में पहुँचती है, तो साधक का चित्त नादासक्त होकर, उसी में तन्मय बना रहता है।[2] *'अनाहत्‌नाद' शब्द में स्वयं उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है, क्योंकि अनाहत्* रहने पर किसी प्रकार के नाद का होना सम्भव नहीं है। उलटवाँसी-पदों में अनहद-शब्द की बहुशः चर्चा है। देखिए—

'ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बैन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांईं संगि विराजै।।'

—क० ग्रं०, प १६३

'बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ अनहद घोर निसानी।
पाँच पचीस लिए संग अबला, गगन में धूम मचानी।।'
उठै सुर बारह बानी।।' —धनी धम० शब्दा०, पृ० ५६

'सांझहि उगवै सूर भोर ससि जागई। गंग जमुन के संगम अनहद बाजई।।'

—बुल्ला० शब्द०, पृ० २४

'घुरै नगारा गगन में बाजै अनहद तूर।
जन दरिया जहँ थिति रची, निस दिन बरसै नूर।।'

—दरिया० (मारवाड़ वाले) बा०, पृ० १४

'अनहद की धुनि करै विचारा। ब्रह्म दृष्टि होय उँजियारा।।
एह जो कोई गुरू ज्ञानी बूझै। सब्द अनाहद हि सूझै।।'

—दरिया० (बिहार वाले का) सा०, पृ० २१

अमृत—सहजयानी सिद्धों की उलटवाँसियों से लेकर आधुनिक काल के उलटवाँसी-

---

१. 'श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मकः।।
आदौ जलधि जीमूत भेरीझर्झर संभवाः।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा।।
अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमर निःस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः।।' —हठयोग प्रदीपिका, ४।८४-८६

२. 'उलटे पवन चक्र षट बेधा मेरदंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांना, बाजे अनहद तूरा।।'

—कबीर ग्रंथावली, पद ७

पदों तक 'अमृत'[1] अथवा अमृत के समानार्थी अमीरस,[2] वारुणी,[3] महारस,[4] सहजरस, सोमरस, रामरस, सुधारस आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। तान्त्रिक साधना में 'वारुणी' को विशेष महत्त्व मिला है, जो बाद को अमरता की प्रतीक मानी गई। शैव-शाक्त मतावलम्बी 'वारुणी' को विशेष महत्त्व देते थे। सहजयानी सिद्धों की वाणी में प्रज्ञोपाय की सिद्धि केलिए वारुणी को प्रतीक रूप में ग्रहण किया है। संतों की वाणी में, विशेष रूप से उलटवाँसियों में, वारुणी की भावना अमृत, अमर रस, महारस, प्रेमरस, राम-रस आदि के रूप में ही देखने को मिलती है।

यौगिक परम्परा में, साधक के द्वारा अमर वारुणी या अमररस, सोमपान किये जाने का वर्णन मिलता है।[5] उनके अनुसार ब्रह्मरन्ध्र में स्थित, सहस्रार चक्र में कोई चन्द्राकार स्थान है, जिससे निरन्तर अमृतस्राव होता रहता है। इसका प्रभाव 'इड़ा' या चन्द्र योग-नाड़ी के माध्यम से होता है।[6] बद्ध-जीव अथवा जिनकी कुण्डलिनी शक्ति सुषुप्त पड़ी रहती है, उनका यह अमृतरस मूलाधारस्थ सूर्य अथवा अग्निकुण्ड में पड़ कर नष्ट होता रहता है। अथवा अधोमुखी सर्पिणी के मुख में पड़कर विष बनता रहता है, इससे शरीर को वार्द्धक्य, मृत्यु आदि का सामना करना पड़ता है। योगाभ्यास से साधक यदि इस अधो-गामी अमृत को ऊर्ध्वस्थ कर लेता है, उसे महानन्द की प्राप्ति होती है। ऐसे साधक को तक्षक के दंशन का भी भय नहीं रहता।[7]

निर्गुणी संतों की काव्य-रचना के समय तक उत्तर भारत में भक्ति का प्रवाह व्यापक रूप से हो चुका था। इसलिए संतों की उलटवाँसियों में 'प्रेमरस' 'रामरसाइण' अथवा 'सहजरस' का प्रयोग ही देखने को मिलता है। ऐसे प्रयोगों में प्रेमतत्त्व की प्रधानता देखी जाती है।[8] इस प्रकार 'अमृत' शब्द अपने प्रयोग में रूढ़ तथा हठयोगी

---

१ 'गगन मंडलमें ऊंधा कूबा तहां अमृत का बासा' —गोरख-बानी, सबदी २३

२. 'जीवता जोगी अमीरस पीवता अहनिस अषंडिय धारं' —गोरख-बानी, सबदी १६२

३. 'अह निस पीवै जोगी वारुणीं सूर' —गोरख-बानी, सबदी १३७

४. 'पीयलै महारस फाटिलै कपाट' —गोरख-बानी, पद ५६

५. 'ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयतियोगवित्॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४४

६. 'जिह्वा प्रवेशसंभूतवह्निं नोत्पादितः खलुः।
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४६

७. 'नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४५

८. 'राम रसाइन प्रेमरस-पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १६

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

परम्परा में विशेष अर्थ का द्योतन करता है।

अरध-उरध—अरध ∠ अधः तथा उरध ∠ ऊर्ध्व के तत्भव शब्द हैं। हठयोगी साधकों में अरध-उरध साधना प्रसिद्ध है। यह साधना चन्द्र - सूर्य संगम, कुण्डलिनी-ऊर्ध्वगमन, नाद-विन्दु संयोग आदि कई रूपों में उल्लिखित हुई है।

योगियों की ऐसी मान्यता है कि साधक को मेरुदंड के निम्न भाग अर्थात् मूलाधार चक्र अरध या अधः में स्थित कुण्डलिनी को, सहस्रदल कमल, ब्रह्मरन्ध्र, उरध या ऊर्ध्व में, प्रयत्न पूर्वक अधिष्ठित करना चाहिए। अथवा 'अरध' में स्थित विन्दु या सूर्य को 'उरध' में अधिष्ठित 'नाद' या 'चन्द्र' से समागम कराना चाहिए। इस प्रकार अधोस्थिति को ऊर्ध्वस्थ करादेना ही 'अरध-उरध' साधना है। इस विशिष्ट साधना का संकेत देने वाले इन शब्दों का प्रयोग सहजयानी सिद्धों से लेकर आधुनिक काल तक की सन्त- वाणी में हुआ है,[1] परन्तु शब्दों के पीछे निहित साधनात्मक आग्रह क्रमशः शिथिल होता गया है। इन विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से वाणी में गूढ़ार्थता का समावेश होगया है।

अवधू—सम्बोधन के रूप में उलटवाँसी-पदों में 'अवधू' शब्द का बहुशः प्रयोग हुआ है। यह अवधूत का अपभ्रंश शब्द है, जिसका अर्थ साधक, योगाभ्यासी, विरक्त अथवा योगी है।[2] परन्तु प्रचलन में इस शब्द का अर्थ शनैः शनैः परिवर्तित होता रहा है। गोरखनाथ-

---

(पहले पृष्ठ का शेष)

'नीझर झरै अमीरस पीजिये, तहाँ भंवर गुफा के घाट रे।' —क० ग्रं०, पद ४

'नीझर झरै अमीरस निकसै, तिहि मदिरावल छाका।
कहै कबीर यहु वास विकट अति, ग्यान गुरू लै बांका॥' —क० ग्रं०, पद १५५

'दादू मूवा रूखड़ा काहे न हरिया होइ।
आपै सींचै अमीरस, सूफल फलिया सोइ॥' —दादूबानी (भाग १), बेली को अंग

१. 'अध उध मज्झे मअल भूअणासी' —बागची दोहा कोश,
'अरधै जाता उरधै धरै, कांम दग्ध जे जोगी करै' —गोरख-बानी, सबदी १७
'अरध-उरध' बिचि धरी उठाई, मधि सुंनि में बैठा जाई' —वही, सबदी ७८
'अरध बहन्ता उरधै लीजै' —गोरख-बानी, पद १०
'अरध-उरध बजार मढ्या है, गोरष कहै बिचार' —वही, पद २७
'चौपड़ माहीं चौहटे अरध-उरध बाजार।
कहै कबीरा रामजन खेलौ संत बिचार॥' —क० ग्रं०, गुरुदेव को अंग, साखी ३१
'अरधे उरधे भाठी रोपिन्हि, लै कसाव रस गारी' —कबीर बीजक, शब्द १२
'अर्ध उर्ध के बीच हिंडोला चंग है।' —प० बा० (दूसरा भाग) पृ० ७६
'अरधे और उरधे बिच करले मेला' —तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १८

२. 'यो विलंघ्याश्रमान् वर्णान् आत्मन्येव स्थितः पुमान्।
... अवधूतः स उच्यते॥' —कबीर का रहस्यवाद, पृ० १८६ से

जिस अर्थ में 'अवधू' का प्रयोग करते हैं, उसी अर्थ में कबीर नहीं। गोरखनाथ ने 'अवधू' शब्द का प्रयोग जिज्ञासु, अनुगामी साधक केलिए किया है,[1] परन्तु संतों की उलटवाँसियों में 'अवधू' शब्द का प्रयोग प्रायः प्रतिपक्षी, प्रतिद्वन्द्वी केलिए किया गया है, जिसके प्रति अर्थोद्बोधन केलिए चुनौती का स्वर रहता है।[2] कबीर तक इस शब्द का प्रयोग बाहुल्य के साथ दिखाई देता है। परवर्ती संतों में यत्र-तत्र ही इस शब्द का प्रयोग मिलता है। भक्ति के प्रचार और प्रभाव के कारण बाद के संतों में हठयोगी-साधना का आग्रह नहीं रहा था।

उन्मनी अवस्था—उन्मनी और मनोन्मनी शब्द समानार्थी हैं।[3] जिस अवस्था में सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु के संचरित होने पर मन की गति भी स्थिर हो जाती है, साधक की वह अवस्था 'उन्मनी' कहलाती है। जब नेत्र पुतलियों की ज्योति अथवा दृष्टि को नासिकाग्र पर केन्द्रित करते हुए भ्रकुटियों को ऊपर की ओर तानते हैं, उस अवस्था में मनको स्थिर करकेउन्मनी अवस्था सिद्ध की जाती है।[4] कहा गया है कि साधक सत्त्वचित्त रूप बीज, प्राण-अपान की एकता रूप क्षेत्र में, उदासीनता रूप जल के सिंचन से उन्मनी अवस्था रूप 'कल्पलता' को प्राप्त करता है।[5] इस अवस्था की प्राप्ति होने पर साधक सम्पूर्ण सबीजकर्म से विनिर्मुक्त होकर निरंजन अवस्था को प्राप्त होता है।[6]

उलटवाँसियों में इस 'उन्मनी' शब्द का बहुशः प्रयोग हुआ है, परन्तु इस शब्द के प्रयोग में गोरखनाथ की बानियों को छोड़कर[7] सर्वत्र हठयोग प्रतिपादित अर्थ की प्राप्ति

---

१. 'अवधू बोल्या तत विचारी, पृथ्वी में बकवाली।' —गोरख-बानी, पद ११
'अवधू ऐसा ग्यांन विचारी, ता में झिलिमिलि जोति उजाली।'—गो०बा०, पद २२
'अवधू गागर कंधै पाँणीहारी, गवरी कंधै नवरा।' —गो० बा०, पद २५

२. 'अवधू अगिनि जरै कै काठ।' —कबीर ग्रंथावली, पद १७४
'अवधू ऐसा ग्यान विचारं।' —कबीर ग्रंथावली, पद १७५
'अवधू ऐसा ग्यान विचारी, ताथैं भई पुरिप थैं नारी।'—कबीर ग्रंथावली, पद २३१
'अवधू का कहि तोहि बखानौं।' —मलूकदास जी की बानी, पृ० ४

३. 'राजयोग : समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका, ४।३
'मारुते मध्य संचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
'यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका २।४२

४. 'तारे ज्योतिष संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्व योगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात्॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०४

५. 'तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४। १०४

६. 'सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्व चिन्ताविवर्जितः।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४। १०७

७. 'मन पवना लै उनमनि धरिवा ते जोगी तत सारं।'—गोरख-बानी, सबदी ३४
'अवधू दंम कौं गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजबा अनहद तूरं।' वही, सबदी १५

परम्परा में विशेष अर्थ का द्योतन करता है।

अरध-उरध—अरध∠अधः तथा उरध∠ऊर्ध्व के तत्भव शब्द हैं। हठयोगी साधकों में अरध-उरध साधना प्रसिद्धहै। यह साधना चन्द्र - सूर्य संगम, कुण्डलिनी-ऊर्ध्वगमन, नाद-विन्दु संयोग आदि कई रूपों में उल्लिखित हुई है।

योगियों की ऐसी मान्यता है कि साधक को मेरुदंड के निम्न भाग अर्थात् मूलाधार चक्र अरध या अधः में स्थित कुण्डलिनी को, सहस्रदल कमल, ब्रह्मरन्ध्र, उरध या ऊर्ध्व में, प्रयत्न पूर्वक अधिष्ठित करना चाहिए। अथवा 'अरध' में स्थित विन्दु या सूर्य को 'उरध'में अधिष्ठित 'नाद' या 'चन्द्र'से समागम कराना चाहिए। इस प्रकार अधोस्थिति को ऊर्ध्वस्थ करादेना ही 'अरध-उरध' साधना है। इस विशिष्ट साधना का संकेत देने वाले इन शब्दों का प्रयोग सहजयानी सिद्धों से लेकर आधुनिक काल तक की सन्त- वाणी में हुआ है,[1] परन्तु शब्दों के पीछे निहित साधनात्मक आग्रह क्रमशः शिथिल होता गया है। इन विशिष्ट शब्दों के प्रयोग से वाणी में गूढ़ार्थता का समावेश होगया है।

अवधू—सम्बोधन के रूप में उलटवाँसी-पदों में 'अवधू' शब्द का बहुशः प्रयोग हुआ है। यह अवधूत का अपभ्रंश शब्द है, जिसका अर्थ साधक, योगाभ्यासी, विरक्त अथवा योगी-है।[2] परन्तु प्रचलन में इस शब्द का अर्थ शनैः शनैः परिवर्तित होता रहा है। गोरखनाथ-

---

(पछले पृष्ठ का शेप)

'नीझर झरै अमीरस पीजिये, तहाँ भंवर गुफा के घाट रे।' —क० ग्रं०, पद ४

'नीझर झरै अमीरस निकसै, तिहि मदिरावल छाका।
कहै कबीर यहु वास विकट अति, ग्नांन गुरूलै बांका।।' —क० ग्रं०, पद १५५

'दादू सूखा रूखड़ा काहे न हरिया होइ।
आपै सींचै अमीरस, सूफल फलिया सोइ।।' —दादूवानी (भाग १), वेली को अंग

१. 'अध उध मज्झे सअल भूअणासी' —बागची दोहा कोश,
'अरधै जाता उरधै धरै, कांम दगध जै जोगी करै' —गोरख-वानी, सवदी १७
'अरध-उरध' विचि धरी उठाई, मधि सुंनि मैं वैठा जाई' —वही, सवदी ७८
'अरध वहन्ता उरधै लीजै' —गोरख-वानी, पद १०
'अरध-उरध वजार मड्या है, गौरख कहै विचारं' —वही, पद २७
'चौपड़ माहीं चौहटे अरध-उरध वाजार।
कहै कवीरा रामजन खेलौ संत विचार।।' —क० ग्रं०, गुरुदेव को अंग, साखी ३१
'अरधे उरधे माठी रोपिन्हि, लै कसाव रस गारी' —कवीर बीजक, शब्द १२
'अर्ध उर्ध के बीच हिंडोला चंग है।' —प० ना० (दूसरा भाग) पृ० ७६
'अरधे और उरधे विच करलै मेला' —तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १८

२. 'यो विलंघ्याश्रमान् वर्णान आत्मंयेव स्थितः प्रमान।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते।।' —कवीर का रहस्यवाद, पृ० १८६ से

जिस अर्थ में 'अवधू' का प्रयोग करते हैं, उसी अर्थ में कबीर नहीं। गोरखनाथ ने 'अवधू' शब्द का प्रयोग जिज्ञासु, अनुगामी साधक केलिए किया है,[1] परन्तु संतों की उलटवाँसियों में 'अवधू' शब्द का प्रयोग प्रायः प्रतिपक्षी, प्रतिद्वन्द्वी केलिए किया गया है, जिसके प्रति अर्थोद्बोधन केलिए चुनौती का स्वर रहता है।[2] कबीर तक इस शब्द का प्रयोग बाहुल्य के साथ दिखाई देता है। परवर्ती संतों में यत्र-तत्र ही इस शब्द का प्रयोग मिलता है। भक्ति के प्रचार और प्रभाव के कारण बाद के संतों में हठयोगी-साधना का आग्रह नहीं रहा था।

उन्मनी अवस्था—उन्मनी और मनोन्मनी शब्द समानार्थी हैं।[3] जिस अवस्था में सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु के संचरित होने पर मन की गति भी स्थिर हो जाती है, साधक की वह अवस्था 'उन्मनी' कहलाती है। जब नेत्र पुतलियों की ज्योति अथवा दृष्टि को नासिकाग्र पर केन्द्रित करते हुए भ्रुकुटियों को ऊपर की ओर तानते हैं, उस अवस्था में मनको स्थिर करकेउन्मनी अवस्था सिद्ध की जाती है।[4] कहा गया है कि साधक सत्त्वचित्त रूप बीज, प्राण-अपान की एकता रूप क्षेत्र में, उदासीनता रूप जल के सिंचन से उन्मनी अवस्था रूप 'कल्पलता' को प्राप्त करता है।[5] इस अवस्था की प्राप्ति होने पर साधक सम्पूर्ण सबीजकर्म से विनिर्मुक्त होकर निरंजन अवस्था को प्राप्त होता है।[6]

उलटवाँसियों में इस 'उन्मनी' शब्द का बहुशः प्रयोग हुआ है, परन्तु इस शब्द के प्रयोग में गोरखनाथ की बानियों को छोड़कर[7] सर्वत्र हठयोग प्रतिपादित अर्थ की प्राप्ति

---

१. 'अवधू बोल्या तत विचारी, पृथ्वी में बकवाली।' —गोरख-बानी, पद ११
'अवधू ऐसा ग्यांन विचारी, ता में झिलिमिलि जोति उजाली।'—गो०बा०, पद २२
'अवधू गागर कंधै पाँणींहारी, गवरी कंधै नवरा।' —गो० बा०, पद २५

२. 'अवधू अगिनि जरै कै काठ।' —कबीर ग्रंथावली, पद १७४
'अवधू ऐसा ग्यान विचारं।' —कबीर ग्रंथावली, पद १७५
'अवधू ऐसा ग्यान बिचारी, ताथैं भई पुरिष थैं नारी।'—कबीर ग्रंथावली, पद २३१
'अवधू का कहि तोहि बखानौं।' —मलूकदास जी की बानी, पृ० ४

३. 'राजयोग : समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका, ४।३
'मारुते मध्य संचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
'यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका २।४२

४. 'तारे ज्योतिष संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्व योगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात्॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०४

५. 'तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४। १०४

६. 'सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्व चिंताविवर्जितः।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४। १०७

७. 'मन पवना लैं उनमनि धरिबा ते जोगी तत सारं।'—गोरख-बानी, सबदी ३४
'अवधू दंम कौं गहिबा उनमनि रहिबा, ज्यूं बाजबा अनहद तूरं।' वही, सबदी १५

नहीं होती । हाँ, उन कथनों में मन से उनका सम्बन्ध अवश्य रहता है । प्रपंचकारक सविषय मन को निर्विषय करने से उनका अभिप्राय रहता है । सभी संतों ने इसीलिए मनोमारण पर बल दिया है । उलटवाँसी-पदों में उन्मानी अवस्था या उन्मन रहने का अभिप्राय मन के निःस्वभावीकरण से है ।[1]

उलटी गंगा—उलटवाँसी-पदों में 'उलटी गंगा' या 'पश्चिम गंगा' के प्रवाहित होने अथवा कराने का कथन अनेक बार मिलता है । वास्तव में ये कथन इड़ा या गंगा के प्रवाह को अवरुद्ध करने, विपरीत करने के सम्बन्ध में हैं । सामान्य अवस्था में इड़ा या गंगा का प्रवाह अधोगामी बना रहता है और ब्रह्मरन्ध्रस्थ 'चन्द्र' से जो अमृत स्राव होता है, वह मूलाधारस्थ सूर्य में पड़कर भस्म होता रहता है, जिससे प्राणी जरा-मृत्यु को प्राप्त होता है । अतः साधनाभ्यास के द्वारा इस नाड़ी के प्रवाह का क्रम पलट देना ही गंगा का उलटा बहना है । इससे अमरत्व लाभ होता है । नाथ योगियों में यह साधना 'उलटा-साधना' नाम से जानी जाती है ।[2] उलटवाँसी-पदों में अनेक बार इस विपरीत साधना के सम्बन्ध में कथन मिलते हैं ।[3]

औंधा कुआँ—उलटवाँसी-पदों में अधोकूप, उरधमुख कुइयाँ, उलटा कुवाँ, ऊँधा कुआँ, औंधा कुआँ, कमलकूप, हंसकूप, कूप आदि अनेक प्रयोग देखने को मिलते हैं । ये

---

१. 'मन लागा उनमन्न सों, गगन पहुँचा जाइ ।
देख्या चंद विहूँणा चांदिणां, तहां अलख निरंजन राइ ॥' —क० ग्रं०, परचाकौ अंग, साखी १५
'महा मुंदरा उनमुनि पेखै । अनन्नि भाँति मोती तहँ देखै ॥'—दरिया० (विहारवाले) सा०, पृ० ५५
'उनमुनि मुद्रा लगी समाधी । रबि ससि पवनहिं राखौ बाँधी ॥'
—बुल्ला० शब्द० पृ० १४

२. देखिए—सिद्ध-साहित्य, पृ० ४१३-१४ तथा—'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १८५

३ 'उलटी गंग नीर वहि आया, अमृत धार चुवाई ।' —कबीर ग्रंथावली, पद ७४
'उलटी गंग संमुद्रहि, सोखै, ससिहर सूर गरासै ।' —कबीर ग्रंथावली, पद १६२
'उलटी गंग मेर कूं चली ।' —कबीर ग्रंथावली, पद ३२६
'गंगा उलटी फेरि करि, जमुना माहैं आणि ।'
—दादूवानी (भाग पहला), पृ० ६०

'पलटू संत विवेकी बुझि हैं सबद सम्हार ।
गंगा पाछे को वही मछरी चड़ी पहार ॥'
—पलटू० बानी (पहला भाग), पृ० ७५

'पच्छिउं गंगा बहै पानी है जोर का ।
बीच महै इक कुंड मुरेरा तोर का ॥' पलटू० बानी (दूसरा भाग), पृ० ७८

'ब्रह्मरन्ध्र' अथवा दशम द्वार के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं। हठयोगी परम्परा में ऐसी मान्यता है कि शिरोभाग अथवा ब्रह्माण्ड या गगनमण्डल में कोई सूक्ष्म छिद्र है, जिसे ब्रह्म-रन्ध्रया कूप कहते हैं। इसका मुँह नीचे की ओर रहता है,इसलिए इसे अध: कूप कहा जाता है। इसमें अमृत तत्त्व का निवास है। यहाँ तक पहुँचने केलिए साधक को, सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु को ऊर्ध्वस्थ करना पड़ता है। गुरु का अनुशासन गन्तव्य तक पहुँचने में सहायक होता है।[१]

'औंधा कुआँ' शब्द के प्रयोग में उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है। उलटवाँसियों में इस शब्द का प्रयोग अपने मूल अर्थ में ही हुआ है।[२]

कुंडली या कुण्डलिनी शक्ति—कुंडली के अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग उलट-वाँसियों में हुआ है।* इड़ा-पिंगला नाम्नी योग-नाड़ियों के प्रतीक रूप में व्यवहृत गंगा-यमुना के मध्यवर्ती सुषुम्ना में होकर इसके ऊर्ध्वगमन का मार्ग माना गया है, अतः इसे 'तप-स्विनी' की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।[३] यह स्वयं प्रकाशित सृजन शक्ति वाक्देवी है।[४] मेरुदंड के नीचे मूलाधार चक्र में, गुदा और लिंग के मध्य, साढ़े तीन कुंडली मारकर, अपने ही मुख में अपनी पूँछ दबा कर भवधारामें बहे जाते हुए पशु रूप प्राणियों में यह

---

१. 'गगन मंडल में ऊँधा कूबा तहाँ अंमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै, निगुरा जाइ पियासा।'
—गोरख-बानी, सबदी २३

२. 'आकासे मुखि औंधा कुवां, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥'—क० ग्रं०, परचा०साखी ४५
'उलटा कूवा गगन में तिस में जरै चिराग'—पलटू० बानी (पहला भाग), पृ० ७०
'गगन के बीच में कूप है अधोमुख, कूप के बीच इक बहै सोती'—पलटू० बानी (भाग दूसरा), पृ० ११
'लखि अकास औंधा कुआ हुआ नूर का तेज।' तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३८

* देखिए—सांकेतिक-प्रतीक (चतुर्थ अध्याय)

३. 'गंगा यमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनीम्।
'इडा पिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुंडली।'
—हठयोग प्रदीपिका, ३।१०९, १०

४. तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली पर देवता।
सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता॥' —शिवसंहिता, २।२३
'मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णा विवरे स्थिता' —शिवसंहिता, ५।५७
'येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।३०६

शक्ति सुषुप्त भाव से पड़ी रहती है।[1] परन्तु योगाभ्यासी इस को गुरुकी कृपा एवं प्राणायाम आदि योग-साधनों के द्वारा जाग्रत करके षट्चक्रों और तीन ग्रन्थियों का भेदन कराते हुए कुण्डलिनी शक्तिको ब्रह्माण्ड या ब्रह्मरन्ध्र[2] में स्थित कराते हैं। उस समय साधककी शून्य संज्ञा होती है और वह निरालम्ब चित्त होकर काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है।[3]

उलटवाँसी-पदोंमें अनेक स्थानों पर कुण्डली, उसके ऊर्ध्वगमन तथा ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित होनेका वर्णन प्रतीकात्मक शैली में हुआ है। प्रतीकरूप में जोगिनी[4], धरती[5],

---

१. 'कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बंधनाय च मुढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥'

—हठयोग प्रदीपिका, ३।१०७

'यावत्स निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटि योगं समभ्यसेत्॥ —घेरण्डसंहिता, ३।४५

२. टिप्पणी—कुण्डली जब षट्चक्रों का भेदन करके ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचती है, वहाँ सहस्रार चक्र माना जाता है (शिव संहिता, ५।१२), जिसके मध्य में चन्द्राकार स्थान है, जिससे 'अमृत' की वर्षा निरन्तर होती रहती है। यह अमृत पशु-संज्ञा वाले जीवों के तो मूलाधारस्थ 'सूर्य' द्वारा भस्म होता रहता है (शिव संहिता ५।१०६), परन्तु साधक उससे अमरत्व प्राप्त करता है। कुण्डलिनी सुषुम्ना के ऊपरी विवर को छोड़कर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करती है। यह रन्ध्र विन्दुके आकारका होता है। इसमें छः अन्य द्वार होते हैं, जिन्हें कुण्डलिनी ही खोल सकती है। इस विन्दु स्थलमें ही प्राण-शक्तिका संचय रहता है। जब 'शक्ति' इसी विन्दुमें लयको प्राप्त हो जाती है तभी 'सोहम्'की ध्वनि मुखरित हो उठती है। (इसकेलिये द्रष्टव्य है—कबीरका रहस्यवाद, पृ० ७८-८७ तक)

३. सशैल वन धात्रीणां *यथाधारोऽहिनायकः*।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागृति कुंडली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यते ग्रंथयोऽपि च॥
प्राणस्य शून्य पदवी तथा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम्॥'

—हठयोग प्रदीपिका ३।१-३

४. 'सुरति देह उदगारि जोगिनी आपुइ जोगी।' —प० वा० (भाग पहला), पृ० ६३

५. 'धरती उलटि अकासहि ग्रासै यहु पुरिसां की बाणी।' —क०ग्रं०, पद १६२
'धरती उलटि अकासहि मिली।' —क०ग्रं०, पद ३२६

पनिहारिन,[1] मींडकी[2], मीन, शक्ति[3], सांपिनि, स्रुति[4] (शक्ति या सुरति) आदि शब्दोंका प्रयोग मिलता है। कुण्डली-जागरण कालमें परमानन्द की अनुभूति एवं अमृत रसके पानका वर्णन[5] भी मिलता है। (इस प्रसंग में द्रष्टव्य है आगे दिया हुआ कुंडलिनी-शक्ति योग चित्र।)

खसम अथवा खसमावस्था—संस्कृतमें 'ख' शून्य या आकाशके अर्थमें प्रयुक्त होता है।[6] 'खसम' अरबीमें पति या खाविदके अर्थमें प्रयुक्त होता है। उलटबाँसी-पदोंमें 'खसम' शब्दका प्रयोग अपने मूल अर्थ 'ख' सम=समान अर्थात् शून्यके समान (आकाश या शून्य), में ही हुआ है, परन्तु इस शब्दका अभिधात्मक प्रयोग पति, स्वामी अर्थमें प्रतीत होता है।

अपने मूल अर्थमें खसम शब्दका अर्थ है आकाश या शून्यके समान। सहजयानी सिद्धोंकी बानीमें इस शब्दका प्रयोग 'खसमावस्था' अथवा 'गगनोपम' अवस्थाके अर्थमें हुआ है। उनके यहाँ साधनाका लक्ष्य ही शून्यावस्था या नैरात्म्य भाव की सिद्धि करना है।[7] उलटबाँसियोंमें 'खसम' शब्दका प्रयोग मालिक, स्वामी, परमात्मा अर्थमें ही अधिक हुआ।

---

१. 'आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।'—क०ग्रं०, परचाको अंग, साखी ४५

२. 'पताल की मींडकी आकास जंत्र बावै।
चंद सूरज मिले तहाँ गंग जमुन गीत गावै॥' —(गरीबनाथ)

३. 'पलटू सक्ती सीवका भेद गया अलगाय।
सुरत सुहागिनि उलटिके मिली शब्दमें जाय॥'
—प० बा० (भाग पहला), पृ० ६४

४. 'तुलसी गतिमति लखि पड़ी निरखि लखा सब अंड।
स्रुत चढ़ गई अकासमें सोर भया ब्रह्मंड॥' —तु० शब्दा० (भाग पहला), पृ० ३८

५. 'बंक नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवाँ कहीं न जाइ।
बिगसै कँवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीव की करै सहाइ॥
बैसि गुफामें जोति विचारै, तब तेहिं सूझै त्रिभुवन राइ।
अंतरि आप मिलै अविनासी, पद आनँद काल नहिं खाइ॥'
—दा० बा० (दूसरा भाग), पृ० १५६

६. 'यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।' —कुमारसम्भवम्, ३।७२
'खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः।' —मृच्छकटिकम्, ५।२
अर्थात् दूसरे विष्णुके समान वह आकाशमें व्याप्त होने केलिए प्रवृत्त होगया है।

७. 'खसम बीजं यत् खसमं याति। आत्मवृक्षस् त्रिधातुषु वितनोतिच्छायां॥'
अर्थात् 'गगन तुल्यं बीजं प्रभास्वरभावं चित्तजं। तस्य स्वाभाविक प्रकाशः प्रभास्वर आत्मवृक्षच्छाया योगीश्वर ज्ञानरश्मिस् त्रिधातून् व्याप्नोति॥'—चर्यागी० पृ० ८१-८२
'हेरि से मेरि तइला बाड़ी खसमे समतुला।
सुकइ ए से रे कपासु फुटिला॥' —चर्यागीति कोषः, पृ० १६३
'सव्व रूअ तहि खसम करिज्जइ। खसम सहावें मण वि धरिज्जइ॥'
—'कबीर' पृ० ७५ से उद्धृत

इसीलिए भाव-वाचक दशा 'खसम' को व्यक्ति रूपमें वर्णित किया गया है,[1] परन्तु अनेक स्थानों पर उसका मूल भाव 'शून्य अवस्था' भी स्पष्ट है।[2] ऐसे ही वर्णनोंमें भूली, बहिर्मुखी जीवात्माके द्वारा खसमकी मृत्यु पर अथवा प्रबुद्ध जीवात्माके द्वारा अहंकारकी समाप्ति पर, प्रसन्नता प्रकट की गई है।[3]

गगन-मंडल—उलटवाँसी-पदों में गगन-गुफा, गगन-शिखर, शून्य-शिखर, शून्य-मंडल, आकाश-मंडल आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। ये शब्द शून्यावस्था के पर्याय होकर आये हैं और समाधि की किसी विशेष दशा को द्योतित करते हैं।

---

१. 'कहै कबीर सुनहु रे संतो ज्वाब खसम कूं भरणां।'—कबीर ग्रंथावली, पद १०२
'खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै॥'—क० ग्रं०, पद ३७०
'भोलै भूली खसम के बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरू बताइया पूरिबला भरतार॥' वही, पीव पिछांणन कौ अंग, साखी ३
'साँझ सकार ज्योति लै बारै। खसम छाँड़ि सँवरै लगवारै॥'
—कबीर बीजक, रमैनी ७३

'माई मैं दूनो कुल उजियारी।
बारह खसम नेहरै खायौ, सोरह खायौ ससुराली॥' —क० बी०, शब्द ६२
'काह कहौं कछु कहत न आवै नाहक जग बौराई।
अपने खसम नेक नहिं जानै पर पुरुष पहँ जाई॥' —गुलाल० बानी, पृ० १२२
'गरदन मारै खसम की लगवारन के हेत।' —प० बा० (पहला भाग), पृ० ६०
'न्योत रही लगवार खसम से परदा तानै।' —प० बा०, (पहला भाग), पृ १०३

२. 'खसमहि जाणि खिमाकरि गहै। तौ होइ निखओ अखै पदलहै॥'
—आदिग्रंथ, गउड़ी ७५
'खसम निपूतौ आगणि सूतो, रांड न देई लेव।' —कबीर ग्रंथावली, पद ८१
खसम पिछांनि तरस करि जिय में, माल मनी करि फीकी' —क० ग्रं०, पद २२५
'जाड़न मरै सपेदी-सौरी। खसम न चिन्है धरणि भइ बौरी॥'
—कबीर बीजक, रमैनी ७३
'खसमहिं छाड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु विचारी॥'—कबीर बीजक, शब्द ६
'लेइ खसम को नाँव खसम से परिचै नाहीं।' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १७
'खसम सोया है पास खसम को खोजन जावै।'—पा०बा० (पहला भाग), पृ० ८०
'नाहिं खसम से भेंट बैठि के बात बनावै।'—पा० बा० (पहला भाग), पृ० १०८

३. दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँध परोसिन।
पिया मरै आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरवान।
खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान॥'—प० बा० (पहला भाग), पृ० ७५
'पलटू सोई सुहागिनी जियतै पिय को खाय।
खसम मुवा तौ भल भया सिर की गई बलाय॥'—प० बा० (पहला भाग), पृ० ७६

मूल रूप में यह स्थान मेरुदंड के ऊपर शिरोभाग में माना गया है। जब कुंडली षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार चक्र में प्रवेश करती है, तो उस दशा को ही शून्य-चक्र, शून्य-मंडल, गगन, आकाश-मंडल आदि नामों से जाना जाता है। इसी स्थान में अधोमुख कूप की कल्पना है और इस स्थिति पर पहुँच कर ही साधक को अनहद नाद सुनाई देता है। साधक को यह दशा नैर्मल्य, शून्यावस्था तथा प्राणों को शून्यसंज्ञा प्रदान करती है। गगन-मंडल में स्थिति ही साधक की 'खसमावस्था' है। यहाँ पहुँचकर 'प्रज्ञा' का 'उपाय' में, 'शक्ति' का 'शिव' में, चिति' का 'आनन्द' में विलय हो जाता है और साधक 'सिद्ध' संज्ञा को प्राप्त होकर परमपद की प्राप्ति कर लेता है। यही ब्रह्ममय दशा है।

उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता साधकों ने इस अवस्था का वर्णन किसी न किसी मात्रा में अवश्य किया है।[1] कोई इस स्थान को अखण्डित ज्योति से दीपित बताता है तो कोई अमृत की वर्षा से युक्त। किसी केलिए यह स्थान मुक्तात्मा रूप हँस के लिए मानसरोवर के समान है, जिसमें वह अन्य मुक्तात्माओं के साथ परमानन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार इस दशा का वर्णन परम्परा में रूढ़-सा हो गया है।

गुरू—हठयोगी - साधना में साधक को साधना - मार्ग प्रशस्त करने वाले गुरू का प्रमुख स्थान है। उलटवाँसी-पदों में ही नहीं सम्पूर्ण नाथ-संत साहित्य में वाणी के रहस्य को उद्घाटित करने वाले गुरू की पदवी सर्वोच्च मानी गई है। गुरु साधक को मन्त्र या शब्द प्रदान करता है, जिससे साधक का भ्रम दूर हो जाता है।[2] तत्पश्चात् उसको अनन्त

---

१. 'गगन मंडल में ऊँधा कूबा तहाँ अमृत का वासा' —गोरख-बानी, पृ० ६
'गगन मँडल में अनहद वाजै, प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै' —गो० बा०, पृ० १२
'एक कांमध्येनि वारि सिधि कै गगन सिपर लै बाँधी।' —गो० बा०,पृ० ६८
'अनहद नाद गगन में गाजै, परम जोति तहाँ आप विराजै।'—गो०बा०, पृ० १५७
'कबीर मोती नीपजें सुन्नि सिपर गढ़ माँहि।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १३
'जन कबीर का सिखर घर, वाट सलैली सैल।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३१
'गगनमंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि' —वही ,पृ० ७६
'गगन मँडल महँ फुल एक फूला, तरि भौ डार उपर भौ मूला।'
—कबीर बीजक, पृ० १८०
'गगन मँदिल में सतगुरु बोल सुनि के सब्द हमारा।'—धनी धरम० शब्दा०पृ० २५
'सून्य सिखर पर अजब मँडप बना, मन और पवन मिलि करै वासा।'
—प० बा० (भाग २), पृ० ३६
'गगन के सिखर पर मुकर मन चाँदना, चढ़ै मन मगन सोई गगन पावै।' तु० शब्दा०
'गगन गुफा में पैठि अधर आसन वैठि, खेचरी मुद्रा अकासे फूलै निर्वान है।'
यारी० रत्ना०, पृ० १२
'गगन मँडल महँ निर्तन होय, सतगुरु मिलें तो देखै सोय।' बुल्ला० शब्द०, पृ० ४
२. गुरु वमण विहारे रे थाकिब तइ घुण्ड कइसे।' —चर्यागीतिकोष:, पृ० १२७

इसीलिए भाव-वाचक दशा 'खसम' को व्यक्ति रूपमें वर्णित किया गया है,[1] परन्तु अनेक स्थानों पर उसका मूल भाव 'शून्य अवस्था' भी स्पष्ट है ।[2] ऐसे ही वर्णनोंमें भूली, बहिर्मुखी जीवात्माके द्वारा खसमकी मृत्यु पर अथवा प्रबुद्ध जीवात्माके द्वारा अहंकारकी समाप्ति पर, प्रसन्नता प्रकट की गई है ।[3]

गगन-मंडल—उलटवाँसी-पदों में गगन-गुफा, गगन-शिखर, शून्य-शिखर, शून्य-मंडल, आकाश-मंडल आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है । ये शब्द शून्यावस्था के पर्याय होकर आये हैं और समाधि की किसी विशेष दशा को द्योतित करते हैं ।

---

१. 'कहै कबीर सुनहु रे संतो ज्वाब खसम कूं मरणां ।'—कबीर ग्रंथावली, पद १०२
'खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ।।'—क० ग्रं०, पद ३७०
'भोलै भूली खसम के बहुत किया बिभचार ।
सत्गुर गुरू बताइया पूरिबला भरतार ।।' वही, पीव पिछांणन कौ अंग, साखी २
'साँझ सकार ज्योति लै वारै । खसम छाँड़ि सँवरै लगवारै ।।'
—कबीर बीजक, रमैनी ७३
'माई मैं दूनो कुल उजियारी ।
बारह खसम नेहरै खायो, सोरह खायो ससुराली ।।' —क० बी०, शब्द ६२
'काह कहौं कछु कहत न आवै नाहक जग बोराई ।
अपने खसम नेक नहिं जानै पर पुरुष पहँ जाई ।।' —गुलाल० बानी, पृ० १२२
'गरदन मारै खसम की लगवारन के हेत ।' —प० बा० (पहला भाग), पृ० ६०
'न्योत रही लगवार खसम से परदा तानै ।' —प० बा०, (पहला भाग), पृ १०३

२. 'खसमहि जाणि खिमाकरि गहै । तौ होइ निखओ अखै पदलहै ।।'
—आदिग्रंथ, गउड़ी ७५
'खसम निपूतौ आगणि सूतौ, रांड न देई लेव ।' —कबीर ग्रंथावली, पद ८१
खसम पिछांनि तरस करि जिय में, माल मनी करि फीकी' —क० ग्रं०, पद २२५
'जाड़न मरै सपेदी-सौरी । खसम न चिन्है धरणि भइ बौरी ।।'
—कबीर बीजक, रमैनी ७३
'खसमहिं छाड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु विचारी ।।'—कबीर बीजक, शब्द ६
'लेइ खसम को नाँव खसम से परिचै नाहीं ।' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १७
'खसम सोया है पास खसम को खोजन जावै ।'—पा०बा० (पहला भाग), पृ० ८०
'नाहिं खसम से भेंट बैठि के बात बनावै ।'—पा० बा०(पहला भाग), पृ० १०८

३. दुतिया गइ है भागि सुनो अब राँव परोसिन ।
पिया मरै आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन ।।
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरवान ।
खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ।।'—प० बा० (पहला भाग), पृ० ७५
'पलटू सोई सुहागिनी जियतै पिय को खाय ।
खसम मुवा तौ भल भया सिर की गई बलाय ।।'—प० बा०(पहला भाग),पृ० ७६

मूल रूप में यह स्थान मेरुदंड के ऊपर शिरोभाग में माना गया है। जब कुंडली षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार चक्र में प्रवेश करती है, तो उस दशा को ही शून्य-चक्र, शून्य-मंडल, गगन, आकाश-मंडल आदि नामों से जाना जाता है। इसी स्थान में अधोमुख कूप की कल्पना है और इस स्थिति पर पहुँच कर ही साधक को अनहद नाद सुनाई देता है। साधक की यह दशा नैर्मल्य, शून्यावस्था तथा प्राणों को शून्यसंज्ञा प्रदान करती है। गगन-मंडल में स्थिति ही साधक की 'खसमावस्था' है। यहाँ पहुँचकर 'प्रज्ञा' का 'उपाय' में, 'शक्ति' का 'शिव' में, चिति' का 'आनन्द' में विलय हो जाता है और साधक 'सिद्ध' संज्ञा को प्राप्त होकर परमपद की प्राप्ति कर लेता है। यही ब्रह्ममय दशा है।

उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता साधकों ने इस अवस्था का वर्णन किसी न किसी मात्रा में अवश्य किया है।[1] कोई इस स्थान को अखण्डित ज्योति से दीपित बताता है तो कोई अमृत की वर्षा से युक्त। किसी केलिए यह स्थान मुक्तात्मा रूप हँस के लिए मानसरोवर के समान है, जिसमें वह अन्य मुक्तात्माओं के साथ परमानन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार इस दशा का वर्णन परम्परा में रूढ़-सा हो गया है।

गुरू—हठयोगी - साधना में साधक को साधना - मार्ग प्रशस्त करने वाले गुरू का प्रमुख स्थान है। उलटवाँसी-पदों में ही नहीं सम्पूर्ण नाथ-संत साहित्य में वाणी के रहस्य को उद्घाटित करने वाले गुरू की पदवी सर्वोच्च मानी गई है। गुरु साधक को मन्त्र या शब्द प्रदान करता है, जिससे साधक का भ्रम दूर हो जाता है।[2] तत्पश्चात् उसको अनन्त

---

१. 'गगन मंडल में ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का बासा' —गोरख-बानी, पृ० ६
'गगन मँडल में अनहद बाजै, प्यंड पड़ै तो सतगुर लाजै' —गो० बा०, पृ० १२
'एक कांमध्येनि बारि सिधि कै गगन सिषर लै बाँधी।' —गो० बा०,पृ० ६८
'अनहद नाद गगन में गाजै, परम जोति तहाँ आप विराजै।'—गो०बा०, पृ० १५७
'कबीर मोती नीपजें सुन्नि सिषर गढ़ माँहि।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १३
'जन कबीर का सिखर घर, बाट सलैली सैल।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३१
'गगनमंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि' —वही, पृ० ७६
'गगन मँडल महँ फुल एक फूला, तरि भौ डार उपर भौ मूला।'
—कबीर बीजक, पृ० १८०
'गगन मँदिल में सतगुरु बोल सुनि के सब्द हमारा।'—धनी धरम० शब्दा०पृ० २५
'सून्य सिखर पर अजब मँडप बना, मन और पवन मिलि करै बासा।'
—प० बा० (भाग २), पृ० ३६
'गगन के सिखर पर मुकर मन चाँदना, चढ़ै मन मगन सोई गगन पावै।' तु० शब्दा०
'गगन गुफा में पैठि अधर आसन बैठि, खेचरी मुद्रा अकास फूलै निर्वान है।'
यारी० रत्ना०, पृ० १२
'गगन मँडल महँ निर्तन होय, सतगुरु मिलें तो देखै सोय।' बुल्ला० शब्द०, पृ० ४

२. गुरु बमण विहारे रे थाकिब तइ घुण्ड कइसे।' —चर्यागीतिकोष:, पृ० १२७

ज्योति प्राप्त हो जाती है। बद्ध-जीव लोक-धारा के अनुकूल होकर प्रवाहित होता रहता है। गुरु ऐसा उपकारी है जो दया-भाव से प्रेरित होकर, शिष्य को ज्ञान-दीपक दे देता है, जिस से वह भव-निशा की अमा को सहज ही समाप्त कर लेता है।[1] सतगुरु की अनंत कृपा होती है तो प्रेम की बादली के वर्षण से साधक जीवात्मा के अनेक पाश उच्छिन्न हो जाते हैं और कर्मों का कल्मष धुल जाता है।[2] गुरु की कृपा वाणी के माध्यम से ही नहीं मौन रूप में भी हो जाती है।[3] सत् गुरु की ऐसी निरनैमित्तिक सहज प्रवृत्तियों के लिए उलटवाँसी-पदों में धोबी, बढ़ई, रंगरेज आदि प्रतीकों की योजना हुई है। इन प्रतीकों में अपनी अमूर्त्तावस्था में धर्म साम्य है। गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[4] चित्त नैर्मल्य केलिए गुरु का होना आवश्यक माना गया है।[5] यह विश्वास सम्पूर्ण हिन्दी संत-साहित्य में देखने को मिलता है।

जीवात्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—उलटवाँसी-पदों में प्रतीकात्मक शब्दों के माध्यम से जीवात्मा की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है। परमात्मा रूपी पति से दूरी अथवा भ्रम-दशा की दृष्टि से और खसमावस्था की प्राप्ति के रूप में जीवात्माओं के पाँच रूप देखे जा सकते हैं। (क) भूली नारी अथवा बद्ध जीव, (ख) दुलहिनि अथवा दायित्व समझने वाली जीवात्मा, (ग) विरहिणी अथवा उत्कृष्ट जिज्ञासु साधक, (घ) गृहिणी अथवा अलौकिक जीवन-क्रम वाले साधक, (ङ) पिउ-प्यारी जीवात्माएँ अथवा जीवनन्मुक्त, सिद्धावस्था वाले साधक।

(क) भूली नारी अथवा बद्ध जीव—जो जीवात्माएँ माया अथवा भ्रम के कारण जीवनमें एकत्वके स्थान पर नानात्वका अनुभव करती हैं और जो अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं पहचानतीं, वे जन्म-मरण अथवा कर्मचक्रमें फँसी हुई मानी जाती हैं। ऐसी जीवात्माएँ लोक-मार्ग या लोक-प्रवाह के अनुकूल बहती रहती हैं। नाथ-योगियों ने ऐसे जीवों को 'पशु'

---

१. 'पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थें सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० २

२. "सतगुर हम सूं रीझि करि एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४

३. 'जेतई बोली तेत विटाल। गुरु बोव से सीसा काल।'
—चर्यागीतिकोषः, पृ० १३१

४. 'गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाइला॥' —गोरख-बानी, पृ० १२८

५. 'सतगुरु धोबी जो मिलै दिल दाग छुड़ावै।' —धनी धरम० शब्दा०, पृ० १
'सतगुरु सिगलीगर मिलैं तब छूटै पुराना दाग।'
'चादर लीजै धोय मैल है बहुत समानी।'
'चल सतगुरु के घाट भरा जहाँ निर्मल पानी॥'
—प० बा० (पहला भाग), पृ० २, ४

को संज्ञा दी है। संतों की वाणी में ऐसे जीवों को 'भूली नारी',[1] 'बावरी'[2] 'राँड'[3] आदि सम्बोधनों से अभिहित किया गया है। 'राँड' से यहाँ तात्पर्य ऐसी नारी है, जो अपने वास्तविक पति को नहीं समझती, भुला देती है।[4] इनके लिए वास्तविक पति मर चुकता है और मन केलिए संसार आदि के आकर्षण ही लगवार या उपपति के रूपमें व्यवहृत होते हैं। संतों की दृष्टि में ऐसी जीवात्माओं का जीवन वैधव्य का जीवन है, क्योंकि वास्तविक पति भ्रम के कारण अनुपस्थित है। इसीलिए उन्हें 'राँड' संज्ञासे अभिहित किया गया है।

(ख) **दुलहिनि अथवा दायित्व समझने वाली जीवात्मा**—इस वर्गमें वे जीवात्माएँ आती हैं, जो गुरु के उपदेश से अथवा सत्संग के प्रभाव से परमात्मा को वास्तविक पति समझकर,[5] सांसारिक आकर्षणों के प्रति उदासीन होकर अपने कर्मो की मलिनता तथा प्रियतम की महानता एवं पवित्रता का भावन करती रहती हैं।[6] सतगुरु अपने सद् उपदेश से ऐसी जागरूक जीवात्माओं को उनका दायित्व और मर्यादा का बोध कराता रहता है।

---

१. 'भूल गई है नार आन कै आनै कीन्हा।
कातिस मोटा सूत कातन कौं चाही झीना॥
देय महावर आँख गोड़ में काजर लावै।
ऐसी भूली नारि ताहि को को समझावै॥' —प० बानी (पहला भाग), पृ० १०६

२. 'क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसंत।
चाला जात बसंत कंत ना घर में आये॥
वृग जीवन है तोर कंत बिन दिवस गँवाये॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १८

३. 'पलटू ऊपर से कहै भीतर भरा विकार।
पिसना पीसे राँड री पिव पिव करै पुकार॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १६

४. 'खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, राँड न देई लेव।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३
'अरघा दै लै चली सुवासिनि चौके राँड भई संग साँई।'—कबीर बीजक, पृ० १६७
'देखा पियका रूप फिरा अहिवात हमारा।
बहुत दिनन की राँड माँग भर सेंदुर धारा॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १

५. 'भोलै भूली खसम कैं, बहुत किया बिभचार।
सतगुरु गुरू बताइया, पूरिबला भरतार॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ६०
'कबीर जे को सुंदरी, जांणि करै बिभचार।
ताहि न कबहूँ आदरै प्रेम पुरिस भरतार॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ८०

६. 'मन मन विहँसै दुलहिनि, अमर बर पाये हौ।' —धनी धर० शब्दा० पृ० ४४
'सुन्न मँडल सतलोक दुलहिनी दूर है।
सब अतीत पिछान, नूर भरपूर है॥' —गरीब० बानी, पृ० १४५
'अचरज एक जु देखा भली, दुलहिन खोजन पियको चली।' —भी० बा०, पृ० ६४
'दुलहिन सजी बरात लै, सुरति सेहरा बाँधि।
दिल दुरबीन अन्दर लखा, दुलहा अजर अधार॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२

ज्योति प्राप्त हो जाती है। बद्ध-जीव लोक-धारा के अनुकूल होकर प्रवाहित होता रहता है। गुरु ऐसा उपकारी है जो दया-भाव से प्रेरित होकर, शिष्य को ज्ञान-दीपक दे देता है, जिस से वह भव-निशा की अमा को सहज ही समाप्त कर लेता है।[1] सतगुरु की अनंत कृपा होती है तो प्रेम की बादली के वर्षण से साधक जीवात्मा के अनेक पाश उच्छिन्न हो जाते हैं और कर्मों का कल्मष धुल जाता है।[2] गुरु की कृपा वाणी के माध्यम से ही नहीं मौन रूप में भी हो जाती है।[3] सत् गुरु की ऐसी निरनैमित्तिक सहज प्रवृत्तियों के लिए उलटवाँसी-पदों में धोबी, बढ़ई, रंगरेज आदि प्रतीकों की योजना हुई है। इन प्रतीकों में अपनी अमूर्त्तावस्था में धर्म साम्य है। गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[4] चित्त नैर्मल्य केलिए गुरु का होना आवश्यक माना गया है।[5] यह विश्वास सम्पूर्ण हिन्दी संत-साहित्य में देखने को मिलता है।

जीवात्मा और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ—उलटवाँसी-पदों में प्रतीकात्मक शब्दों के माध्यम से जीवात्मा की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है। परमात्मा रूपी पति से दूरी अथवा भ्रम-दशा की दृष्टि से और खसमावस्था की प्राप्ति के रूप में जीवात्माओं के पाँच रूप देखे जा सकते हैं। (क) भूली नारी अथवा बद्ध जीव, (ख) दुलहिनि अथवा दायित्व समझने वाली जीवात्मा, (ग) विरहिणी अथवा उत्कृष्ट जिज्ञासु साधक, (घ) गृहिणी अथवा अलौकिक जीवन-क्रम वाले साधक, (ङ) पिउ-प्यारी जीवात्माएँ अथवा जीवनन्मुक्त, सिद्धावस्था वाले साधक।

(क) भूली नारी अथवा बद्ध जीव—जो जीवात्माएँ माया अथवा भ्रम के कारण जीवनमें एकत्वके स्थान पर नानात्वका अनुभव करती हैं और जो अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं पहचानतीं, वे जन्म-मरण अथवा कर्मचक्रमें फँसी हुई मानी जाती हैं। ऐसी जीवात्माएँ लोक-मार्ग या लोक-प्रवाह के अनुकूल बहती रहती हैं। नाथ-योगियों ने ऐसे जीवों को 'पशु'

---

१. 'पीछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थें सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि।।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० २

२. "सतगुर हम सूं रीझि करि एक कह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का भीजि गया सब अंग।।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४

३. 'जेतई बोली तेत त्रिटाल। गुरु बोब से सीसा काल।'
—चर्यागीतिकोष:, पृ० १३१

४. 'गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाइला।।' —गोरख-बानी, पृ० १२८

५. 'सतगुरु धोबी जो मिलै दिल दाग छुड़ावै।' —धनी धरम० शब्दा०, पृ० १
'सतगुरु सिगलीगर मिलैं तब छुटै पुराना दाग।'
'चादर लीजै धोय मैल है बहुत समानी।'
'चल सतगुरु के घाट भरा जहाँ निर्मल पानी।।'
—प० बा० (पहला भाग), पृ० २, ४

की संज्ञा दी है। संतों की वाणी में ऐसे जीवों को 'भूली नारी',[1] 'बावरी'[2] 'राँड'[3] आदि सम्बोधनों से अभिहित किया गया है। 'राँड' से यहाँ तात्पर्य ऐसी नारी है, जो अपने वास्तविक पति को नहीं समझती, भुला देती है।[4] इनके लिए वास्तविक पति मर चुकता है और मन केलिए संसार आदि के आकर्षण ही लगवार या उपपति के रूपमें व्यवहृत होते हैं। संतों की दृष्टि में ऐसी जीवात्माओं का जीवन वैधव्य का जीवन है, क्योंकि वास्तविक पति भ्रम के कारण अनुपस्थित है। इसीलिए उन्हें 'राँड' संज्ञासे अभिहित किया गया है।

(ख) **दुलहिनि अथवा दायित्व समझने वाली जीवात्मा**—इस वर्गमें वे जीवात्माएँ आती हैं, जो गुरु के उपदेश से अथवा सत्संग के प्रभाव से परमात्मा को वास्तविक पति समझकर,[5] सांसारिक आकर्षणों के प्रति उदासीन होकर अपने कर्मों की मलिनता तथा प्रियतम की महानता एवं पवित्रता का भावन करती रहती हैं।[6] सतगुरु अपने सद् उपदेश से ऐसी जागरूक जीवात्माओं को उनका दायित्व और मर्यादा का वोध कराता रहता है।

---

१. 'भूल गई है नार आन कै आनै कीन्हा।
कातिस मोटा सूत कातन कौं चाही झीना॥
देय महावर आँख गोड़ में काजर लावै।
ऐसी भूली नारि ताहि को को समझावै॥' —प० बानी (पहला भाग), पृ० १०६

२. 'क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसंत।
चाला जात बसंत कंत ना घर में आये॥
वृग जीवन है तोर कंत बिन दिवस गँवाये॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १८

३. 'पलटू ऊपर से कहै भीतर भरा विकार।
पिसना पीसे राँड री पिव पिव करै पुकार॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १६

४. 'खसम निपूती आंगणि सूतौ, राँड न देई लेव।' —कवीर ग्रंथावली, पृ० ११३
'अरघा दै लै चली सुवासिनि चौके राँड भई संग सांई।'—कबीर वीजक, पृ० १६७
'देखा पियका रूप फिरा अहिवात हमारा।
वहुत दिनन की राँड माँग भर सेंदुर धारा॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० १

५. 'भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुरु गुरू बताइया, पूरिबला भरतार॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ६०
'कबीर जे को सुंदरी, जांणि करै विभचार।
ताहि न कबहूँ आदरै प्रेम पुरिस भरतार॥' —कवीर ग्रंथावली, पृ० ८०

६. 'मन मन विहसै दुलहिनि, अमर बर पाये हौ।' —धनी धर० शब्दा० पृ० ४४
'सुन्न मँडल सतलोक दुलहिनी दूर है।
सब अतीत पिछान, नूर भरपूर है॥' —गरीब० बानी, पृ० १४५
'अचरज एक जु देखा भली, दुलहिन खोजन पियको चली।' —मी० बा०, पृ० ६४
'दुलहिन सजी बरात लै, सुरति सेहरा बाँधि।
दिल दुरबीन अन्दर लखा, दुलहा अजर अधार॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ११२

(ग) विरहिणी जीवात्मा अथवा उत्कट जिज्ञासु साधक—धीरे-धीरे अपना दायित्व समझने वाली जीवात्माओं का प्रेम पुष्ट होता रहता है और अपनी जागतिक स्थिति के कारण वे प्रेम-विरह तथा ज्ञान-विरहकी अवस्था में प्रिय-विरह का दुःख अनुभव करने लगती हैं। उन केलिए उस परमप्रिय परमात्मा के बिना एक क्षण भी रहना दूभर प्रतीत होता है, क्योंकि उन्हें अपने वास्तविक प्रियका पूर्ण परिचय और अनुभव की प्रतीति हो चुकी रहती है। साधक तन्मयावस्थाके लिए उत्कण्ठित रहते हैं। इस दशाके वर्णन में काव्यानुभूति उत्कर्ष पर दिखाई देती है। इस अवस्था का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन, पारिभाषिक शब्दों एवं प्रतीकों की योजना के द्वारा, उलटवाँसी शैली की विरोधगर्भित असम्बद्धता लिये हुए रहता है।[1]

(घ) गृहिणी अथवा अलौकिक जीवन क्रम वाले साधक—इस वर्ग में वे जीवात्माएँ आती हैं, जो परमात्मा रूप पति के नैकट्य का अनुभव करती हैं। इनका जीवन एक दिव्य-सेज पर व्यतीत होता है। इतने पर भी साधकों के इस जीवन में द्वैत बना रहता है। एक सेज पर रहते हुए भी पियसे मिलन नहीं हो पाता।[2] यह स्थिति आत्म परिचय के बहुत निकट की है। निज स्वरूप अथवा अद्वैतमय जीवन की यह पृष्ठ भूमि है।

(ङ) पिउ-प्यारी जीवात्माएँ, जीवन्मुक्त अथवा सिद्धावस्था वाले साधक—इस अवस्था में आकर आधक और साध्य का, जीवात्मा और परमात्मा का, स्त्री और पुरुष

---

१. 'कै विरहिण कूं मींच दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां मोपै सह्या न जाय॥'   —कबीर ग्रंथावली, पृ० १०
'बिरहिनी मंदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सौं बिन दीपक उजियार॥'   —या० रत्ना,० पृ० १
'विरहमें बेहाल बिकल सुध-बुध बिसराई। रजनी नहिं नींद नैन दीदा दरसाई॥
सखियाँ सुन सेज पास गाज परत आई। पलंगा पर पाँव धरत नागिन डस खाई॥
तड़फत तनतोल बोल वाक वचन नाहीं। पल-पल पी की उसास स्वाँसा भरि आई॥'
—तु० शब्दा० (भाग पहला), पृ० ४
'कल्प कल्प कलपत भये, जुग-जुग जोवत बाट।
कोइ री सुहागिनि ना मिली, पूछौं पिया घर घाट॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ६३

२. 'सेजैं रहूँ नैंन नहीं देखौं, यह दुख कासौं कहूँ हो दयाल॥टेक॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठके तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवरके विरह जरौं हो दयाल॥' —क० ग्रं०, पृ० १६६
'धन कुलवंती जिन जानल अपना नाह।'   —बुल्ला० शब्दसार, पृ० ५
'आतम नारि सुहागिनी, सुन्दर आपु सँवारि।
पिय मिलवेको उठि चली, चौमुख दियना बारि॥'   —या० रत्नावली, पृ० १७
'करता नहिं काल पसारी, हम अगम पुरुष की नारी।'
—तु० शब्दा० (भाग २), पृ० २३२

का भेद मिट जाता है।[1] यह साक्षात्कार की तन्मयावस्था होती है। इस अवस्था की जीवात्माओं को सुहागिनी,[2] सुरति सुहागिनि, पिउ-प्यारी नाम देकर संतों ने वर्णन किया है। यह परम सुख या परमानन्द की अवस्था होती है। 'दुतिया' मिट जाती है। यही साधक के लिए मरजीवा या जीवन्मुक्त होने की स्थिति है। इस अवस्था का वर्णन दाम्पत्य जीवन के रूपक को लेकर विशेष रूप से किया गया है।[3]

त्रिवेणी-संगम—इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नामक योग-नाड़ियों के प्रतीक गंगा, यमुना और सरस्वती के समागस्थल को 'त्रिवेणी' अथवा 'त्रिवेणी-संगम' नाम से अभिहित किया गया है। मन की गति को त्रिकुटी के इस विशिष्ट स्थान पर स्थापित करने से साधक काल-पाश को उच्छिन्न कर देता है।[4] त्रिवेणी संगम 'ब्रह्मरन्ध्र' या दशम् द्वार में होता है। बद्ध जीवों के नवद्वार खुले रहते हैं। परन्तु त्रिनाड़ी संगम न होने से दशम द्वार अवरुद्ध बना रहता है साधनाभ्यास से उक्त तीन नाड़ियों का समागम कराके दशम द्वार को उद्घाटित किया जाता है। जैसे ही यह विशेष रन्ध्र खुलता है, वैसे ही योगी सहस्रार चक्र से स्रवित होने वाले अमृत का आस्वाद लेने लगता है। उस समय उसको अमर काया की प्राप्ति होती हैं। इसलिए हठयोग विद्या प्रतिपादित ग्रंथों में उक्त त्रिवेणी में स्नान का उपदेश है।[5]

उलटवाँसी-पदों में त्रिवेणी या त्रिवेणी-संगम-घाट पर स्नान का कथन बहुशः मिलता है,[6] परन्तु हठयोग-शास्त्रों में 'त्रिवेणी' का जो शास्त्रीय विवेचन है, उसे सन्तों ने

---

१. 'पतिव्रता पति मिली हैं लाग, जहँ गगन मँडल में परम भाग।
अनहद बानी अगम खेल, जहँ दीपक जरै बिन बाती तेल॥'
—दरिया० (मारवाड़ वाले) बा०, पृ० ३७

२. 'जाको अजर अमर है देस, महल बेगमपुरी।
जहँ सदा सोहागिन होय, पिया सूँ मिलि रहुरी॥'
—चरन० बा० (भाग २), पृ० १३

३. 'चढ़ि गगना गाढ़ी भई, सुरति गई घर माँहि।
पाय पुरुष सुखसेज पै, बिलसी पति सुख जाय॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ६२
'खम्भा न महल अटारी, प्यारी पिउ धाम।'—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३४

४. 'कालपाश महाबन्ध विमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणी संगम धत्ते केदारं प्रापयेन्मतः॥' —गोरक्ष पद्धति, १।५

५. 'ब्रह्मरन्ध्रमुखे प्रोक्ता तासां संगोऽति दुर्लभः।
तस्मिन् स्नाते स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः॥' —शिव संहिता ५।१३१

६. 'चंदा गोटा पूंटा करिलै सूरिज करि लै पाटी।
मह निसि धोबी धोवै त्रिवेणी की घाटी॥' —गोरख बानी, पृ० १५१
'गंगा जमुना तृवेणीं संधी। अजपा जपौ गायत्री बन्धी॥'—गोरख बानी, पृ० १६६
'अरध उरध की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणीं संगम बाट॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ६४
—(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया। परम्परा का निर्वाह ही विशेष रूप से दिखाई देता है।

दिव्य विवाह—उलटबाँसी शैली प्रधान रूपक बन्धों में अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनमें लौकिक आधार पर, प्रतीकात्मक पारिभाषिक शब्दों में विवाह-विधि का वर्णन है।[1] कहीं-कहीं हठयौगिक शब्दावली में और कहीं सहज भावना से प्रेरित होकर जीवात्मा सत्गुरु की कृपा से, परमात्मा रूपी पति से ग्रन्थि-बन्धन कर लेती है। यही दिव्य विवाह है। इसके विपरीत जब वह संसार से ग्रन्थि-बन्धन करती है तब उसे 'राँड' कहा गया है। इस विवाह सम्बन्ध के रूप में आत्मा परमात्मा का नैकट्य ध्वनित होता है। यह स्थिति समाधि की अवस्था का द्योतक है।[2] अद्वैत की सिद्धि में इस दिव्य विवाह को पूर्व पीठिका कहा जा सकता है।

विवाह के साथ 'पीहर' और 'सासुरे' की भावना भी मुखर हुई है। संतों ने प्रबुद्ध जीवात्मा केलिए, संसार को पीहर तथा परमधाम, परमपद की प्राप्ति को ससुरालय के

(पिछले पृष्ठ का शेष)
'तिरवैनी के घाट पर हंसा नहवावौ।' —धनी धरम० शब्दावली, पृ० ३४
'तिरवैनी के घाट नाव को आनि कैं। सुखमनि घाट थहाय चलावौ जानि कैं॥'
—प० बा० (भाग दूसरा), पृ० ७८

'गगन गुफा में सिंगी टेरै, जाग्रत के घर जागै।
तिरवेनी में आसन मारै, पारब्रह्म अनुरागै॥'
—प० बा० (तीसरा भाग), पृ० ७२

'आदि अन्त पिय पटखुले चढ़ि महलन पर बाइ।
तिरवेनी घर घाट पैं, न्हावत बिपति नसाइ॥'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ६१

१. 'बाबा मोर व्याह कराव, अच्छा वरहिं तकाव।
जौलौं वर नामिलै तौलौं तुमहिं बियाहु॥' —कबीर बीजक, पृ० १८८
'हमरा बियाह करौ मोरे बाबा, तुम सों नाहिं निबाह हो।
जिनके नाहिं रूप औ रेखा, उनसे हमारो बियाह हो॥
तिरवेनी से नीर मँगावो, अछय वृच्छ कै डार हो।
ज्ञान कै डोलिया फँदावो मोरे बाबा, करिदेवो बिदा हमार हो।
धरमदास से छुटल भव सागर, सब सों मेंटि अकबवार हो॥'
—धनी धरम० शब्दा०, पृ० ४६-४७
'साहिब से लागी री सजनी, मेरो व्याह भयौ बिन मँगनी।
लागि गई तब लाज कहाँ की, कल न परै दिन रजनी॥'
—प० बा० (तीसरा भाग), पृ० १८

२. 'विवाह समाधि अवस्था का श्रोतन करता है। संत-साहित्य में समाधि को आत्मा और परमात्मा के मिलन और विवाह के रूप में परिकल्पित किया गया है।'
डॉ० धर्मवीर भारती 'हिन्दी-साहित्य कोश' (पहला भाग), पृ० ८८१

रूप में चित्रित किया है।[1] इसके विपरीत बद्ध जीवात्मा केलिए संसार से ग्रन्थि-बन्धन होने से इह लोक ससुरालय है।[2] इसी सम्बंध में उलटवाँसी-पदोंमें द्विरागमन या 'गौने'[3] शब्द का प्रयोग हुआ है। उलटवाँसी शैली के पदों में परमपद को प्रिय धाम, परम धाम, सुन्न सहर, अगमपुर, बेगमपुरी या बेगमपुरा आदि नाना नामों से अभिहित किया गया है।[4]

दीपक—उलटवाँसियों में 'दीपक' शब्द ज्ञान[5], दिव्य प्रकाश, अखण्डित ज्योति, ब्रह्म-ज्योति आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रकाश में अन्धकार पूर्ण भव-मार्ग पर साधक निश्चित होकर अग्रसर होता रहता है। दीपक की लौ में ध्यान के नैरन्तर्य की भावना विद्यमान है। यह तात्त्विक दीपक, बिना लौकिक उपादानों के ही, ऐसी दिव्य-ज्योति विकीर्ण करता है, जिससे अग-जग सभी प्रकाशित हो उठते हैं और प्रिय की दिव्य झाँकी के दर्शन सुलभ हो जाते हैं। गगन-मंडल या आकाश-मंडल में ही ऐसे दिव्य दीपक को दीपित करने अथवा होने का कथन है।[6]

---

१. 'आगे चलूँ पंथ नहिं सूझै, पाछे परै न पाँव।
ससुरे जाऊँ पिया नहिं चीन्हैं, नैहर जात लजाउँ।।'—धनी धरम० शब्दा०, पृ० १४

२. 'साँई के संग सासुर आई।
भयी विवाह चली बिन दूलह, बाट जात समधी समझाई।।'
—कबीर बीजक, पृ० १६७
'नैहर में कुछ गुन नहिं सीख्यौ, ससुरे में भई फुहरिया।'
प० बा० (तीसरा भाग), पृ० ३२

३. 'चोलिया पहिरि धनि चली गवनवा, सेत पितम्बर लागे हिंडोल।
धरमदास विनवै कर जोरी, नैहर सुपना भयल अब मोर।।'
—धनी धरम० शब्दा०, पृ० ६५

४. 'देश अटपटा बेगम नगरी निगुरै राह न पाया।'
—चरन-दास जी की बानी (भाग १), पृ० ३९
'सुन्न सहर में भई सगाई हमरे हँस मँगे हैं।
निरगुन नाम निरालँब चीन्हो, हमरे साथ सगे हैं।।' —गरीब० बानी, पृ० १३८

५. 'दीपक बालि उजीला कीया। गोरख के सिर परवत दीया।।'
—गोरख-बानी, पृ० १५३ तथा १५७
'माटी का मंदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा।
तिहि उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यानं बिचारा।।'
—कबीर ग्रंथावली, पृ० १७२

६. 'गगन मँदिल दीपक धरौ हो, भवन करौ उँजियार।'
—धनी धरमदास जी की शब्दा०, पृ० ५५
'दरिया दीपक राम का गगन मंडल में जोय।'
—दरियासाहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ३२

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

दीपक के साथ ही महल, बँगला, मन्दिर, भवन, अगम-घर को भी शरीर अथवा शिरोभाग केलिए प्रयुक्त किया गया है।[1] ऐसा भवन जिसमें दिव्य दीपक अपनी जगमग ज्योति केलिए अधिष्ठित हो, उसकी अनन्त शोभा का गायन सन्तों ने किया है।

नाद-विन्दु संयोग—अधोगामी विंदु या शक्ति को योगाभ्यासी प्रयत्न पूर्वक त्रिकुटी अथवा शिव-स्थान पर स्थापित करता है और उस त्रिकुटी स्थान में चित्त-वृत्ति को केन्द्रित करके समाधी में लीन करता है।[2] इससे ब्रह्म-पदवी या शून्याकार वृत्ति की प्राप्ति होती है[3] और साधक अजर-अमर हो जाता है। इस प्रकार नाद, शब्द या शिव में विन्दु या शक्ति को लयकर देना ही नाद-विन्दु संयोग या शिव-शक्ति संयोग कहलाता है।[4] यही

'दीपक जोड़ा नूर का लै अस्थिर बाती।' —गरीबदास जी की बानी, पृ० १७६

'बिरहिनी मंदिर दियना बारि।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों बिन दीपक उँजियार॥'
—यारीसाहब की रत्नावली, पृ० १

'दीपक तत्त तेल बिन बाती, जगमग जोति बरी।'
—तु० शब्दा० (पहला भाग), पृ० १३३

'तिस में जरै चिराग बिना रोगन बिन बाती।
छः रित बारह मास रहत जरतै दिन राती॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० ७०

१. 'सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई।
चेला गुरु दोऊ सैन करत हैं, बड़ी असाइस पाई॥'
—मलूकदास जी की बानी, पृ० २३

'धरती मिली आकाश को रे, ऊँचे महल में वास पाया।' —या० रत्ना०, पृ० १४

'पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥' प० बा० (पहला भाग), पृ० ७

'महल करै उँजियार तेल बिनु दीपक बाती।' प० ब० (पहला भाग), पृ० ६२

'गगन के बीच तेल बाती बिना, दास पलटू महादीप बारै।'
—प० बा० (भाग दूसरा), पृ० १

२. 'नाद विंदुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम्।
तत्रोपरि हंस युग्मं पादुका तत्र वर्तते॥' —घेरण्ड संहिता, ६।१२

३. 'नाद न विंदु न रवि शशि मंडल। चिअराअ सहावे मुकल॥'
—चर्यागीतिकोष:, पृ० १०५

४. 'सक्ति रूपि रज आछै सिव रूपी व्यंद।
बारह कला रवि आछै सोलह कला चंद॥' —गो० बा०, पृ० १००

'नाद विंद बजाइलै दोउ पूरिलै अनहद बाजा॥' —गो० बा०, पृ० ६२

'अवधू नादैं व्यंद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै।' —क० ग्रं०, पृ० १५४

'नादहि व्यंद कि व्यंदहि नाद, नादहि व्यंद मिलै गोव्यंद।' —क० ग्रं०, पृ० १९८

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

विंदु या महाविंदु की साधना है।[१] इस प्रकार की उक्तियाँ उलटवाँसीमूलक कथनों में देखने को मिली हैं।

निरंजन—उलटवाँसी शैली में निरंजन शब्द का प्रयोग परम्परा-निर्वाह के रूप में बहुधा देखने को मिलता है। सम्पूर्ण दृश्य जगत् 'अंजन' है। माया के परे जो सार तत्त्व है, वही सन्तों की दृष्टि में 'निरंजन' है। यह शब्द कलमष रहित ब्रह्म या परमात्म तत्त्व का सूचक है। हठयोग प्रतिपादित ग्रंथों में 'निरंजन' शब्द निराकार अथवा शून्यावस्था का द्योतक है।[२] आगे चलकर इस 'निरंजन' शब्द का इतना प्रभाव बढ़ा कि इसके नाम पर एक सम्प्रदाय ही चल पड़ा। निरंजनी सम्प्रदाय में 'निरंजन' शब्द का अर्थ इष्ट या आराध्य किया जाता है, जिसका निवास किसी विशिष्ट लोक में माना जाता है। हठयोगी परम्परा के अनुसार ही सिद्ध और नाथ-साहित्य में निरंजन शब्द शून्य अथवा ब्रह्म या व्यापक तत्त्व का द्योतक है।[3] उलटवाँसी शैली में निरंजन शब्द की बहुशः चर्चा हुई है।[4] बाद के सन्तों में अंजन-निरंजन शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है।

परचा—आत्मा-परमात्मा के परिचय अथवा आत्म साक्षात्कार के रूप में परिचय या 'परचा' शब्द का प्रयोग रूढ़ होगया है। जैसे ही जीवात्मा गुरू के उपदेश अथवा साधनाभ्यास के माध्यम से हृदय के भीतर ही परमात्मा रूप पति का साक्षात् कर लेती है, तब

'पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय।
सुरत सुहगिनि उलटि कै मिली सबद में जाय॥'
—प० बा० (पहला भाग), पृ० ६४

१. व्यंद व्यंद सब कोइ कहै। महाव्यंद कोइ बिरला लहै।
इह व्यंद भरोसे लावै बंध। असथिरि होत न देखौ कंध।' —गो० बा०, पृ०१७

२. 'सदानादानुसंधानात्क्षीयंते पाप संचयाः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्त-मारुतौ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०५
'यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजन।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यंते विविधानि च।' —शिव संहिता, २।४८

३. 'देखिए, 'कबीर'—निरंजन कौन है? —पृ० ५२-६८ तथा
—कबीर साहित्य की परख, पृ० २४४-४६

४. 'उदै अस्त राति न दिन, सरबै सचरा भाव न भिन।
सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सुषम न अस्थूल।'—गोरख-बानी,पृ० ३९
'अंजन उतपति वो ऊँकार, अंजन मांड्या सब विस्तार।
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै।'
—कबीर ग्रंथावली, पृ० २०१
'गगन गुफा के घाट निरंजन भेटिये।' —धनी धरम० शब्दा०, पृ० ३८
'अंजन माया अंजन काया, अंजन छाया रे।
अंजन राम निरंजन कीन्हा, दादू गावै रे॥' —दादू० बानी (भाग २), पृ०६४

वह विशेष परिचय ही दिव्य परिचय के रूप में जाना जाता है ।[1]

पंचप्राण—कुण्डलिनी जागरण के प्रसंग में शरीरस्थ पंच प्राण-वायुओं का ज्ञान आवश्यक है । शरीर में विभिन्न स्थानों पर प्राण-वायु की स्थिति मानी गई है । इन्हीं के कारण शरीर का ठीक प्रकार से कार्य संचालन होता है । विभिन्न अंगों में स्थिति होने के कारण इनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं ये प्राण दश हैं—अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त और घनञ्जय ।[2] इनमें से प्रथम पांच मुख्य हैं, जिनके स्थान इस प्रकार हैं—प्राण हृदय प्रदेश में, अपान नाभि के नीचे, समान नाभि में, उदान कण्ठ में और व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है ।[3] योगाभ्यासी प्राणायाम के द्वारा, विधिपूर्वक इन पवनों को नाभि से ऊपर उठाता है और 'सूर्य भेद कुंभक' के द्वारा मृत्युञ्जय की स्थिति को प्राप्त होता है ।[4] उलटवाँसी शैली में सामान्यतः इस प्राण-वायु को 'पवन' नाम से अभिहित किया गया है ।[5]

पिण्ड-ब्रह्माण्ड—पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना बहुत प्राचीन है । अथर्ववेद में नव-द्वारों वाले शरीर को देवताओं का 'पुर' बताया है, जो उसे जानता है वही ब्रह्मविद् है ।[6] हठयोगी-मान्यता में पिण्ड, अंड या शरीर के भीतर ब्रह्माण्ड विद्यमान माना जाता है। शरीर से बाहर कुछ भी नहीं है । इसी मान्यता के आधार पर सहजयानी बौद्ध, नाथ और सन्तों की साधनाएँ पल्लवित हुई हैं । उलटवाँसी शैली का आधार भी यही धारणा है,

---

१. 'सबदहि सबद सूं परचा हुवा, तब अनन्त एक में समाया ।'—गोरख-बानी, पृ० ८
'घटि-घटि गोरष घटि-घटि मींन । आपा परचै गुर मुषि चीन्ह ।'
—गोरख-बानी, पृ० १५

'घट माँहैं औघट लह्या औघट माँहै घाट ।
कहि कबीर परचाभया, गुरू दिखाई बाट ।।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १३
'जब लग पीव परचा नहीं, कन्याँ कँवारी जाँणि ।
हथलेवा होसैं लिया, मुसकल पड़ी पिछाँणि ।।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ४७

२. 'प्राणोऽपान समानश्चोदान व्यानौ तथैव च ।
नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो घनञ्जय ।।' —घेरण्ड संहिता, ५।५६

३. 'हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुद मंडले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कंठ मध्यगः ।।
व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधाना पंच वायवः ।' —घेरण्ड संहिता, ५।६०-६१

४. 'कुंभकः सूर्यभेदस्तु जरा मृत्यु विनाशकः ।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्ति देहानलं विवर्धयेत् ।।' —घेरण्ड संहिता, ५।६७

५. 'माती-माती सपनीं दसौं दिसि धावै ।
गोरषनाथ गारड़ी पवन वेगि ल्यावै ।।' —गोरख-बानी, पृ० १४०

६. 'अष्टाचक्र नवद्वारा देवानाम् पूरयोध्या ।
तस्याम् हिरण्यक्षाः कोपः स्वर्गोज्योतिषावृतः ।।'
—अथर्ववेद १०।१।२।१५ तथा १।२।३२

क्योंकि इसमें भी लोक-धारा या लोक-मार्ग के प्रतिकूल, बाह्य वृत्ति को उलटकर अन्तर्मुखी किया जाता है, यही सन्तों का उलटवास है। ऐसा करने पर ही साधक में गागर में सागर, विन्दु में सिन्धु, अण्ड में ब्रह्माण्ड समाहित करने की सामर्थ्य जागृत होती है। बाह्य जगत् में अस्तित्ववान् गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, संगम, मानसरोवर, मथुरा-काशी, चन्द्र-सूर्य, पवन, जल, आकाश आदि घट के भीतर ही विद्यमान माने हैं।[1] जिस प्रकार लोक में किसी दुर्ग को जीता जाता है, वैसे ही साधक को कायागढ़ पर विजय प्राप्त करनी होती है।[2]

ब्रह्माग्नि—उलटवाँसी मूलक कथनों में ब्रह्म-अग्नि प्रज्ज्वलि करने, उद्दीप्त करने, दीपित करने आदि के कथन मिलते हैं। ये कथन ब्रह्मज्योति, ज्ञानाग्नि, वीर्य का तेज आदि के सूचक हैं। ऐसे कथनों से अद्वितीय ब्रह्म-ज्ञान की ध्वनि निकलती है। प्रायः सभी सन्तों ने इस शब्द का प्रयोग किया है।[3] यह शब्द अपने इस विशेष अर्थ में रूढ़-सा हो गया है। परन्तु इसकी व्याप्ति वेदान्त के ब्रह्म के समान नहीं है।

मरजीवा—सामान्य अर्थ में 'मरजीवा' शब्द का प्रयोग सागर की तह में पैठ कर मोती खोज निकालने वाले केलिए होता है। उलटवाँसी-पदों में 'मरजीवा' शब्द संसार-सागर

---

१. 'जिस कारनि तटि तीरथि जाहीं, रतन पदारथ घट ही माहीं ॥'

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १०२

'काया माहैं सागर सात। काया माहैं अविगत नाथ ॥
काया माहैं नदिया नीर। काया माहैं गहिरा गंभीर।
काया माहैं कासी थान। काया माहैं करै सनान ॥'

—दादू० बानी (भाग १), पृ० ५२

'सोर भया ब्रह्मण्ड अंड में धधक मचाई।
जब फूटा असमान गगन में सहज समाई ॥
तुलसी गति मिति लखि पड़ी निरख लखा सब अंड।
सुति चढ़ि गगई अकास में सोर भया ब्रह्मण्ड ॥'

—तुलसी० शब्दा० (पहला भाग), पृ० ३६

२. 'काया गढ़ भींतर नौ लख षाई, जंत्रफिरै गढ़ लिया न जाई ॥
ऊँचे नीचे परबत झिलिमिलि पाई, कोठणी का पांणी पूरण गढ़ जाई ॥
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, कायागढ़ जीतिलै गोरष अवधूता ॥'

—गोरख-बानी, पृ० १३४

३. 'ब्रह्म अगनि में काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १०६
'ब्रह्म अगिन परगट करै, कर्म भर्म जरावै।' —धनी धरम० शब्दा०, पृ० १
'ब्रह्म अगिन ऊपर जलै, चलत प्रेम की बाय।
दरिया सीतल आतमा कर्म कंद जल जाय ॥'

—दरिया० (मारवाड़ वाले) बानी, पृ० १५

'तत कर तेल सुरत की बाती, हाथै दीपक वाली।
ब्रह्म अगिनि परघट करि तन में, महल करो उजियाली।'

—तुलसी० शब्दा० (भाग २), पृ० २७२

से चिन्तन के आधार पर ज्ञान-रत्न प्राप्त करने वाले केलिए प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार गोताखोर को जल की गहराई में प्रवेश करना होता है, वैसे ही साधक को हृदयोदधि में निमग्न होकर, अथवा भव-सागर की सूक्ष्मता पर विचार करके, बाह्यवृत्ति को अन्तर्मुखी करके साधना करनी पड़ती है। वैसे भी साधक सिद्ध कोटि में पहुँच कर काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं।[1] वैसे 'मरजीवा' शब्द में उलटवाँसी तत्त्व विद्यमान है, क्योंकि मरा हुआ जीवित कैसे ? साधनाभ्यास द्वारा, वृत्तियों का संयमन करते-करते साधक जीवन मुक्ति की दशा को प्राप्त हो जाता है।

मानसरोवर स्नान—हठयोग-विद्या प्रतिपादित ग्रंथों में मानसरोवर-स्नान और कैलाश वास का महत्त्व बताया गया है।[2] मानसरोवर और कैलाश की स्थिति घट के भीतर है। अभ्यास करते-करते साधक जब प्राणवायु को सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ा ले जाता है, तब शक्ति या कुंडली का शिव से समागम होता है। साधक केलिए यही परमानन्द की अवस्था होती है। चित्त-वृत्ति को यहीं पर केन्द्रित करके परमसुख का अनुभव होता है। इस प्रकार यह परमानन्द ही कैलाशवास अथवा मरजीवा—(जीवन्मुक्त) अवस्था है। हंस स्वभाव वाली जीवात्मा केलिए यही मानसरोवर स्नान है। उलटवाँसी मूलक कथनों में उक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है।[3]

माया—उलटवांसियों में माया केलिए अनेक सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। इन प्रतीकों में माया के अनेक रूप कार्यशील है। व्यापक रूप में यहाँ वेदान्त प्रतिपादित माया का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। सन्तों में नारी के प्रति विरोध की भावना केवल

---

१. 'मृतक उठ्या धनक कर लीयै काल अहेड़ी भागा।
उदया सूर निस किया पयानां, सोवत थें जब जागा।।'—कबीर ग्रंथावली, पृ० ८६
'मृतकहि देषि डरानों काल।'—सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), अंग २२
'मरजीवा मन मारि महोदध पैठ रे।
अनहद सब्द घमोर जहाँ टुक बैठ रे।।' —गरीबदास जी की बानी, पृ० ११८
'सो पावैगा लाल जाइ के गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै।।
पलटू गुरू भक्ति बिना भेष भवा पंगाल।
जो साहिब का लाल है, सो पावैगा लाल।।'
—प० बा० (पहला भाग), पृ० ५३

२. 'ब्रह्माण्ड व्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।।' —शिव संहिता, ५।१५२

३. 'मानसरोवर मनसा झूलंती आवै, गगन मंडल मठ मांडै रे।'
—गोरख-बानी, पृ० १०५
'मान सरोवर ताल जहाँ अमी सागर हो।
हंसा करै बिसराम तो अम्र उजागर हो।।' —धनी धरमदास शब्दा०, पृ० ४२

वासना के विरोध केलिए ही है। वही माया रूप 'वासना' सास,[1] नारि,[2] नागिनि[3] बगुली[4] आदि प्रतीकों में अभिव्यक्त हुई है।

मैदान—साधनाभ्यासी केलिए चौगान खेल के खेलने का वर्णन सन्तों की वाणी में प्राय: रूढ़-सा दिखाई देता है। इसी सम्बन्ध में गगन-शिखर या त्रिकुटी स्थान, जहाँ सूरमा-साधक साधना के अवरोधक तत्त्वों से द्वन्द्व करता है, 'मैदान' नाम से सन्तों की बानियों में प्रयुक्त हुआ है।[5]

मैदान के प्रसंग में ही 'हद-बेहद' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। इस शब्द का प्रयोग साधना की दुष्करता तथा परम पद की प्राप्ति की दुर्लभता को व्यंजित करता है। इसके द्वारा साधक की विशेष मानसिक अवस्था की सूचना मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे जीवात्मा अपनी ससीमता को छोड़कर असीमता में विलय हो गई है।[6]

योग-नाड़ियाँ और उनका विशिष्ट समागम—इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन योग नाड़ियाँ हठ-योग परम्परा में प्रसिद्ध हैं। ये गंगा, यमुना और सरस्वती इन सरिताओं

---

१. 'साँई के संग सासुर आई।' —कबीर बीजक, पृ० १६६

२. 'नारि एक संसारहिं आई, माय न वाके बापहिं जाई।
गोड़ न मूड़ न प्राण-अधारा, तामहँ भमरि रहा संसारा॥'—कबीर बीजक, पृ० ७८
'नर से निकसी इक नारी, कोइ बूझें साध बिचारी।
हाथ न पाँव सीस नहिं काया, खाया सब जग झारी॥
माई न बाप आप से उपजी, खुद खसम की कीन्ह खुवारी॥'
—प० बा० (दूसरा भाग), पृ० १६६

३. 'मारी मारी स्रपनीं निरमल जल पैठी।' —गोरख-बानी, पृ० १३९

४. 'बुगली नीर बटालिया, सायर चढ़्या कलंक।
और पँखेरू पी गए, हंस न बोवैं चंच॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३५

५. अवधू मनसा हमारी गींद बोलिये, सुरति बोलियै चौगानं।
अनहद षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं॥' —गोरख-बानी, पृ० ३२
'पलटू कपफन बाँधि कै खेंचो सुरति कमान।
संत चढ़े मैदान पर बाँधे तरकस ज्ञान॥' —प० बा० (पहला भाग), पृ० ४२

६. 'हदै छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर बास।
कवल जु फूल्या फूल बिन को निरपै निजदास॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १२
'हद्द अनहद्द के पार मैदान है, उसी मैदान में सोय रहना।
पैर दक्खिन करै सीस उत्तर धरै, सबद की चोट सम्हारि सहना॥'
—प० बा० (भाग १), पृ० २
'हद्द बेहद्द के पार परचा मिलें, होइ निज हंस सोई महल पावै।'
—तुलसी० शब्दा० (भाग १), पृ० ८

के रूप में प्रतीकायित हुई हैं। उलटवाँसी मूलक पदों में इनका अनेक स्थानों पर व्यवहार हुआ है।*

इडा—इडा को इड़ा, इंगला, गंगा,[1] वरुणा आदि नामों से जाना जाता है। इस नाड़ी की स्थिति मेरुदंड के सहारे वाईं ओर को है, जो नासिका के दाईं ओर जाती है, वहाँ इसका सम्बन्ध 'आज्ञा चक्र' से हो जाता है। इसके अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' माने गए हैं। ब्रह्मरन्ध्र में स्थित 'चन्द्र' से इस नाड़ी के द्वारा अमृत स्राव होता है। इसलिए इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं, जो स्वभाव से शीतल और पवित्र होती है। सम्भव है इसीलिए इसे गंगा नाम से अभिहित किया गया है। बौद्ध-साहित्य में इसे ललना, आली, धमनी, रज आदि नामों से जाना जाता है। यह 'प्रज्ञा' रूप है।[2]

पिंगला—पिंगला को यमुना,[3] रसना, सूर्य नाड़ी,[4] दिवस आदि नामों से अभिहित किया गया है। इस नाड़ी में सूर्य का वास माना गया है, अतः यह स्वभाव से उष्ण है। इसकी स्थिति मेरुदंड के दाहिनी ओर और नासिका के वाईं ओर है। इसलिए यह 'आज्ञा चक्र' के वामस्थ रहती है। इसके अधिष्ठाता विष्णु माने गये हैं। सिद्धों की परम्परा में इसे चमन, शुक्र, उपाय आदि नामों से जाना जाता है।

सुषुम्ना—हठयोग-साधना में सुषुम्ना योग-नाड़ी का विशेष महत्त्व बताया गया है। वैसे तो शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ मानी गई हैं, परन्तु उनमें शांभवी रूप सुषुम्ना का विशेष स्थान है।[5] इसके भीतर भी वज्रा, चित्रिणी आदि, ब्रह्म नाड़ियाँ निवास करती हैं।[6] ब्रह्मनाड़ी[7] ही वास्तव में कुंडलिनी का ऊर्ध्वगामी मार्ग है। इसे शून्य पदवी, श्मशान, शांभवी आदि नामों से भी अभिहित किया है।[8] इसको इडा-पिंगला के मध्य में, मेरुदंड के

---

*. टिप्पणी—इसके विशेष परिचय केलिए देखिये आगे दिया हुआ योग-चित्र। पृ० १६४
१. —हठयोग प्रदीपिका, ३।११०
२. —बौद्धगान और दोहा, पृ० ६
३. 'इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।' —हठयोग प्रदीपिका, ३।११०
४. 'अवधू इडा मारग चंद्र भणीजै, प्यंगला मारग भानं।
सुषमनां मारग बांणी बोलिये त्रिय मूल अस्थानं ॥' —गोरख-वानी, पृ० ३३
५. 'द्वासप्तति सहस्राणि नाडी द्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१८
'वेद शास्त्र पुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।३५
६. देखिए, 'कवीर'—हठयोग की साधना, पृ० ४५
७. 'विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत्।' —हठयोग प्रदीपिका, ३।६६
८. 'सुषुम्ना शून्य पदवी ब्रह्मरंध्र महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येक वाचकाः ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।४,

समानान्तर माना गया है। मध्यवर्तिनी होने के कारण इसे 'सरस्वती' भी कहा जाता है।[१] सुषुम्ना के अधिष्ठाता देवता शिव हैं।

सुषुम्ना-योगनाड़ी में ही षट्चक्रों की मान्यता है, जिनका भेदन करती हुई कुंडलिनी सप्तम अर्थात् सहस्रार चक्र में प्रवेश करती है।[२] बद्धजीवों में कुंडलिनी द्वारा सुषुम्ना का मुख अवरुद्ध बना रहता है, परन्तु शक्ति-चालन मुद्रा के द्वारा जैसे ही कुंडलिनी ऊपर को खिसकती है, वैसे ही, उसी मार्ग से साधक प्राण-वायु को ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाता है।[3] जब प्राण-वायु सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगती है, तब साधक को 'मनोन्मनी' अवस्था की प्राप्ति होती है।[४] सहजयानी सिद्धों की बानी में सुषुम्ना को 'डोम्बी' नाम से जाना गया है।[५]

चन्द्र-सूर्य संगम—सहस्रार चक्र में योनि के आकार का कोई 'चन्द्र' स्थान माना गया है, जो अधोमुखी है, जिससे अमृत का स्राव निरंतर होता रहता है और मूलाधार चक्र में कोई गोलाकार स्थान है, जिसे 'सूर्य' नाम से अभिहित किया जाता है, इससे विष प्रवाहित होता है, जो पिंगला योग-नाड़ी द्वारा नासिका रन्ध्र के बाईं ओर पहुँचता रहता है, तथा 'चन्द्र' से प्रस्रवित अमृत इड़ा द्वारा अधोगामी बना रहता है, जो सूर्य में पड़कर भस्म हो जाता है। प्रवाह-काल में 'जीवों' की यही दशा बनी रहती है, जिससे जरा-मृत्यु की प्राप्ति होती है।[६] साधक योगाभ्यास से अमृतस्राव को अवरुद्ध करके उसे ब्रह्माण्ड में ही लय कर लेता है और उसे सूर्य-कुण्ड में पड़ने से बचा लेता है। यही चन्द्र के द्वारा सूर्य का ग्रहण अथवा चन्द्र-सूर्य संगम है। उलटबाँसी मूलक कथनों में इड़ा-पिंगला को त्रिकुटी स्थान में मिलाने को 'गंगा-यमुना संगम',[७] सुषुम्नामार्ग से प्राणवायु को ऊर्ध्वगामी करने और

---

१. 'मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽति दुर्लभः।' —शिव संहिता, ५।१३०

२. 'प्रसुप्ता भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णाया॥
उद्घाटयेत्कपाटं तु तथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥' —गोरक्ष पद्धति, १।५०-५१

३. 'ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम्॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः॥' —गोरक्ष-पद्धति, १।५६-८

४. 'सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।' —हठयोग प्रदीपिका, ४।२०

५. 'डोम्बीएर सङ्गे जो जोइ रत्तो।
खणइ न छाड़अ सहज उन्मत्तो॥' —चर्यागीतिकोषः, पृ० ६४

६. 'यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडोजरायुतः॥' —हठयोग प्रदीपिका, ३।७७

७. 'गंगा जउना माझें रे वहइ नाइ।' —चर्यागीतिकोषः, पृ० ७४
'गंग जमुन मोरी पाटलडी रे हंस गवन तुलाई जी।' —गोरख-बानी, पृ० ९३

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

तज्जन्य-सुख की अनुभूति करने को 'सुखमनि सेज पर विश्राम'[1] तथा चन्द्र नाड़ी के द्वारा स्रवित अमृत को अवरुद्ध करके ब्रह्मांड में लय करने तथा सूर्य-नाड़ी का प्रवाह रोकने को 'चन्द्र-सूर्य संगम'[2] आदि रूपों में उल्लेख मिलता है।

'चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी।
मूँनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी।।' —गोरख-बानी, पृ० १६६
'गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३
'गंग जमुन तहँ नीर नहाइ। सुषमन नारी संग लगाइ।'
—दादू० बानी (भाग २), पृ० २६
'इँगला पिंगला सुखमनि घाटा। तहँ बंक नाल रस पीवै बाटा।।
सलिता तीनि संगम तहँ भयऊ। बारि बयारि अमृत रस पयऊ।।
चंदसूर दुइ करहिं बिलासा। उदय अस्त फिरि होय प्रगासा।।
इँगला चंद्रवाहिनी कहिया। पिंगला भानु प्रगासित अहिया।।'
—दरिया सागर, पृ० ५६
'त्रिकुटी संगम होय कर गंग जमुन के घाट।'
—दरिया साहब (मारवाड़वाले की) बानी, पृ० ४५
'दहिने गंगा बाये जमुना, मद्ध सुरसती धारा।
उलटामीन चढ़ै सरवर में, ऐसा खेल हमारा।।' —गरीबदास की बानी, पृ० १५०
'गगरी जल गगन भराऊँ, तेरी सुरति अधर घर छाऊँ।
गंगा गगन घाट है संगम, जंगम जल बतलाऊँ।।'
—तुलसी० शब्दा० (भाग ३), पृ० १७०

१. 'सुखमन सेज बिछाओं गगन में, नित उठ करों निहोर।'
—धनी धरम० की शब्दा०, पृ० ४६
'मूल में गाँठि परी दृढ़ से, जहँ सुखमन सेज कि राह सँवारी।'
—बुल्ला० शब्दा०, पृ० २१
'इँडाला पिंगला तारी देवै, सुखमन गावत होरी।'
—भीखासाहेब की बानी, पृ० ४४
'इड़ा औ पिंगला सुखमना घाट है, सुखमना घाट में लगी नल्ली।'
—पलटू० बानी (भाग २), पृ० २६

२. 'सासु घरे घालि कोञ्चा ताल।
चान्दसुज वेणि पखा फाल।।' —चर्यागीतिकोषः, पृ० १२
'अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिमं कै घरि सूरं।' —गोरख-बानी, पृ० २०
'चंद सूर दोइ खंमवा, बंक नालि की डोरि।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ९४
'गंगा जमुना सरसुती हो, चंद सूर के बीच।
अर्घ उर्घ के मध्य में, अमी अरगजा कीच।।' —धनी धरम० शब्दा, पृ० ५५
'चांद सूर एकग्र करिके, सुखमना घरि पौन।
तहँ होत है अनहद गहागह, मिटी मन को धौन।।' —बुल्ला० शब्दा०, पृ० ८

शब्द-शून्य—श्रीमद्भागवत में शब्द-ब्रह्म की चर्चा है।[1] विष्णु सहस्रनाम में विष्णु के सहस्र नामों में एक नाम 'शून्य' है, जिसकी शंकराचार्य ने 'सर्वविशेष रहितत्वात् शून्यवत् शून्य' रूप में व्याख्या की है। योगदर्शन में निर्विकल्पक समाधि के सम्बन्ध में शून्य का उल्लेख है, परन्तु वहाँ सबीज वृत्ति के आत्यान्तिक अभाव को ही शून्य बताया है। व्यापक ब्रह्म तत्त्व के रूप में भी शून्य का उल्लेख है।[2] साधक जब सुरति अथवा वृत्ति को महाशून्य में विलय करता है, तो मर्दल ध्वनि सुनाई देती है।[3] आकाश शून्यरूप माना जाता है तथा आकाश का गुण 'शब्द' है। अतः गुण-गुणी के अभेद से 'शब्द' का आकाश, शून्य, ब्रह्म आदि रूपों में कथन है।[4]

सहजयानी सिद्धों के साहित्य में 'युगनद्ध' प्रक्रिया अथवा प्रज्ञोपाय की सिद्धि में 'शून्य' को महत्त्व मिला है। उन केलिए शून्यावस्था ही महासुख की अवस्था है।[5] नाथ-योगियों में आकर 'शून्य' शब्द के प्रयोग की व्याप्ति और बढ़ गई थी। यहाँ आकर 'शून्य' का व्यवहार परमतत्त्व, परमपद के अतिरिक्त परमनाद, ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार, शिवलोक आदि से भी हो गया।[6]

सन्तों की बानियों में पूर्व परम्परा अक्षुण्ण बनी रही है। अनेक स्थानों पर, अनेक रूपों में शून्य-शब्द की एकता, शब्द-ब्रह्म का महत्त्व और परमपद के रूप में कथन मिलते हैं।[7]

---

१. 'शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रिय मनोमयम्।' —श्रीमद्भागवत पुराण, ११,२१।३६

२. 'अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे।
अन्तःपूर्णोः बहिपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।५६
'जल में कुंभ कुंभ में जल, है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तत कथ्यौ गियांनी ॥' —क०ग्रं० ,पृ० १०३

३. 'तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तथा याति सर्व सिद्धि समाश्रयम् ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।७४

४. 'तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेतिगीयते ॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०१

५. 'विषयेन्द्रियग्रामानहन् शून्यता राजो महासुख नामा।
तूर्य शब्दः शंखध्वनिः अप्रतिहत नादं नदति ॥' —चर्यागीतिकोषः, पृ० १५७

६. 'सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि कै परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहरगंभीर ॥' —गोरख-बानी, पृ० ७३

७. 'लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ६४
'चोट सहारै सबद की दरिया साँचा सूर।'—दरिया (मारवाड़ वाले) बानी, पृ० १०
'फूटि गया असमान सबद की धमक में।' —प० बा० (दूसरा भाग), पृ० ६१
'सब्द सब्द सब कहैं सब्द का सुनौ ठिकाना।
सार सब्द है न्यार पार निरसब्द कहाना ॥
सुन्न सहर से सब्द आदि नित उठै अवाजा।
भरे हरि तुलसी निरसब्दी धुन सुन्नि सुन्नि से न्यारा ॥'—तु० श० (भाग १), पृ० ३०

तज्जन्य-सुख की अनुभूति करने को 'सुखमनि सेज पर विश्राम'[1] तथा चन्द्र नाड़ी के द्वारा स्रवित अमृत को अवरुद्ध करके ब्रह्मांड में लय करने तथा सूर्य-नाड़ी का प्रवाह रोकने को 'चन्द्र-सूर्य संगम'[2] आदि रूपों में उल्लेख मिलता है।

'चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी।
मूँनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी॥' —गोरख-बानी, पृ० १६६
'गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ३
'गंग जमुन तहँ नीर नहाइ। सुषमन नारी संग लगाइ।'
—दादू० बानी (भाग २), पृ० २६
'इँगला पिंगला सुखमनि घाटा। तहँ बंक नाल रस पीवै बाटा॥
सलिता तीनि संगम तहँ भयऊ। बारि बयारि अमृत रस पयऊ॥
चंदसूर दुइ करहिं बिलासा। उदय अस्त फिरि होय प्रगासा॥
इँगला चंद्रवाहिनी कहिया। पिंगला भानु प्रगासित अहिया॥'
—दरिया सागर, पृ० ५६
'त्रिकुटी संगम होय कर गंग जमुन के घाट।'
—दरिया साहब (मारवाड़वाले की) बानी, पृ० ४५
'दहिने गंगा बाये जमुना, मद्ध सुरसती धारा।
उलटामीन चढ़ै सरवर में, ऐसा खेल हमारा॥' —गरीबदास की बानी, पृ० १५०
'गगरी जल गगन भराऊँ, तेरी सुरति अघर घर छाऊँ।
गंगा गगन घाट है संगम, जंगम जल बतलाऊँ॥'
—तुलसी० शब्दा० (भाग ३), पृ० १७०

१. 'सुखमन सेज बिछाओं गगन में, नित उठ करौं निहोर।'
—धनी धरम० की शब्दा०, पृ० ४६
'मूल में गाँठि परी दृढ़ से, जहँ सुखमन सेज कि राह सँवारी।'
—बुल्ला० शब्दा०, पृ० २१
'इँडाला पिंगला तारी देवै, सुखमन गावत होरी।'
—भीखासाहेब की बानी, पृ० ४४
'इड़ा औ पिंगला सुखमना घाट है, सुखमना घाट में लगी नल्ली।'
—पलटू० बानी (भाग २), पृ० २६

२. 'सासु घरे घालि कोञ्चा ताल।
चान्दसुज वेणि पखा फाल॥' —चर्यागीतिकोषः, पृ० १२
'अमावस कै घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिम कै घरि सूरं।' —गोरख-बानी, पृ० २०
'चंद सूर दोइ खंमवा, बंक नालि की डोरि।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ६४
'गंगा जमुना सरसुती हो, चंद सूर के बीच।
अर्घ उर्घ के मध्य में, अमी अरगजा कीच॥' —धनी धरम० शब्दा, पृ० ५५
'चांद सूर एकग्र करिके, सुखमना घरि पौन।
तहँ होत है अनहद गहागह, मिटो मन को धौन॥' —बुल्ला० शब्दा०, पृ० ८

शब्द-शून्य—श्रीमद्भागवत में शब्द-ब्रह्म की चर्चा है।[1] विष्णु सहस्रनाम में विष्णु के सहस्र नामों में एक नाम 'शून्य' है, जिसकी शंकराचार्य ने 'सर्वविशेष रहितत्वात् शून्यवत् शून्य' रूप में व्याख्या की है। योगदर्शन में निर्विकल्पक समाधि के सम्बन्ध में शून्य का उल्लेख है, परन्तु वहाँ सबीज वृत्ति के आत्यान्तिक अभाव को ही शून्य बताया है। व्यापक ब्रह्म तत्त्व के रूप में भी शून्य का उल्लेख है।[2] साधक जब सुरति अथवा वृत्ति को महाशून्य में विलय करता है, तो मर्दल ध्वनि सुनाई देती है।[3] आकाश शून्यरूप माना जाता है तथा आकाश का गुण 'शब्द' है। अतः गुण-गुणी के अभेद से 'शब्द' का आकाश, शून्य, ब्रह्म आदि रूपों में कथन है।[4]

सहजयानी सिद्धों के साहित्य में 'युगनद्ध' प्रक्रिया अथवा प्रज्ञोपाय की सिद्धि में 'शून्य' को महत्त्व मिला है। उन केलिए शून्यावस्था ही महासुख की अवस्था है।[5] नाथ-योगियों में आकर 'शून्य' शब्द के प्रयोग की व्याप्ति और बढ़ गई थी। यहाँ आकर 'शून्य' का व्यवहार परमतत्त्व, परमपद के अतिरिक्त परमनाद, ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार, शिवलोक आदि से भी हो गया।[6]

सन्तों की बानियों में पूर्व परम्परा अक्षुण्ण बनी रही है। अनेक स्थानों पर, अनेक रूपों में शून्य-शब्द की एकता, शब्द-ब्रह्म का महत्त्व और परमपद के रूप में कथन मिलते हैं।[7]

---

१. 'शब्द ब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रिय मनोमयम्।' —श्रीमद्भागवत पुराण, ११,२१।३६

२. 'अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे।
अन्तःपूर्णोः बहिपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।५६
'जल में कुंभ कुंभ में जल, है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ गियांनी॥' —क०ग्रं०, पृ० १०३

३. 'तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तथा याति सर्व सिद्धि समाश्रयम्॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।७४

४. 'तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेतिगीयते॥' —हठयोग प्रदीपिका, ४।१०१

५. 'विषयेन्द्रियग्रामानहत् शून्यता राजो महासुख नामा।
तूर्य शब्दः शंखध्वनिः अप्रतिहत नादं नदति॥' —चर्यागीतिकोषः, पृ० १५७

६. 'सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि कै परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहरगंभीर॥' —गोरख-बानी, पृ० ७३

७. 'लागी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठौर।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० ६४
'चोट सहारै सबद की दरिया सांचा सूर।'—दरिया (मारवाड़ वाले) बानी, पृ० १०
'फूटि गया असमान सबद की धमक में।' —प० बा० (दूसरा भाग), पृ० ६१
'सब्द सब्द सब कहैं सब्द का सुनो ठिकाना।
सार सब्द है न्यार पार निरसब्द कहाना॥
सुन्न सहर से सब्द आदि नित उठै अवाजा।
भरे हाँरै तुलसी निरसब्दी धुन सुन्नि सुन्नि से न्यारा॥' –

कुण्डलिनी शक्ति-योग

षट्चक्र—हठयोगी परम्परा में षट्चक्रों के भेदन का कथन है। ये षट्चक्र मेरुदंड के सहारे सुषुम्ना योग-नाड़ी में स्थित माने गए हैं। इन्हीं को भेदती हुई कुंडलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में पहुँचती है। षट्चक्रों के भेदन के पश्चात् साधक को परमानन्द की अनुभूति होती है।[1] ये चक्र हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध और (६) आज्ञा चक्र। मूलाधार चक्र गुह्य स्थान के समीप स्थित माना है। इसमें

---

१. —शिव संहिता, ५।६४-६७

चार पंखुड़ियाँ मानी गई हैं। मूलाधार पर मनन करने से साधक को 'दर्दुरी सिद्धि' की प्राप्ति होती है। निरन्तर ध्यान से वह आकाश-गति को प्राप्त कर लेता है।[1]

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है, जो लिंगमूल में स्थित है। इसमें छ: पंखुड़ियों की कल्पना है। यह रक्तवर्ण का माना गया है। इसकी सिद्धि हो जाने पर सुन्दरी देवांगनाएँ साधक को आकर्षित करती हैं और वह अणिमादिक सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है।[2] तीसरा चक्र 'मणिपूर' है। इसकी दस पंखुड़ियाँ और वर्ण सुनहला माना गया है।[3] इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक इच्छाओं का स्वामी हो जाता है। चतुर्थ चक्र पर चिन्तन करने वाले योगी को त्रिकालज्ञ की पदवी मिलती है।[4] पाँचवा चक्र 'विशुद्ध' है। इनमें सोलह पंखुड़ियाँ मानी गई हैं और इसका वर्ण देदीप्यमान स्वर्ण के समतुल्य माना गया है।[5] जो इस चक्र पर चिन्तन करता है, वह योगेश्वर की पदवी पा लेता है। छटा चक्र 'आज्ञा' है। इसकी स्थिति त्रिकुटी के मध्य में है। इसमें दो दल होते हैं, जिनके संकेताक्षर 'ह' और 'स' हैं। इसका रंग श्वेत माना गया है। इसी चक्र के दोनों ओर इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ आती हैं, जिन्हें वरुणा और असी भी कहा जाता है। यहीं 'शिव' का वास होता है। इस स्थान पर पहुँचा हुआ योगी परम तेज का अधिकारी होता है।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रदल कमल या सहस्रार चक्र की कल्पना है। यह तालु मूल में स्थित माना है।[6] यहीं सुषुम्ना का छिद्र है, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इस स्थान में विचरण करना ही साधकों का परम लक्ष्य है। सन्तों ने कहीं-कहीं इस चक्र के ऊपर अष्टम चक्र या 'सुरति कमल' का उल्लेख किया है,[7] जिसमें पहुँचकर व्युत्थान-काल में भी योगी का

---

१. 'यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धिर्भूमित्याग क्रमेण वै।।'
—शिव संहिता, ४।६४ से ६७ तक

२. 'द्वितीयंतु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।
वादिलां तं च षड्वर्णं प्रभास्वर षड्दलम्।।' —शिव संहिता, ५।७५

३. 'तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम्।
दशारं डाफिकांतार्णं शोभितं हेमवर्णकम्।।' —शिव संहिता, ५।७६

४. 'हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
कादिठांतार्थ संस्थानं द्वादशारसमन्वितम्।।
अतिशोणं वायु वीजं प्रसादस्थानमीरितम्।।' —शिव संहिता, ५।८३

५. 'कंठस्थान स्थितंपद्मं विशुद्धं नामपंचमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वर संयुतम्।।' —शिव संहिता ५।९०

६. 'अतः ऊर्ध्वं तालु मूले सहस्रारं सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्।।' —शिव संहिता ५।१२०

७. देखिए, 'कबीर'—हठयोग की साधना, पृ० ४५

कुण्डलिनी शक्ति-योग

षट्चक्र—हठयोगी परम्परा में षट्चक्रों के भेदन का कथन है। ये षट्चक्र मेरुदंड के सहारे सुषुम्ना योग-नाड़ी में स्थित माने गए हैं। इन्हीं को भेदती हुई कुंडलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में पहुँचती है। षट्चक्रों के भेदन के पश्चात् साधक को परमानन्द की अनुभूति होती है।[1] ये चक्र हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध और (६) आज्ञा चक्र। मूलाधार चक्र गुह्य स्थान के समीप स्थित माना है। इसमें

१. —शिव संहिता, ५।६४-६७

चार पंखुड़ियाँ मानी गई हैं। मूलाधार पर मनन करने से साधक को 'दर्दुरी सिद्धि' की प्राप्ति होती है। निरन्तर ध्यान से वह आकाश-गति को प्राप्त कर लेता है।[1]

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है, जो लिंगमूल में स्थित है। इसमें छः पंखुड़ियों की कल्पना है। यह रक्तवर्ण का माना गया है। इसकी सिद्धि हो जाने पर सुन्दरी देवांगनाएँ साधक को आकर्षित करती हैं और वह अणिमादिक सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है।[2] तीसरा चक्र 'मणिपूर' है। इसकी दस पंखुड़ियाँ और वर्ण सुनहला माना गया है।[3] इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक इच्छाओं का स्वामी हो जाता है। चतुर्थ चक्र पर चिन्तन करने वाले योगी को त्रिकालज्ञ की पदवी मिलती है।[4] पाँचवा चक्र 'विशुद्ध' है। इसमें सोलह पंखुड़ियाँ मानी गई हैं और इसका वर्ण देदीप्यमान स्वर्ण के समतुल्य माना गया है।[5] जो इस चक्र पर चिन्तन करता है, वह योगेश्वर की पदवी पा लेता है। छटा चक्र 'आज्ञा' है। इसकी स्थिति त्रिकुटी के मध्य में है। इसमें दो दल होते हैं, जिनके संकेताक्षर 'ह' और 'स' हैं। इसका रंग श्वेत माना गया है। इसी चक्र के दोनों ओर इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ आती हैं, जिन्हें वरुणा और असी भी कहा जाता है। यहीं 'शिव' का वास होता है। इस स्थान पर पहुँचा हुआ योगी परम तेज का अधिकारी होता है।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रदल कमल या सहस्रार चक्र की कल्पना है। यह तालु मूल में स्थित माना है।[6] यहीं सुषुम्ना का छिद्र है, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इस स्थान में विचरण करना ही साधकों का परम लक्ष्य है। सन्तों ने कहीं-कहीं इस चक्र के ऊपर अष्टम चक्र या 'सुरति कमल' का उल्लेख किया है,[7] जिसमें पहुँचकर व्युत्थान-काल में भी योगी का

---

१. 'यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धिर्भूमित्याग क्रमेण वै॥'
—शिव संहिता, ४।६४ से ६७ तक

२. 'द्वितीयंतु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।
वादिलां तं च षड्वर्णं प्रभास्वर षड्दलम्॥'
—शिव संहिता, ५।७५

३. 'तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम्।
दशारं डाफिकांतार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥'
—शिव संहिता, ५।७९

४. 'हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
कादिठांतार्थ संस्थानं द्वादशारसमन्वितम्॥
अतिशोणं वायु बीजं प्रसादस्थानमीरितम्॥'
—शिव संहिता, ५।८३

५. 'कंठस्थान स्थितंपद्मं विशुद्धं नामपंचमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वर संयुतम्॥'
—शिव संहिता ५।९०

६. 'अतः ऊर्ध्वं तालु मूले सहस्रारं सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्॥'
—शिव संहिता ५।१२०

७. देखिए, 'कबीर'—हठयोग की साधना, पृ० ४५

कुण्डलिनी शक्ति-योग

षट्चक्र—हठयोगी परम्परा में षट्चक्रों के भेदन का कथन है। ये षट्चक्र मेरुदंड के सहारे सुषुम्ना योग-नाड़ी में स्थित माने गए हैं। इन्हीं को भेदती हुई कुंडलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में पहुँचती है। षट्चक्रों के भेदन के पश्चात् साधक को परमानन्द की अनुभूति होती है।[१] ये चक्र हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान, (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्ध और (६) आज्ञा चक्र। मूलाधार चक्र गुह्य स्थान के समीप स्थित माना है। इसमें

---

१. —शिव संहिता, ५।६४-६७

चार पंखुड़ियाँ मानी गई हैं। मूलाधार पर मनन करने से साधक को 'दर्दुरी सिद्धि' की प्राप्ति होती है। निरन्तर ध्यान से वह आकाश-गति को प्राप्त कर लेता है।[1]

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है, जो लिंगमूल में स्थित है। इसमें छः पंखुड़ियों की कल्पना है। यह रक्तवर्ण का माना गया है। इसकी सिद्धि हो जाने पर सुन्दरी देवांगनाएँ साधक को आकर्षित करती हैं और वह अणिमादिक सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है।[2] तीसरा चक्र 'मणिपूर' है। इसकी दस पंखुड़ियाँ और वर्ण सुनहला माना गया है।[3] इस चक्र पर चिन्तन करने से साधक इच्छाओं का स्वामी हो जाता है। चतुर्थ चक्र पर चिन्तन करने वाले योगी को त्रिकालज्ञ की पदवी मिलती है।[4] पांचवा चक्र 'विशुद्ध' है। इनमें सोलह पंखुड़ियाँ मानी गई हैं और इसका वर्ण देदीप्यमान स्वर्ण के समतुल्य माना गया है।[5] जो इस चक्र पर चिन्तन करता है, वह योगेश्वर की पदवी पा लेता है। छठा चक्र 'आज्ञा' है। इसकी स्थिति त्रिकुटी के मध्य में है। इसमें दो दल होते हैं, जिनके संकेताक्षर 'ह' और 'स' हैं। इसका रंग श्वेत माना गया है। इसी चक्र के दोनों ओर इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ आती हैं, जिन्हें वरुणा और असी भी कहा जाता है। यहीं 'शिव' का वास होता है। इस स्थान पर पहुँचा हुआ योगी परम तेज का अधिकारी होता है।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रदल कमल या सहस्रार चक्र की कल्पना है। यह तालु मूल में स्थित माना है।[6] यहीं सुषुम्ना का छिद्र है, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इस स्थान में विचरण करना ही साधकों का परम लक्ष्य है। सन्तों ने कहीं-कहीं इस चक्र के ऊपर अष्टम चक्र या 'सुरति कमल' का उल्लेख किया है,[7] जिसमें पहुँचकर व्युत्थान-काल में भी योगी का

---

१. 'यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धिर्भूमित्याग क्रमेण वै॥'
—शिव संहिता, ४।६४ से ६७ तक

२. 'द्वितीयंतु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।
बादिलांतं च षड्वर्णं प्रभास्वर षड्दलम्॥' —शिव संहिता, ५।७५

३. 'तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम्।
दशारं डाफिकांतार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥' —शिव संहिता, ५।७९

४. 'हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
कादिठांतार्णं संस्थानं द्वादशारसमन्वितम्॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम्॥' —शिव संहिता, ५।८३

५. 'कंठस्थान स्थितंपद्मं विशुद्धं नामपंचमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वर संयुतम्॥' —शिव संहिता ५।९०

६. 'अतः ऊर्ध्वं तालु मूले सहस्रारं सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्॥' —शिव संहिता ५।१२०

७. देखिए, 'कबीर'—हठयोग की साधना, पृ० ४५

(ग) विहंगम-मार्ग उक्त दोनों मार्गों से भिन्न है। वृत्ति की सूक्ष्मता या सूक्ष्म दृष्टि इस मार्ग केलिए भी आवश्यक है। पर, इस मार्ग में हठयोगी-साधना प्रमुख नहीं रहती, वरन् सहज-योग अथवा सुरक्षित योग की भावना प्रधान रहती है। जैसे कोई पक्षी एक वृक्ष पर बैठा हो, तो वह सहज में ही दूसरे वृक्ष पर जाकर बैठ जाता है। इस साधना-मार्ग में साधक को सहज या सुरति भावना को प्रधानता देनी होती है। और अन्त में विहंगम के समान साधक 'सुन्न शिखर' रूप वृक्ष पर अपनी वृत्ति-पक्षिणी को अधिष्ठित कर लेता है। इन साधना-मार्गों के उल्लेख उलटवाँसी मूलक कथनों में मिलते हैं।[1]

सुरति-निरति—व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'सुरति' शब्द स्रोत का तद्भव माना जा सकता है, जो चित्त-प्रवाह के रूप में व्यवहृत हुआ है।[2] कबीर ने कहीं-कहीं स्मृति, श्रुति वेद-बोधक अर्थ में भी इस शब्द का व्यवहार किया है।[3] सुरति के रूप में सुरति शब्द भावनार्थक भी है। गोरखनाथ ने इसका 'सोचित' अर्थात् सूचित रूप भी व्यवहार किया है।[4] साथ ही 'सुरति' को साधक बताए हुए 'निरति' अवस्था में रहने का उपदेश किया है।[5] उलटवाँसी मूलक कथनों में सुरति, सुरति-योग, सुरति-निरति आदि प्रयोग विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।[6] सुरति शब्द में चित्त की एक तानता सर्वत्र व्यंजित है, तभी

---

१. 'करम जोग जम जीतै चहई। चढ़ि पिपालिका फिरि भव रहई॥
बीहंगम चढ़ि गयउ अकासा। बइठि गगन चढ़ि देख, तमासा।'
—दरियासागर, पृ० ५५

'दहिने गंगा बायें जमुना, मद्ध सुरसती धारा।
उलटा मीन चढ़ै सरवर में, ऐसा खेल हमारा॥' —गरीब० बानी, पृ० १५०

'मीन मारग पवन पंछी सेस चाल चलावनं।
अर्ध उर्ध के बीच आसन खेल भेद मिलावनं॥'
—पलटू० बानी (तीसरा भाग), पृ० ५१

'मगर मस्त माने नहीं, ज्ञान करत मतिहीन।
मीन मते की बात को, करत दृष्ट नहिं चीन्ह॥'
—तुलसी० शब्दा० (भाग १), पृ० १०६

२. देखिए,—कबीर साहित्य की परख, पृ० २५०

३. देखिए,—कबीर ग्रंथावली, पद-४७, ८२, ३९०

४. 'अबधू अनाहद सुरति सोचित। निरति निरलंभ लागै बंध॥'
—गोरख-बानी, पृ० १९६

५. 'अवधू सुरति सो साधक सबद सो सिधि। आप सो माया पर सो रिधि॥'
गोरख-बानी, पृष्ठ २००

६. 'सुरति समांणी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभू द्वार॥' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४

'सुरति निरति ले जाइब हो, पाइब गुर रीति।
बहुरि न यह जग आइब हो, गाइब निर्गुन गीत॥' —बुल्ला० शब्दसार, पृ० ३०

(शेष अगले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में)

साधक का मन 'सुरति' की ढीकुली से लय रूपी रज्जु के द्वारा कँवल-कुआँ से प्रेमरस का पान करता रहता है।[1] 'निरति' शब्द प्राय: समाधि, अथवा शून्यावस्था को द्योतिक करता है।

हंस-हिंडोला—नीर-क्षीर विवेकत्व के रूप में हंस की मान्यता प्राचीन है, परन्तु हठयोग प्रतिपादक ग्रंथों में 'हंस' शब्द दूसरे ही रूप में व्यवहृत हुआ है। मान्यता है कि श्वासोच्छ्‌वास में 'ह' और 'स' की ध्वनि निकलती है। इसी आधार पर 'हंस' या 'सोहं' मन्त्र की प्रतिष्ठा हठयोग-साधना में हुई है।[2] परन्तु नाथ-सन्त-साहित्य में हंस या हंसिनी की कल्पना उनके विशुद्ध स्वभाव तथा आचरण के कारण, निर्मल चित्त जीवात्मा तथा प्राणों केलिए हुई है।[3] मानसरोवर में हंसों की क्रीड़ा साधनात्मक रूपक ही है। उलटवाँसी मूलक रूपक-बन्धों में दिव्य विवाह, दिव्य होली आदि के समान ही, निर्मल स्वभाव की हंस रूपी जीवत्माओं को झूलने केलिए दिव्य हिंडोला या पालना की कल्पना भी है। सन्तों ने इस प्रकारकी चर्चा करते हुए हठयौगिक शब्दावली का प्रयोग किया है। अपने इसी रूप में 'हिंडोला' शब्द रूढ़-सा हो गया है।[4]

●

'नाभि भृकुटी खम्भ रोपे सोहैं डोरी लाय।
सुरति पट ही बैठि सजनी छिन आवै छिन जाय॥'—च०बानी (भाग २), पृ० १८
'सुरति सब्द के मिलन में मुझको भया अनंद।'—प० बा० (भाग पहला), पृ० ३७
सब्द इक होत है न्यारा। फोड़ असमान निरधारा॥
सुरति और सब्द का मेला। कटै गर्भ काल भ्रम खेला॥'—तु०शब्दा० भाग १ पृ० ७१

१. —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८

२. 'हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुन:।
षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येक विंशति।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा॥' —घेरण्ड संहिता, ५।८४

३. 'हंस न घात न करिबा गोतं। बदंत गोरख निहारि पोतं।' —गोरख-बानी, पृ० ७३
'कहै कबीर स्वामीं सुखसागर, हंसहिं हंस मिलावहिंगे।'—कबीर ग्रंथावली, पृ० १३७

४. 'चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलैं पंच पियारियाँ, तहाँ झूलै जीय मोर॥' —कबीर-ग्रंथावली, पृ० ६४
'झूलत गुरूमुख संत अलख हिंडोलने॥ टेक॥
नाभि भृकुटी खम्भ रोपे सोहं डोरी लाय।
सुरति पटही बैठि सजनी छिन आवै छिन जाय॥'
—चरनदास की बानी (दूसरा भाग), पृ० १८
'सदगुरु नावल सब्द हिंडोलवा, सुनतहिं मन अनुरागल।
झूलत गुनत रुचित भावल, जियरा चकित उठि जागल॥'.
—भीखासाहेब की बानी, पृ० ३८
'हिंडोला हाल हिये पिय हेर।
सतगुरु चीन्ह दीन दिल मारग, ज्ञान खड़ग जिय फेर॥'
—तुलसी० शब्दा० (पहला भाग), पृ० २६

षष्ठ अध्याय

हिन्दी-उलटवाँसी-पद, प्रवृत्ति और प्रयोग

प्रवेश—सन्तों की सांकेतिक विरोध मूलक शैली विभिन्न प्रकार के प्रभावों और संस्कारों को प्रभावोत्पादक बनाने केलिए प्रयुक्त हुई है। उलटवाँसी-पदों के माध्यम से सन्तों ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों, साधनात्मक अनुभवों को तो साकार रूप दिया ही, नये-नये प्रतीकों की योजना के रूप में अपनी कल्पना-शक्ति, उलटे ढंग से भी अपनी सीधी बात कहने में प्रतिभा का पुट तथा गेय उलटवाँसी-पदों में विस्मय की योजना के द्वारा लोक-बुद्धि को प्रभावित करने में अपनी विदग्धता का परिचय भी दिया है। वैचारिक अनुभवों को साकार रूप प्रदान करने वाली उलटवाँसी शैली एक दिन का विकास नहीं है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में वैदिक काल से लेकर नाथ-पंथी योगियों तक की वक्र-कथन शैली ही विवेच्य उलटवाँसी शैली के रूप में विकसित हुई है। इस शैली में वर्णित विषय के अंग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु वे सभी एक अंग 'साधना' के अन्तर्गत आजाते हैं। इस शैली का कलात्मक पक्ष 'चमत्कार' है, पर अनुभूति पक्ष 'विचार या भाव' ही है। यदि पूर्व भक्तिकाल के सन्तों की वानियों में विषय की दृष्टि से समृद्धि पाई जाती है, तो उत्तर भक्तिकाल के सन्तों द्वारा प्रयुक्त इस शैली में वाह्य रूप से कलात्मक परिष्कार भी देखने को मिलता है। आधुनिक काल के सन्तों द्वारा परम्परा-निर्वाह के रूप में इस शैली का प्रयोग देखा जाता है। राधा-स्वामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त शिवदयाल द्वारा प्रयुक्त उलटवाँसी शैली के पदों में प्रतीक-प्रयोगों की नवीनता के साथ-साथ छन्द की प्रवाहमयता प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है।

हिन्दी-उलटवाँसी शैली के प्रयोग के सुदीर्घ इतिहास में 'उलटी चर्चा' गाने वाले गोरखनाथ को विवेच्य-शैली का प्रथम प्रयोक्ता माना जा सकता है। आपके उलटवाँसी-पदों की विशेषता आदि के संबन्ध में शैली की 'पूर्व परम्परा' शीर्षक में चर्चा हो चुकी है, इनके बाद इस शैली को कबीर जैसा समर्थ व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। कबीर के पश्चात् धनी धरमदास, रैदास, दादूदयाल, निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त (हरिदास, तुरसीदास, सेवादास आदि), सुन्दर-दास, यारी साहब, जगजीवन साहब, दरियासाहब (बिहार वाले), दरिया साहब (मारवाड़ वाले), बुल्ला साहब, चरनदास, गरीबदास, गुलालसाहब, भीखासाहब, पलटूसाहब, तुलसीसाहब (हाथरसवाले), शंकरदास, शिवदयाल आदि सन्तों ने वर्तमान शताब्दी तक विवेच्य शैली का दायित्व पूर्वक निर्वाह किया है। संक्षेप में इस शैली के प्रयोक्ता सन्तो के उलटवाँसी-पदों का मूल्यांकन तथा प्रतिनिधि पदों की सांकेतिक व्याख्या यहाँ प्रस्तुत है।

कबीर की उलटवाँसियाँ—एक मूल्यांकन :

सम्पूर्ण-सन्त-साहित्य में जिस प्रकार कबीर की वाणी बेजोड़ मानी जाती है, वैसे ही

विषय-प्रतिपादन, प्रतीक-योजना, रूपकतत्त्व और चमत्कार-सृष्टि में उनके उलटवाँसी-पद परवर्ती सन्तों केलिए सुदृढ़ पृष्ठभूमि का कार्य करते रहे हैं। प्रयोग की दृष्टि से यदि कबीर की उलटवाँसियाँ अपने पूर्ववर्त्ती सहजयानी बौद्ध-सिद्धों और नाथ-योगियों की उलटवासियाँ का विकसित और परिष्कृत रूप हैं, तो रूपकतत्त्व, सांकेतिक और परिभाषिक प्रतीक शब्दों की योजना ने अपने उत्तरवर्ती सन्तों की उलटवाँसी-पदों को प्रभावित किया है।[१] कबीर की प्रतिभा ने परम्परा-ग्रहण करते हुए भी, शैली को अपने ढंग से समृद्ध किया है। प्रस्तुत को अभिव्यक्त करने केलिए उनके अप्रस्तुत की योजना, विचार या मन्तव्य को व्यक्त करने केलिए उनका विश्वास, विषय-प्रतिपादन केलिए उनकी भाषा तथा लोक को आकृष्ट करने केलिए उनके द्वारा की हुई विस्मय-सृष्टि आदि सभी ने मिलकर कबीर को उलटवाँसी शैली के सफल एवं लोकप्रिय प्रयोक्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया है।[२] उस युग की जनता और पण्डित वर्ग को तो कबीर के उलटवाँसी-पदों ने प्रभावित किया ही होगा, आधुनिक युग के आलोचकों की दृष्टि को भी आकृष्ट किया है। कबीर के उलटवाँसी मूलक कथनों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें उनका विरोधी स्वर, रूढ़ियों का व्यतिक्रमण करने वाली उनकी बुद्धि, प्राणियों के एकमात्र उद्देश्य जीवन को परिष्कृत कराने अथवा समन्वित रूप प्रदान कराने में लगी रही है।

कबीर की उलटवाँसियों में प्रयुक्त प्रतीक मर्म तथा परिस्थिति अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं।[3] और प्रयोक्ता का 'सम्बोधन' श्रोताओं के मानसिक स्तर को ध्वनित करता है। जब वे सन्तों को सम्बोधित करते हैं तो अपने विचार का पक्ष समझाते अथवा परामर्श देते हुए प्रतीत होते हैं और जब वह अवधू, पांडे, पण्डित आदि को सम्बोधित करते हैं तो प्रतिपक्ष की मान्यता का खण्डन-सा करते हुए प्रतीत होते हैं। लोगो, भाई आदि सम्बोधन

---

१. 'जीवन और जगत् के पारखी और अन्तर के अनुभवी शोधी कबीर ने सामान्यत: अपनी सभी उक्तियो में बुद्धि और भाव के क्षेत्र का पर्यटन किया है किन्तु उलटवाँसियों में जो उनका अटूट सामंजस्य हुआ है, वह हिन्दी-साहित्य को एक अपूर्व अनुदान है। उसका महत्त्व इसलिए भी है कि उत्तर कालीन सन्तों केलिए कबीर ने प्रशस्त मार्ग तैयार कर दिया।' —कबीर एक विवेचन, पृ० ३३४

२. 'कबीर साहब अपनी उलटवाँसियों केलिए बहुत प्रसिद्ध हैं और उनके नाम पर निर्मित अनेक उलटवाँसियाँ सर्वसाधारण तक में प्रचलित पाई जाती हैं। ये उलटवाँसियाँ बहुधा अटपटी बानियों के रूप में रची गई रहती हैं, जिस कारण इसके गूढ़ आशय को शीघ्र न समझने वाला इन्हें सुनकर आश्चर्य में अवाक् रह जाता है और जब कभी वह इनके शब्दों के पीछे निहित रहस्य को जान पाता है, तो उसे अपार आनन्द भी मिलता है।' —कबीर साहित्य की परख, पृ० १५०

३. 'कबीर की उलटवाँसियों का एक-एक प्रतीक अपने मर्म केलिए अनिवार्य है। प्रतीकों के पीछे छिपा हुआ अर्थ उद्घाटित होने पर जीवन और साधना सम्बन्धी अनुभूतियों के रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता है।'

उनकी सहृदयता का सूचक हैं। 'बूझै' आदि क्रियापदों में चुनौती, गर्वोक्ति-सी प्रतीत होती है, जो अनुभूति की प्रखरता की ही द्योतक है।[1] कबीरदास बहुश्रुत थे। वे अपने अनुभव से विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं और साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को आत्मसात् करके अभिव्यक्त किया करते थे। उनके उलटवांसी-पदों में इस प्रकार का सैद्धान्तिक प्रतिपादान हुआ है।[2] परन्तु इन पदों में व्यक्त सिद्धान्तों से उनके यथार्थ सैद्धान्तिक पक्ष को समझना कठिन है।[3] कबीर के उलटवांसी-पदों में गीति तत्त्व की प्रमुखता देखी जाती है। कहीं-कहीं पारिवारिक रूपकों की प्रेषणीयता मन में विशेष गुद्गुदी का अनुभव कराती है। आपके उलटवांसी-पदों में मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय का अपूर्व सामंजस्य दिखाई देता है। हमारे समक्ष कबीर के उलटवांसी-पदों के संग्रह केलिए 'कबीर ग्रंथावली' और कबीर बीजक' ये दो संग्रह-ग्रंथ रहे हैं। 'कबीर ग्रंथावली' के साखी भाग में लगभग पचास साखियाँ तथा पदावली-संग्रह में लगभग नव्वै पद उलटवाँसी तत्त्वों की कसौटी पर खरे उतरते हैं। ग्रंथावली के परिशिष्ट भाग में भी उलटवाँसी-पद हैं, परन्तु अधिकांश में पाठ-भेद के अतिरिक्त पुनरावृत्ति मात्र है। 'बीजक' में भी बहुत से पद समान हैं, परन्तु पाठ- भेद अथवा लिपि भ्रम के कारण बीजक के उलटवाँसी-पदों का अर्थ ग्रंथावली के पदों के अर्थ से कुछ भिन्न-सा हो जाता है। इस (बीजक) में भी उलटवाँसी तत्त्वों के आधार पर लगभग छः रमैनी, पैंतीस के लगभग शब्द, बीस के लगभग साखियाँ हैं। इनके अतिरिक्त कहरा, बसन्त, बेली आदि में भी उलटवाँसी मूलक कथनों का प्रयोग है। कुल मिलाकर कबीर के उलटवाँसी-पदों की संख्या सन्त-साहित्य में सर्वाधिक है। शैलीगत विभिन्न प्रकार की विशेषताओं को मुखर करने वाले, प्रवृत्ति और प्रयोग सम्बन्धी मौलिकता प्रस्तुत करने वाले संकेतार्थ सहित कुछ पद यहाँ प्रस्तुत हैं—

उदाहरण—१ 'हरि के षारे बड़े पकाये, जिन जारे तिनि पाये।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, तार्थें जनमि जनमि डहकाये॥ टेक॥

---

१ 'कबीर साहब की रचनाओं में जो 'सोई पंडित सो तत ग्याता' अथवा 'सो जोगी गुरु मेरा' जैसी पंक्तियाँ आई हैं, उनका अभिप्राय वस्तुतः किसी को खुली चुनौती देना अथवा उसके पाण्डित्य की जाँच पड़ताल करना नहीं रहता। वे पंक्तियाँ अपने रचयिता की किसी ऐसी गहरी अनुभूति की ओर संकेत करती हैं जो सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर की बात है। कबीर साहब, ऐसे वाक्यों द्वारा उसके महत्त्व एवं गम्भीरता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए, उसे सब केलिए एक आदर्श मानदण्ड भी घोषित कर देना चाहते हैं।' —कबीर साहित्य की परख, पृ० १६०

२. 'इस बहुश्रुतता के कारण वे अनायास ही अनुभव सम्मत सत्य को संग्रह कर सकते थे। इस लिए उनका मत न तो किसी आचार्य विशेष के मत का हू-ब-हू उल्था है और न बेसिर-पैरकी बातों की बेमेल खिचड़ी। सभी विषयों में उनका आत्मोपलब्ध मत है।' —हिन्दी-साहित्य की भूमिका (सन्त मत), पृ० ३९

३. 'वास्तव में कबीर की उलटवाँसियाँ उनके सिद्धान्तों को यथार्थतः समझने में बाधक सिद्ध हुई हैं।' —हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४१४

धौल मंदलिया बैलर बावी, कउवा ताल बजावै।
पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावै।।
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरी ल्यावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछूएक आनंद सुनावै।।
कहै कबीर सुनहुं रे संतो, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा।।'[1]

संकेतार्थ—षारे बड़े = नमकीन पकौड़े, (विषय-जनित स्वाद अथवा प्रवृत्त मन का विषयों के तदनुरूप होना)। हरि के बड़े = ईश्वर प्रदत्त भोग्य पदार्थ, (सात्विक मन जो अपनी विकारी-वृत्ति के कारण साधना के अनुकूल नहीं रहता)। जिनि = जिन्होंने। जारे = जलाया, (अभ्यास और वैराग्य की अग्नि में तपाया)। ग्यान अचेत = ज्ञान-विमूढ, ज्ञान-विमुख, (अमावस्था वाले) फिरैं = भ्रमते हैं, (आवागमनके चक्र में पड़े रहते हैं)। लोई = लोग, लोक। ताथैं = इसी कारण से। डहकाये = विभ्रमित किये गये। रबाब = सारंगी की तरह का बाजा। धौल मंदलिया बैल रबावी = मृदंग बजाने वाला धौरा बैल तथा रबाब बजाने वाला दूसरा बैल। (मृदंग वादक धौरा बैल और रबाब बजाने वाला बैल, ताल देने वाला कऊआ, चोलना धारण करके नृत्य करने वाला गर्धव, नृत्य कराने वाला महिष—ये पाँचों पंच-विकारों अथवा पंचेन्द्रियों का संकेत देते हैं।) स्यंघ = सिंह (मन)। घूंस∠गुहाशय = चूहे के वर्ग का एक बड़ा जन्तु। गिलौरा = पान का बीड़ा। उंदरी∠उन्दुरु = चुहिया। बपुरी = बेचारी। (पान कतरने वाला सिंह, गिलौरा देने वाला घूंस, मंगल-बधाये गाने वाली उन्दुरि तथा आनन्द-भाव व्यक्त करने वाला कच्छप-ये चारों मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूपमें अन्तःकरण चतुष्टय का संकेत करते हैं।) गडरी∠गड्डर, गड्डल = भेड़ (जीवात्मा) अथवा गडरी = गड्डरिका, अविच्छिन्न धारा, (विपरीत प्रवाह)। परबत∠पर्वत = शिखर (मेरु-शिखर, अर्थात् मेरूदंड का ऊपरी भाग)। चकवा = विशेषपक्षी (साधक जीवात्मा)। अंगारे = अग्नि, (ज्ञानाग्नि)। समंद = समुद्र, (हृदय)। अकासां = आकाश, (सहस्रार चक्र अथवा शून्यावस्था)।

सांकेतिक व्याख्या—उक्त पद में शाब्दिक अर्थ से किसी प्रकार की संगति नहीं बैठती, क्योंकि अपने अभिधात्मक रूपमें यह रूपक किसी उत्सव के सम्बन्धमें प्रतीत होता है, जिसमें पकौड़े खाने, नाचने-गाने आदि का कार्यक्रम है। परन्तु 'ग्यानअचेत फिरैं नर लोई, ताथैं जनमि जनमि डहकाये' तथा 'कहै कबीर सुनहुँ रे संतो' प्रयोग पाठक या श्रोता को

१.—कबीर ग्रंथावली, —पद १२ (पृ० ९२), तथा परिशिष्ट पदावली-पद १४३ (पृ० २६५)। परिशिष्ट वाले पद में 'पारे बड़े' के स्थान पर 'ककड़ी के बड़े' का प्रयोग है, जिन्हें कुछ समझदार लोग ही खापाते हैं। इस पद में विवाहोत्सव का रूपक बांधा गया है, जिसमें कोई वर किसी सुन्दरी का 'हथलेवा' करने केलिए तत्पर हो रहा है। दोनों पदों में शब्द-भेद से अर्थ भी बदल गया है।

व्यहृत संकेतों का अर्थ समझने केलिए विवश करते हैं। प्रयोक्ता ने ऐसे वड़ों की चर्चा की है, जो जलाकर खाने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन स्वादिष्ट नमकीन वड़ों को विना जलाए ही खा लेने पर जन्म जन्मान्तरों तक भ्रमित रहना पड़ता है। ये बड़े रूप स्वादिष्ट पदार्थ मानव-जीवन या मानव मन की स्वाद्य स्थिति की ओर संकेत करते हैं। जो (साधक) इस जीवन या मन को विचारपूर्वक, अन्तर्मुखी वृत्ति वाला बनाकर चलता है वह जन्म-जन्म के डहकने से वच जाता है और (अन्तिम दो पंक्तियों में वर्णित) साधना की चरमावस्था को प्राप्त होता है। यह 'बड़े' रूप मानव-जीवन अथवा मन मूलतः ईश्वरप्रदत्त अथवा सात्विकी वृत्ति वाला है। यदि इसे साधना अथवा संयमन की अग्नि में तपाया नहीं जाता तो विषयासक्त होकर अनुपयोगी सिद्ध होता है। फलतः प्रवाह-जीव के समान, विकारों अथवा इन्द्रियोंके वशीभूत होकर जीवन की वैसी ही वेमेल हास्यास्पद स्थिति हो जाती है, जो धौरे वैल के द्वारा मृदंग, दूसरे वैल के द्वारा रवाब वजाने, कऊए के द्वारा ताल देने, गधे के द्वारा नृत्य-निरत होने, महिष के द्वारा नृत्य कार्य सम्पादन कराने में उत्पन्न होती है। जीवात्माकी यह दशा पंचेन्द्रियों के असंयम, उच्छृंखलता तथा पंच विकारोंके वशीभूत होने की स्थिति का द्योतक है। इनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर की प्रवलता व्यंजित होती है। ऐसी स्थिति में जीव इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में निरत रहकर, भ्रमवश कार्य करता रहता है।

इतना ही नहीं, लोक-प्रवाह में वहे जाते हुए जीवों का अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) असंगत कार्यों में लगा रहता है। इस स्थिति के जीवों के विचित्र क्रिया-कलापों को, कबीर ने, चमत्कारिक शैली में कहा है कि यह स्थिति, सिंह(मन) के द्वारा पान कतरे जाने, घूंस(चित्त) के द्वारा पान के बीड़े तैयार करने, उंदरी (बुद्धि) के द्वारा मांगलिक गीत गाने, कछुए (अहंकार) के द्वारा सुखद अवस्था की अभिव्यक्ति करने को संकेतित करती है। अपने-अपने विषयों के प्रति आकृष्ट होने के कारण, सूक्ष्मजीवी मनुष्य का अन्तःकरण भी कुछ नहीं कर पाता।

परन्तु, जो हरि के द्वारा दिये गये नमकीन वड़ों को जलाकर खाते हैं, अर्थात् विचार-पूर्वक, वृत्ति को अन्तर्मुखी वनाकर जो साधक साधनाभ्यास करते रहते हैं, वे भेड़रूप गतानुगतिक जीवात्मा में वल का संचार करके, पर्वत रूप अहंकार को अभिभूत कर लेते हैं। अथवा धारा को अन्तर्मुखी करके गडरी रूप कुंडलिनी के द्वारा मेरुशिखर रूप पर्वत के ऊपर आरूढ़ हो जाते हैं। उस अवस्था में एकाग्र चित्त रूप चकवा, ज्ञान रूप अग्नि अथवा ब्रह्माग्नि का सेवन करता है। उस अवस्था में साधक समुद्र रूप सीमित हृदय से असीम आकाश की ओर दौड़ने लगता है, अर्थात् साधक का चित्त शून्य स्वभाव अथवा खसमावस्था की ओर अग्रसर होने लगता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत उलटवाँसी-पद में तीन स्थितियों का वर्णन है। प्रथम दो पंक्तियों में उपदेष्टा गुरू की चेतावनी, मध्य का चार पंक्तियों में असंयमित जीवन की विषयाकृष्ट वृत्ति का परिणाम तथा अन्तिम दो पंक्तियों में साधनाभ्यास के श्रेष्ठ फल का वर्णन पूर्णद उलटवाँसी शैली में हुआ है।

(२) पद की प्रथम तथा अन्तिम दो पंक्तियों से अर्थोद्बोधन केलिए संकेत मिल जाते हैं। दूसरी पंक्ति के 'जनमि जनमि डहकाये' की व्याप्ति अगली चार पंक्तियोंमें है। यह स्थिति पंचेन्द्रियों और अन्तःकरण चतुष्टय के विकार-ग्रस्त होने का ही परिणाम है।[1]

(३) पद को पढ़कर पाठक या सुनकर श्रोता को अतिक्रांत उक्ति के रूप में हास्य का आभास होने लगता है, परन्तु विचारपूर्वक संकेतों का संवल उसे प्रयोक्ता के मन्तव्य तक पहुँचाने में सहायक होता है।

(४) पद में वैचारिक अवस्था को अभिव्यक्ति मिली है, साथ ही उलटवाँसी शैली का आग्रह है। अतः प्रतीक-योजना के साथ ही भाषा भी बिखर गई है। प्रस्तुत पदमें पंच-विकार और अन्तःकरण चतुष्टय का प्रयोग न होने तथा बैल, कऊआ आदि उपमान रूप प्रतीकों की योजना होने के कारण रूपकातिशयोक्ति अलंकार जैसी प्रतीति होने लगती है।

(५) उक्त छन्द 'पूर्ण पद उलटवाँसी' का उदाहरण है।

उदाहरण-२ 'संतो ! भक्ति सतगुरु आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पंडित ज्ञानी॥
पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुं दिसि पानी पानी।
तिहि-पानी दुइ परबत बूड़े, दरिया लहर समानी॥
उड़ि माँखी तरिवर ते लागी, बोलै एकै बानी।
वहि माँखी के माँखा नाहीं, गरभ रहा बिनु पानी॥
नारी सकल-पुरुष वहि खायो, ताते रहउ अकेला।
कहंहि कबीर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला॥[2]

संकेतार्थ—नारी=स्त्री, (माया)। दुइ पुरुष=दो पुरुष, (जीव और ईश्वर)।[3] जाया=उत्पन्न किये। पाहन=पाषाण, (सैन्धव घन रूप चेतनात्मा) एक गंग=गंगा रूप

---

१. टिप्पणी— विषयाकृष्टजीवों की विवशता तथा इन्द्रियों की प्रबलता एवं जीव की परेशानी का वर्णन तुलसीदास जी ने, सांकेतिक भाषा में इस प्रकार किया है—
'विषम कहार मार-मद-माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद विलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे॥
काँकुराय लपेटन लोटन ठावँहि ठाँउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज वास न भेंट लगाऊ रे॥'
—विनय पत्रिका, पद १८९

२. —कबीर बीजक, शब्द १ (पृ० ९४)

३. 'मायाख्या कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ' अर्थात् माया रूप कामधेनु के जीव और ईश्वर ये दो बच्चे हैं।
—पञ्चदशी, ६।२३६

एक धारा, (गंगा रूप आद्या माया) । चहुँदिसि=सर्वत्र । पाणी पानी=माया का व्यापक प्रभाव । दुइ परवत=दो पर्वत, (जीव और ईश्वर) । दरिया=समुद्र, (चेतना-सागर) । लहर=तरंग, (लघु ज्ञान तरंग) । माँखी=मक्खी, (वृत्ति, अहंम्-वृत्ति) । तरिवर∠तरुवर =वृक्ष, (संसार-वृक्ष) । एकै वानी=एक मात्र वाणी, (अहंकार जनित 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप वाणी) । माँखा=नर मक्खी, (ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म) । गरभ=गर्भ, (अभिमान) । विनु पानी =बिना विन्दु रूप वीर्य के, (बिना सात्विक तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व के) । सकल-पुरुष=सम्पूर्ण जीवात्माएँ अथवा व्यापक ब्रह्म रूप पुरुष । खायौ=निगल लिया, आच्छादित कर लिया । ताते=इससे । अकेला ही, अनासक्त, असंग रहकर ।[1] अवकी=इस वार, (इस मानव-जीवन में) । समुझै=समझ ले, रहस्य को जानले । गुरू=भारी, तत्त्व ज्ञानी । चेला=शिष्य (विनम्र भावना के कारण) ।

सांकेतिक व्याख्या—कबीर का (सात्विक वृत्ति प्रधान) संतों को परामर्श है कि सद्‌गुरु के प्रति भक्ति को दृढ़ करना चाहिये, तभी व्यापक प्रभाव वाली माया के पाश से मुक्ति मिल सकती है । अरे, अपने को पंडित समझने वाले ज्ञानी पुरुषो तुम समझ कर बताओ कि वह कौन-सी एक नारी है, जिसने दो पुरुषों को जन्म दिया है । अर्थात् माया रूपी नारी, विवर्त पूर्वक अपनी प्रतीतिं के कारण ही जीव और ईश्वर नामधारी दो पुरुषों को अस्तित्व वाला बनाती है ।[2] उस (आद्या) माया की निर्मल धारा का प्रवाह, सैन्धव घनरूप चेतनतत्त्व से उसी प्रकार होता है, जैसे पर्वत की शिलाओं के अन्तराल से गंगा की निर्मल धारा प्रकट होती है । अर्थात् आद्या माया, 'एकोऽहं बहुस्याम' की इच्छामात्र से ही, अपनी सात्त्विक धारा के रूप में प्रकट होती है । (अपने मूल रूप में, चेतन से आविर्भूत होने के कारण, सत्त्व प्रधान बताई है ।) जैसे-जैसे मात्रा का आवरण या विवर्त बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे जीव और ईश्वर के मध्य में आच्छादन होता जाता है । फलतः उस माया के प्रभाव रूप जल में, पर्वत के समान स्वतन्त्र अस्तित्त्व वाले, जीव और ईश्वर निमग्न हो जाते हैं । माया के विवर्त के कारण सिन्धु रूप ब्रह्म की व्यापकता लहर के रूप में सीमित हो जाती है । अर्थात् व्यापक ब्रह्मानन्द की अनुभूति, आवरण के कारण, लहर के समान लघु प्रतीत होती है ।

माया के प्रभाव के कारण प्रवृत्ति रूप मक्खी संसार रूपी वृक्ष से आलग्न हो जाती

---

१. 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव सत्यागः सात्विको मतः ।' —श्रीमद्‌भगवत् गीता, १८।६
'असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्य सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।' —श्रीमद्‌भगवत् गीता, १८।४६

२. 'अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिरनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका या ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ।।'
—विवेकचूड़ामणि, श्लोक, ११०
'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्द निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी । महासुप्तिः यस्यां स्वरूप-प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः ।।' शारीरकभाष्य, १।४।३
—भारतीय दर्शन, (लेखक पं० बलदेव उपाध्याय), पृ० ७३८ से

है। उस अवस्था में, मिथ्याज्ञानके कारण, अंश भावना 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप में मुखर हो उठती है। यद्यपि उस वृत्ति रूपी मक्खी का ब्रह्मज्ञान रूप माँखे से सम्पर्क भी नहीं होपाता, पर अहंकार के कारण मिथ्याज्ञान रूप गर्भ हो जाता है। अर्थात् यह अवस्था वास्तविक ज्ञान की स्थिति नहीं हैं। परमावस्था अथवा ब्रह्मज्ञान की अवस्था में वाणी मूक हो जाती है। अन्तर्मुखी वृत्ति रूप गर्भत्व ब्रह्मानुभूति की अवस्था में ही टिक पाता है। उस नारी रूप माया के प्रभाव के कारण ज्ञान-विमूढ़ जीव अहंकार की अवस्था में अभिभूत बने रहते हैं। उस व्यापक प्रभाव वाली नारी रूप माया से बचने का एक मात्र उपाय 'अकेला या असंग की अवस्था में रहना' है। संग अथवा प्रवृत्ति के कारण माया-मोह की विवृत्ति होती है। कबीरदास का कहना है कि जो मनुष्य इस मानव-शरीर या जीवन को प्राप्त करके आत्मज्ञान लाभ करते हैं, वे ही वास्तव में 'गुरू' हैं, आदरणीय हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानी गुरुओं केलिए हम शिष्य के समान हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत उलटवाँसी-पद की प्रथम पंक्ति अर्थ-ग्रहण केलिए प्रवेश द्वार है। इस पंक्ति की व्याप्ति अन्तिम पंक्ति तक है। सत्गुरु की भक्ति को दृढ़ क्यों किया जाय, इसका समाधान अगली पाँच पंक्तियों में किया गया है। अन्तिम दो पंक्तियों की चेतावनी साधक को साधना-सिद्धि कराने तथा जीवात्मा को जीवन की सफलता को लक्षित कराने के लिए है। 'अकेला' पद की ध्वनि असक्तभाव अथवा प्रवृत्ति रहित जीवन-यापन करने केलिए है।

(२) 'बूझहु पंडित ज्ञानी' कथन ऐसे ज्ञानी केलिए है जो शास्त्र ज्ञान को व्यवहार में नहीं लाता। माया जनित स्थिति का ज्ञान वैचारिक अवस्था में ही सम्भव है। साथ ही प्रयोक्ता का आत्म विश्वास चुनौती के स्वर जैसा लगता है।

(३) 'गंग' प्रयोग आद्या सात्विक माया के लिए है, जो बाद में अपने व्यापक प्रवाह के कारण नानात्मक रूप धारण कर लेती है।

(४) 'वहि माँखी के माँखा नाहीं' यह पंक्ति सांख्य दर्शन के 'प्रकृति-पुरुष' की ओर भी संकेत करती है, क्योंकि 'प्रकृति' जब तक 'पुरुष' का दर्शन नहीं कर लेती तब तक उसका व्यापार अवरुद्ध नहीं होता। दर्शन होने पर द्रष्टा केलिए वह सदा केलिए विलीन हो जाती है। सांख्य में इसे 'विवेक ख्याति' कहते हैं।[1]

(५) 'अबकी' प्रयोग इसी जीवन में ज्ञान-प्राप्ति करने केलिए प्रेरित कर रहा है।

(६) इस पद में 'सार' छन्द का प्रयोग है, जिसमें १६, १२ पर यति के साथ २८ मात्राएँ होती हैं। इसे 'पद' या भजन-पद भी कहते हैं। सन्तों में इसे 'सबद' या 'शब्द' कहा है।[2]

---

१. —भारतीय दर्शन (पं० बलदेव उपाध्याय), पृ० ३५६
२. देखिए—कबीर बीजक, पृ० ९६

एक धारा, (गंगा रूप आद्या माया)। चहुँदिसि=सर्वत्र। पानी पानी=माया का व्यापक प्रभाव। दुइ परबत=दो पर्वत, (जीव और ईश्वर)। दरिया=समुद्र, (चेतना-सागर)। लहर=तरंग, (लघु ज्ञान तरंग)। माँखी=मक्खी, (वृत्ति, अहंम्-वृत्ति)। तरिवर∠तरुवर=वृक्ष, (संसार-वृक्ष)। एकै बानी=एक मात्र वाणी, (अहंकार जनित 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप वाणी)। माँखा=नर मक्खी, (ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म)। गरभ=गर्भ, (अभिमान)। बिनु पानी=बिना बिन्दु रूप वीर्य के, (बिना सात्विक तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व के)। सकल-पुरुष=सम्पूर्ण जीवात्माएँ अथवा व्यापक ब्रह्म रूप पुरुष। खायौ=निगल लिया, आच्छादित कर लिया। ताते=इससे। अकेला ही, अनासक्त, असंग रहकर।[1] अबकी=इस बार, (इस मानव-जीवन में)। समुझै=समझ ले, रहस्य को जानले। गुरू=भारी, तत्त्व ज्ञानी। चेला=शिष्य (विनम्र भावना के कारण)।

सांकेतिक व्याख्या—कबीर का (सात्विक वृत्ति प्रधान) संतों को परामर्श है कि सद्गुरु के प्रति भक्ति को दृढ़ करना चाहिये, तभी व्यापक प्रभाव वाली माया के पाश से मुक्ति मिल सकती है। अरे, अपने को पंडित समझने वाले ज्ञानी पुरुषो तुम समझ कर बताओ कि वह कौन-सी एक नारी है, जिसने दो पुरुषों को जन्म दिया है। अर्थात् माया रूपी नारी, विवर्त पूर्वक अपनी प्रतीति के कारण ही जीव और ईश्वर नामधारी दो पुरुषों को अस्तित्व वाला बनाती है।[2] उस (आद्या) माया की निर्मल धारा का प्रवाह, सैन्धव घनरूप चेतनतत्त्व से उसी प्रकार होता है, जैसे पर्वत की शिलाओं के अन्तराल से गंगा की निर्मल धारा प्रकट होती है। अर्थात् आद्या माया, 'एकोऽहं बहुस्याम' की इच्छामात्र से ही, अपनी सात्विक धारा के रूप में प्रकट होती है। (अपने मूल रूप में, चेतन से आविर्भूत होने के कारण, सत्त्व प्रधान बताई है।) जैसे-जैसे माया का आवरण या विवर्त बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे जीव और ईश्वर के मध्य में आच्छादन होता जाता है। फलतः उस माया के प्रभाव रूप जल में, पर्वत के समान स्वतन्त्र अस्तित्व वाले, जीव और ईश्वर निमग्न हो जाते हैं। माया के विवर्त के कारण सिन्धु रूप ब्रह्म की व्यापकता लहर के रूप में सीमित हो जाती है। अर्थात् व्यापक ब्रह्मानन्द की अनुभूति, आवरण के कारण, लहर के समान लघु प्रतीत होती है।

माया के प्रभाव के कारण प्रवृत्ति रूप मक्खी संसार रूपी वृक्ष से आलग्न हो जाती

---

१. 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव सत्यागः सात्विको मतः।' —श्रीमद्भगवत् गीता, १८।९
'असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्य सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥' —श्रीमद्भगवत् गीता, १८।४९

२. 'अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिरनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥'
—विवेकचूड़ामणि, श्लोक, ११०

'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्द निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी। महासुप्तिः यस्यां स्वरूप-प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः॥' शारीरकभाष्य, १।४।३
—भारतीय दर्शन, (लेखक पं० बलदेव उपाध्याय), पृ० ७२८ से

है। उस अवस्था में, मिथ्याज्ञानके कारण, अंश भावना 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप में मुखर हो उठती है। यद्यपि उस वृत्ति रूपी मक्खी का ब्रह्मज्ञान रूप माँखे से सम्पर्क भी नहीं होपाता, पर अहंकार के कारण मिथ्याज्ञान रूप गर्भ हो जाता है। अर्थात् यह अवस्था वास्तविक ज्ञान की स्थिति नहीं हैं। परमावस्था अथवा ब्रह्मज्ञान की अवस्था में वाणी मूक हो जाती है। अन्तर्मुखी वृत्ति रूप गर्भत्व ब्रह्मानुभूति की अवस्था में ही टिक पाता है। उस नारी रूप माया के प्रभाव के कारण ज्ञान-विमूढ़ जीव अहंकार की अवस्था में अभिभूत बने रहते हैं। उस व्यापक प्रभाव वाली नारी रूप माया से बचने का एक मात्र उपाय 'अकेला या असंग की अवस्था में रहना' है। संग अथवा प्रवृत्ति के कारण माया-मोह की विवृत्ति होती है। कबीरदास का कहना है कि जो मनुष्य इस मानव-शरीर या जीवन को प्राप्त करके आत्मज्ञान लाभ करते हैं, वे ही वास्तव में 'गुरू' हैं, आदरणीय हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानी गुरुओं केलिए हम शिष्य के समान हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत उलटवाँसी-पद की प्रथम पंक्ति अर्थ-ग्रहण केलिए प्रवेश द्वार है। इस पंक्ति की व्याप्ति अन्तिम पंक्ति तक है। सत्गुरु की भक्ति को दृढ़ क्यों किया जाय, इसका समाधान अगली पाँच पंक्तियों में किया गया है। अन्तिम दो पंक्तियों की चेतावनी साधक को साधना-सिद्धि कराने तथा जीवात्मा को जीवन की सफलता को लक्षित कराने के लिए है। 'अकेला' पद की ध्वनि असक्तभाव अथवा प्रवृत्ति रहित जीवन-यापन करने केलिए है।

(२) 'बूझहु पंडित ज्ञानी' कथन ऐसे ज्ञानी केलिए है जो शास्त्र ज्ञान को व्यवहार में नहीं लाता। माया जनित स्थिति का ज्ञान वैचारिक अवस्था में ही सम्भव है। साथ ही प्रयोक्ता का आत्म विश्वास चुनौती के स्वर जैसा लगता है।

(३) 'गंग' प्रयोग आद्या सात्विक माया के लिए है, जो बाद में अपने व्यापक प्रवाह के कारण नानात्मक रूप धारण कर लेती है।

(४) 'वहि माँखी के माँखा नाहीं' यह पंक्ति सांख्य दर्शन के 'प्रकृति-पुरुष' की ओर भी संकेत करती है, क्योंकि 'प्रकृति' जब तक 'पुरुष' का दर्शन नहीं कर लेती तब तक उसका व्यापार अवरुद्ध नहीं होता। दर्शन होने पर द्रष्टा केलिए वह सदा केलिए विलीन हो जाती है। सांख्य में इसे 'विवेक ख्याति' कहते हैं।[1]

(५) 'अबकी' प्रयोग इसी जीवन में ज्ञान-प्राप्ति करने केलिए प्रेरित कर रहा है।

(६) इस पद में 'सार' छन्द का प्रयोग है, जिसमें १६, १२ पर यति के साथ २८ मात्राएँ होती हैं। इसे 'पद' या भजन-पद भी कहते हैं। सन्तों में इसे 'सबद' या 'शब्द' कहा है।[2]

---

१. —भारतीय दर्शन (पं० बलदेव उपाध्याय), पृ० ३५६
२. देखिए—कबीर बीजक, पृ० ६६

उदाहरण-३—'साँई के संग सासुर आई।
सँग न सूती स्वाद न मानी, गौ जोवन सपने की नाँई ॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माँडो छायो।
सखी सहेलरी मंगल गावैं, दुख सुख माथे हरदि चढ़ावैं ॥
नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठी जोरि भई पतियाई।
अरघा दे लै चली सुवासिनि, चौके राँड भई सँग साँई ॥
भयो वियाह चली विनु दुलह, बाट जात समधी समुझाई।
कहैं कविर हम गौने जैबे, तरब कंत ले तूर बजाई ॥'[1]

संकेतार्थ—साँई=स्वामी (आत्मतत्त्व, परमात्मा)। सासुर=ससुराल, (जीवात्मा का इह लौकिक जीवन, संसार)। जाई=जन्म लिया। सँग न सूती=साथ सोने का अवसर नहीं मिला, अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान में तदाकार नहीं हो पाया। स्वाद न मानी=स्वाद की अनुभूति नहीं हुई, अर्थात् प्रेम या अज्ञान के कारण 'महासुख' से वंचित रही। गौ=व्यतीत होगया। जौवन=यौवन, (जीवात्मा की सामर्थ्य अथवा मानव-जीवन)।[2] सपने की नाँई=स्वप्न की भाँति, (मुहावरा) क्षणिक। जना चारि मिलि=चार जने मिलकर, (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का संवाय रूप अन्तकरण चतुष्टय)। लगन सुधायौ=लग्न, मुहूर्त्त निश्चित किया (देह संघात के रूप में शरीर धारण कराने का हेतु बने)। जना पाँच=पंच-समुदाय, (पंच महाभूत, पंच-विकार, अथवा पंचेन्द्रियाँ)। माँडो छायौ=शरीर रूप मण्डप का आच्छादन किया। सखी-सहेलरी=सखियाँ, (अन्य इन्द्रियाँ)। मंगल गावैं=मंगल सूचक गीत गाती हैं, अर्थात् स्व-स्व विषयों में निरत होने तथा तज्जन्य सुखद अनुभूति की अभिव्यक्ति करना। सुख-दुख=पुण्य-पाप की मूल वृत्ति। हरदि चढ़ाना=हरिद्रा का लेप करना, अर्थात् जीवके भाग्य में सुख-दुःख के अमिट संस्कारों का अंकन करना। भाँवरि=सप्तपदी के रूप में फेरे डालना, अर्थात् मन को वासना के नाना रूपों से आच्छादित करना। गाँठी जोरि=ग्रंथि-बन्धन करके, (चेतन की जड़ के साथ ग्रंथि, जीवात्मा रूपी दुलहिन का सांसारिक जड़ पदार्थों के साथ गठ-बन्धन होना। पतियाई=प्रत्यय, विश्वास। अरघा दै=अर्ध्य देकर। सुवासिनी=सुगन्धि अथवा अच्छे वस्त्र धारण करने वाली, अनेक प्रकार के भ्रम-रूपों के आवरण धारण करने वाली जीवात्मा)। चौके=चौक या मण्डप में, (संसार में)। राँड भई=पतिहीना हो गई, (परमात्मा रूपी पति को भुला बैठी)। संग साईं=स्वामी के होते हुए भी। बाट-जात=मार्ग पर चलते हुए, (गतानुगति जीव)। समधी=वर-वधू के पिता का परस्पर सम्बन्ध, (समत्व बुद्धि वाले सन्त जन)। समुझाई=समझाया, आत्म तत्त्व का उपदेश किया। गौने जाना=(पारिभाषिक रूढ़ शब्द) द्विरागमन होना अर्थात् पुनः परमात्मा रूप पति के घर जाना। तरब=तरंगों। तूर बजाई=(मुहावरा) तुरही बजाकर, ढिंढोरा पीटकर, डंके की चोट।

---

१. —कबीर बीजक, शब्द-५४ (पृ० १६६-६७)
२. 'यौवन, दिवस और दिन आदिक शब्द नर-तन के बोधक हैं। सखी, सहेलरी आदिक सांकेतिक शब्द इन्द्रियों के बोधक हैं।' —कबीर बीजक, भूमिका, पृ० ३५

सांकेतिक व्याख्या - व्याख्येय उलटवाँसी-पद में आवागमन के चक्र में पड़े हुए जीवन की चित्तवृत्ति की सबीजता का वर्णन, विवाह का रूपक बाँध कर किया गया है। विचार-काल की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं कि जीवात्मा चेतन-शक्ति को लेकर श्वसुरालय रूप संसार में आती है। अर्थात् चेतन-तत्त्व के रूप में परमात्मतत्त्व (स्वामी) सदा ही जीवात्मा के साथ रहता है, परन्तु भ्रम या विवर्त के कारण जीवात्मा सच्चिदानन्द रूप परमस्वाद का अनुभव नहीं कर पाती और जीवन-काल, स्वप्न के समान, शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। और इस बीच वास्तविक परमात्मा से 'हथलेवा' का मुहूर्त सम्पन्न ही नहीं हो पाता।

जीवात्मा के जन्म के पूर्व ही, अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) उपादान कारण के रूप में कार्यशील हो जाता है। यही देहादि संघात का, चार जनों के द्वारा लग्न-शोधन है। अर्थात् सबीज-चित्त वृत्ति ही शरीर-धारण कराने का मूल हेतु है। अन्तःकरण चतुष्टय के कार्य कर चुकने के पश्चात् पंच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) तथा उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच विषयों के सकाश से शरीर रूप मण्डप का आच्छादन होता है। जीव के जन्म लेते ही कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में निरत रहकर तज्जन्य सुखद अनुभूति की अभिव्यक्ति, मंगल-गान करने वाली सखियों के समान, करने लगती हैं। अर्थात् अविचारिक स्थिति में इन्द्रियाँ विषय भोगों में प्रवृत्त हो जाती हैं और इन भोगों के परिणाम स्वरूप पुण्य-पाप रूप सुख-दुःख की भावना का संस्कार जीव के मत्थे मढ़ जाता है। यही जीवात्मा रूप दुलहिन के ऊपर हरिद्रा लेपन है। कितनी विषम स्थिति है कि भोग का अनुभव तो करती हैं इन्द्रियाँ, पर उसका फल भुगतना पड़ता है जीवात्मा को। इस प्रकार संस्कार रूप में वासना की भाँवरि जीवात्मा रूप दुलहिनी के मन मुकर पर पड़ जाती है। फलतः मन-प्रपंच के रूप में, जीवात्मा का गठबन्धन जगत् के जड़ पदार्थों से हो जाता है। इसीलिए दुलहिनि संसार (उपपति) को ही अपना पति मान-कर उसी के साथ अपना प्रत्यय बढ़ाती है। अर्थात् देहासक्ति, देहाभिमान के कारण विषय-जनित सुख को ही जीवात्मा सब कुछ समझ बैठती है और परमतत्त्व, पतिरूप परमात्मा को भूल जाती है। यही जड़-चेतन की ग्रंथि है।[1] माया रूप सुन्दर आवरणों वाली वासना, नाना प्रकार से आकृष्ट करती हुई, अर्घ्य देती हुई, जीवात्मा को जगत् की ओर उन्मुख किये रहती है। इस प्रकार चौक रूप संसार में, जीवात्मा, पति रूप परमात्मा के रहते हुए भी विधवा बनी रहती है। अर्थात् पति रूप परमात्मा के साथ अद्वैत का अनुभव न करके, पृथ-कत्व या द्वैत के कारण वैधव्य की दशा को प्राप्त करती है। इसी प्रकार शरीर रूप मण्डप में बैठे-बैठे ही जीवात्मा 'राँड' हो जाती है।[2]

---

१. 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परिगई। जदपि मृषा छूटतकठिनई॥,

—रामचरित मानस

२. 'आछत खसम राँड भई धनियाँ, झूठ खसम मन भावत रे।'
'सोतो कहिये ऐस अबूझ। खसम अछत ढिग नाहीं सूझ॥'

—कबीर, पृ० १६६-७० से

की गरिमा न आने से, मन अन्तर्मुखी होने पर भी, चंचल वृत्ति को नहीं छोड़ पाता। (अथवा साधना के विकास-काल में साधक का अहंकार रूप पर्वत बिना वायु के ही उड़ जाता है।) इस प्रकार, मन की उस चंचलावस्था में यावन्मात्र जीव, वृक्ष रूप संसार में निमग्न हो जाते हैं। परन्तु आत्म-परिचय के साथ ही मन के स्थिर होते ही चित्त अपनी चंचलता को त्याग देता है[1] और साधक के शुष्क सरोवर रूप असंग, निवृत्त हृदयमें आनन्द की हिलारें उठने लगती हैं। अर्थात् सीमित हृदय में ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने लगती है। उस अवस्था में चकवा रूप चित्त बिना प्रवृत्ति रूप जल के, तन्मयावस्या में सुखात्मक स्थिति का अनुभव करता है। लोक में आत्म-परिचय के बिना ही पंडित नामधारी बहुत होते हैं, जो बिना अनुभव के, सुनी सुनाई बातों का पुराण-पाठ करते रहते हैं। अर्थात् स्वयं तो आत्म-परिचय कर नहीं पाते, पर दूसरों को वैसा उपदेश देकर भ्रम में डालते हैं। वास्तव में उस साध्य रूप पद की प्राप्ति के बिना, उसके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं। कबीर कहते हैं कि जो इस आत्म-तत्त्व रूप पद को जानते हैं, वे प्रपंच-रहित होकर जीवन्मुक्त होजाते हैं और ऐसे सन्तों की वाणी ही यथार्थ प्रमाण होती है।

विशेष—(१) उक्त उलटवाँसी-पद में 'पद' शब्द का प्रयोग श्लिष्ट है, जो भजन-पद तथा साध्य अमर पद दोनों की ओर संकेत करता है।

(२) 'धरती', 'अकास', 'चिउँटी', 'हस्ति', 'परबत', 'चकवा' आदि सांकेतिक प्रतीकों के द्वारा कुंडलिनी-जागरण की साधना तथा सुरतियोग की ध्वनि निकलती है।

(३) धरती का आकाश की ओर जाना, चींटी के मुख में हाथी का समाना, बिना पवन के पर्वत का उड़ना, सूखे सरोवर में हिलोर उठना आदि प्रयोग विरोध मूलक हैं, जिनसे विस्मय तत्त्व की सृष्टि हुई है। उक्त उदाहरण 'पूर्ण पद उलटवाँसी' का है।

उदाहरण-५—'कैसें नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी ॥टेक॥
बैल बियाए गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूं साँझ।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै साँप पहरइया।
निति उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ॥'[2]

संकेतार्थ—नगरि = नगर, (मानव-शरीर)। कुटवारी = कोतवाली, (रक्षा)।

---

१. 'चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥' —हठयोग प्रदीपिका,

२. —कबीर ग्रंथावली, पद-८०; —कबीर बीजक, शब्द-६५ ('कबीर-बीजक' में यह पद कुछ पाठ-भेद से मिलता है, जिसके कारण अर्थ में कुछ वैचारिक भेद हो गया है।)

पुरिष = पुरुष, (पुरुष स्वभाव का मन)। बिचषन = विचक्षण, (विचित्र)। नारी = स्त्री, (कामना, मनसा)। बैल = वृषभ, (विविध संस्कारों से लदा हुआ बैल रूप सदोष मन)। बियाइ जन्म देता है, (नाना प्रकार की काल्पनिक सृष्टि)। गाइ = गाय, (इन्द्रिय, सात्विक निष्क्रिय बुद्धि)। बाँझ होना = प्रसूति धर्म से रहित होना, (निश्चेष्ट होजाना)। बछरा = बच्छ∠वत्स, (सदोष मन पराश्रित इन्द्रियाँ)। तीन्यूं साँझ दुहाजाना = त्रिप्रहर दोहन होते रहना अर्थात् इच्छानुसार कामनाओं को साकार रूप देना। मकड़ी = जाला पूर कर जन्तुओं को फँसाने वाली मर्कटक, (माया)। माषी = मक्खी, (वृत्ति, वासना)। छछिहारी —छिछोलियाँ खेलना, (ठिठोली करना)। मास पसारि = मांस फैलाकर, (उपलब्ध विषयों को चारों ओर देखकर)। चीलह = चिल्ह (सं०), गिद्ध के आकार का एक पक्षी, (मनसा, कामना)। मूसा = मूषक, (सूक्ष्म वृत्ति वाला, पर चंचल स्वभाव का मन)। खेवट = केवट, नाविक, (संतरण कराने वाला नायक)। नाव = नौका। बिलइया = बिल्ली, (दुष्टमति)। मींडक = मण्डूक, (भ्रम में पड़ा हुआ मन)। साँप = सर्प, (संशय)। स्याल∠शृगाल, (भीरु स्वभाव वाली जीवात्मा)। सयंघ = सिंह, (प्रबल मन अथवा काल, मृत्यु)।

सांकेतिक व्याख्या—उक्त पद की अभिधा अपने तात्पर्यार्थ के बोझ से दबी जारही है, इसलिए पद का अभिधात्मक रूप असम्बद्ध कथनों की योजना-सा लगता है। पद की प्रथम 'टेक' वाली पंक्ति को विचार पूर्वक पढ़ने से प्रयोक्ता का तात्पर्य व्यंजित होने लगता है। इस पद में ऐसे नगर की रक्षा के सम्बन्ध में कथन है, जिसका पुरुष चंचल वृत्ति वाला है और नारी विलक्षण स्वभाव की है। अतः 'नगरि' का अर्थ मानव-शरीर की ओर लगने लगता है, जिसमें चंचल स्वभाव वाला मन[1] रूप पुरुष और विलक्षण स्वभाव वाली कामना रूप नारी निवास करती है।

उक्त नगर रूप मानव-शरीर के भीतर बड़ी ही विचित्र और विषम परिस्थिति है। जन्म-जन्मातरों के नाना प्रकार के संस्कारों से लदा हुआ, बैल के समान, प्रवृत्ति-मार्गी सदोष मन इस नगर में नित्य-नवीन सृष्टि किया करता है और बेचारी सात्विकी बुद्धि को निष्क्रिय रूप में वन्ध्या बन जाना पड़ता है, क्योंकि अपनी चंचलता, प्रबलता के कारण मन सात्विकी बुद्धि की कोई बात नहीं सुनता। यही बैल का प्रसूति धर्म स्वीकार करना और गाय का बाँझ रहना है। उक्त परिस्थिति के फलस्वरूप मन के आश्रित बछड़े रूप अन्य इन्द्रियां तदनुकूल रहकर विषयों से दुग्ध का दोहन करती हैं। अर्थात् मन इन्द्रियों से मन माना काम लिया करता है। यही बछड़े का तीनों प्रहर दोहन होना है।

मक्खी रूप वासना या प्रवृत्ति, मकड़ी रूप माया के घर में छिछोलियाँ खेला करती है। (मक्खी की शक्तियाँ मकड़ी की अपेक्षा सीमित होती हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले में जन्तुओं को फँसा लेती है, वैसे ही मायाकृत जाल बड़ा विचित्र और मोहक होता है, जिसमें जीवों की वृत्ति रूप मक्खी आबद्ध बनी रहती है।) अर्थात् माया की सीमा में

---

१. 'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।' —श्रीमद्भगवद्गीता, ६।३४

की गरिमा न आने से, मन अन्तर्मुखी होने पर भी, चंचल वृत्ति को नहीं छोड़ पाता। (अथवा साधना के विकास-काल में साधक का अहंकार रूप पर्वत बिना वायु के ही उड़ जाता है।) इस प्रकार, मन की उस चंचलावस्था में यावन्मात्र जीव, वृक्ष रूप संसार में निमग्न हो जाते हैं। परन्तु आत्म-परिचय के साथ ही मन के स्थिर होते ही चित्त अपनी चंचलता को त्याग देता है[1] और साधक के शुष्क सरोवर रूप असंग, निवृत्त हृदयमें आनन्द की हिलारें उठने लगती हैं। अर्थात् सीमित हृदय में ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने लगती है। उस अवस्था में चकवा रूप चित्त बिना प्रवृत्ति रूप जल के, तन्मयावस्था में सुखात्मक स्थिति का अनुभव करता है। लोक में आत्म-परिचय के बिना ही पंडित नामधारी बहुत होते हैं, जो बिना अनुभव के, सुनी सुनाई बातों का पुराण-पाठ करते रहते हैं। अर्थात् स्वयं तो आत्म-परिचय कर नहीं पाते, पर दूसरों को वैसा उपदेश देकर भ्रम में डालते हैं। वास्तव में उस साध्य रूप पद की प्राप्ति के बिना, उसके सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं। कबीर कहते हैं कि जो इस आत्म-तत्त्व रूप पद को जानते हैं, वे प्रपंच-रहित होकर जीवन्मुक्त होजाते हैं और ऐसे सन्तों की वाणी ही यथार्थ प्रमाण होती है।

विशेष—(१) उक्त उलटवाँसी-पद में 'पद' शब्द का प्रयोग श्लिष्ट है, जो भजन-पद तथा साध्य अमर पद दोनों की ओर संकेत करता है।

(२) 'धरती', 'अकास', 'चिउँटी', 'हस्ति', 'परवत', 'चकवा' आदि सांकेतिक प्रतीकों के द्वारा कुंडलिनी-जागरण की साधना तथा सुरतियोग की ध्वनि निकलती है।

(३) धरती का आकाश की ओर जाना, चींटी के मुख में हाथी का समाना, बिना पवन के पर्वत का उड़ना, सूखे सरोवर में हिलोर उठना आदि प्रयोग विरोध मूलक हैं, जिनसे विस्मय तत्त्व की सृष्टि हुई है। उक्त उदाहरण 'पूर्ण पद उलटवाँसी' का है।

उदाहरण-५—'कैसें नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी ।।टेक।।
बैल बियाए गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।
मकड़ी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरइया।
निति उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।।'[2]

संकेतार्थ—नगरि = नगर, (मानव-शरीर)। कुटवारी = कोतवाली, (रक्षा)।

---

१. 'चले वाते चलं चित्तं, निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ।।' —हठयोग प्रदीपिका,

२. —कबीर ग्रंथावली, पद-८०; —कबीर बीजक, शब्द-६५ ('कबीर-बीजक' में यह पद कुछ पाठ-भेद से मिलता है, जिसके कारण अर्थ में कुछ वैचारिक भेद हो गया है।)

पुरिष = पुरुष, (पुरुष स्वभाव का मन)। बिचषन = विचक्षण, (विचित्र)। नारी = स्त्री, (कामना, मनसा)। बैल = वृषभ, (विविध संस्कारों से लदा हुआ बैल रूप सदोष मन)। बियाइ जन्म देता है, (नाना प्रकार की काल्पनिक सृष्टि)। गाइ = गाय, (इन्द्रिय, सात्विक निष्क्रिय बुद्धि)। बाँझ होना = प्रसूति धर्म से रहित होना, (निश्चेष्ट होजाना)। बछरा = वच्छ∠वत्स, (सदोष मन पराश्रित इन्द्रियाँ)। तीन्यूं साँझ दुहाजाना = त्रिप्रहर दोहन होते रहना अर्थात् इच्छानुसार कामनाओं को साकार रूप देना। मकड़ी = जाला पूर कर जन्तुओं को फँसाने वाली मर्कटक, (माया)। माषी = मक्खी, (वृत्ति, वासना)। छछिहारी —छिछोलियाँ खेलना, (ठिठोली करना)। मास पसारि = मांस फैलाकर, (उपलब्ध विषयों को चारों ओर देखकर)। चीलह् = चिल्ह् (सं०), गिद्ध के आकार का एक पक्षी, (मनसा, कामना)। मूसा = मूषक, (सूक्ष्म वृत्ति वाला, पर चंचल स्वभाव का मन)। खेवट = केवट, नाविक, (संतरण कराने वाला नायक)। नाव = नौका। बिलइया = बिल्ली, (दुष्टमति)। मींडक = मण्डूक, (भ्रम में पड़ा हुआ मन)। साँप = सर्प, (संशय)। स्याल∠शृगाल, (भीरु स्वभाव वाली जीवात्मा)। सयंघ = सिंह, (प्रबल मन अथवा काल, मृत्यु)।

सांकेतिक व्याख्या—उक्त पद की अभिधा अपने तात्पर्यार्थ के बोझ से दबी जारही है, इसलिए पद का अभिधात्मक रूप असम्बद्ध कथनों की योजना-सा लगता है। पद की प्रथम 'टेक' वाली पंक्ति को विचार पूर्वक पढ़ने से प्रयोक्ता का तात्पर्य व्यंजित होने लगता है। इस पद में ऐसे नगर की रक्षा के सम्बन्ध में कथन है, जिसका पुरुष चंचल वृत्ति वाला है और नारी विलक्षण स्वभाव की है। अतः 'नगरि' का अर्थ मानव-शरीर की ओर लगने लगता है, जिसमें चंचल स्वभाव वाला मन[1] रूप पुरुष और विलक्षण स्वभाव वाली कामना रूप नारी निवास करती है।

उक्त नगर रूप मानव-शरीर के भीतर बड़ी ही विचित्र और विषम परिस्थिति है। जन्म-जन्मातरों के नाना प्रकार के संस्कारों से लदा हुआ, बैल के समान, प्रवृत्ति-मार्गी सदोष मन इस नगर में नित्य-नवीन सृष्टि किया करता है और बेचारी सात्विकी बुद्धि को निष्क्रिय रूप में वन्ध्या बन जाना पड़ता है, क्योंकि अपनी चंचलता, प्रवलता के कारण मन सात्विकी बुद्धि की कोई बात नहीं सुनता। यही बैल का प्रसूति धर्म स्वीकार करना और गाय का बाँझ रहना है। उक्त परिस्थिति के फलस्वरूप मन के आश्रित बछड़े रूप अन्य इन्द्रियां तदनुकूल रहकर विषयों से दुग्ध का दोहन करती हैं। अर्थात् मन इन्द्रियों से मन माना काम लिया करता है। यही बछड़े का तीनों प्रहर दोहन होना है।

मक्खी रूप वासना या प्रवृत्ति, मकड़ी रूप माया के घर में छिछोलियाँ खेला करती है। (मक्खी की शक्तियां मकड़ी की अपेक्षा सीमित होती हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले में जन्तुओं को फँसा लेती है, वैसे ही मायाकृत जाल बड़ा विचित्र और मोहक होता है, जिसमें जीवों की वृत्ति रूप मक्खी आबद्ध बनी रहती है।) अर्थात् माया की सीमा में

---

१. 'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।' —श्रीमद्भगवद्गीता, ६।३४

मनसा का कार्य-व्यापार होता रहता है। विषयाकृष्ट सदोष कामना, अपने चारों ओर उपलब्ध मांस रूप विषयों की रक्षा में तत्पर बनी रहती है। उक्त सदोषी मन के कार्य-व्यापार में बिल्ली रूप दुष्टमति, नाविक अथवा केवट बने हुए मूषक रूप चंचल मन केलिए नौका का कार्य करती है। अर्थात् दुर्मति को आधार बनाकर मन अपने कार्यों में प्रवृत्त बना रहता है। इस विषम परिस्थिति में भ्रमावस्था वाला मण्डूक रूप मन, अपने निकट सर्प रूप संशय को (क्योंकि भ्रम या सन्देह की अवस्था में मन संशयालु रहता है।), जागरूक देखकर भी, सुख की नींद सोने का दम्भ करता रहता है। वह यह भूल जाता है कि अवसर पाते ही सर्प रूप संशय उसे निगल जायेगा। इस प्रकार चंचल पुरुष रूप मन और विचित्र स्वभाव वाली मनसा के हाथों नगर रूप मानव-शरीर का रक्षा कार्य अव्यवस्थित बना रहता है। इस परिस्थिति में भी चतुर पर भीरु स्वभाव वाला शृगाल रूप जीव, आत्मा की प्रेरणा से, स्थिति को सुधारने अथवा दृढ़ करने केलिए, नित्यप्रति अर्थात् निरन्तर अभ्यास से अथवा प्रत्येक जन्म में, सिंह रूप काल अथवा प्रबल मन से संघर्ष करता रहता है। तात्पर्य यह है कि साधक रूप जीवात्मा को, नगर की व्यवस्था या परमपद पाने केलिए विषय-वन में स्वेच्छाचारी होकर मृगया करने वाले सिंह स्वभाव के मन से अथवा सिंह के समान बली काल से संघर्ष करना पड़ता है। कबीर का कहना है कि इस विषम परिस्थिति के वैचारिक रहस्य को कोई विरला ही जान पाता है।

विशेष—(१) द्वितीय तथा अन्तिम पंक्ति की समानार्थी (सिद्ध ढेण्ढणपा की) ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

'बलद बिआअल गविआ बाँझे। पिटा दुहिअइ एतिणा सांझे।
निति निति सियाला सिंहे सम जुझअ। ढेण्ढणपाएर गीत विरले बुझअ।'[1]

(२) शैली के कलेवर में विशेषोक्ति, असंगति, विभावना, विरोध आदि अलंकार सहज ही प्रविष्ट हुए प्रतीत होते हैं।

(३) विषय की दृष्टि से उक्त पद में साधना-मार्ग की परीक्षा, विषम परिस्थिति आदि का संकेत है। इसकी अन्तिम पंक्ति में परिस्थिति को काबू में करने केलिए साधनाभ्यास के नैरन्तर्य की व्यंजना हो रही है।

(४) व्यवहार क्षेत्र से प्रतीकों के चयन, व्यवहारिक भाषा के प्रयोग तथा गीतितत्त्व के सहयोग से पद की मार्मिकता बढ़ गई है। 'कैसें' पद के प्रयोग से परिस्थिति की विषमता, 'अचरज' से विस्मय, 'बिरला बूझै' से चुनौती का स्वर और साध्य की दुष्करता मुखर हो रही है।

(५) 'कबीर-बीजक' में उक्त पद पाठान्तर से आया है, जिसमें पाँच के स्थान पर चार पंक्तियाँ हैं और 'पुरुष' तथा 'नारी' शब्दों का प्रयोग नहीं है। 'बीजक' वाले पद में चुनौती का स्वर कुछ तीव्र है। उस नगर की, जिसमें नाना प्रकार की विषमताएँ,

---

१. —चर्यागीतिकोष:, पृ० १०८

अव्यवस्थाएँ फैली हुई हैं, उसकी कोतवाली (रक्षा) कौन कर सकता है ? अर्थात् रक्षा-कार्य दुष्कर है। यहाँ 'नगर' का अर्थ संसार पक्ष में अधिक लगता है, जिसमें रहने वाले जीव, मन की चंचल वृत्ति के वशीभूत होकर नाना प्रकार की असंगतियों में फँसे रहते हैं। उस विषम स्थिति में सुधार केलिए सिंह स्वभाव वाले, आत्मतत्त्व प्रधान जीवात्मा को स्यार रूप मनसे संघर्ष करना पड़ता है।

उदाहरण-६—'अवधू जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहीं व्यापै, देही जुरा न छीजै ॥टेक॥
उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल में व्यंब प्रकासै ॥
डाल गह्यां थें मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा ॥
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटे धनकि पारधी मार्यौ, यहु अचिरज कोइ बूझै ॥
औंधा घड़ा न जल में डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया ॥
अम्बर बरसै धरती भीजै, यहु जांणें सब कोई।
धरती बरसै अम्बर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥
गांवणहारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावैं।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बेन बजावै ॥
कहणीं रहणीं निज तत जांणें, यहु सब अकथ कहाणीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं ॥
बाझ पियालै अमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या ॥'[1]

संकेतार्थ— नींद=निद्रा, (आलस्य)। काल न खाइ=मृत्यु के वशवर्ती न होना। जुरा=वृद्धावस्था। उलटी गंग=उलटी धारा, (प्राणों की ऊर्ध्वगति, वृत्ति का रहना) समुद्र=भव-सागर। ससिहर-सूर=चन्द्र-सूर्य, (हठयोग प्रतिपादित मेरु-शिखर पर, ब्रह्म-रन्ध्र में स्थित चन्द्राकार विशेष स्थान तथा मूलाधारस्थ सूर्यरूप विशेष स्थान अथवा इड़ा-पिंगला नाम्नी योग-नाड़ियाँ)। रोगी=रुग्ण, (साधक, योगाभ्यासी)। नव-ग्रिह= शरीर के नवद्वार। जल में=पानी में, (माया के प्रभाव में अथवा वीर्य निर्मित शरीर में)। व्यंब=प्रतिछाया, प्रतिबिम्ब (ब्रह्म-ज्योति)। डाल=शाखा, (बाह्यरूप, संसार)। मूल=जड़, आदि (आदि पुरुष परमात्मा)। फल=साध्य। बंबई=बांबी (शरीर)। शरप=सर्प (संशय)। धरणि=पृथ्वी, (जड़ रूप शरीर अथवा जाग्रत होने से पूर्व जड़ रूप बनी हुई कुंडलिनी)। महारस=महासुख, (ब्रह्मानन्द)। गुफा=कन्दरा (घट, हृदय,

१. —कबीर ग्रंथावली, पद १६२; —कबीर बीजक, शब्द २ (पाठ भेद के साथ)

मनसा का कार्य-व्यापार होता रहता है। विषयाकृष्ट सदोष कामना, अपने चारों ओर उपलब्ध मांस रूप विषयों की रक्षा में तत्पर बनी रहती है। उक्त सदोषी मन के कार्य-व्यापार में बिल्ली रूप दुष्टमति, नाविक अथवा केवट बने हुए मूषक रूप चंचल मन केलिए नौका का कार्य करती है। अर्थात् दुर्मति को आधार बनाकर मन अपने कार्यों में प्रवृत्त बना रहता है। इस विषम परिस्थिति में भ्रमावस्था वाला मण्डूक रूप मन, अपने निकट सर्प रूप संशय को (क्योंकि भ्रम या सन्देह की अवस्था में मन संशयालु रहता है।), जागरूक देखकर भी, सुख की नींद सोने का दम्भ करता रहता है। वह यह भूल जाता है कि अवसर पाते 'ही सर्प रूप संशय उसे निगल जायेगा। इस प्रकार चंचल पुरुष रूप मन और विचित्र स्वभाव वाली मनसा के हाथों नगर रूप मानव-शरीर का रक्षा कार्य अव्यवस्थित बना रहता है। इस परिस्थिति में भी चतुर पर भीरु स्वभाव वाला शृगाल रूप जीव, आत्मा की प्रेरणा से, स्थिति को सुधारने अथवा दृढ़ करने केलिए, नित्यप्रति अर्थात् निरन्तर अभ्यास से अथवा प्रत्येक जन्म में, सिंह रूप काल अथवा प्रबल मन से संघर्ष करता रहता है। तात्पर्य यह है कि साधक रूप जीवात्मा को, नगर की व्यवस्था या परमपद पाने केलिए विषय-वन में स्वेच्छाचारी होकर मृगया करने वाले सिंह स्वभाव के मन से अथवा सिंह के समान बली काल से संघर्ष करना पड़ता है। कबीर का कहना है कि इस विषम परिस्थिति के वैचारिक रहस्य को कोई विरला ही जान पाता है।

विशेष—(१) द्वितीय तथा अन्तिम पंक्ति की समानार्थी (सिद्ध ढेण्ढणपा की) ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

'बलद बिआअल गविआ बाँझे। पिटा दुहिअइ एतिणा सांझे।
निति निति सियाला सिहे सम जुझअ। ढेण्ढणपाएर गीत विरले बुझअ।'[1]

(२) शैली के कलेवर में विशेषोक्ति, असंगति, विभावना, विरोध आदि अलंकार सहज ही प्रविष्ट हुए प्रतीत होते हैं।

(३) विषय की दृष्टि से उक्त पद में साधना-मार्ग की परीक्षा, विषम परिस्थिति आदि का संकेत है। इसकी अन्तिम पंक्ति में परिस्थिति को काबू में करने केलिए साधनाभ्यास के नैरन्तर्य की व्यंजना हो रही है।

(४) व्यवहार क्षेत्र से प्रतीकों के चयन, व्यवहारिक भाषा के प्रयोग तथा गीतितत्त्व के सहयोग से पद की मार्मिकता बढ़ गई है। 'कैसें' पद के प्रयोग से परिस्थिति की विषमता, 'अचरज' से विस्मय, 'बिरला बूझै' से चुनौती का स्वर और साध्य की दुष्करता मुखर हो रही है।

(५) 'कबीर-बीजक' में उक्त पद पाठान्तर से आया है, जिसमें पाँच के स्थान पर चार पंक्तियाँ हैं और 'पुरुष' तथा 'नारी' शब्दों का प्रयोग नहीं है। 'बीजक' वाले पद में चुनौती का स्वर कुछ तीव्र है। उस नगर की, जिसमें नाना प्रकार की विषमताएँ,

---

१. —चर्यागीतिकोषः, पृ० १०८

अव्यवस्थाएँ फैली हुई हैं, उसकी कोतवाली (रक्षा) कौन कर सकता है ? अर्थात् रक्षा-कार्य दुष्कर है। यहाँ 'नगर' का अर्थ संसार पक्ष में अधिक लगता है, जिसमें रहने वाले जीव, मन की चंचल वृत्ति के वशीभूत होकर नाना प्रकार की असंगतियों में फँसे रहते हैं। उस विषम स्थिति में सुधार केलिए सिंह स्वभाव वाले, आत्मतत्त्व प्रधान जीवात्मा को स्यार रूप मनसे संघर्ष करना पड़ता है।

उदाहरण-६—'अवधू जागत नींद न कीजै ।
काल न खाइ कलप नहीं व्यापै, देही जुरा न छीजै ।।टेक।।
उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै ।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल में व्यंब प्रकासै ।।
डाल गह्यां थें मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा ।
बंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महारस खावा ।।
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै ।
उलटे धनकि पारधी मार्यौ, यहु अचिरज कोइ बूझै ।।
औंधा घड़ा न जल में डूबै, सूधा सूभर भरिया ।
जाकों यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसादि निस्तरिया ।।
अम्बर बरसै धरती भीजै, यहु जांणें सब कोई ।
धरती बरसै अम्बर भीजै, बूझै बिरला कोई ।।
गांवणहारा कदै न गावै, अणबोल्या नित गावै ।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बेन बजावै ।।
कहणीं रहणीं निज तत जांणें, यहु सब अकथ कहांणीं ।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं ।।
बाझ पियालै अमृत सोख्या, नदी नीर भरि राख्या ।
कहैं कबीर ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाष्या ।।'[1]

संकेतार्थ— नींद=निद्रा, (आलस्य)। काल न खाइ=मृत्यु के वशवर्ती न होना। जुरा=वृद्धावस्था। उलटी गंग=उलटी धारा, (प्राणों की ऊर्ध्वगति, वृत्ति का रहना) समुद्र=भव-सागर। ससिहर-सूर=चन्द्र-सूर्य, (हठयोग प्रतिपादित मेरु-शिखर पर, ब्रह्म-रन्ध्र में स्थित चन्द्राकार विशेष स्थान तथा मूलाधारस्थ सूर्यरूप विशेष स्थान अथवा इड़ा-पिंगला नाम्नी योग-नाड़ियाँ)। रोगी=रुग्ण, (साधक, योगाभ्यासी)। नव-ग्रिह= शरीर के नवद्वार। जल में=पानी में, (माया के प्रभाव में अथवा वीर्य निर्मित शरीर में)। व्यंब=प्रतिछाया, प्रतिबिम्ब (ब्रह्म-ज्योति)। डाल=शाखा, (वाह्यरूप, संसार)। मूल=जड़, आदि (आदि पुरुष परमात्मा)। फल=साध्य। बंबई=बांबी (शरीर)। शरप=सर्प (संशय)। धरणि=पृथ्वी, (जड़ रूप शरीर अथवा जाग्रत होने से पूर्व जड़ रूप बनी हुई कुंडलिनी)। महारस=महासुख, (ब्रह्मानन्द)। गुफा=कन्दरा (घट, हृदय,

---

१. —कबीर ग्रंथावली, पद १६२; —कबीर बीजक, शब्द २ (पाठ भेद के साथ)

शरीर)। बहरि=बाह्यान्तर (बहिर्मुखी वृत्ति प्रधान होने की स्थिति)। धनकि=धनुष, (ध्यान)। पारधी=शिकारी, (साधक)। मार्‌यौ=समाप्त कर दिया (साधक से सिद्ध बना दिया)। औंधा घड़ा=अन्तर्मुखी घट या हृदय। जल में=माया के प्रभाव में। प्रसादि=कृपा से। निस्तरिया=निस्तार हो जाता है, पार लग जाता है। धरती=पृथ्वी (प्राण तत्त्व को धारण करने वाली काया अथवा कुंडलिनी)। अंबर=आकाश (गगन-शिखर, सहस्रार चक्र)। अनबोल्या=मौन। गांवणहारा=वाचाल। अनहद बैन=अनहद नाद। पुरिसां=पुरुष, (जीवन्मुक्त पुरुष) बाँझ=वन्ध्या, (सात्विक निष्क्रिय बुद्धि) पियालै=प्याला, पात्र (सूक्ष्म घेरा। अंमृत=अमरतत्त्व। नदी=प्रवाह, अधोगामी प्रवाह। भरिराष्या=अवरुद्ध कर लिया (अन्तःसत्त्व की स्थिति प्राप्त हुई)।

(उक्त उलटवाँसी-पद में अन्तर्मुखी साधना तथा सिद्धावस्था में साधक की दशा का कथन है)।

परवर्ती सन्त और उनके उलटवाँसी-प्रयोग :

धनी धर्मदास जी : (सम्वत् १४७५-१६०० के मध्य में)। बेलविडियर प्रेस से 'शब्दावली' नाम से आपकी बानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियों में उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। आप की शब्दावली के बीस पदों में उलटवाँसी शैली के तत्त्व सम्यक् रूप से विद्यमान हैं। विषय की दृष्टि से इन उलटवाँसी-पदों में हठयौगिक साधना, माया का प्रभाव तथा सिद्धि-अवस्था जन्य अनुभूति की सघनता का वर्णन मिलता है। 'भेद का अंग' शीर्षक के अधिकांश 'शब्द' उलटवाँसी शैली प्रधान हैं। प्रतीक-योजना की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पदों में नवीनता नहीं मिलती। प्रायः कबीर के उलटवाँसी-पदों में प्रयुक्त प्रतीकों को ही अपनाया है। शरीर केलिए 'चोली' तथा दुलहिनि से सम्बन्धित 'पीहर' 'ससुराल' आदि प्रतीकों की योजना में परिस्थिति जन्य व्यंजना की मार्मिकता देखने को मिलती है। भाषा में पूर्वीपन के पुट के कारण माधुर्य गुण की अनुभूति होती है। उलटवाँसी शैली की प्रयोग विषयक प्रवृत्ति और सिद्धि के सम्बन्ध में उनके दो उलटवाँसी मूलक पद प्रस्तुत हैं :—

उदाहरण-१— 'हमें एक अचरज जानि पड़ै ॥ टेक ॥
जल भीतर इक वृच्छा ऊपजै, ता में अगिन जरै।
ठाढ़ी साखा पवन झकोरै, दीपक जोति बरै ॥
माथे पर तिरबेनी बहत है, चढ़ि ऊपर असनान करै।
लरजै गरजै दामिनि दमकै, कामिनि कलस भरै ॥
मट्टी का गढ़ कोट बना है, जा में फौज लड़ै।
सूरबीर कोउ नजरि न आवै, नाहक रार करै ॥
साहेब अमर मरै ना कबहूँ नाहक सोच करै।
धरमदास या पद को गावै, फिर कबहुँ न टरै ॥'[1]

१. —धनी धरमदास जी की शब्दावली (भेद का अंग), शब्द-६

संकेतार्थ—अचरज=आश्चर्य, अचम्भा। जल-भीतर=पानी के अन्तराल में, (माया के प्रभाव में)। वृच्छा=वृक्ष, (संसार अथवा शरीर)। अगिन=अग्नि, (त्रय ताप, ज्ञानाग्नि या जठराग्नि)। ठाढ़ी शाखा=सीधी टहनी, (लम्बवत् मेरुदंड)। पवन झकारै=वायु को प्रवाहित करती है, (प्राणवायु को उद्वेलित करती है)। दीपक जोति=दीप का प्रकाश अर्थात् ज्ञान-ज्योति। बरै=दीपित होती है। माथे पर=मस्तक में, (ललाटस्थ त्रिकुटी स्थान में)। तिरवेनी=त्रिवेणी, (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाम्नी गंगा, यमुना, सरस्वती रूप नाडियों का संगम स्थान)। चढ़ि ऊपर=ऊपर चढ़कर अर्थात् सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगामी होकर। स्नान=तदाकार वृत्ति में निमग्न होना। दामिनि दमकै=विद्युत चमकती है, (आत्म-ज्योति का प्रकाश होता है)। कामिनि कलस भरै=सुन्दरी घट भरती है, (साधक जीवात्मा अथवा सुरति रूप कामिनी हृदयरूपी घर को तत्त्व ज्ञान के जल से परिपूर्ण करती है)। मिट्टी का गढ़-कोट=मिट्टी निर्मित किला, (मृत्तिका पिण्ड अर्थात् मनुष्य का शरीर)। फौज लड़ै=सेना द्वन्द्व करती है, (इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की ओर आकृष्ट होकर खींचातानी करती हैं)। सूरवीर=शूरवीर अर्थात् योगाभ्यासी साधक। नाहक=व्यर्थ में। रार=झगड़ा। साहेब=स्वामी, परमात्मा। अमर=शाश्वत। सोच=चिन्ता। न टरै=विचलित नहीं हो सकता।

विशेष—उक्त पद में, साधना निरत रहने तथा अमर पद परमात्मा के ध्यान में लगे रहने से अटल पद की प्राप्ति होती है, इस आत्म विश्वास को अभिव्यक्ति मिली है। साथ ही सांसारिक अथवा शरीर सम्बन्धी विषमता की ओर संकेत भी है।

उदाहरण-२— **'साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई ।।टेक।।**
तीन पाँच मोरि चोलिया के घुंडी, लागी कुमति सुमतिया की पाती।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती ।।
सुनहु हो मोरी पार परोसिन, यह चोलिया बिरला जन जानी।
पहिले बियाह मोर भयो सतगुरु से, चोलिया के बँद मोरे सतगुरु खोली ।।
धरमदास बिनवै कर जोरी, बिसरि गई नइहरवा की बोली ।।'[1]

संकेतार्थ—साहेब=स्वामी, पति रूप परमात्मा। नई चोलिया=वस्त्र विशेष, (नवीन जीवन या शरीर)। तीन घुंडी=त्रिगुण की ग्रंथियाँ। पाँच घुंडी=पंचेन्द्रियों का संवाय। पाती=पत्ती अर्थात् कुमति सुमति का संस्कार। ससुरे से=श्वसुरालय से, (पति रूप परमात्मा के यहाँ से)। धनि=युवती, (जीवात्मा)। अलमाती=मदमस्त। पार-परोसिन=अन्य जीवात्माएँ। बिरला जन जानी=विरले सन्तों ने ही इस (चोली) का रहस्य समझा है। बियाह=विवाह, सम्बन्ध, परिचय। बँद=ग्रँथियाँ, अज्ञान का बन्धन। बिसरिगई=विस्मृत होगई। नइहरवा=पीहर, (पिता का घर अर्थात् संसार)*।

---

१. —धनी धरमदास जी की शब्दावली (मिश्रित का अंग), शब्द-७

* **टिप्पणी**—विरहिणी अथवा उद्बुद्ध जीवात्मा केलिए इह लोक पितृगृह तथा परलोक श्वसुरालय है तथा बद्ध जीवात्मा केलिए संसार श्वसुरालय और परलोक-पीहर के रूप में वर्णित हुआ है।

रैदास जी—(१५वें शतक का उत्तरार्द्ध तथा १६वें शतक का पूर्वार्द्ध) 'रैदास जी की बानी' नाम से आपकी बानियों का एक संग्रह 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी वानी में उलटवाँसी शैली के प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत कम देखने को मिलती है। परन्तु, कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, जिनमें रूढ़ पारिभाषिक शब्दों की योजना तथा प्रतीकों के प्रयोग से उलटवाँसी शैली व्यंजित होने लगती है। ऐसे प्रयोग परम्परा-निर्वाह केलिए ही प्रतीत होते हैं। इनमें प्रयोग सम्बन्धी विलक्षणता नहीं दिखाई देती। ऐसा ही एक उदाहरण है :—

'देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ।।टेक।।
हेरे कलाली तैं क्या किया, सिरका सा तैं प्याला दिया।
कहै कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सिर लेऊँ ।।
चंद सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला मरै न कोई।
सहज सुन्न में भाठी सरवै, पीवै रैदास गुरुमुख दरवै ।।'[1]

संकेतार्थ—कलाली=मदिरा विक्रेता, (गुरु)। पियाला=प्याला, मदिरा पात्र, (शरीर अथवा भक्ति तत्त्व)। सिरका सा=सिरके के समान, (तुच्छ पेय जो मदिरा के समान उत्तेजक नहीं होता)। पीवनहारे का=प्रेम अथवा साधक का। सिरलेऊँ=शीश लेना अर्थात् सर्वस्व लेना अथवा सर्वस्व बलिदान। चंद्र-सूर्य=चन्द्र-सूर्य रूप इड़ा-पिंगला नामक योग नाड़ियाँ। मरै न कोई=विनाश नहीं होता, परमात्मा के प्रेम की मदिरा पान करने वाले का विनाश नहीं होता। सहज=सहज समाधि। सुन्न=शून्य, (गगन शिखर)। भाठी सरवै=सहस्रारचक्र के अमृत की वर्षा होती है। गुरूमुख होना=गुरु की कृपा का होना।

गुरु नानक : (सं० १५२६-१५९५) लेखक ने आपकी सम्पूर्णवाणी का अध्ययन नहीं किया है। 'संतवानी संग्रह' में आपकी जो बानियाँ संग्रहीत हैं, उनसे प्रतीत होता है कि आपकी वाणी में व्यवहारिक उपदेशात्मकता की अधिकता है, गोपन की प्रवृत्ति कम। कहीं-कहीं उदाहरण केलिए कोई उलटवाँसी मूलक कथन मिल जाता है। जैसे :—

'धर अम्बर विच बेलड़ी, तहँ लाल सुगंधा बूल।
झक्खर इक नाँ आयो, नानक नहीं कबूल ।।'[2]

इस साखी में माया रूप बेलि की व्याप्ति का कथन है, जिसमें आकर्षण रूप लाल पुष्प लगा है, पर काँटे नहीं दिखाई देते। नानक देव जी इस बेलि को स्वीकारोक्ति नहीं देते।

दादूदयाल जी : (१६०१-१६६०) आपकी बानियों का संग्रह 'वेलविडियर प्रेस' से दो भागों (साखी और पद) में प्रकाशित हुआ है। आपकी साखियों में उलटवाँसी मूलक

---

१. —संत बानी संग्रह (दूसरा भाग), पृ० ३३
२. —संत बानी संग्रह (पहला भाग), पृ० ७०

कथनों का प्रयोग नहीं के बराबर है। पर, 'शब्दों' में उलटवाँसी शैली के सम्यक् उदाहरण मिलते हैं। उनमें भी 'पूर्णपद उलटवाँसी' रूप में 'शब्द' नहीं मिलते, वरन् कुछ पंक्तियों में उलटवाँसी शैली की प्रतीति होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आपका स्वभाव किसी बात अथवा साधना के रहस्य को गूढ़ बनाकर कहने का नहीं था। प्रवृत्ति सूचक एक 'शब्द' यहाँ प्रस्तुत हैं:—

'ऐसा ज्ञान कथौ नर ज्ञानी। इहि घर होइ सहज सुख जानी ॥
गंग जमुन तहँ नीर नहाइ। सुषमन नारी रंग लगाइ ॥
आप तेज तन रह्यौ समाइ। मैं बलि ताकी देखौ अघाइ ॥
बास निरंतर सो समुझाइ। बिन नैनहु देखि तहँ जाइ ॥
दादू रे युहु अगम अपार। सो धन मेरे अधर अधार ॥'[1]

संकेतार्थ—घर=शरीर। गंग-जमुन=गंगा-यमुना रूप इड़ा-पिंगला। सुषमन नारी =सुषुम्ना नाड़ी। बास=वास, निवास। बिन नैन=बिना चर्म चक्षुओं के अर्थात् प्रज्ञा चक्षुओं से। (इस पद में साधना-प्रक्रिया व्यंजित है।) इसी प्रकार विरोधाश्रित निम्न पंक्तियों के द्वारा सिद्धि अवस्था की ओर संकेत है:—

'तहँ अनहद बाजै अद्भुत खेल। दीपक जलै बाती बिन तेल ॥
अखंड जोति तहँ भयौ प्रकास। फाग बसन्त जो बारहमास ॥
त्रि-अस्थान निरंतरि निरधार। तहँ प्रभु बैठे समरथसार ॥[2]

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त—इस सम्प्रदाय के सन्तों में हरिदास, तुरसीदास, सेवादास इन तीन सन्तों की कुछ वानियाँ 'निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी' शीर्षक पुस्तक में डॉ० भगीरथ मिश्र ने सम्पादित की हैं। उन्हीं के आधार पर उक्त सन्तों की उलटवाँसी शैली के प्रयोग-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यहाँ विवेचन प्रस्तुत है।

(१) **हरिदास जी** : 'हरिदास जी ने अपनी रचनाओं में कबीर और रैदास का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट है कि इनका समय इनके बाद का है।'[3] उक्त संग्रह में संग्रहीत आपकी वानियों में 'साखी' भाग में उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। पदों में कई पद 'पूर्णपद' तथा 'अंशपद' उलटवाँसी के मिलते हैं। आपके उलटवाँसी-पदों में मौलिक प्रतीकों का प्रयोग कम दिखाई देता है। पारिभाषिक रूढ़ शब्दावली का ही अधिक प्रयोग है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

---

१. —दादू दयाल की वानी (भाग २), पृ० २९
२. —दादू दयाल की वानी (भाग २), पृ० १६०
३. —निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, पृ० १५

रैदास जी—(१५वें शतक का उत्तरार्द्ध तथा १६वें शतक का पूर्वार्द्ध) 'रैदास जी की बानी' नाम से आपकी बानियों का एक संग्रह 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानी में उलटवाँसी शैली के प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत कम देखने को मिलती है। परन्तु, कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, जिनमें रूढ़ पारिभाषिक शब्दों की योजना तथा प्रतीकों के प्रयोग से उलटवाँसी शैली व्यंजित होने लगती है। ऐसे प्रयोग परम्परा-निर्वाह केलिए ही प्रतीत होते हैं। इनमें प्रयोग सम्बन्धी विलक्षणता नहीं दिखाई देती। ऐसा ही एक उदाहरण है :—

> **'देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ।।टेक।।**
> **हेरे कलाली तैं क्या किया, सिरका सा तैं प्याला दिया।**
> **कहै कलाली प्याला देऊँ, पीवनहारे का सिर लेऊँ ।।**
> **चंद सूर दोउ सनमुख होई, पीवै प्याला मरै न कोई।**
> **सहज सुन्न में माठी सरवै, पीवै रैदास गुरुमुख दरवै ।।'**[1]

संकेतार्थ—कलाली=मदिरा विक्रेता, (गुरु)। पियाला=प्याला, मदिरा पात्र, (शरीर अथवा भक्ति तत्त्व)। सिरका सा=सिरके के समान, (तुच्छ पेय जो मदिरा के समान उत्तेजक नहीं होता)। पीवनहारे का=प्रेम अथवा साधक का। सिरलेऊँ=शीश लेना अर्थात् सर्वस्व लेना अथवा सर्वस्व बलिदान। चंद्र-सूर्य=चन्द्र-सूर्य रूप इड़ा-पिंगला नामक योग नाड़ियाँ। मरै न कोई=विनाश नहीं होता, परमात्मा के प्रेम की मदिरा पान करने वाले का विनाश नहीं होता। सहज=सहज समाधि। सुन्न=शून्य, (गगन शिखर)। माठी सरवै= सहस्रारचक्र के अमृत की वर्षा होती है। गुरुमुख होना=गुरु की कृपा का होना।

गुरु नानक : (सं० १५२६-१५९५) लेखक ने आपकी सम्पूर्णवाणी का अध्ययन नहीं किया है। 'संतवानी संग्रह' में आपकी जो वानियाँ संग्रहीत हैं, उनसे प्रतीत होता है कि आपकी वाणी में व्यवहारिक उपदेशात्मकता की अधिकता है, गोपन की प्रवृत्ति कम। कहीं-कहीं उदाहरण केलिए कोई उलटवाँसी मूलक कथन मिल जाता है। जैसे :—

> **'धर अम्बर विच बेलड़ी, तहँ लाल सुगंधा बूल।**
> **झक्खर इक नाँ आयौ, नानक नहीं कबूल ।।'**[2]

इस साखी में माया रूप वेलि की व्याप्ति का कथन है, जिसमें आकर्षण रूप लाल पुष्प लगा है, पर काँटे नहीं दिखाई देते। नानक देव जी इस वेलि को स्वीकारोक्ति नहीं देते।

दादूदयाल जी : (१६०१-१६६०) आपकी बानियों का संग्रह 'वेलविडियर प्रेस' से दो भागों (साखी और पद) में प्रकाशित हुआ है। आपकी साखियों में उलटवाँसी मूलक

---

१. —संत बानी संग्रह (दूसरा भाग), पृ० ३३
२. —संत बानी संग्रह (पहला भाग), पृ० ७०

कथनों का प्रयोग नहीं के बराबर है। पर, 'शब्दों' में उलटवाँसी शैली के सम्यक् उदाहरण मिलते हैं। उनमें भी 'पूर्णपद उलटवाँसी' रूप में 'शब्द' नहीं मिलते, वरन् कुछ पंक्तियों में उलटवाँसी शैली की प्रतीति होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आपका स्वभाव किसी बात अथवा साधना के रहस्य को गूढ़ बनाकर कहने का नहीं था। प्रवृत्ति सूचक एक 'शब्द' यहाँ प्रस्तुत हैं:—

'ऐसा ज्ञान कथौ नर ज्ञानी। इहि घर होइ सहज सुख जानी॥
गंग जमुन तहँ नीर नहाइ। सुषमन नारी रंग लगाइ॥
आप तेज तन रह्यौ समाइ। मैं बलि ताकी देखौ अघाइ॥
बास निरंतर सो समुझाइ। बिन नैनहुँ देखि तहँ जाइ॥
दादू रे गुह्य अगम अपार। सो धन मेरे अधर अधार॥'[1]

संकेतार्थ—घर=शरीर। गंग-जमुन=गंगा-यमुना रूप इड़ा-पिंगला। सुषमन नारी =सुषुम्ना नाड़ी। बास=वास, निवास। बिन नैन=बिना चर्म चक्षुओं के अर्थात् प्रज्ञा चक्षुओं से। (इस पद में साधना-प्रक्रिया व्यंजित है।) इसी प्रकार विरोधाश्रित निम्न पंक्तियों के द्वारा सिद्धि अवस्था की ओर संकेत है:—

'तहँ अनहद बाजै अद्भुत खेल। दीपक जलै बाती बिन तेल॥
अखंड जोति तहँ भयौ प्रकास। फाग वसन्त जो बारहमास॥
त्रि-अस्थान निरंतरि निरधार। तहँ प्रभु बैठे समरथसार॥'[2]

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त—इस सम्प्रदाय के सन्तों में हरिदास, तुरसीदास, सेवादास इन तीन सन्तों की कुछ बानियाँ 'निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी' शीर्षक पुस्तक में डॉ० भगीरथ मिश्र ने सम्पादित की हैं। उन्हीं के आधार पर उक्त सन्तों की उलटवाँसी शैली के प्रयोग-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यहाँ विवेचन प्रस्तुत है।

(१) हरिदास जी : 'हरिदास जी ने अपनी रचनाओं में कबीर और रैदास का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट है कि इनका समय इनके बाद का है।'[3] उक्त संग्रह में संग्रहीत आपकी बानियों में 'साखी' भाग में उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। पदों में कई पद 'पूर्णपद' तथा 'अंशपद' उलटवाँसी के मिलते हैं। आपके उलटवाँसी-पदों में मौलिक प्रतीकों का प्रयोग कम दिखाई देता है। पारिभाषिक रूढ़ शब्दावली का ही अधिक प्रयोग है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

---

१. —दादू दयाल की बानी (भाग २), पृ० २६
२. —दादू दयाल की बानी (भाग २), पृ० १६०
३. —निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी; पृ० १५

उदाहरण— 'बेली लो ततबेली लो, काटी बेलि बघेली लो ।।टेक।।
चंद सूर दोउ सम करि राख्या, सास सबद संग लाया लो ।
गंगा मूल तहाँ रस उलटै, बेलित कौ रस पाया लो ।।
निज निरसिंध आगह अभिअन्तरि, बरण बिबरजत वांणी लो।
इला पिंगला सुषमनि मेला, ता सुष बेलि समानी लो ।।
तरवर अगम अणी तहाँ लागी, बेलि कीया बिस्तारा लो।
काटी बेलि अमर फल लागा, बिन काटी फलषारा लो ।।
वास विकट कोई पान न पड़ै, मृग बसै ता माँही लो ।
पाइक पाँच पहरवा राख्या, उदय अस्त दोइ नाहीं लो ।।
गगन मंडल में बेलि बिलूंधी, मूल मता में आया लो ।
जन हरीदास आतमा कै अंतरि, सतगुर साँच बताया लो ।।'[1]

(२) तुरसीदास जी : 'काशी प्रचारिणी सभा की खोज में तुरसीदास की वाणी की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख हुआ है, जिसमें 'इतिहास समुच्चय' की प्रतिलिपि भी सम्मिलित है। 'इतिहास समुच्चय' के अंत में लिखा है कि उसकी प्रति वि० संवत् १७४५ (१६८८ ई०) में उधोदास के शिष्य लालदास के शिष्य तुरसीदास ने की थी। इसलिए महाभारत की प्रति सं० १७४५ में लिखना सत्य जान पड़ता है। अतः तुरसी का समय विक्रमीय १८वीं शताब्दी का प्रारम्भ कहा जा सकता है। इस प्रकार ये प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास के समसामयिक किंतु कुछ पश्चात् अवतरित हुए थे।'[2] तुरसीदास जी की बानियों में सांकेतिक और पारिभाषिक रूढ़ प्रतीकों की योजना के माध्यम से, ज्ञान-विरह की अवस्था में अनेक उलटबाँसी-शब्दों की सृष्टि हुई है। 'ज्ञान-विरह' की अवस्था में साधक को सांसारिक व्यापार प्रतिकूल लगने लगते हैं।[3] आपके साखी और पद दोनों में ही विरोध मूलक तथा रूपक तत्त्व प्रधान उलटबाँसी मूलक कथन मिलते हैं। परम्परा की दृष्टि से आपके उलटबाँसी-पदों का महत्व है, प्रयोग की दृष्टि से कुछ नए प्रतीकों के अतिरिक्त कोई नवीनता देखने को नहीं मिलती। उनकी बानियों से उलटबाँसी शैली के दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं:—

उदाहरण-१— 'जल माँही एक झल उठी, सीतल सुधि सुभाव ।
तुरसी ता पावक महीं, मीन करैं बिचराव ।।

---

१. —निरंजनी सम्प्रदाय और सन्त पुरसीदास निरंजनी (बानी-संग्रह), पृ० १६५
२. डॉ० भगीरथ मिश्र 'निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी', पृ० २०-२१
३. 'आत्मा इस अवस्था में संसार के वातावरण को अपने अनुकूल नहीं पाती है और परम ज्योति से मिलने केलिए कामना रहती है। इस दशा का वर्णन कठिन है और यह आत्मदर्शन के साथ की दशा है। कबीर और तुरसी आदि संतों ने इसका वर्णन उलटबाँसी के रूप में किया है।'
डॉ० भगीरथ मिश्र 'निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी' पृ० ६६

पानी में प्रवेस किये, भहर भहर बरै अंग ।
तुरसी पावक परस ते, उपजै गंग तरंग ।।
दौ लागी दरियाव में, दगध भया पानी ।
तुरसी या गति कोऊ समुझै जग ग्यानी ।।'[1]

आनुभूतिक सघनता को सांकेतिक प्रतीक शैली में निम्न प्रकार अभिव्यक्त किया है:—

उदाहरण-२— 'बाबा यहु गति बूझै बिरला कोई ।
जापरि कृपा करिहिं कृपासिंध, सुधि पावै जन सोई ।।टेक।।
गहि गुर धरम धसै दरिया मँहि, जहाँ जाइ थिर होई ।
बिन नैनों पूरन पद पेषै, पाप पुनि मल षोई ।।
जल में पैसि लगावें ज्वाला, तामें होमै लोई ।
निरभै होइ निरंतरि षेलै, परसि परम सुष सोई ।।
उर मांही आरांम विचारै, धुनि में ध्यांन संजोई ।
जन तुरसी ऐसा जन जोगी, बहुरि न जनमै सोई ।।'[2]

(३) सेवादास जी : 'इनकी भी रचना का एक संग्रह डॉ० बड़थ्वाल जी के पास था जिसमें ३५६१ साखियाँ, ४०२ पद, ३९९ कुंडलियाँ, १० छोटे ग्रंथ, ४४रेखता, २०कवित्त और ४ सवैया हैं। सेवादास, हरिदास निरंजनी की परम्परा में छठी पीढ़ी में हुए और ये दयालदास के शिष्य थे। उनकी जीवनी 'सेवादास परची' नाम से पद्य में मिलती है, जिसे कि उनके शिष्य अमरदास के शिष्य रूपदास ने संवत् १८३२ (१७६५) में वैसाख कृष्णपक्ष को लिखी थी। इसके अनुसार इनकी मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण अमावस सं० १७९२ वि० में हुई थी।'[3] संग्रहीत बानियों में आपकी अनेक साखी, पद, कुंडलियाँ उलटवाँसी शैली की मिलती हैं। कई पद और साखी सांकेतिक प्रतीक-प्रधान उलटवाँसी हैं और अनेक पारिभाषिक रूढ़-प्रतीकों में लिखे गये हैं। प्रयोग की दृष्टि से आपकी बानियों में उलटवाँसी शैली का विरोधाश्रित चमत्कार आकर्षक और शैली के परम्परा विकास में विशेष सहयोगी है। यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत हैं।—

उदाहरण-१— 'एक अचंभा ऐसा भया, उलटि स्याल सिंघ कूँ गह्या ।।टेक।।
बकरी उलटि चीता कूँ घेर्‌या, फिरि मूसै गही मंजारी ।
सुसै स्वांन कूँ बन में घेर्‌या, अब भया अचंभा भारी ।।
फिरि सिंघ गाइ की रछ्‌या करही, मींडक साप वसि कीया ।
मकड़ी कू माषी गहि राषी, चिड़ै सिचाण गहि लींया ।।

१. —निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, पृ० ३९
२. —वही, (बानी-संग्रह), पृ० १४४
३. —भूमिका 'निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी' पृ० १६

फिरि मुरगै दौड़ि बिलाई पकड़ी तीतर सिकरा मार्‌या ।
मृघ भील कूँ चौड़े रोक्याँ, दादर सरप सिंघ डार्‌या ॥
राज करैं बाँझ कै बेटौ, अरिदल सबै सिंघारैं ।
जन सेवादास सोई जन सूरा, या पद का अरथ बिचारै ॥'[1]

उक्त पद में ज्ञान-विरह, विचार-दशा अथवा अन्तर्मुखी साधक के साधनाभ्यास का फल सांकेतिक प्रतीकों के माध्यम से, विरोधाश्रित उलटवाँसी-पद के रूप में अभिव्यक्त किया है।

उदाहरण-२— 'सषी हो भाग हमारे पूरा ।
खेलूं सब संत पीव संगि बाजै अनहद तूरा ॥ टेक ॥
इला पिंगला समि करि राषूं, मधि सुषमनां आंनी ।
पांच सषी मिलि षेलन लागी, नौ घर भरै न पांनी ॥
घर घर आनंद होत परमसुष, सुनि मंडल कै छाड़ै ।
परमात्मा सूँ आतममेला बेणि मधुर धुनि बाजै ।
मन निहचल निरभैसुष लागा, परमसुष मन पाया ।
जन सेवादास आनंद सुष विलसै, सतगुरु अलष लषाया ॥'[2]

इस पद में रूढ़ शब्दावली के द्वारा हठयौगिक साधना की व्यंजना है।

बाबा मलूकदास : (सं० १६३१-१७३६) 'मलूकदास जी की बानी' में उलटवाँसी शैली की प्रवृत्ति बहुत कम देखने को मिलती है। परम्परा-निर्वाह केलिए यत्र-तत्र उलटवाँसी मूलक कथनों की योजना है। हाँ, परम्परा-निर्वाह के रूप में भी कई उलटवाँसी-पद व्यंजना प्रधान बन पड़े हैं। आपकी विचित्र 'नैया' देखिये जो विषम परिस्थिति में भी भली प्रकार चलती है, अवसर पड़ने पर यह पर्वत का भार-वहन करने तथा सूखे में संतरित होने की सामर्थ्य वाली है। इस नौका को कोई विरला केवट ही समझ पाता है। देखिये—

उदाहरण-१— 'नैया मेरी नीके चलने लागी ।
आँधी मेंह में तनिक नहिं डोलै, साहु चढ़े बड़ भागी ॥
राम राय डगमगी छोड़ाई, निर्भय कड़िया लैया ।
गुन लहासि की हाजत नाहीं, आछा साज बनैया ॥
अवसर पड़ें तो पर्वत बोझैं, तहूँ न होवै भारी ।
धन सत गुरु यह जुगत बताई, तिन की मैं बलिहारी ॥
सूखे पड़ै तो कछु डरनाहीं, ना गहिरे का संसा ।
उलटि जाय तो बार न बांके, या का अजब तमासा ॥
कहत मलूक जो बिन सिर खेवै, सो यह रूप बखानै ।
या नैया के अजब कथा, कोइ विरला केवट जानै ॥'[3]

---

१. —निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, (सेवादास की बानी), पृ० १६५
२. —निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी वही, पृ० २००
३. मलूकदास जी की बानी, पृ० ३

सुन्दरदास जी : (वि० सं० १६५३-१७४६) आप महात्मा दादूदयाल जी के शिष्य थे। उलटवाँसी शैली के परम्परा-विकास में ये ऐसे प्रयोक्ता सन्त हुए हैं, जिनकी शिक्षा-दीक्षा विधिवत् हुई थी। आपकी बानियाँ 'सुन्दर ग्रंथावली' नामसे, पुरोहित श्री हरि-नारायण शर्मा द्वारा 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' कलकत्ता, से प्रकाशित हुई हैं।

सन्त सुन्दरदास उलटवाँसी शैली के सफल प्रयोक्ता हैं। आपने उटलटवाँसी-पदों को 'विपर्ज्जय' अथवा विपर्यय अंग के अंतर्गत रचा है और उलटवाँसी को 'उलटी बात', 'उलटा ख्याल', 'उलटा ज्ञान' आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया है। आपके लगभग पचास साखियाँ और तीस सवैया खरे उलटवाँसी-पद हैं। इनके अतिरिक्त 'पूर्वी भाषा बरवै' (सु० ग्रं०, द्वितीय खण्ड, पृ० ३७७) शीर्षक में भी कुछ उलटवाँसी मूलक कथन हैं।

अपके उलटवाँसी-पदों की भाषा परिनिष्ठित, छंद-विधान मात्रा-दोष से रहितहै। विषय की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पद ज्ञान-दशा अथवा साधक की विचार-दशाके अनुभव को प्रकट करते हैं, पर रूपक तत्त्व प्रधान भाव-दशा की अभिव्यक्ति का अभाव है। प्रतीक-चयन की दृष्टि से आप के उलटवाँसी-पद सर्वाधिक समृद्ध कहे जा सकते हैं, क्योंकि आपके प्रतीकों का चयन-क्षेत्र विस्तृत पीठिका लिए हुए है। आपके उलटवाँसी-पदों में 'पंडित ज्ञाता,, 'ज्ञानी' आदि सम्बन्धों का, अर्थोद्‌बोधन केलिए, प्रयोग कम है। फिर भी अर्थ उद्‌घाटन केलिए उन्हें सजग अवश्य किया गया है, जिनमें चुनौती का स्वर कम होने पर भी सावधान रहने की ध्वनि अधिक निकलती है। सभी 'सवैया' पदों की अन्तिम पंक्ति प्राय: प्रयोक्ता का नाम और पद का अर्थ प्रकट करने केलिए कुछ संकेत लिये रहती है। आपकी उलटवाँसी शैली की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आपने इस शैली को, अपनी प्रतिभा और प्रयोग कुशलता के बल पर, सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। आपके उलटवाँसी-पदों की प्रवृत्ति देखने केलिए कुछ उदाहरण, संकेतार्थ सहित* यहाँ प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१— **'कुंजर कौं कीरि गिलि बैठी, सिंघहि षाइ अघानौ स्याल।**
मछरी अग्नि माँहि सुख पायौ, जल में हुती बहुत बेहाल॥
पंगु चढ्‌यौ पर्वत के ऊपर, मृतकहि देषि डरानौ काल।
जाको अनुभव होइ सु जानै, सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल॥'[1]

संकेतार्थ—कुंजर=गज, (विषय-प्रवृत्त मन, काम)। कीरी=चींटी (सूक्ष्म सात्त्विक बुद्धि)। गिलि बैठी=निगल गई (अभिभूत कर लिया)। सिंघ∠सिंह, (प्रचण्ड क्रोध अथवा अन्तर्मुखी प्रबल मन)। स्यार=श्रृगाल (प्रबुद्ध जीवात्मा)। मछरी=मछली (अन्तर्मुखी वृत्ति)। अग्नि=ऊष्मा (ब्रह्म-विचार रूप अग्नि, ज्ञानाग्नि)। सुख पायौ=

---

* टिप्पणी—सांकेतिक व्याख्या केलिए 'सुन्दर ग्रंथावली' (द्वितीय खण्ड) की 'पीताम्बरी-टीका' तथा 'सुन्दरानन्दी टीका' से पर्याप्त सहायता लीगई है।

१. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), अंग २२, सवैया ३

आनन्दानुभूति। जल=पानी, प्रवाह, (लोक-धारा, माया का प्रभाव) वेहाल=वेचैन, दुखी। पंगु=अपाहिज (अन्तर्मुखी, निवृत्त मन)। पर्वत=शिखर (मेरु शिखर)। मृतक=प्राणहीन, (मरजीवा, जीवन्मुक्त)। काल=मृत्यु। उलटा ख्याल=उलटा विचार (उलटवास की अवस्था का विचार)।

सांकेतिक व्याख्या—अभिधारूप में उक्त सवैया का अर्थ वड़ा विचित्र लगता है। प्रतीकों में निहित संकेतों में अर्थ की संगति उचित वैठ जाती है। वैराग्याभ्यास को स्थिति में निरन्तर विचार करते-करते अन्तर्मुखी साधक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जव उसकी सात्विक और निवृत्त बुद्धि अति सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाती है। उस अवस्था में कुंजर रूप विषय-प्रवृत्त मन चींटी रूप सूक्ष्म बुद्धि के अंकुश में आजाता है और चतुर शृगाल रूप प्रवुद्ध जीवात्मा, (सव पापों की जड़) सिंह रूप प्रचण्ड क्रोध को, आत्मिक शक्ति के द्वारा, अभिभूत कर लेती है। इस प्रकार वैचारिक सूक्ष्मता के वल पर साधक काम और क्रोध रूप दो प्रवल शत्रुओं को जीत लेता है। जो प्रवृत्ति विचार-काल से पूर्व माया के प्रभाव रूप जल में असंतोष का अनुभव करती थी, वेचैन वनी रहती थी, वही वृत्ति, अन्तर्मुखी होकर ज्ञानाग्नि अथवा ब्रह्म विचार रूप सत्त्व की ऊष्मा में आनन्द का अनुभव करने लगती है। जीव के प्रवाह-काल में जो वहिर्मुखी मन पर्वतरूप अहंकार से अभिभूत वना रहता था, वही निवृत्त होकर अन्तर्मुखी अवस्था में अपनी चंचलता को छोड़कर पंगुवत् वना रहता है और उसी अवस्था में ही वह अहंकार को दवा लेता है। अथवा निवृत्त होकर वह साधक की ऊर्ध्वमुखी वृत्ति के रूप में पर्वत रूप मेरु-शिखर पर अधिष्ठित होजाता है। लोक-प्रवाह में, अज्ञान जनित भ्रम के कारण, वद्धजीव काल से नित्यप्रति भयभीत वने रहते हैं। परन्तु मरजीवा अथवा जीवन्मुक्तावस्था में सिद्ध रूप साधक सुख-दुःख की अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है, उसकी वृत्ति देह संघात से ऊपर उठ जाती है और ब्रह्मरूप होकर कालादि के भय से मुक्त हो जाता हैं। इसके विपरीत अपनी सीमा का अतिक्रमण देखकर स्वयं काल को ही भय होने लगता है, क्योंकि जीवन्मुक्त का सारा-कार्य स्वेच्छया होता है, किसी संस्कार अथवा वन्धन के कारण नहीं। सुन्दरदास जी कहते हैं कि इसप्रकार के उलटवाँसी-पद अथवा उलटे ख्याल का ज्ञान उसी को हो सकता है, जो विचारपूर्वक अनुभव करता है। अर्थात् अविचार में इस प्रकार की विपर्ययोक्तियों का अर्थ असम्वद्ध अथवा विपरीत लगेगा, परन्तु अनुभवी विचारक को इसमें किसी प्रकार का विरोध अथवा असम्भवता नहीं प्रतीत होगी।

अन्य सन्तों की समानार्थी पंक्तियाँ :

गोरखनाथ— 'पंगला तरवर चढ़िया।'

कबीर— 'चींटी के पग हस्ती बांधे'; 'चींटी के मुख हस्ति समाना।'
'उलट स्यार सिंह को खाइ।'

दादूदयाल— 'कीड़ीये हस्तीये विडार्‌यो तेन्हें बैठी खाये।'

हरिदास निरंजनी— 'मृतक जम कूं वई सांसना।'

उदाहरण-२— 'कपरा धोबी कौं गहि धोवै माटी वपुरी घरै कुम्हार।
सुई बिचारी दरजिहि सीवै सोना तावै पकरि सुनार॥
लकरी बढ़ई कौं गहि छीलै, षाल सु बैठी घवै लुहार।
सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी जो कोउ याकौ करै विचार॥'[1]

संकेतार्थ— कपरा=वस्त्र, (साधक की काया)। धोबी=रजक, (राजोगुण प्रधान मन)। माटी=मृत्तिका, (वृत्ति)। वपुरी=बेचारी। घरै=गढ़ती है। कुम्हार= कुम्भकार, (नानात्मक रूप देने वाला मन)। सुई=सूचिका, (सुरति)। दरजी=दर्जी (फारसी), (विश्लेषण-संश्लेषण करने वाली मन की वृत्ति। सींवै=सीदेती है (नानात्व में एकत्व करती है, जीव-ब्रह्म की एकता का ज्ञान कराती है।) सोना=स्वर्ण (स्मरण, जप, तत्त्व ज्ञान)। सुनार=स्वर्णकार (मोहक रूप बनाने वाला मन)। लकरी=लकड़ी, (लय, निष्काम वृत्ति)। बढ़ई=वर्धक या वर्धकि (संस्कृत), खाती या कठ छोला (बढ़ाने घटाने वाला मन अथवा निरन्तर बाह्य कर्मों में निरत मन)। षाल=चर्म, (श्वोसोच्छ्वास)। लुहार=लोहकार, (तामस प्रधान मन अथवा जीव)। घवै=धौंकता है। ज्ञानी=तत्त्वज्ञाता। याकौ=इसका।

सांकेतिक व्याख्या—विचार-काल से पूर्व, अज्ञान अवस्था में, रजोगुण प्रधान धोबी रूप मन कपड़ा रूप काया को बाहर से स्वच्छ रखकर मोहक बनाए रहता था, पर विचार की सूक्ष्मता के कारण संयत शरीर मन को शुद्ध बनाने में सहायक होता है। अथवा श्वेतवस्त्र रूप सात्त्विक गुण धोबी रूप रजोगुण को प्रच्छालित करता है, शुद्ध बनाता है, क्योंकि सात्विक अवस्था में मन कर्त्तव्य तथा संगत्व दोष से मुक्त हो जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति, बुद्धि अथवा मनसा रूप माटी, आत्म साक्षात्कार के समय, नानात्व का विधान करने वाले मनरूप कुम्भकार को गढ़ने लग जाती है। अर्थात् उलटवास के समय मन अन्तर्मुखी वृत्ति से ही प्रेरणा लेता है। सूचिका रूप सुरति अथवा सूक्ष्म वृत्ति अविचार-काल में अहंकार से दबी पड़ी रहती है और विश्लेषण करने वाले बहिर्मुखी मन से प्रेरित रहती है, परन्तु ज्ञानवस्था में स्वरूपाकार होने के कारण वही वृत्ति अन्तर्मुखी होकर, जीव को ब्रह्म से मिला देने अथवा नानात्व को एकत्व के रूप में परिवर्तित करने का कार्य करती है। यही सुई के द्वारा दर्जी का सिआ जाना है। साधक स्मरण अथवा नाम-जप के द्वारा अथवा वृत्ति की सात्विकता से मोहक रूप प्रदान करने वाले मन रूप सुनार को परिष्कृत करता है। भ्रमावस्था में जीव की सुरति-शक्ति उपहित बनी होने के कारण लकड़ी के समान, निरन्तर क्रियाशील मनरूप बढ़ई के द्वारा छीली जाती थी। अर्थात् लकड़ी रूप वृत्ति अथवा बुद्धि, माया से उपहित जीवत्मा द्वारा इच्छानुकूल उपयोग में लाई जाती थी। पर, स्वरूपाकारिता को प्राप्त होकर वही अन्तर्मुखी वृत्ति, उपहित मन अथवा जीवात्मा को, छील-छील कर माया की मिथ्या उपाधि से रहित करती है। साधना-काल में साधक, प्राणायाम आदि के द्वारा प्राण-वायु का आयाम करके, लुहार रूप तामसी मन को शुद्ध करता है। यही खाल (धौंकनी) का लुहार को धोंकना है। सुन्दरदास जी कहते हैं कि जो कोई इस विपर्यय के अर्थ को विचार पूर्वक कहता है, वही ज्ञानी है।

१.—सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड, अंग २२), सवैया ६

आनन्दानुभूति। जल=पानी, प्रवाह, (लोक-धारा, माया का प्रभाव) वेहाल=वेचैन, दुखी। पंगु=अपाहिज (अन्तर्मुखी, निवृत्त मन)। पर्वत=शिखर (मेरु शिखर)। मृतक=प्राणहीन, (मरजीवा, जीवन्मुक्त)। काल=मृत्यु। उलटा ख्याल=उलटा विचार (उलट-वास की अवस्था का विचार)।

सांकेतिक व्याख्या—अभिधारूप में उक्त सवैया का अर्थ वड़ा विचित्र लगता है। प्रतीकों में निहित संकेतों में अर्थ की संगति उचित वैठ जाती है। वैराग्याभ्यास की स्थिति में निरन्तर विचार करते-करते अन्तर्मुखी साधक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जव उसकी सात्विक और निवृत्त वुद्धि अति सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाती है। उस अवस्था में कुंजर रूप विषय-प्रवृत्त मन चींटी रूप सूक्ष्म वुद्धि के अंकुश में आजाता है और चतुर शृगाल रूप प्रवुद्ध जीवात्मा, (सव पापों की जड़) सिंह रूप प्रचण्ड क्रोध को, आत्मिक शक्ति के द्वारा, अभिभूत कर लेती है। इस प्रकार वैचारिक सूक्ष्मता के वल पर साधक काम और क्रोध रूप दो प्रवल शत्रुओं को जीत लेता है। जो प्रवृत्ति विचार-काल से पूर्व माया के प्रभाव रूप जल में असंतोष का अनुभव करती थी, वेचैन वनी रहती थी, वही वृत्ति, अन्तर्मुखी होकर ज्ञानाग्नि अथवा ब्रह्म विचार रूप सत्त्व की ऊष्मा में आनन्द का अनुभव करने लगती है। जीव के प्रवाह-काल में जो वहिर्मुखी मन पर्वतरूप अहंकार से अभिभूत वना रहता था, वही निवृत्त होकर अन्तर्मुखी अवस्था में अपनी चंचलता को छोड़कर पंगुवत् वना रहता है और उसी अवस्था में ही वह अहंकार को दवा लेता है। अथवा निवृत्त होकर वह साधक की ऊर्ध्वमुखी वृत्ति के रूप में पर्वत रूप मेरु-शिखर पर अधिष्ठित होजाता है। लोक-प्रवाह में, अज्ञान जनित भ्रम के कारण, वद्धजीव काल से नित्यप्रति भयभीत वने रहते हैं। परन्तु मरजीवा अथवा जीवन्मुक्तावस्था में सिद्ध रूप साधक सुख-दुःख की अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है, उसकी वृत्ति देह संघात से ऊपर उठ जाती है और ब्रह्म-रूप होकर कालादि के भय से मुक्त हो जाता हैं। इसके विपरीत अपनी सीमा का अतिक्रमण देखकर स्वयं काल को ही भय होने लगता है, क्योंकि जीवन्मुक्त का सारा-कार्य स्वेच्छया होता है, किसी संस्कार अथवा वन्धन के कारण नहीं। सुन्दरदास जी कहते हैं कि इसप्रकार के उलटवाँसी-पद अथवा उलटे ख्याल का ज्ञान उसी को हो सकता है, जो विचारपूर्वक अनुभव करता है। अर्थात् अविचार में इस प्रकार की विपर्ययोक्तियों का अर्थ असम्वद्ध अथवा विपरीत लगेगा, परन्तु अनुभवी विचारक को इसमें किसी प्रकार का विरोध अथवा असम्भवता नहीं प्रतीत होगी।

अन्य सन्तों की समानार्थी पंक्तियाँ :

गोरखनाथ— 'पंगला तरवर चढ़िया।'

कबीर— 'चींटी के पग हस्ती वांधे'; 'चींटी के मुख हस्ति समाना।'
'उलट स्यार सिंह को खाइ।'

दादूदयाल— 'कीडीये हस्तीये विडार्‌यो तेन्हें वैठी खाये।'

हरिदास निरंजनी— 'मृतक जम कूं दई सांसना।'

उदाहरण-२— 'कपरा धोबी कौं गहि धोवै माटी बपुरी घरै कुम्हार।
सुई बिचारी दरजिहि सीवै सोना तावै पकरि सुनार।।
लकरी बढ़ई कौं गहि छीलै, षाल सु बैठी घवै लुहार।
सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी जो कोउ याको करै विचार।।'[1]

संकेतार्थ— कपरा=वस्त्र, (साधक की काया)। धोबी=रजक, (राजोगुण प्रधान मन)। माटी=मृत्तिका, (वृत्ति)। बपुरी=वेचारी। घरै=गढ़ती है। कुम्हार=कुम्भकार, (नानात्मक रूप देने वाला मन)। सुई=सूचिका, (सुरति)। दरजी=दर्जी (फारसी), (विश्लेपण-संश्लेपण करने वाली मन की वृत्ति। सींवै=सीदेती है (नानात्व में एकत्व करती है, जीव-ब्रह्म की एकता का ज्ञान कराती है।) सोना=स्वर्ण (स्मरण, जप, तत्त्व ज्ञान)। सुनार=स्वर्णकार (मोहक रूप बनाने वाला मन)। लकरी=लकड़ी, (लय, निष्काम वृत्ति)। बढ़ई=वर्धक या वर्धकि (संस्कृत), खाती या कठ छोला (बढ़ाने घटाने वाला मन अथवा निरन्तर बाह्य कर्मों में निरत मन)। पाल=चर्म, (श्वोसोच्छ्वास)। लुहार=लोहकार, (तामस प्रधान मन अथवा जीव)। धवै=धौंकता है। ज्ञानी=तत्त्वज्ञाता। याकौ=इसका।

सांकेतिक व्याख्या—विचार-काल से पूर्व, अज्ञान अवस्था में, रजोगुण प्रधान धोबी रूप मन कपड़ा रूप काया को बाहर से स्वच्छ रखकर मोहक बनाए रहता था, पर विचार की सूक्ष्मता के कारण संयत शरीर मन को शुद्ध बनाने में सहायक होता है। अथवा श्वेतवस्त्र रूप सात्विक गुण धोबी रूप रजोगुण को प्रच्छालित करता है, शुद्ध बनाता है, क्योंकि सात्विक अवस्था में मन कर्त्तव्य तथा संगत्व दोष से मुक्त हो जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति, बुद्धि अथवा मनसा रूप माटी, आत्म साक्षात्कार के समय, नानात्व का विधान करने वाले मनरूप कुम्भकार को गढ़ने लग जाती है। अर्थात् उलटवास के समय मन अन्तर्मुखी वृत्ति से ही प्रेरणा लेता है। सूचिका रूप सुरति अथवा सूक्ष्म वृत्ति अविचार-काल में अहंकार से दबी पड़ी रहती है और विश्लेषण करने वाले बहिर्मुखी मन से प्रेरित रहती है, परन्तु ज्ञानवस्था में स्वरूपाकार होने के कारण वही वृत्ति अन्तर्मुखी होकर, जीव को ब्रह्म से मिला देने अथवा नानात्व को एकत्व के रूप में परिवर्तित करने का कार्य करती है। यही सुई के द्वारा दर्जी का सिआ जाना है। साधक स्मरण अथवा नाम-जप के द्वारा अथवा वृत्ति की सात्विकता से मोहक रूप प्रदान करने वाले मन रूप सुनार को परिष्कृत करता है। भ्रमावस्था में जीव की सुरति-शक्ति उपहित बनी होने के कारण लकड़ी के समान, निरन्तर क्रियाशील मनरूप बढ़ई के द्वारा छीली जाती थी। अर्थात् लकड़ी रूप वृत्ति अथवा बुद्धि, माया से उपहित जीवत्मा द्वारा इच्छानुकूल उपयोग में लाई जाती थी। पर, स्वरूपाकारिता को प्राप्त होकर वही अन्तर्मुखी वृत्ति, उपहित मन अथवा जीवात्मा को, छील-छील कर माया की मिथ्या उपाधि से रहित करती है। साधना-काल में साधक, प्राणायाम आदि के द्वारा प्राण-वायु का आयाम करके, लुहार रूप तामसी मन को शुद्ध करता है। यही खाल (धौंकनी) का लुहार को धोंकना है। सुन्दरदास जी कहते हैं कि जो कोई इस विपर्यय के अर्थ को विचार पूर्वक कहता है, वही ज्ञानी है।

१.—सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड, अंग २२), सवैया ६

उपदेश की ध्वनि में उक्त सवैया का अर्थ इस प्रकार होगा—'विचारक को चाहिए कि वह कपड़ा रूप काया से, शुभ कर्म करके, धोवी रूप मन को परिष्कृत करे। उसे माटी रूप मनन अथवा अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा, कुम्भकार रूप मन को अपने अनुकूल गढ़ना चाहिए। विचारक को सुई रूप सुरति से विकल्प-संकल्पात्मक मन को एकाकार बनाना चाहिए, जिससे जीवात्मा परमात्मा का एकत्व स्थापित हो सके। साधक को चाहिए कि वह स्वर्ण रूप शुद्ध-सात्विक-स्मरण से, मोहक रूप प्रदान करने वाले मन को परिष्कृत करे तथा साधनाभ्यास द्वारा बढ़ई रूप मन के कर्मों को लकड़ी रूप लय या सुरति की शक्ति से सूक्ष्म करते हुए क्षीण कर दे। साधक को प्राणायाम द्वारा, प्राण-वायु को ऊर्ध्वमुखी बना कर लुहार रूप मन के तामसिक रूप को परिष्कार देना चाहिए, जिससे उसका चांचल्य समाप्त हो जाए। सुन्दरदास जी कहते हैं कि जो इस स्थिति को अनुभव पूर्वक कहता है, वही यथार्थ ज्ञानी है।

समानार्थी पंक्ति :

गोरखनाथ— 'काया गढ़ भीतरि धोवणि रांणी।
कपड़ा धोवै अवधू विन सिल पांणीं॥'

उदाहरण—३— 'वढ़ई चरषा भलौ संवार्‌यौ फिरनै लाग्यौ नीकी भांति।
वहू सास कौं कहि समुझावै तू मेरे ढिग बैठी काति॥
नैन्हों तार न टूटे कवहूँ पूनी घटै दिवस नहिं राति।
सुन्दर विधि सों बुनै जुलाहा षासा निपजै ऊँची जाति॥'[1]

संकेतार्थ—वढ़ई=लकड़ी छीलने वाला, (उपहित माया तत्त्व को ज्ञान रूप वसूले से छील देने वाला तत्त्वज्ञानी गुरु अथवा चर्खा रूप शरीर का निर्माता परमात्मा) चरषा∠ चर्खा=रेंहटा, सूत कातने का चक्र, (साधक का चित्त अथवा शरीर) संवार्‌यौ=संभाला, वनाया, (संयमित किया, सुचारू से संचालित किया)। फिरनै लाग्यौ=घूमने लगा, (कार्य शील होने लगा)। नीकी भांति=भली प्रकार से। वहू=वधू, (विद्या जन्य विवेक रूप पुत्र की पत्नी बुद्धि अर्थात् विवेक जन्य बुद्धि) सास=सुरति, (विद्या जन्य विवेक की पत्नी बुद्धि, क्योंकि बुद्धि विवेक के आश्रित रहती है, अतः वह उसकी वधू है। बुद्धि, विवेक जन्या होने से, पश्चात् वर्तिनी है, और सुरति पूर्ववर्तिनी होने से, क्योंकि सुरति-योग होने से साधक का जन्म होता है, सुरति को सास कहा है।) काति=सूत कातने का कार्य कर अर्थात् सुरति द्वारा परमात्मा से लय अथवा ड़ोरि लगा। नैन्हों तार= महीन धागा. (सूक्ष्म स्मरण, सूक्ष्म सुरति) पूनी=पौनी, (प्रीति, भावना)। राति दिवस घटै नहिं=कभी क्षीणता को प्राप्त न हो। विधि सों=युक्ति पूर्वक। जुलाहा=वयनजीवी, (जीवात्मा)। षासा श्रेष्ठ वस्त्र (सद्गुण, श्रेष्ठभक्ति)। ऊँची जाति=उच्च स्तर का, श्रेष्ठ।

१.—सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड, अंग २२), सवैया १९

सांकेतिक व्याख्या—वैचारिक सूक्ष्मता की दशा में साधक गुरु के अनुग्रह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ कहता है कि बढ़ई रूप सत्गुरु ने (गुरु अनेक प्रकार के दोषों को, साधक के चित्त से, अपने शब्द रूप बसूले से छीलकर दूर कर देता है) अनेक प्रकार के बाह्य कार्यों में प्रवृत्त होने वाले चर्खा रूप चित्त को वाणी रूप बसूले से भली प्रकार गढ़-कर, छीलकर, सुरति रूप धागा निकालने के लिए, कार्यशील बनाया है। तात्पर्य है कि गुरु ने अपने उपदेशामृत से, संसारोन्मुख साधक के चित्त को सत्त्ववृत्ति प्रधान किया है। अथवा सम्पूर्ण जीवों के विधायक विधाता रूप बढ़ई ने मानव के चर्खे रूप शरीर को भली प्रकार संभाला है, (मानव का शरीर अन्य जीवों से कुछ विशिष्ट गुण सम्पन्न है, यही उसका भली प्रकार संभाला जाना है)। जो पूर्व जन्म के शुभ कर्मों के फल स्वरूप इस जन्म में भली प्रकार कार्यशील है। विचार काल में वधूरूप सात्विक बुद्धि अनुभवी सास रूप सुरति से कहती है कि तू मेरे निकट बैठकर, निश्चित होकर, कातने का कार्य सम्पन्न कर। अर्थात् साधक का, सात्विक बुद्धि के आश्रय में ही, लय-सुरति का कार्य सम्पन्न होता है। इस रूप में जो सूत काता जायेगा अथवा सूक्ष्म ध्यान किया जायेगा, वही अखण्डित सिद्ध होगा। साधक विघ्न-बाधाओं से बाधित न होकर, सुरति रूप धागे को अखण्डित बनाये रखता है, यह सूत के तार का कभी न टूटना है। जिस प्रकार सूत के लिए कपास की पौनी उसका उपादान कारण है, उसी प्रकार सुरति लय की अखण्डता, सूत्र बद्धता, सूक्ष्मता के लिए भावना अथवा प्रीतिरूप पौनी का होना आवश्यक है। अतः सुरति योगी को चाहिए कि वह प्रीति रूप पौनी को किसी भी काल में क्षय को प्राप्त न होने दे। इस प्रकार जुलाहा रूप प्रबुद्ध जीवात्मा के द्वारा, सूक्ष्म धागारूप सात्विक स्मरण से सुरति का श्रेष्ठ-वस्त्र तैयार होता है जो अत्यन्त शोभा धायक एवं उत्तम प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि चिन्तन, मनन आदि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा जो आत्म साक्षात्कार होता है, वही मानव-जीवन का परमलक्ष्य है। सुन्दरदास जी कहते हैं कि जो जुलाहा (प्रबुद्ध जीवात्मा) इस विधि से श्रेष्ठ प्रकार का सात्विकता रूप वस्त्र बुन लेता है, वह प्रशंस-नीय है।

समानार्थी पंक्तियाँ :

गोरखनाथ—'बहू ब्याई नैं सासू जाई।'

कबीर— 'चरखा जिनि जरै।
कातौंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सौं।।'

उदाहरण-४— 'विप्र रसोई करने लागौ, चौका भीतरि बैठो आइ।
लकरी माँहे चूल्हा दीयौ रोटी ऊपर तवा चढाइ।।
खिचरी माँहें हँडिया राँधी सालन आक धतूरा धाइ।
सुंदर जीमत अति सुखपायौ अबकै भोजन कियौ अघाइ।।'[1]

संकेतार्थ—विप्र=विप्र, ब्राह्मण, (शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक)। रसोई कर

---

१. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड अंग २२), सवैया २१

लागो=भोजन पकाने की क्रिया करने लगा, (भाव-भक्ति में निरत होकर अथवा विचारावस्था में तल्लीन रहकर मोक्ष-सम्पादन रूप रसोई केलिए तत्पर हुआ)। चौका भीतर=रसोई घरमें, (शुद्ध अन्तःकरण चतुष्टय, अर्थात् निवृत्तिमुखी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की सीमा में)। लकरी∠लकड़ी=काष्ठ (लय, सुरति, शुष्क-वृत्ति)। मांहै=में। चूल्हा दीयौ=चूल्हे को आरोपित किया (चित्त को तल्लीन किया)। रोटी=चपाती, (रटणि, स्मरण अथवा प्रारब्ध कर्म की योग्यता रूप रोटी। तवा=लोहे की मोटी गोल वाली पर्त, जिस पर रोटी सेंकी जाती है (तत्त्व ज्ञान)। पिचरी=खिचड़ी, (भक्ति-ज्ञान और वैराग्य का मिश्रित रूप)। हँडिया=हाँडी, पतीली, (काया)। राँधी=पकाई, (सात्विक रूप प्रदान किया)। सालन=शाक, (आक-धतूरे का सालन खाना अर्थात् काम-क्रोधादि अनेक दुर्वासनाओं को पचा जाना)। जीमत=भोग लगाते हुए (स्वरूपानन्द का अनुभव करते हुए)। अतिसुख पायौ=अत्यन्त तृप्ति का अनुभव हुआ। अबकै=इस मनुष्य-जीवन में ही। अघाइ=पूर्ण तृप्ति के साथ।

सांकेतिक व्याख्या—साधना के विकास-काल में विप्ररूप शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक, मन, बुद्धि,चित्त और अहंकार की सात्विकता को लेकर, भाव-भक्ति से, विचारपूर्वक मोक्ष सम्पादन रूप रसोई तैयार करने में तत्पर हो जाता है। वह अपने अन्तर्मुखी चूल्हा रूप सात्विक चित्त को लकड़ी रूप सुरति या लय में लगा देता है और रोटी रूप नाम-स्मरण (रटणि) अथवा प्रारब्ध कर्म की भोग्यता रूप रोटी के ऊपर तत्त्वज्ञान रूप तवा को चढ़ाकर, खिचड़ी रूप भक्ति-ज्ञान और वैराग्य भावना के मिश्रित रूप में, इन भावों के आश्रय-स्थान हाँडी रूप काया को परिष्कृत करके शुद्ध बना देता है। ऐसा अभ्यास करते हुए साधक आक-धतूरे के सालन रूप (परिणाम में तिक्त) काम क्रोधादि अनेक दुर्वासनाओं का भोग लगाकर दुर्वासनाओं को समाप्त कर देता है। सुन्दरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार से भोग लगाते हुए, स्वरूपानन्द का अनुभव करते हुए अत्यन्त तृप्ति का अनुभव होता है और इसी जीवन में परम सुख रूप भोजन का तृप्तिदायक स्वाद मिल जाता है।

उदाहरण-५—'पसम परयौ जोरू के पीछे कह्यौ न मानें मौंडी राँड।
जित तित फिरै भटकती यौं ही तें तौ किये जगत में भाँड॥
तौ हू भूष न भागी तेरी तूं गिलि बैठी सारी मांड।
सुन्दर कहै सीप सुनि मेरी अब तूं घर घर फिरबौ छांड॥'[1]

संकेतार्थ—पसम=पति, (शून्य स्वभाव का मन, परमात्मा)। जोरू=पत्नी, (मनसा, कामना, वासना अथवा माया) मौंडी=मद्दी। राँड=विधवा (वास्तविक पति को भूल जाने वाली मनसा या जीवात्मा)। जित तित=इधर-उधर, (अन्यान्य आकर्षणों के पीछे)। जगत में भाँड=जगत् में भंडाफोड़ (सम्पूर्ण जगत् को नष्ट करना, वासना का प्रबल रूप)। भूष=भूख, (कामना, आंकाक्षा, भोग-वृत्ति)। गिलि बैठी=निगल गई, भोग

1. —सुन्दर ग्रंथावली, (द्वितीय खण्ड, अंग २२)

लगा लिया। माँड=ओदन (चावल) का निकला हुआ तरल पदार्थ (विषय--भोग)। सीष=शिक्षा। घर घर फिरवौ छाँड=घर-घर जाना छोड़ दे (संसार के आकर्षण के प्रति आकृष्ट होना छोड़ दे)।

यारी साहब : (वि० सं० १७२५-१७८०) आपकी वानियों का एक संग्रह 'यारी साहब की रत्नावली' नाम से 'बेलविडियर प्रेस' प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इसमें संग्रहीत वानियों के आधार पर कहा जा सकता है कि आपकी प्रवृत्ति साधनात्मक रहस्यों को उलटवाँसी शैली में कथन करने की थी। 'विरहिनी मंदिर दियना बार', 'चंद तिलक दिये सुन्दरि नारी', 'हरिजन जीवता नहि मूआ' आदि कई पद अपनी प्रेषणीयता में मार्मिक बन पड़े हैं। छंद की दृष्टि से आपके उलटवाँसी-पद परिष्कृत हैं, परन्तु संख्या में अधिक नहीं हैं। आपके उलटवाँसी-पदों में सांकेतिक और पारिभाषिक दोनों ही प्रकार के प्रतीकों की योजना है। फारसी उर्दू के शब्दों का प्रयोग अधिक है। प्रकृति और प्रयोग केलिए दो पद यहाँ द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— **'मन मेरा सदा खेलै नटबाजी, चरन कमल चित राजी ।। टेक ।।**
बिनु करताल पखावज बाजै, अगम पंथ चढ़ि गाजी।
रूप बिहीन सीस बिनु गावै, बिनु चरनन गति साजी।
बाँस सुमेरू सुरति कै डोरी, चित चेतन संग चेला।
पाँच पचीस तमासा देखहि, उलटि गगन चढ़ि खेला।।
यारी नट ऐसी विधि खेलै, अनहद ढोल बजावै।
अनंत कला अवगति अनमूरति, बानक बनि बनि आवै ।।'[1]

संकेतार्थ—(यहाँ अन्तर्मुखी सूक्ष्म मन की ऊर्ध्वमुखी साधना को, नट-विद्या के रूपक के रूप में, उलटवाँसी-शैली के माध्यम से व्यंजित किया है।) अगम पंथ=कठिन-मार्ग (दुष्कर ऊर्ध्वमुखी साधना)। बाँस सुमेरू=सुमेरू पर्वत रूप बाँस, (मेरूदंड)। सुरति=लय। डोरी=सूत्र (ध्यान की सूक्ष्मता, सूत्र बद्धता)। चेला=शिष्य, साधक, (सात्विक वृत्तिवाला साधक)। पाँच=पंचेन्द्रियाँ अथवा पंचविकार। पचीस=पंचेन्द्रियों की पच्चीस वृत्तियाँ। गगन=आकाश (गगन-शिखर, ब्रह्माण्ड, शून्य)। अनहद ढोल= अनहद नाद। बानक=संयोग, अद्भुत दृश्य। (उक्त पद में प्रथम पंक्ति कुछ अधिक अभि-धात्मक हो गई है। इससे उलटवाँसी-पद की गरिमा शिथिल दिखाई देती है। फिर भी पाँच-पचीस आदि सांकेतिक प्रयोगों, प्रतीक, साधना को लेकर 'असम्बद्धता' उलटवाँसी शैली में मुखर है।)

उदाहरण-२— **'जमी बरखै असमान भीजै, बिन बातिहि तेल जलाइये जी।**
उहाँ नूर तजल्ली बीच है रे, बेरंगी रंग दिखाइये जी।।

---

१. —यारी साहब की रत्नावली (शब्द १२), पृ० ४

फूल बिना जदि फल होवै, तदि हीर की लज्जत पाइये जी।
यारी कहै यहि कौन बूझै, यह का सों बात जनाइये जी।।'[1]

संकेतार्थ—(सिद्धि अवस्था का वर्णन है।) जमी=पृथ्वी (जड़ बनी हुई काया, चेतनानुभूति के सकाश से, अथवा जड़ बनी हुई सुषुप्त कुंडलिनी ऊर्ध्वस्थ होकर, आनन्द-रस को बरसाने लगती है)। आसमान=आकाश (सहस्रार चक्र, गगन-शिखर) बाती=वर्तिका (वृत्ति)। तेल=तेल (स्नेह, भाव)। नूर तजल्ली=आध्यात्मिक प्रकाश (ब्रह्म-ज्योति)। बेरंगी=रंगहीन (वर्णहीन)। साधक समाधि-काल में, चित्तवृत्ति को त्रिकुटी के मध्य में स्थिर करके, आनन्द की अनुभूति करने लगता है। उस समय वर्तिका, तेल आदि प्रकाश के उपादान कारण के न होने पर भी, ब्रह्म-ज्योति रूप प्रकाश विद्यमान रहता है। उस निरावरण और निराकार अवस्था में भी दिव्य अनुभूतियों के रंग देखे जाते हैं। यद्यपि उस अवस्था में किसी प्रकार का पार्थिव पुष्प नहीं होता, फिर भी मुक्ति अथवा बन्धन-हीनता रूप जो फल होता है, उसकी आभा हीरे की शोभा को भी क्षीण कर देती है। अर्थात् आत्मा का प्रकाश हीरे के प्रकाश से श्रेष्ठ है।

जगजीवन साहब : (सं० १७२७-१८१७) आपकी बानियों के संग्रह 'जग जीवन-साहब की शब्दावली, नाम से दो भागों में, 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुए हैं। प्रथम भाग में 'विनय', 'गुरु-महिमा' आदि के सम्बन्ध में उपदेशात्मक कथन ही अधिक हैं। दूसरे भाग में विरह, प्रेम, हिंडौला, होली आदि शीर्षकों में दिव्य-जीवन की अनुभूति को अभि-व्यक्त किया है। इन्हीं प्रसंगों में भावनातिशयता के क्षणों में, उलटवाँसी मूलक कथन मार्मिक बन पड़े हैं। पदों में पारिभाषिक रूढ़ शब्दों का ही अधिक प्रयोग है, सांकेतिक नये प्रतीकों की योजना कम दिखाई देती है। पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर जीवात्मा-परमात्मा के नैकट्य की अनुभूति के कथन, साधक की सिद्धि अवस्था को द्योतित करते हैं। एक अंग 'भेद बानी' नाम से है, जिसके अधिकांश 'शब्द' उलटवाँसी मूलक हैं। आपके सांकेतिक कथन भाव-विरह की अवस्था को व्यंजित करते हैं, ज्ञान-विरह की अवस्था को नहीं। इसलिए विधि-विरोध अथवा धर्म-विरोध प्रधान उलटवाँसी-पद आपकी बानियों में नहीं मिलते। आपके उलटवाँसी मूलक कथनों की प्रवृत्ति देखने के लिए दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'साधो इक बासन गढ़ै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अंत न पावो, कैसे सिरजन हार।।
अग्नि उठाय निकासत पानी, रचि रँगि रूप सँवार।
तीन चौथ दरवाज बनायो, नौ महँ नाहिं किवार।।
भीतर रंग विरंग तिरंगै, उठत अर्हहि धुधकार।
पवन ब्रह्म तहँ बाजहि आपुहि, आप बजावनहार।।

१. —यारी साहब की रत्नावली (झूलना ११), पृ० १५

आपु जनावत आपुहि जानत, आपुहि करत विचार।
आपुहि ज्ञान ध्यान तें लाग्यो, आप विवेक विस्तार॥
छिनछिन गावत छिन छिन रोवत,छिन छिन सुरति सुधार।
जगजीवन आपुहि सब खेलत, आपुहि सब तें न्यार॥'[1]

संकेतार्थ—(इस पद में विधाता परमात्मा के द्वारा मानव-शरीर की सृष्टि के सम्बन्ध में प्रतीकात्मक भाषा में कथन है और सांकेतिक शब्दावली एवं असम्बद्धता को प्रश्रय मिला है।) वासन=बर्तन (शरीर)। गढ़ै=निर्माण करता है। कुम्हार=कुम्भकार, (मानव-शरीर रूप घट का निर्माता प्रजापति)। अग्नि=ऊष्मा (उत्तेजन)। पानी=जल, विन्दु (वीर्य्य)। रूप=वर्ण। तीन-चौथ=तीन चौथाई। दरवाज=द्वार, आवागमन के मार्ग (आँख, कान, नाक, मुखादि शरीर-छिद्र।) नौ=(दो आँखें, दो श्रवण, दो नासिका छिद्र, एक मुख तथा गुदा और शिश्न ये नौ इन्द्रियों के छिद्र। किवार=किवाड़ (अवरोधक पट)। भीतर=हृदय में। रंग बिरंग तिरंगें=नाना प्रकार की भावनाएँ। पवन ब्रह्म =प्राणवायु। सब खेलत=सब प्रकार का खेल खेलता है। न्यार=निराला।

उदाहरण-२— 'साधो भले अहैं मतवारे।
कुत्ते पाँच किये वसि डोरी, ऐकौ रहत न न्यारे॥
कुत्ती पचीस ताहि सँग लागीं, ताहि संग अधिकारे।
सबै बटोरि एक माँ बांध्यौ, साधे रहहिं सँभारे॥
सो लै जाय गये मँडफ कहँ, जोगी आसन मारे।
भे गुरुमुखी ताहि ढिग बैठे, महा दिप्त उँजियारे॥
पावत अमी अमर ते जुग जुग, रहत हैं जुगुत बिचारे।
जगजीवन दास अचल ते साधू, नाहि टरत हैं टारे॥'[2]

सांकेतिक व्याख्या—प्रस्तुत पद में जगजीवन साहब अन्तर्मुखी, साधनाभ्यासी सन्तों के सम्वंध में कहते हैं। ऐसे साधक सन्त श्वान रूप पंच विकारों को, डोर रूप सुरति, ध्यान अथवा लय से वशवर्ती किये रहते हैं। उनमें से कोई भी अपने विषय की ओर आकृष्ट होकर साधक की सुरति में विघ्न उत्पन्न नहीं कर पाता। अर्थात् पंचेन्द्रियों की पाँच विषयोंकी ओर वाह्य-प्रवृत्ति एक होकर, अन्तर्मुखी सूक्ष्मता में एकरूपता प्राप्त हो जाती है। उस अन्तर्मुखी अवस्था में पाँच विषयों की, श्वान-स्वभाव वाली पच्चीस प्रकृतियाँ अनुकूल होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं। उस अवस्था में वे बाह्य विषयों की ओर दौड़ नहीं लगातीं। सांसारिक प्रवाह-काल में काया को वाह्य विषयों में प्रवृत्त करने वाले जो मन आदि अधिकारी वने रहते हैं, वे भी साधनाभ्यास के फलस्वरूप, अन्तर्मुखी सूक्ष्म वृत्ति के वशवर्ती हो जाते हैं। और साधक प्रयत्न पूर्वक उन सवको एक ही सूक्ष्म-वृत्ति में बाँधे रहता है। वह

१.—जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), भेद-बानी, पृ० ४३
२.—जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ६४

वैराग्य और अभ्यास के बल पर धीरे-धीरे चित्तवृत्ति को उर्ध्वमुखी बनाता है। अथवा आसनादि के अभ्यास से, प्राणायाम तथा गुरु कीकृपा के माध्यम से कुंडलिनी-शक्ति को त्रिकुटी स्थान, मेरू शिखर अथवा सहस्रार चक्र में प्रवेश कराता है। सिद्धि की उस अवस्था में सर्वत्र ज्ञान-ज्योति का प्रकाश छिटकने लगता है। और स्वरूपानन्द का अमृतपान करते हुए साधक काल की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। विचारपूर्वक युक्ति ही उनके जीवन-निर्वाह का माध्यम होती है।

दरिया साहब (बिहार वाले) : (सं० १७३१-१८३७) आपके द्वारा रचित ग्रंथों में 'दरियासागर', 'ज्ञान दीपक', 'ज्ञानरत्न', 'ज्ञानमूल', 'निर्भय ज्ञान', 'बीजक', 'सतसइया' आदि बताए जाते हैं, परन्तु प्रकाशित ग्रंथों में 'दरियाग्रन्थावली' ही उपलब्ध हो सकी है।

'दरियासागर' की रचना दोहे-चौपाइयों में है। इसमें सांकेतिक भाषा के द्वारा छप-लोक की बात पर बल दिया है।[1] उनकी मान्यता है कि उस अगम पंथको कोई विरला पुरुष ही जान पाता है। जो उसे समझ लेता है, वही निर्मल ज्ञानी है और शीघ्र ही परमपद को पा लेता है ('जो बूझै सो पहुँच सबेरा', द० सा०, पृ० ७)। आपकी वाणी में वर्णनात्मकता अधिक है, जिसमें साधना के (विशेष रूप से हठयोगी-साधना) गुह्य सिद्धान्तों का कथन अधिक हुआ है। परन्तु इस प्रकार की वाणी के रहस्य को समझने केलिए भी 'पंडित' के प्रति चुनौती का स्वर सुरक्षित है।[2] आपकी वाणी में उलटवांसी शैली का आग्रह तो देखने को मिलता है, पर, हठयोगी साधनाओं का ही पारिभाषिक रूढ़ शब्दों के माध्यम से, अधिक कथन हुआ है, जिनमें उपदेश की प्रवृत्ति मुखर है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

'करम जोग जम जीतै चहई। चढ़ि पिपीलिका फिरि भव रहई॥
बीहंगम चढ़ि गयउ अकासा। बइठि गगन चढ़ि देखु तमासा॥
महा मुदरा उनमुनि पेखै। अनन्नि भांति मोति तहँ देखै॥
छटा चमकि बरिसै घन आनी। परिमल अग्रबास रस सानी॥
इँगला पिंगला सुखमनि घाटा। वंकनाल रस पीवै बाटा॥
खोड़स दल कँवल विगसाना। लपटि लगै मधुकर ललचाना॥
सलिता तीनि संगम तहँ भयऊ। बारि बयारि अमृतरस पयऊ॥
चंद सूर दुइ करहिं बिलासा। उदय अस्त फिरि होय प्रगासा॥'[3]

(उक्त पंक्तियों में पिपीलिका और विहंगम-मार्ग से वृत्ति को ऊर्ध्वस्थ करने की ओर संकेत हैं। रूढ़ शब्दावली में हठयोग की साधना का उपदेश है।)

---

१. 'वेद विधि नहिं, करेउ बखाना, छप लोक साहब असथाना॥'— दरियासागर, पृ० १
'छपलोक की अकथ कहानी'—दरियासागर, पृ० ३८
२. 'बूझहु पंडित सत कै बानी।'— दरियासागर, पृ० ४८
'जो तुम पंडित बूझहु आई।'—दरियासागर, पृ० ३७
३.— दरिया सागर, पृ० ५५-५६

दरियासाहब (मारवाड़ वाले)—(सं० १७३३-१८१५) आपकी वानियों का संग्रह 'दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी' नाम से 'बेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियों में उलटवाँसी शैली का सम्यक् प्रयोग देखने को मिलता है। आपकी साखियों में पारिभाषिक रूढ़ शब्दावली में अनेक उलटवाँसी मूलक कथन मिलते हैं। मुस्लिम परिवार में जन्म होने पर भी आपकी साखियों में हठयौगिक साधना का वर्णन सफलता के साथ हुआ है, जिसमें फारसी-उर्दू के शब्दों का बहुत कम प्रयोग है। साधक के लिए आपने मीन-मार्ग को श्रेष्ठ बताया है।[1] आपके प्रयुक्त प्रतीकों में चयन सम्बन्धी नवीनता न होते हुए भी, प्रयोग सम्बन्धी कुशलता देखी जाती है। आपने विधि-विरोध और धर्म-विरोध के रूप में कई उलटवाँसी-पदों में वैचारिक अवस्था की अभिव्यक्ति सफलता से की है। शैली सम्बन्धी प्रवृत्ति की सूचना देने वाला एक पद उदाहरणीय है—

उदाहरण-२— 'अब मेरे सतगुर करी सहाई।
भरम भरम बहु अवधि गंवाई, में अपहि में थित पाई।। टेक।।
हिरनी जाय सिंघ घर रोका, डरप सिंहनी हारी।
सोता साह होय कर निर्भय, बस्तु करै रखवारी।।
अजगर उड़ा सिखर को डाँका, गरूड़ थकित होय बैठा।
भौम उलट कर चढ़ी अकासा, गगन भौम में पैठा।।
सिंघ भया जाय स्याल अधीना, मच्छा चढ़ै अकासा।
कुरम जाय अगना में सोता, देखै खलक तमासा।।
राजा रंक महल में पौढ़ा, रानी तहाँ सिधारी।
जन दरिया वा पद को परसै, ता जन की बलिहारी।।'[2]

सांकेतिक व्याख्या—ज्ञान-विरह की अवस्था में साधक की वैचारिक वृत्ति परिवर्तित हो जाती है। वह सत्गुरू की कृपा तथा वैराग्य और अभ्यास के नैरन्तर्य से आत्म साक्षात्कार की दशा को प्राप्त हो जाता है, परन्तु उससे पूर्व बहिर्मुखी वृत्तियाँ, अन्तर्मुखी होकर अपना विषयोन्मुख स्वभाव धारण किये रहती हैं। इसी अवस्था का संकेत प्रस्तुत उलटवाँसी-पद में है। विचार-काल में साधक इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्तिओं को बदल कर अन्तर्मुखी कर लेता है और प्रबुद्ध सूक्ष्म वृत्तियों द्वारा बहिर्मुखी प्रबल इन्द्रियों के वेग को संयत बना लेता है। उस समय हिरणी रूप सात्विक बुद्धि (इन्द्रिय), सिंह रूप मन की प्रबलता या बहिर्मुखता को घट के भीतर ही अवरुद्ध कर लेती है, जिससे सिंहनी रूप मनसा या वासना भयभीत होकर चकित रह जाती है और अपनी विषय-प्रवृत्ति को त्याग देती है। उस समय अन्तर्मुखी सात्विक मन शाह रूप में निःशंक होकर (सात्विक-

---

१. 'जन दरिया यह अकथ कथा है, अकथ कहा क्या जाई।
पंछी का खोज मीन का मारग, घट घट रहा समाई।।'
— दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४१

२.—दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४५

(उक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में विषयसाक्त इन्द्रियों की ओर 'नारि' के माध्यम से संकेत किया गया है। अपना घर अपने आप उजाड़ने वाले का कार्य असम्बद्ध अवश्य कहलाया जायेगा।)

चरनदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७६०-१८३६), आपकी बानियों का संग्रह 'चरनदास जी की बानी' नाम से दो भागों में 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। पहले भाग में विनय, प्रेम आदि के उपदेश प्रधान वर्णनात्मक पद हैं, जिनमें उलटवाँसी मूलक कथन बहुत कम हैं। यत्र-तत्र पारिभाषिक (रूढ़) हठयौगिक शब्दावली की योजना से उलटवाँसी शैली की ध्वनि निकलती है। दूसरे भाग में 'भेद-बानी' नाम से पैंतीस पदों का संग्रह है, जिन में अधिकांश पद उलटवाँसी मूलक हैं। कुछ पंक्तियाँ लोकोक्ति के रूप में बड़ी ही व्यंजनात्मक बन पड़ी हैं। देखिए—

'गुप्त मते की बात हेली जानै सोइ जानै।—च० बा० (भाग २), पृ० १८
'होनहार ने उलटी कीन्हीं जल में आग लगाइ।' —वही, पृ० ४०

निम्नलिखित 'पूर्ण पद उलटवाँसी' में सांकेतिक प्रतीकों की योजना से, विधि-विरोध और धर्म-विरोध के संकेतों से अन्तर्मुखी वैचारिक दशा का कथन है। देखिए—

उदाहरण-२— 'कोइ जानै संत सुजान उलटे भेद कूँ॥टेक॥
वृच्छ चढ़ी माली के ऊपर धरती चढ़ी अकास।
नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हाँस॥
बैल चढ़ी संकर के ऊपर हंस ब्रह्म के सीस।
सिंह चढ़ी देवी के ऊपर गुरुहीं की बकसीस॥
नाव चढ़ी केवट के ऊपर सुत की गोदी माय।
जो तू भेदी अमर नगर को तो तू अर्थ बताय॥
चरनदास सुकदेव सहाई अब का करिहै काल।
बाँबी उलटि सर्प में पैठी, जवसूँ भये निहाल॥'[1]

संकेतार्थ—उलटा भेद=उलटा रहस्य, (अन्तर्मुखी साधना की वाणी)। वृच्छ=वृक्ष(शरीर, जिसके ऊपर अब तक माली रूप मन का अधिकार था)। माली=पेड़-पौधों की काट-छाँट करने वाला (विश्लेपक संश्लेपक मन, अर्थात् साधना निरत शरीर मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को दबाकर निश्चल हुआ)। धरती=पृथ्वी (मूलाधारस्थ कुंडलिनी रूप धरती अथवा जड़ बनी हुई काया)। नारि-पुरुष=स्त्री-पुरुष (मनसा और मन)। विपरीत भये हैं=विपरीत स्वभाव वाले हो गये हैं (अन्तर्मुखी वृत्ति वाले हो गये हैं)। बैल=भार-वाहक वृषभ (अनेक संस्कारों के बोझ से लदा हुआ बैल रूप मन, सत्त्वस्थ होकर, अन्तर्मुखी होकर शिवत्व रूप शंकर के ऊपर अधिष्ठित हुआ अर्थात् शिवत्व से प्रेरित है)। हंस=

---

१. —चरनदास जी की बानी (भाग २), पृ० १६-१७

निर्मल स्वभाव वाला पक्षी विशेष (ब्रह्म-ज्ञानी साधक)। ब्रह्म=ब्रह्मा (ब्रह्म-भावना के ऊपर अर्थात् ब्रह्म या शून्य स्वभाव का होना)। सिंह=(बहिर्मुखी प्रबल मन)। देवी= शक्ति, दुर्गा, (सूक्ष्म बुद्धि अथवा कुंडलिनी शक्ति)। नाव=नौका, (सुमति, संगठित वृत्ति)। केवट=नाविक, (नायक, संचालक मन)। सुत=बेटा (विवेक)। माय=माता (माया)। भेदी=रहस्योद्घाटक। काल=मृत्यु। बाँबी=साँप का बिल, वल्मीकि (शरीर)। सर्प=साँप, वक्रगति से चलने वाला (वक्रगति से चलने वाला श्वासोच्छ्वास, प्राण वायु)। निहाल=उद्धार।

विशेष—उक्त पद में सांकेतिक प्रतीकों की योजना नवीन प्रसंगों में हुई है। 'नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हांस' कथन व्यंजनात्मक है।

गरीबदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७७४-१८३५), आपकी बानियों का संग्रह 'गरीबदास जी की बानी' नाम से 'बेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियों में उलटबाँसी शैली में कथन करने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। हां, हठयौगिक साधना को लेकर पारिभाषिक (रूढ़) शब्दावली में उलटबाँसी मूलक कथन सम्यक् रूप से मिलते हैं। पर, ऐसे कथनों में उलटबाँसी शैली की प्रयोग विषयक नवीनता देखने को नहीं मिलती। पदों में उपदेशात्मकता के रूप में वर्णन की प्रवृत्ति ही अधिक है। प्रवृत्ति सूचक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'इक पींजरे पास मंजार बैठा रहै, खोज कर खोज कर खोज खोजी।
कौन से भेद से अरस झूलत रहै, चुगै मत चुगा यह ऋद्ध रोगी॥
सुन्न ताक में पांच परपंच हैं, तीन के भवन पर नमन कीजै॥
खड़ा मंजार सिर पीट रोवै सदा, उड़ै आकास वृछ अछै लीजै॥
प्रेम बानी पढ़ै नाम निःचै रटै, चंद चकोर ज्यूं ध्यान ध्यानी।
दास गरीब यह खेल जो याद है, तो पींजरा छोड़ नहिं ब्रह्म ज्ञानी॥'[1]

(ऋद्ध रोगी=ऋद्धि अर्थात् विभूति रोग रूप है। मगर=बिलाउ रूप काल। पिंजरा=पिंजर रूप शरीर।)

इसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी हठयोगी साधक की निम्न उक्ति उलटबाँसी मूलक है—

उदाहरण-२— 'धरती धूत अकार न पाऊँ, मेरुदंड पर मेला।
गगन मँडल में आसन करहूँ, तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिस घाटी लै जाऊँ।
चींटी के पथ हस्ती बांधूं, अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस में दीपक जोऊँ, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देस में देवल हमारा, पूरब पंथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मंड दोऊ से न्यारा, अगम ज्ञान गोहराऊँ।
दास गरीब अगम गत आपै, सिंधै सिंध मिलाऊँ॥'[2]

---

१. —गरीबदास जी की बानी (झूलना ४), पृ० १०८
२. —गरीबदास जी की बानी, पृ० १६१

(उक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में विषयसाक्त इन्द्रियों की ओर 'नारि' के माध्यम से संकेत किया गया है। अपना घर अपने आप उजाड़ने वाले का कार्य असम्बद्ध अवश्य कहलाया जायेगा।)

चरनदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७६०-१८३९), आपकी बानियों का संग्रह 'चरनदास जी की बानी' नाम से दो भागों में 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। पहले भाग में विनय, प्रेम आदि के उपदेश प्रधान वर्णनात्मक पद हैं, जिनमें उलटवाँसी मूलक कथन बहुत कम हैं। यत्र-तत्र पारिभाषिक (रूढ़) हठयौगिक शब्दावली की योजना से उलटवाँसी शैली की ध्वनि निकलती है। दूसरे भाग में 'भेद-बानी' नाम से पैंतीस पदों का संग्रह है, जिन में अधिकांश पद उलटवाँसी मूलक हैं। कुछ पंक्तियाँ लोकोक्ति के रूप में बड़ी ही व्यंजनात्मक बन पड़ी हैं। देखिए—

'गुप्त मते की बात हेली जानै सोइ जानै।—च० बा० (भाग २), पृ० १८
'होनहार ने उलटी कीन्हीं जल में आग लगाइ।' —वही, पृ० ४०

निम्नलिखित 'पूर्ण पद उलटवाँसी' में सांकेतिक प्रतीकों की योजना से, विधि-विरोध और धर्म-विरोध के संकेतों से अन्तर्मुखी वैचारिक दशा का कथन है। देखिए—

उदाहरण-२— 'कोइ जानै संत सुजान उलटे भेद कूँ।।टेक।।
वृच्छ चढ़ी माली के ऊपर धरती चढ़ी अकास।
नारि पुरुष बिपरीत भये हैं देखत आवै हाँस।।
बैल चढ़ौ संकर के ऊपर हंस ब्रह्म के सीस।
सिंह चढ़ौ देवी के ऊपर गुरुहीं की बकसीस।।
नाव चढ़ी केवट के ऊपर सुत की गोदी माय।
जो तू भेदी अमर नगर को तौ तू अर्थ बताय।।
चरनदास सुकदेव सहाई अब का करिहै काल।
बाँबी उलटि सर्प में पैठी, जबसूँ भये निहाल।।'[1]

संकेतार्थ—उलटा भेद=उलटा रहस्य, (अन्तर्मुखी साधना की वाणी)। वृच्छ=वृक्ष (शरीर, जिसके ऊपर अब तक माली रूप मन का अधिकार था)। माली=पेड़-पौधों की काट-छाँट करने वाला (विश्लेषक संश्लेपक मन, अर्थात् साधना निरत शरीर मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को दबाकर निश्चल हुआ)। धरती=पृथ्वी (मूलाधारस्थ कुंडलिनी रूप धरती अथवा जड़ बनी हुई काया)। नारि-पुरुष=स्त्री-पुरुष (मनसा और मन)। बिपरीत भये हैं=विपरीत स्वभाव वाले हो गये हैं (अन्तर्मुखी वृत्ति वाले हो गये हैं)। बैल=भार-वाहक वृषभ (अनेक संस्कारों के बोझ से लदा हुआ बैल रूप मन, आत्मस्थ होकर, अन्तर्मुखी होकर शिवत्व रूप शंकर के ऊपर प्रतिष्ठित हुआ अर्थात् [illegible] से प्रेरित है)। हंस=

---

१. —चरनदास जी की बानी (भाग २), पृ० [illegible]

निर्मल स्वभाव वाला पक्षी विशेष (ब्रह्म-ज्ञानी साधक)। ब्रह्म=ब्रह्मा (ब्रह्म-भावना के ऊपर अर्थात् ब्रह्म या शून्य स्वभाव का होना)। सिंह=(बहिर्मुखी प्रवल मन)। देवी=शक्ति, दुर्गा, (सूक्ष्म बुद्धि अथवा कुंडलिनी शक्ति)। नाव=नौका, (सुमति, संगठित वृत्ति)। केवट=नाविक, (नायक, संचालक मन)। सुत=बेटा (विवेक)। माय=माता (माया)। भेदी=रहस्योद्घाटक। काल=मृत्यु। बाँबी=साँप का बिल, वल्मीकि (शरीर)। सर्प=साँप, वक्रगति से चलने वाला (वक्रगति से चलने वाला श्वासोच्छ्वास, प्राण वायु)। निहाल=उद्धार।

विशेष—उक्त पद में सांकेतिक प्रतीकों की योजना नवीन प्रसंगों में हुई है। 'नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हांस' कथन व्यंजनात्मक है।

गरीबदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७७४-१८३५), आपकी बानियों का संग्रह 'गरीबदास जी की बानी' नाम से 'बेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियों में उलटवाँसी शैली में कथन करने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। हां, हठयौगिक साधना को लेकर पारिभाषिक (रूढ़) शब्दावली में उलटवाँसी मूलक कथन सम्यक् रूप से मिलते हैं। पर, ऐसे कथनों में उलटवाँसी शैली की प्रयोग विषयक नवीनता देखने को नहीं मिलती। पदों में उपदेशात्मकता के रूप में वर्णन की प्रवृत्ति ही अधिक है। प्रवृत्ति सूचक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'इक पींजरे पास मंजार बैठा रहै, खोज कर खोज कर खोज खोजी।
कौन से भेद से अरस भूलत रहै, चुगै मत चुगा यह ऋद्ध रोगी॥
सुन्न ताक में पांच परपंच हैं, तीन के भवन पर नमन कीजै॥
खड़ा मंजार सिर पीट रोवै सदा, उड़े आकास वृछ अछै लीजै॥
प्रेम बानी पढ़ै नाम निःचै रटै, चंद चकोर ज्यूं घ्यान घ्यानी।
दास गरीब यह खेल जो याद है, तो पींजरा छोड़ नहिं ब्रह्म ज्ञानी॥'[1]

(ऋद्ध रोगी=ऋद्धि अर्थात् विभूति रोग रूप है। मगर=बिलाउ रूप काल। पिंजरा=पिंजर रूप शरीर।)

इसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी हठयोगी साधक की निम्न उक्ति उलटवाँसी मूलक है—

उदाहरण-२— 'धरती धूत अकार न पाऊँ, मेरूदंड पर मेला।
गगन मँडल में आसन करहूँ, तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिस घाटी लै जाऊँ।
चींटी के पग हस्ती बांधूं, अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस में दीपक जोऊँ, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देस में देवल हमारा, पूरब पंथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मंड दोऊ से न्यारा, अगम ज्ञान गोहराऊँ।
दास गरीब अगम गत आपै, सिंधै सिंध मिलाऊँ॥'[2]

---

१. —गरीबदास जी की बानी (भूलना ४), पृ० १०८
२. —गरीबदास जी की बानी, पृ० १६१

(उक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में विषयसाक्त इन्द्रियों की ओर 'नारि' के माध्यम से संकेत किया गया है। अपना घर अपने आप उजाड़ने वाले का कार्य असम्वद्ध अवश्य कहलाया जायेगा।)

चरनदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७६०-१८३९), आपकी बानियों का संग्रह 'चरनदास जी की बानी' नाम से दो भागों में 'बेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। पहले भाग में विनय, प्रेम आदि के उपदेश प्रधान वर्णनात्मक पद हैं, जिनमें उलटवाँसी मूलक कथन बहुत कम हैं। यत्र-तत्र पारिभाषिक (रूढ़) हठयौगिक शब्दावली की योजना से उलटवाँसी शैली की ध्वनि निकलती है। दूसरे भाग में 'भेद-बानी' नाम से पैंतीस पदों का संग्रह है, जिन में अधिकांश पद उलटवाँसी मूलक हैं। कुछ पंक्तियाँ लोकोक्ति के रूप में बड़ी ही व्यंजनात्मक बन पड़ी हैं। देखिए—

> **'गुप्त मते की बात हेली जानै सोइ जानै।—च० बा० (भाग २), पृ० १८**
> **'होनहार ने उलटी कीन्हीं जल में आग लगाइ।' —वही, पृ० ४०**

निम्नलिखित 'पूर्ण पद उलटवाँसी' में सांकेतिक प्रतीकों की योजना से, विधि-विरोध और धर्म-विरोध के संकेतों से अन्तर्मुखी वैचारिक दशा का कथन है। देखिए—

उदाहरण-२—

> **'कोइ जानै संत सुजान उलटे भेद कूँ ।।टेक।।**
> **वृच्छ चढ़ी माली के ऊपर धरती चढ़ी अकास।**
> **नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हाँस ।।**
> **बैल चढ़ौ संकर के ऊपर हंस ब्रह्म के सीस।**
> **सिंह चढ़ी देवी के ऊपर गुरुहीं की बकसीस ।।**
> **नाव चढ़ी केवट के ऊपर सुत की गोदी माय।**
> **जो तू भेदी अमर नगर को तौ तू अर्थ बताय ।।**
> **चरनदास सुकदेव सहाई अब का करिहै काल।**
> **बाँबी उलटि सर्प में पैठी, जबसूँ भये निहाल ।।''[1]**

संकेतार्थ—उलटा भेद=उलटा रहस्य, (अन्तर्मुखी साधना की वाणी)। वृच्छ= वृक्ष (शरीर, जिसके ऊपर अब तक माली रूप मन का अधिकार था)। माली=पेड़-पौधों की काट-छाँट करने वाला (विश्लेषक संश्लेषक मन, अर्थात् साधना निरत शरीर मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को दबाकर निश्चल हुआ)। धरती=पृथ्वी (मूलाधारस्थ कुंडलिनी रूप धरती अथवा जड़ बनी हुई काया)। नारि-पुरुष=स्त्री-पुरुष (मनसा और मन)। विपरीत भये हैं=विपरीत स्वभाव वाले हो गये हैं (अन्तर्मुखी वृत्ति वाले हो गये हैं)। बैल=भार-वाहक वृषभ (अनेक संस्कारों के बोझ से लदा हुआ बैल रूप मन, सत्त्वस्थ होकर, अन्तर्मुखी होकर शिवत्व रूप शंकर के ऊपर अधिष्ठित हुआ अर्थात् शिवत्व से प्रेरित है)। हंस=

---

१. —चरनदास जी की बानी (भाग २), पृ० १६-१७

निर्मल स्वभाव वाला पक्षी विशेष (ब्रह्म-ज्ञानी साधक)। ब्रह्म=ब्रह्मा (ब्रह्म-भावना के ऊपर अर्थात् ब्रह्म या शून्य स्वभाव का होना)। सिंह=(बहिर्मुखी प्रबल मन)। देवी=शक्ति, दुर्गा, (सूक्ष्म बुद्धि अथवा कुंडलिनी शक्ति)। नाव=नौका, (सुमति, संगठित वृत्ति)। केवट=नाविक, (नायक, संचालक मन)। सुत=बेटा (विवेक)। माय=माता (माया)। भेदी=रहस्योद्घाटक। काल=मृत्यु। बाँबी=साँप का बिल, वल्मीकि (शरीर)। सर्प=साँप, वक्रगति से चलने वाला (वक्रगति से चलने वाला श्वासोच्छ्वास, प्राण वायु)। निहाल=उद्धार।

विशेष—उक्त पद में सांकेतिक प्रतीकों की योजना नवीन प्रसंगों में हुई है। 'नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हांस' कथन व्यंजनात्मक है।

गरीबदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७७४-१८३५), आपकी बानियों का संग्रह 'गरीबदास जी की बानी' नाम से 'बेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियों में उलटबाँसी शैली में कथन करने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। हां, हठयौगिक साधना को लेकर पारिभाषिक (रूढ़) शब्दावली में उलटबाँसी मूलक कथन सम्यक् रूप से मिलते हैं। पर, ऐसे कथनों में उलटबाँसी शैली की प्रयोग विषयक नवीनता देखने को नहीं मिलती। पदों में उपदेशात्मकता के रूप में वर्णन की प्रवृत्ति ही अधिक है। प्रवृत्ति सूचक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'इक पींजरे पास मंजार बैठा रहै, खोज कर खोज कर खोज खोजी।
कौन से भेद से अरस भूलत रहै, चुगै मत चुगा यह ऋद्ध रोगी॥
सुन्न ताक में पाँच परपँच हैं, तीन के भवन पर नमन कीजै॥
खड़ा मंजार सिर पीट रोवै सदा, उड़ै आकास वृछ अछै लीजै॥
प्रेम बानी पढ़ै नाम निःचै रटै, चंद चकोर ज्यूँ ध्यान ध्यानी।
दास गरीब यह खेल जो याद है, तो पींजरा छोड़ नहिं ब्रह्म ज्ञानी॥'[1]

(ऋद्ध रोगी=ऋद्धि अर्थात् विभूति रोग रूप है। मगर=बिलाव रूप काल। पिंजरा=पिंजर रूप शरीर।)

इसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी हठयोगी साधक की निम्न उक्ति उलटबाँसी मूलक है—

उदाहरण-२— 'धरती धूत अकार न पाऊँ, मेरूदंड पर मेला।
गगन मँडल में आसन करहूँ, तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिस घाटी लै जाऊँ।
चींटी के पथ हस्ती बाँधूं, अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस में दीपक जोऊँ, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देस में देवल हमारा, पूरब पंथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मंड दोऊ से न्यारा, अगम ज्ञान गोहराऊँ।
दास गरीब अगम गत आपै, सिंधै सिंध मिलाऊँ॥'[2]

---

१. —गरीबदास जी की बानी (भूलना ४), पृ० १०८
२. —गरीबदास जी की बानी, पृ० १६१

(उक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में विषयासक्त इन्द्रियों की ओर 'नारि' के माध्यम से संकेत किया गया है। अपना घर अपने आप उजाड़ने वाले का कार्य असम्बद्ध अवश्य कहलाया जायेगा।)

चरनदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७६०-१८३६), आपकी वानियों का संग्रह 'चरनदास जी की वानी' नाम से दो भागों में 'वेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। पहले भाग में विनय, प्रेम आदि के उपदेश प्रधान वर्णनात्मक पद हैं, जिनमें उलटवाँसी मूलक कथन बहुत कम हैं। यत्र-तत्र पारिभाषिक (रूढ़) हठयौगिक शब्दावली की योजना से उलटवाँसी शैली की ध्वनि निकलती है। दूसरे भाग में 'भेद-बानी' नाम से पैंतीस पदों का संग्रह है, जिन में अधिकांश पद उलटवाँसी मूलक हैं। कुछ पंक्तियाँ लोकोक्ति के रूप में बड़ी ही व्यंजनात्मक बन पड़ी हैं। देखिए—

> 'गुप्त मते की बात हेली जानै सोइ जानै।—च० वा० (भाग २), पृ० १८
> 'होनहार ने उलटी कीन्हीं जल में आग लगाइ।' —वही, पृ० ४०

निम्नलिखित 'पूर्ण पद उलटवाँसी' में सांकेतिक प्रतीकों की योजना से, विधि-विरोध और धर्म-विरोध के संकेतों से अन्तर्मुखी वैचारिक दशा का कथन है। देखिए—

उदाहरण-२— 'कोइ जानै संत सुजान उलटे भेद कूँ ॥टेक॥
वृच्छ चढ़ौ माली के ऊपर धरती चढ़ी अकास।
नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हांस॥
बैल चढ़ौ संकर के ऊपर हंस ब्रह्म के सीस।
सिंह चढ़ौ देवी के ऊपर गुरुहीं की बकसीस॥
नाव चढ़ी केवट के ऊपर सुत की गोदी माय।
जो तू भेदी अमर नगर कौ तौ तू अर्थ बताय॥
चरनदास सुकदेव सहाई अब का करिहै काल।
बाँबी उलटि सर्प में पैठी, जबसूँ भये निहाल॥'[1]

संकेतार्थ—उलटा भेद=उलटा रहस्य, (अन्तर्मुखी साधना की वाणी)। वृच्छ=वृक्ष (शरीर, जिसके ऊपर अब तक माली रूप मन का अधिकार था)। माली=पेड़-पौधों की काट-छाँट करने वाला (विश्लेषक संश्लेषक मन, अर्थात् साधना निरत शरीर मन की वहिर्मुखी वृत्तियों को दवाकर निश्चल हुआ)। धरती=पृथ्वी (मूलाधारस्थ कुंडलिनी रूप धरती अथवा जड़ बनी हुई काया)। नारि-पुरुष=स्त्री-पुरुष (मनसा और मन)। विपरीत भये हैं=विपरीत स्वभाव वाले हो गये हैं (अन्तर्मुखी वृत्ति वाले हो गये हैं)। बैल=भार-वाहक वृषभ (अनेक संस्कारों के बोझ से लदा हुआ बैल रूप मन, सत्त्वस्थ होकर, अन्तर्मुखी होकर शिवत्व रूप शंकर के ऊपर अधिष्ठित हुआ अर्थात् शिवत्व से प्रेरित है)। हंस=

---

१. —चरनदास जी की वानी (भाग २), पृ० १६-१७

निर्मल स्वभाव वाला पक्षी विशेष (ब्रह्म-ज्ञानी साधक)। ब्रह्म=ब्रह्मा (ब्रह्म-भावना के ऊपर अर्थात् ब्रह्म या शून्य स्वभाव का होना)। सिंह=(बहिर्मुखी प्रबल मन)। देवी=शक्ति, दुर्गा, (सूक्ष्म बुद्धि अथवा कुंडलिनी शक्ति)। नाव=नौका, (सुमति, संगठित वृत्ति)। केवट=नाविक, (नायक, संचालक मन)। सुत=बेटा (विवेक)। माय=माता (माया)। भेदी=रहस्योद्घाटक। काल=मृत्यु। बांबी=सांप का बिल, वल्मीकि (शरीर)। सर्प=सांप, वक्रगति से चलने वाला (वक्रगति से चलने वाला श्वासोच्छ्वास, प्राण वायु)। निहाल=उद्धार।

विशेष—उक्त पद में सांकेतिक प्रतीकों की योजना नवीन प्रसंगों में हुई है। 'नारि पुरुष विपरीत भये हैं देखत आवै हांस' कथन व्यंजनात्मक है।

गरीबदास जी : (आविर्भाव काल सं० १७७४-१८३५), आपकी बानियों का संग्रह 'गरीबदास जी की बानी' नाम से 'बेलविडियर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। आपकी बानियों में उलटवाँसी शैली में कथन करने की प्रवृत्ति कम दिखाई देती है। हां, हठयौगिक साधना को लेकर पारिभाषिक (रूढ़) शब्दावली में उलटवाँसी मूलक कथन सम्यक् रूप से मिलते हैं। पर, ऐसे कथनों में उलटवाँसी शैली की प्रयोग विषयक नवीनता देखने को नहीं मिलती। पदों में उपदेशात्मकता के रूप में वर्णन की प्रवृत्ति ही अधिक है। प्रवृत्ति सूचक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— **'इक पींजरे पास मंजार बैठा रहै, खोज कर खोज कर खोज खोजी।**
कौन से भेद से अरस झूलत रहै, चुगै मत चुगा यह ऋद्ध रोगी॥
सुन्न ताक में पाँच परपँच हैं, तीन के भवन पर नमन कीजै॥
खड़ा मंजार सिर पीट रोवै सदा, उड़ै आकास बृछ अछै लीजै॥
प्रेम बानी पढ़ै नाम निःचै रटै, चंद चकोर ज्यूँ ध्यान ध्यानी।
दास गरीब यह खेल जो याद है, तो पींजरा छोड़ नहि ब्रह्म ज्ञानी॥'[1]

(ऋद्ध रोगी=ऋद्धि अर्थात् विभूति रोग रूप है। मगर=बिलाउ रूप काल। पिंजरा=पिंजर रूप शरीर।)

इसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी हठयोगी साधक की निम्न उक्ति उलटवाँसी मूलक है—

उदाहरण-२— **'धरती धूत अकार न पाऊँ, मेरूदंड पर मेला।**
गगन मँडल में आसन करहूँ, तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरबाजा, तिस घाटी लै जाऊँ।
चींटी के पग हस्ती बांधूं, अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस में दीपक जोऊँ, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देस में देवल हमारा, पूरब पंथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मंड दोऊ से न्यारा, अगम ज्ञान गोहराऊँ।
दास गरीब अगम गत पावै, सिंधै सिंध मिलाऊँ॥'[2]

---

१. —गरीबदास जी की बानी (झूलना ४), पृ० १०८
२. —गरीबदास जी की बानी, पृ० १६१

के लिए 'सुरति-निरति' रूप पालकी सजाई है, जिसमें निवृत्ति-मार्गी पंचेन्द्रियों रूप पाँच कहार सजे हैं (इन कहारों को कुशल इसलिए बताया है कि जब बहिर्मुखी वृत्ति वाले होते हैं, तो ये शरीर रूप पालकी को विषयों की ओर आकृष्ट कर ले जाते हैं।) इस प्रकार द्रष्टा रूप जीवात्मा परमात्मा के साक्षात्कार केलिए निकल पड़ी हैं अथवा साधना निरत हो गयी है। इस दृश्य को देखकर अन्य इन्द्रियाँ विस्मय विमुग्ध हो गई हैं। परिणय के लिए शून्य-शिखर पर मण्डप का आच्छादन हुआ है। इड़ा-पिंगला नामक योगनाड़ियों ने चौक पूरा है। इस चौक पर 'कुंभक और पूरक' दो कलश भरकर रखे हैं। अर्थात् प्राणायाम साधना में साधक को कुंभक-पूरक नामक प्राणायाम की दोनों विधियों को सम्पन्न करना पड़ता है। सहस्रार चक्र पर शक्ति के पहुँचते ही पंचेन्द्रियाँ और उनकी पच्चीस प्रकृतियाँ स्वरूपाकार स्थिति में विलीन हो जाती हैं, यही उनका मंगल गान करना है। इस अवस्था को पहुँच कर संत-साधक आनन्द की दशा में डूब जाते हैं। और सुन्दरी रूप जीवात्मा के मस्तक पर सिंदूर की ज्योति स्वयं ही निखर उठती है। उसे अपना पति-परमेश्वर स्वयं में ही तन्मय दिखाई देने लगती है। तत्पश्चात् दुलहिनि जीवात्मा 'अजपाजाप' के द्वारा प्रियतम का स्मरण करती रहती है। उस अवस्था में विन्दु 'नाद' में तन्मय हो जाता है। अर्थात् ज्ञान के माध्यम से नाद-विन्दु का संयोग हुआ है और ज्ञान जीवात्मा का सहोदर है। अतः नाद-विन्दु का भौजाई रूप कल्पित किया है। क्योंकि नाद-विन्दु का भव-जन्म (भौजाई) जीवात्मा के साथ ही हुआ है। यद्यपि प्रतीक में लिंग दोष विद्यमान है। भीखा साहब कहते हैं कि जगत् के प्रपंचों को त्याग कर, साधना रूप इस विवाहोत्सव की तैयारी करके, आत्म-साक्षात्कार रूप परम सुख में तन्मय हो जाना चाहिये।

पलटू साहब : आपका जन्म-समय और मृत्यु-समय के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। आप नवाब सुजाउद्दौला (सं० १८२७) के समकालीन थे, अतः विक्रम का १९वाँ शतक आपका कार्य-काल माना गया है।

आपकी बानियों का संग्रह तीन भागों में 'पलटू साहेब की बानी' शीर्षक से 'बेल-विडिर प्रेस' से प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में कुंडलिया छन्द है, जिसके अनेक छन्द उलटवाँसी शैली में लिखे गये हैं। दूसरे भाग के अरिल्ल, सवैये, झूलने आदि छन्दों में उलटवाँसी-पद मिलते हैं। तीसरे भाग में शब्द और साखियाँ संग्रहीत हैं, जिनमें व्यवहारिक उपदेश प्रधान बातों का कथन अधिक है, उलटवाँसी शैली का आग्रह कम।

आपके संग्रहों में सर्व प्रथम उलटवाँसी शब्द के समक्ष 'उलटावती' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] 'उलटावती अंग' में तीन उलटवाँसी-पदों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त भेद की अंग, उपदेश की अंग, तथा सूरमा, ध्यान, प्रेम, नाम, गुरुदेव आदि अंगों में भी उलटवाँसी-पद मिलते हैं। दूसरे भाग में 'भेद' आदि अंगों में रेख्ता, झूलना, अरिल्ल आदि

छन्दों में उलटवाँसी शैली के माध्यम से, साधना विषयक अथवा साधक की वैचारिक अवस्था के कथन हैं।

पलटू साहब के उलटवाँसी-पदों की भाषा व्यवहारिक, सरल और प्रसाद-गुण सम्पन्न है। छन्द नियमों की कसौटी पर खरे उतरते हैं। शब्दावली संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू आदि के शब्दों से समृद्ध है। प्रतीक-योजना ध्वन्यात्मक और मार्मिक है। व्यंग्य की दृष्टि से आपके कथन बड़े ही सफल सिद्ध हुए हैं। कुंडलिया छन्दों के उलटवाँसी-पदों की प्रथम पंक्ति 'टेक' रूप में सम्पूर्ण पद का केन्द्र कहीं जा सकती है। आपकी उलट-वाँसियों में अन्योक्ति स्वयं व्यंजित होती है। अनेक पंक्तियाँ लोकोक्ति, कहावत आदि की कोटि में पहुँच गई हैं।[1] आपकी उलटवाँसियों की विरोधमूलकता प्राय: धर्म-विरोध और विधि-विरोध पर आश्रित है। कहीं-कहीं शब्द श्लेषत्व से कथन में चमत्कार सहज ही आ गया है। उलटवाँसी-पदों में हठयोगी-साधनाओं से सम्बन्धित, पारिभाषिक (रूढ़ प्रतीक) शब्दावली में भी कथन मिलते हैं। संसार-प्रवाह में प्रवाहित होती हुई बद्ध जीवात्माओं की अज्ञानावस्था का चित्रण बहुत मार्मिक रूप में हुआ है। गीतितत्त्व के सहयोग से आप के उलटवाँसी-पद और अधिक प्रेषणीय हो गये हैं। सारांश में कहा जा सकता है कि उलटवाँसी शैली के परम्पराविकास में पलटू साहब के उलटवाँसी-पदों ने, विषय और प्रयोग दोनों की दृष्टि से, परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। पदों की प्रकृति और प्रवृत्ति विषयक सूचना के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१ — 'खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥टेक॥
जोरू गावै तान फिरा अहिवात हमारा।
झूठ सकल संसार मांग भरि सेंदुर धारा॥
हम पतिबरता नारी खसम को जियतै मारी।
वा को मूड़ौ मूड़ सरवर जो करै हमारी॥
दुतिया गई है भागि सुनौ अब राध परोसिन।
पिया मरे आराम मिला सुख मोकहँ दिन दिन॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोइ निरबान।
खसम बिचार मरि गया जोरू गावै तान॥'[2]

---

१. 'कमठ दृष्टि जो लावई सो ध्यानी परमान।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ३८

'मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ५३

'चोर मूँसि घर पहुँचा मूरख पहरा देइ।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ५८

'अँधरन केर बजार में गया एक डिठियार।'
—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८१

२.—पलटूसाहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७५ (कुंडलिया १८०)

सारांश में कहा जा सकता है कि उलटबाँसी शैली के प्रयोग मे तुलसी साहब, पलटू साहब से एक पग आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। भाव-विचारों की सफल अभिव्यक्ति में आपकी प्रयोग-समर्थ भाषा तथा रूपक तत्त्व का बहुत बड़ा हाथ है। अनेक उलटबाँसी-पदों की भाव-व्यंजना काव्यत्व को मुखर करती है। प्रवृत्ति सूचक दो पद, सांकेतिक व्याख्या सहित, यहाँ प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१— गुइयाँ हो गुरन गुहरावा, सुन अचरज ख्याल ।। टेक ।।
अगिनि जरै जल माहीं, दिया बाती बिन तेल ।
धरनि अधर पर छावा, गगना भूमि मेल ।।
सखीरी नगर इक ठाँवाँ, सिंघनि ब्याई बैल ।
पपील ने पील गिरावा, उँटवा से करै केल ।।
पंछी पहाड़ उड़ावा, गये गगना की गैल ।
गैया गली लख पाई, करै नित नित सेल ।।
हिरना चरै हरी दूबा, चितवा चलै पेल ।
उलटे गगन नद नीरा, चकवा चलै छैल ।।
तुलसी तरक मन माहीं, पाये पाये पिया मेल ।।"[1]

सांकेतिक व्याख्या—प्रस्तुत उलटबाँसी-पद में साधक की विचार अवस्था का, अनेक प्रतीकों की योजना के द्वारा चित्रण किया गया है। विचार-काल में कोई प्रबुद्ध जीवात्मा अपने अनुभव को किसी दूसरी जीवात्मा के प्रति कहती है। हे सखि, गुरु के द्वारा बताए गये 'अचरज-ख्याल' अथवा उलटबाँसी-पद को सुन। विचार-काल की अन्तर्मुखी सूक्ष्म अवस्था बड़ी विचित्र है। इस अवस्था में बिना तेल और बत्ती (उपादान-कारण) के जल के भीतर अग्नि जलती है। अर्थात् जलरूप माया-तत्त्व के भीतर विद्यमान रहते हुए भी साधक का अन्तर्मुखी चित्त प्रज्ज्वलित, उद्दीप्त, उद्बुद्ध बना रहता है। अर्थात् साधक का हृदय ज्ञान-ज्योति से दीपित रहता है। धरनि रूप जड़ काया अथवा मूलाधारस्थ जड़वत् बनीं हुई कुंडलिनी, सिद्धि अवस्था में, आकाश रूप ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन-शिखर पर अधिष्ठित हो जाती है। और आकाश रूप शून्यवस्था भूमि रूप अधोगति वाली काया में समाहित हो जाती है। प्रबुद्धवस्था में जीवात्मा एक ऐसे नगर की सृष्टि करती है, जिसमें 'बैल' के गर्भ से 'सिंहनी' का प्रसव होता है। अर्थात् विभिन्न संस्कारों से लदा हुआ बैल रूप मन सत्तव पुष्ट हो अन्तर्मुखी होकर सिंहनी रूप सात्विक उद्दीप्त बुद्धि को जन्म देता है, (अथवा सिंहनी रूप आत्म साक्षात्कार की प्रबुद्ध अवस्था आ जाती है)। उस अवस्था में पिपीलिका रूप सूक्ष्म बुद्धि बहिर्मुख मदमत्त 'पील' रूप मन को वशवर्ती कर लेती है। और प्राणायाम की अवस्था में ऊँट रूप वक्रगति प्राणवायु स्वयं में ही श्वासोच्छ्-वास के रूप में क्रीड़ा करती रहती है। पक्षी स्वभाववाला मन, अन्तर्मुखी होकर, पर्वत रूप अहंकार (अज्ञान) का उच्छेद कर देता है। और तब वह गगन-मार्ग से ऊर्ध्वमुखी

१.—तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली (पहला भाग), पृ० १३५

होता रहता है। उस अवस्था में गाय रूप सुरति (सुरभि) साधना के सूक्ष्म मार्ग का अवलोकन कर लेती है। फलतः नित्यप्रति वह उसी मार्ग पर आती जाती है अर्थात् तल्लीन बनी रहती है। उलटवास के विचार-काल में हिरण स्वभाव वाला मन, अन्तर्मुखी होकर, दूर्वा रूप साधना जन्य तृप्ति का आस्वाद लेता रहता है। और सूक्ष्मचित्त उसी मार्ग का नित्य प्रति आवर्त्तन करता रहता है। समाधि-काल में गगन रूप ब्रह्मरन्ध्र से नीर रूप अमृत की वर्षा होती रहती है। और उस आनन्द की अवस्था में चकवा रूप चित्त विभोर बना रहता है। प्रबुद्ध जीवात्मा के शब्दों में तुलसी साहब कहते हैं कि हे सखि, शरीर के भीतर ही तू उक्त ज्ञानावस्था का भावन कर। फलतः प्रिय रूप परमात्मा की प्राप्ति हो जायगी। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो सकेगा।

विशेष —उक्त पद में प्रकृति विरोधी, धर्मविरोधी प्रतीक रूप उपमानों की योजना से साधक की हठयौगिक साधना की सिद्धि अथवा विचार-काल में बुद्धि की सूक्ष्मता की ओर संकेत मिलते हैं।

उदाहरण-२ — 'जुग जुग देखैं खेत में काला बैल जुताय ॥
काला बैल जुताय जाय घर अपने नाहीं।
मालिक करै अवाज फेर करि चितवै नाहीं ॥
ऐसा बड़ा अयान ज्ञान मन में नहिं लावै।
उलटि चलै असमान आदि घर अपना पावै ॥
तुलसी ततमत चीन्ह कर गति मति भिन्न लखाय।
जुग जुग देखैं खेत में काला बैल जुताय ॥'[1]

सांकेतिक व्याख्या—उक्त उलटवाँसी मूलक कुंडलिया छन्द में, विभिन्न कर्मों के बोझ से लदे हुए वहिर्मुखी और तामस वृत्तियों वाले तथा जन्मान्तरों से अनेक कर्मों के जुए के नीचे विचारहीन होकर जुते रहने वाले बैल रूप मन की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कथन है। प्रयोक्ता तुलसी साहब इस कथन के माध्यम से सांसारिक लोगों को उपदेश देते हैं कि, अरे लोगों, तुम क्या देखते नहीं हो कि काला बैल युगों तक खेत में जुतता रहता है। अर्थात् अपनी तामसवृत्तियों के कारण मन को संसार रूपी खेत में कर्मों का बोझ लादना पड़ता है। यद्यपि अन्तःकरण की आवाज़ या ज्ञान-स्वर के रूप में मालिक-परमात्मा उसे अपनी ओर बुलाने का संकेत करता है। परन्तु वह अपने अज्ञान जन्य अहंकार के कारण उसकी ओर उन्मुख भी नहीं हो पाता। अर्थात् अन्र्मुखी होकर साधना-मार्ग पर अग्रसर नहीं होता। वह अपने कर्मों के बोझ से ऐसा विमूढ़ बना रहता है कि ज्ञान-वृत्ति का प्रवेश उसमें नहीं हो पाता। ज्ञान-पथ पर अग्रसर होने अथवा वास्तविक घर तक पहुँचने का एकमात्र उपाय है—संसार-क्रम से विपरीत होकर आचरण करना अथवा अन्तर्मुखी होकर हठयोगी-साधना द्वारा त्रिकुटी रूप आकाश की ओर गमन करना। परन्तु वह बैल रूप मन इस प्रकार उलटकर चलने का अभ्यासी नहीं है। तुलसी साहब का

१. —तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली (पहला भाग), पृ० ३४

कहना है कि तात्त्विक अवस्था के समझ लेने पर, अर्थात् आत्म साक्षात्कार कर लेने पर ज्ञान-दशा और भाव-दशा दोनों पृथक्-पृथक् दिखाई देने लगती हैं। पर, विचारपूर्वक इस स्थिति तक न पहुँचने पर, जीवात्माओं के तामस वृत्ति वाले बैल रूप मन खेत रूप संसार या कर्म-चक्र में जुतते रहते हैं।

स्वामी शंकरदास : आपका आविर्भाव काल उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक है। आपकी बानियों के कई संग्रह प्रकाशित हुई हैं, जिनमें एक 'ब्रह्म ज्ञान प्रकाश' 'देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली' से छपा है। विचारों में आप वेदान्त-ज्ञान से अधिक प्रभावित हैं। उक्त संग्रह में अनेक उलटवांसी-पद मिलते हैं, जिनमें विषय और प्रयोग की दृष्टि से नवीनता न होते हुए भी, परम्परा-निर्वाह की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें विरोधमूलक शैली में, अनेक प्रतीकों की योजना के द्वारा साधक की विचार-दशा का चित्रण है—

'उलटा ज्ञान समझ के देखा जद ये मन पतियाया है।
सुनकर अरज जक्त मानता कीड़ी ने हस्ती जाया है॥टेक॥
बूंद मांहि सों सिंधु निकासा मावस में से चन्दा।
मोती में से सीप निकासी, देखत भया अनन्दा॥
जोगी में से मढ़ी निकासी पोटी कर कर धन्दा।
तागा उठ गुदड़ी को सींवे देखत हो शरमन्दा॥
पद को कोई समझे पूरा आपस में आप मिलाया है।
उलटा ज्ञान समझ के देखा जद ये मन पतयाया है॥
तरवर में से बाग निकासा तासे उपजा एक माली।
साह चुरावै अपने धन को चोर करै है रखवाली॥
सर्प में से बम्बी निकासी स्वेत पीत नहीं काली।
तृण अन्दर पाखान समाना कुदरत देख निराली॥
सतगुरु टेर शब्द की देकर स्याबत कर दर्शाया है।
उलटा ज्ञाग समझ के देखा जद ये मन पतयाया है॥'

सन्त शिवदयाल जी : आपका जन्म १८८५ में आगरे में हुआ था। आपने राधा-स्वामी सम्प्रदाय चलाया है। आपके विचारों पर तुलसी साहब (हाथरस वाले) के विचारों की स्पष्ट छाप है। आपकी बानियों का संग्रह 'सारवचन छन्द बन्द' नाम से—'राधास्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग' आगरा से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। आपने उलटवांसी शैली के तथा-कथित रूप को सम्यक् रूप से अपनाया है। इस शैली के माध्यम से आपने साधक की विचार-दशा के, परम्परानुसारेण सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। कथनों में वर्णनात्मकता ही अधिक है। प्रतीक-चयन में भी किसी प्रकार की नवीनता देखने को नहीं मिलती है। प्रयोग की दृष्टि से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

१.—ब्रह्मज्ञान प्रकाश, पृ० १७२-७३

'गुरु अचरज खेल दिखाया। सेते नाम रतन घट पाया ॥
बकरी ने हाथी मारा। गउ कीन्हा सिंह अहारा ॥
चींटी चढ़ गगन समाई। पिंगला चढ़ पर्वत आई ॥
गूंगा सब राग सुनावे। अन्धा सब रूप निहारे ॥
मक्खी ने मकड़ी खाई। भुनगे ने धरन तुलाई ॥
धरती चढ़ वृक्षा बैठी। पक्षी ने पवन चुगाई ॥
जंगल में बस्ती ब्याई। बस्ती सब खिलकत खाई ॥
मूसे से बिल्ली भागी। पानी में अग्नी लागी ॥
कउआ धुन मधुरी बोले। मेंढक अब सागर तोले ॥
मूरख से चतुरा हारा। धरती में गगन पुकारा ॥
राधास्वामी उल्टी गाई। उल्लू को सूर दिखाई ॥'

संकेतार्थ—उक्त शब्द में साधक की विचार-दशा का वर्णन है। ज्ञान-विरह में साधक बाह्य संसार को विपरीत क्रम से देखने लगता है। सत्गुरु घट-मठ में ही आश्चर्य वाला खेल (संसार) का अनुभव करा देता है। उन्हीं की कृपा से साधक को रत्न रूप 'सुरति' की उपलब्धि होती है। संसार-दशा में जो, जीवात्मा की सुरति रूप बकरी दीनता प्रकट करते हुए मिमियाती रहती थी, वही विचार-काल में, गजरूप मनमथ अथवा बहिर्मुखी मन को वशवर्ती करने में समर्थ हो जाती है। इस अवस्था में गऊ रूप सात्विक वृत्ति, सूक्ष्म बुद्धि अथवा सुरति सिंह रूप क्रोध अथवा काल को वशीभूत कर लेती है। चींटी रूप सूक्ष्म बुद्धि अथवा सुरति मेरु शिखर रूप आकाश में अधिष्ठित हो जाती है। अर्थात् शून्य स्वभाव की हो जाती है। अन्तर्मुखी होकर पंगु बना मन पर्वत रूप अहंकार को दबा बैठता है। अथवा ऊर्ध्वमुखी मन पर्वत रूप 'मेरु शिखर' पर अधिष्ठित हो जाता है। मूक वाणी से साधक अनुभूतिकाल में शब्द-ब्रह्म की ध्वनि को प्रकट करने में समर्थ हो जाता है। जो नेत्रेन्द्रिय को बाह्य संसार से उलट कर साधनाभ्यास करता है, वह अलौकिक रूप के दर्शन करने लगता है। विचार-काल में मक्खी रूप वृत्ति अथवा अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति, जो पहले मकड़ी के जाले में फँस जाती थी, मकड़ी रूप माया के जाले को विदीर्ण करने वाली हो जाती है। सूक्ष्म जीवन व्यतीत करने वाले भुनगे रूप साधक ने सूक्ष्म-वृत्ति वाला होकर आकाश या शून्य को ही अपने में समेट लिया है। अन्तर्मुखी साधना की उच्चावस्था में धरती रूप कुंडलिनी (जो अब तक जड़वत् पड़ी थी) सुरति वृक्ष रूप मेरु अशिखर थवा त्रिकुटी स्थान पर अधिष्ठित हो जाती है। और पक्षी रूप मन प्राणायाम के समय पवन का भक्षण करता है। विचार-दशा में साधक सम्पूर्ण सृष्टि या 'बस्ती' को पिण्ड के भीतर ही देख लेता है, जो पिण्ड अब तक बहिर्मुखी लतादिक रूप इन्द्रियों के कारण जंगल रूप बना हुआ था। इस समय साधना की फलावस्था में बाह्य सृष्टि शून्याकार वालों होकर समाप्त हो जाती है। मूषक रूप अन्तर्मुखी सूक्ष्म मन को देखकर बिल्ली रूप दुर्मति अथवा दुष्ट वृत्ति भाग जाती है। ज्ञान-विरह की इस अवस्था

१. —सारवचन छन्द बन्द (दूसरा भाग), पृ० ४५२-५४

में साधक केलिए पानी रूप माया के इस संसार में आग लगी हुई दिखाई देती है। अर्थात् विचारक, ज्ञान-दशा में, नाना कर्मों से लदे हुए संसार को जलता हुआ देखता है। जो मन पहले कउए के समान विष्टा रूप विषय-पदार्थों की ओर दौड़ता रहता था और विषयों का भोग करते हुए अमधुर स्वर बोलता था, वही मन अन्तर्मुखी होकर मधुर शब्द करने लग जाता है। पहले भ्रमावस्था में रहने वाला मेंढ़क रूप मन अपने भ्रम की सीमा में ही उछला कूदा करता था, वही सात्विक और सूक्ष्म होकर ब्रह्माण्ड की नाप-जोख करने में प्रवृत्त हो जाता है। जो मन प्रवृत्ति मार्गी होकर संसार में चतुर कहलाता था, वही अन्तर्मुखी अवस्था में (लोकदृष्टि से) मूर्ख होकर चतुर को हराने में समर्थ हो जाता है और साधक को धरती रूप पिंड में आकाश रूप ब्रह्म अथवा व्यापक तत्त्व की अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार अन्तर्मुखी होकर राधा-स्वामी, विपरीतकरणी के उलटवाँसी पद को गा रहे हैं और उस उलटी अवस्था में उल्लू रूप अन्तर्मुखी साधक को सूर्य रूप ज्ञान अथवा परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं। अर्थात् साधक आत्मसाक्षात्कार कर लेता है।

●

सप्तम अध्याय

उलटवाँसी-पद—काव्यशास्त्रीय परिवेश

उलटवाँसी शैली तथा अलंकार :

उलटवाँसी शैली का आधार—अलंकार कथन की शैली विशेष होते हैं। सन्तों की उलटवाँसियाँ भी एक विशेष ढंग से अनुभूति या विचार को मुखरित करती हैं। अतः इस अर्थ में उलटवाँसी शैली एक अलंकार है, जिसका अलंकार्य साधनात्मक सत्य अथवा कोई विशेष विचार-दशा है। उलटवाँसी का अपना एक शिल्प है, जिसमें कतिपय अलंकारों की सीमा का स्पर्श रहता है; अलंकारों का प्रयोग जिस कौशल की अपेक्षा रखता है, वह उलटवाँसियों में नहीं मिलता, अतः अलंकार प्रयोग की सूक्ष्मताओं की अपेक्षा उलटवाँसी-पदों में नहीं करनी चाहिए। जितने भी अलंकार मिलते हैं वे सहज रूप से ही उलटवाँसी के कलेवर में प्रविष्ट हैं।

उलटवाँसी-पदों में कुछ प्रमुख अलंकार : 'विरोध' उलटवाँसी के अनिवार्य तत्त्व में से एक है। प्रायः विरोधमूलक अलंकार उलटवाँसियों में पाये जाते हैं। उलटवाँसी-पदों में विरोधाभास साधन बन कर आया है। अतः पश्चाद्वर्ती होने पर भी विरोधमूलक अलंकार-वर्ग का विवेचन प्रथमतः किया जा रहा है। इस वर्ग के अतिरिक्त उलटवाँसियों में सादृश्यमूलक, गूढ़ार्थप्रतीति मूलक वर्ग के अलंकारों के उदाहरण भी मिलते हैं।

(क) **विरोधमूलक अलंकार :** इस वर्ग के विरोध या विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, विषम, असंगति, विचित्र, विशेष, व्याघात तथा अधिक अलंकारों का रचना-साम्य उलटवाँसियों में रहता है। 'सम' तथा 'अन्योन्य' इसी वर्ग के होने पर भी, अपनी आकृति-प्रकृति में उलटवाँसी के निकट नहीं पड़ते। उलटवाँसी-पदों विरोधमूलक अलंकारों में से कुछ अलंकारों की शास्त्रीय प्रक्रिया यहाँ प्रस्तुत है—

(१) **विरोधाभास**—आचार्य मम्मट के अनुसार 'विरोध न रहने पर भी (विरोध की प्रतीति कराने वाले) विरुद्ध रूप से वर्णन करना विरोध (या विरोधाभास अलंकार) होता है।'[1] सूत्र की वृत्ति में उन्होंने लिखा है कि वास्तव में अविरोध होने पर भी जो विरोध कथित रहता है वह विरोध होता है।[2] विरोधाश्रित उलटवाँसियों में भी वाच्य का

---

१. 'विरोध : सोऽविरोधोऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।'—काव्यप्रकाश, १०। सूत्र १६६

२. 'वस्तुवृत्तेनाविरोधोऽपि विरुद्धयोरिव यदाभिधानं स विरोध :।'

—काव्यप्रकाश, १०। १६६ (वृत्ति)

विरोध दिखाई देता है। प्रतीक-संकेतों का अर्थ लगते ही उस विरोध का परिहार हो जाता है। उलटवाँसियों में प्रयोक्ता सन्त विरोध को अप्रकृत करके अपने उद्देश्य की सिद्धि करते हैं।[1] उलटवाँसियों में मुखर विरोधाभास के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है।[2] डॉ० रामधन शर्मा का यह कथन, 'कबीर के कूटों में सबसे अधिक महत्त्व उलटवाँसियों का है। वे प्रायः विरोधाभास पर आश्रित हैं, जिनमें विपरीत क्रम और परिस्थितयों में कार्य की उत्पति होती है'[3] कबीर पर ही नहीं उलटवाँसी के सभी प्रयोक्ता सन्तों के विषय में चरितार्थ होता है। उलटवाँसी शैली में विरोधाभास के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१— 'अगनि जु लागी नीर में कंदू जलिया झारि।
उतर दखिन के पंडिता रहे विचारि बिचारि॥'[4]

'अगनि' का स्वभाव दहनशील है और 'नीर' का आर्द्र। ये दोनों विरोधी स्वभाव के है। नीर में अग्नि का लगना सम्भव नहीं। जैसे ही प्रतीक-संकेतों के बल पर साधक की विचार-दशा के पक्ष में अर्थ किया जाता है, विरोध का स्वतः परिहार हो जाता है। उस समय 'नीर' हृदय का प्रतीक होकर उसमें ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने और 'कंदू' रूप अन्तस् की दुष्प्रवृत्तियों के समाप्त होने का संकेत मिलता है।

उदाहरण-२—'कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष बिचषन नारी॥
बैल बियाइ गाइ भई बाँझ, बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ॥
मकड़ी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरइया॥
नित उठि स्याल स्यंघ सूँ झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥'[5]

इस पद में बैल, गाइ बछरा, आदि जातिवाचक शब्दों के प्रसवत्व, वन्ध्यात्व और दुग्धत्व आदि जो गुण बताए हैं, उनमें 'जाति' का गुण के साथ विरोध है। मास के साथ चील्ह का रक्षा-कर्म, मींढक का सांप के द्वारा पहरा देना आदि में जाति का क्रिया-विरोध है। स्याल का स्यंघ के साथ जूझना में 'जूझना' क्रिया का तथा स्याल और स्यंघ इन जाति वाचक शब्दों के साथ जातिगत विरोध है। परन्तु जैसे ही इन प्रतीकात्मक शब्दों का,

---

१. 'संतों का उद्देश्य विरोधाभास को अप्रकृत करके उसके अन्तर्निहित महान् अर्थ को प्रकृत बनाना है।' —हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३५
२. 'संतों ने विरोधाभास अलंकार का आश्रय लेकर आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा तत्त्वों एवं दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।'
—हिन्दी सन्त-साहित्य, पृ० १२२
३. —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० ८६
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३
५. —[कब]ीर ग्रंथावली, पृ० ११३

प्रसंग-पूर्वक अर्थ लगाया जाता है, वैसे ही विरोध समाप्त हो जाता है। इस विरोध के परिहार के लिए 'नगरि' को मानव-शरीर और 'पुरिष' एवं 'नारि' को मन तथा मनसा का प्रतीक मान लेने पर कथन के विरोध को एक निश्चित दिशा मिल जाती है। उस समय 'स्याल' जीव और 'स्यंघ' काल के प्रतीक हो जाते हैं। संसार-चक्र में पड़े हुए जीव को अपनी स्थिति में सुधार करने, अमरत्व पद पाने केलिए नित्यप्रति या प्रत्येक जीवन में सुधार करने (अमरत्व पद पाने केलिए नित्यप्रति या प्रत्येक जीवन में) केलिए प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु मानव-शरीर की विषमता के कारण वह कृतकार्य नहीं हो पाता। इस वैषम्य के कारण विविध संस्कारों से लदा हुआ 'बैल' सदृश सदोष मन नाना प्रकार की सृष्टि करता रहता है। सात्विक बुद्धि वन्ध्या गाय के समान निष्क्रिय हो जाती है। फलतः इन्द्रियों से मनमाना दोहन किया जाता है। इस दुर्व्यवस्था के कारण मापी (मनसा) मकड़ी (माया) के घर की मालकिन बन जाती है और 'चीलह' के समान मलिनवृत्ति होते हुए भी उपलब्ध मास (विषयों) की रक्षा में दत्तचित्त रहती है। बिल्ली रूप दुर्मति नाव जैसी बन जाती है और चूहा रूप मन केवट के समान खेने का दम्भ करता है। उसके निकट संशय रूपी सर्प पहरा देता है, फिर भी वह मेंढक के समान आलस्य में पड़ा रह कर सुख की नींद सोने का ढोंग करता है।'[1] इस रहस्य को विरला जन ही समझ पाता है और समझने पर इसका दृष्ट विरोध समाप्त हो जाता है। विरोधाभास के के कुछ और उदाहरण देखिए—

कबीरदास— 'अवधू ऐसा ग्यान बिचारं।
भेरे चढे सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं॥'[2]

सुन्दरदास— 'कीडी कुंजर कों गिले स्याल सिंह कों षाइ।
सुन्दर जल की माछली दौरि अग्नि में जाइ॥'[3]

दरिया साहब— 'बूंद के माहीं समुंद समाना, राई में परबत डोलै।
चींटी के माहीं हस्ती बैठा, घट में अघटा ओलै॥
कूंडा माहीं सूर समाना, चँद्र उलट गया राहू।
राहु उलट कर तार समाना, भौम में गगन समाऊ॥'[4]

(उक्त उदाहरण में विरोध के परिवेश में 'अधिक' अलंकार सजीव हो उठा है।)

पलटू साहब— 'महुवा में लागा दाख भांग में भया लुबाना।
सांप के बिल के बीच जाय के मूस लुकाना॥
पलटू संत बिबेकी बुझि हैं सबद सम्हार।
गंगा पाछे को बही मछरी चढ़ी पहार॥'[5]

१. —कबीर साहित्य की परख, पृ० १७७
२. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४७
३. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), अंग २०, साखी ४
४. —दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४४
५. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७५

तुलसी साहब— 'देखा अचरज भाई रे, कहूँ कहा न जाई ।।टेक।।
धरती घुमर गरज जल बरषा, बादर भींज बहाई ।
तुलसी चन्द्र चलै पानी में, मछरी अकास अन्हाई रे ।।'[1]

(२) **विभावना**—'क्रिया अथवा कारण का निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति होने पर विभावना (अलंकार) होता है ।'[2] अर्थात् हेतु रूप 'क्रिया' (कारण) का निषेध अथवा अभाव होने पर फल की (कार्यरूप फल की) प्राप्ति विभावना है । इस अलंकार के मूल में 'अभेद अध्यवसाय' रहता है, जिसमें आरोप के विषय को न कहकर केवल आरोप्यमाण का उल्लेख किया जाता है । कबीर आदि सन्तों की उलटबाँसियों में जहाँ प्राणों के बिना सांस लेना; बिना बस्ती का देश; बिना पिण्ड का पुरुष; बिना जल के भारी बूँद का गिरना; बिना बादल के बिजली चमकना; बिना सीपी के मोती उत्पन्न होना आदि कथनों में विभावना का चमत्कार दिखाई देता है । गोरखनाथ के निम्नलिखित उलटबाँसी-पद में विभावना देखी जा सकती है—

उदाहरण-१—'बूझौ पंडित ब्रह्म गियानं, गोरष बोलै जाण सुजानं ।।टेक।।
बीज बिन निसपती मूल बिन बिरषा पान फूल बिन फलिया ।
बाँझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।।
गगन बिना चंद्रम ब्राह्मांड बिन सूरं, झूझ बिन रचिया थानं ।
ए परमारथ जे नर जांणें, ता घटि परम गियानं ।।'[3]

'बीज बिन निसपती, मूल बिन बिरषा' में अकारण से कार्य की उत्पत्ति होने में 'चतुर्थ विभावना',[4] बाँझ होने पर भी बालूड़ा; प्यंगुल होने पर भी तरवरि पर चढ़ना, गगन न होने पर भी चन्द्र का चमकना; ब्राह्मांड के न होते हुए भी सूर्य के होने में प्रतिबन्धक कारण के रहते हुए भी, कार्य-कथन में 'तृतीय विभावना'[5] है । विभावना में सदा बीज रूप में विरोध रहता है । उसका परिहार करने पर ही चमत्कार घटित होता है । उक्त पद में भी 'बीज बिन निसपती' अर्थात् सृष्टि-मूल और पांन फूल बिन फलने वाला वृक्ष अर्थात् संसार; बाँझ का बालूड़ा अर्थात् आसक्त बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान; प्यंगुल अर्थात् मन आदि अर्थ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है । विभावना के उदाहरण के रूप में गोरखनाथ के पद से प्रभावित कबीर का निम्न पद उल्लेखनीय है—

---

१. —तुलसी साहिब (हाथरस वाले की) शब्दावली (पहला भाग), पृ० १३६
२. 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।' —काव्यप्रकाशः, १० । सूत्र—१६२
तथा 'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।' —साहित्य दर्पण, १० । ६६
३. —गोरख-बानी, पृ० १०८
४. 'अकारणात् कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना' —कुवलयानन्दः, ३४ । ८०
५. 'कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबन्धके ।' —कुवलयानन्दः, ३४ । ७९

उदाहरण-२—'बाँझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पांऊं तरवरि चढ़िया।
बीज बिन अंकुर पानि बिन सरवर बिन साखा तरवर फलिया।।
रूप बिन नारी पुहुप बिन पूजा, बिन पांखा भंवर बिलंबिया।
सूरा होइ जु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया।।'[१]

उक्त पद में तीसरी और चौथी विभावना के अतिरिक्त 'बांझ का पूत बाप बिन जाया' कथन में विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति बताने में 'पंचम विभावना'[२] है। विभावना के कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं—

दादूदयाल— 'दह दिसि दीपक तेज के बिन बाती बिन तेल।'[३]

यहाँ कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होने से 'प्रथम-विभावना'[२] है।[४]

यारी साहब— 'बिरहिन मंदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उंजियार।।'[५]

'चांद बिना जहं चांदनी रे, दीपक बिना जगमग जोती।
गगन बिना दामिनि देखो, सीप बिना सागर मोती।।'[६]

चरनदास— 'कोटि चंद सूरज उजियारी रवि ससि पहुँचत नाहीं।
बिना सीप मोती अनमोलक, बहु दामिनि दमकाहीं।।
बिन ऋतु फूल फूले रहत हैं, अमृत रस फल पागे।
पवन गवन बिन पवन बहुत है, बिन बादर झरि लागे।।'[७]

पलटू दास— 'बिन हाथ से ताल मृदंग बाजै, बिन जंत्री जंत्र बजावता है।
पलटू बिन कान से हम सुना, बीना कोई सकस बजावता है।'[८]

(३) विशेषोक्ति—सम्पूर्ण कारणों के रहने पर भी फल का न कहना विशेषोक्ति है।

---

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४०
२. 'विरुद्धात् कार्यसंपत्तिर्हष्टा काचिद्विभावना' —कुवलयानन्दः, ३४। ८१
अर्थात् जहाँ विरोधी कारण (कारण के ठीक विरोधी तत्त्व) से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय।
३. —दादूदयाल की बानी (भाग १), पृ० ५४
४. 'विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।' —कुवलयानन्दः, ३४। ७७
अर्थात् जहाँ प्रसिद्ध कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाए।
५. —यारी साहिब की रत्नावली, पृ० १
६. —यारी साहिब की रत्नावली, पृ० १६
७. —चरनदास जी की बानी (पहला भाग), पृ० ६
८. —पलटू बानी (भाग २), पृ० २७

अर्थात् कारण की समग्र शक्तियों के उपस्थित रहने पर भी फल-प्राप्ति न होने का कथन 'विशेषोक्ति' अलंकार है।[1] गोरखनाथ की निम्नलिखित 'सबदी' में विशेषोक्ति है। देखिए—

उदाहरण-१— 'अमावस कै घरि झिलमिलि चंदा, पूनिम कै घरि सूरं।
नाद कै घरि ब्यंद गरजै, वाजंत अनहद तूरं॥'[2]

चन्द्र के होने पर 'अमावस' तथा पूर्णिमा के घर में सूर्य की उपस्थिति होने में, विशेषोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार कबीर का निम्न पद है—

उदाहरण-२— 'अवधू कांमधेनु गहि बांधी रे।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आधी रे॥
जौ ब्यावै तो दूध न देई, ग्यामण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरीं त्यूं दरवै॥'[3]

यहाँ कामधेनु को गहि बांधने, ब्याने, ग्याभण रहने, घेर जाने के रूप में कारण विद्यमान हैं, फिर भी सम्बन्धित तत्सम्बन्धी कार्यों का अभाव है। और उनके स्थान प भांडा भंजन करना, दूध न देना, अमृत स्रवित करना तथा मारने दौड़ना आदि अन्य का हो रहे हैं। इसी प्रकार जल के बीच में मीन का प्यासी रहना, सिंह के खड़े रहने पर गाय चराई जाना, दो-दो दीपक जलाये जाने पर भी मंदिर में अंधेरा रहना[4] आदि कथ विशेषोक्ति मूलक हैं। अन्य सन्तों के उलटबाँसी-पदों में विशेषोक्ति के कुछ उदाहर प्रस्तुत हैं—

धनी धरमदास—'आगे चलूं पंथ नहिं सूझै, पाछे परै न पांव।
ससुरे जाउँ पिया नहि चीन्है, नैहर जात लजाउँ॥'[5]

दादूदयाल— 'अवधू कामधेनु गहि राखी।
वसि कीन्हीं तब अमृत सरवै, आगैं चारि न नाखी॥
ज्यों ज्यों षाण पड़ै त्यों बूझै, मुकती मेल्या मारै।
घाटा रोकि घेरि घर आणे, बांधी कारज सारै॥'[6]

---

१. 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र-१
'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।' —साहित्य दर्पण, १०।
२. —गोरख बानी, पृ० २०
३. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १३७ (पद १५२)
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३ (पद ८१)
५. —धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० १४
६. [illegible]

उक्त उदाहरण में बसि कीन्हें पर अमृत स्रवित करना, पाण पड़ने पर दूभना, मारे जाने पर मुक्ति दिलाना, बँधी हुई होने पर कार्य सम्पन्न करने में अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति है। कुछ और उदाहरण—

सुन्दरदास— 'कुंजर कौं कीरी गिलि बैठी सिंघहि पाइ अघानो स्याल।
मछरी अग्नि माँहि सुख पायौ जल में हुती बहुत बेहाल॥
पंगु चड्यौ पर्वत के ऊपर मृतकहिं देखि डरानो काल।
जाको अनुभव होइ सु जाने सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल॥'[1]

इस सवैया की प्रथम तीन पंक्तियों में अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति है।

जगजीवन साहब—'साधो इक बासन गढ़ै कुम्हार।
अग्नि उठाय निकासत पानी, रचि रंगि रूप संवार॥'[2]

पलटू साहब— 'खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान।
जोरू गावै तान फिरा अहिबात हमारा॥
झूठ सकल संसार माँग भरि सेंदुर धारा।
हम पतिवरता नारि खसम को जियतै मारी।
वाकौ मूड़ौं मूड़ सरबर जो करै हमारी॥'[3]

उक्त उदाहरणों में 'विशेषोक्ति' अलंकार के बल पर चमत्कार की अभिवृद्धि हुई है। 'हिरदै भीतर दव जलै धुवाँ न परगट होय' जैसे कथन सन्तों की वाणी में सम्प्रेषणीयता की अभिवृद्धि करते हैं।

(४) **विषमालंकार**—'कहीं अत्यन्त वैधर्म्य के कारण उनका न बनना प्रतीत हो, कर्त्ता को (अपनी) क्रिया के फल की प्राप्ति न हो और उल्टा अनर्थ हो जाय, कार्य के गुण और क्रिया के कारण के गुण तथा क्रिया का क्रमशः वैपरीत्य हो, वह 'विषम' अलंकार होता है।'[4] इस बात को और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'यदि कार्य और कारण के गुण और क्रियायें परस्पर विरुद्ध हों अथवा आरम्भ किया हुआ कार्य तो पूरा न हो, प्रत्युत् कुछ अनर्थ आ पड़े, अथवा दो विरूप पदार्थों का मेल हो तो वहाँ 'विषम' अलंकार होता है।'[5] उलटवाँसी मूलक कथनों में कार्य के गुण और क्रिया से

---

१. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), (अंग २२)
२. —जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ४२
३. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७३ तथा ७५
४. 'गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः॥' —काव्यप्रकाशः, १०। १२७
५. 'गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः॥
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्॥' —साहित्यदर्पणः १०। ७०

अर्थात् कारण की समग्र शक्तियों के उपस्थित रहने पर भी फल-प्राप्ति न होने का कथन 'विशेषोक्ति' अलंकार है।[1] गोरखनाथ की निम्नलिखित 'सबदी' में विशेषोक्ति है। देखिए—

उदाहरण-१— 'अमावस कै घरि झिलमिलि चंदा, पूनिम कै घरि सूरं।
नाद कै घरि ब्यंद गरजै, वाजंत अनहद तूरं॥'[2]

चन्द्र के होने पर 'अमावस' तथा पूर्णिमा के घर में सूर्य की उपस्थिति होने में, विशेषोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार कबीर का निम्न पद है—

उदाहरण-२— 'अवधू कांमधेनु गहि बांधी रे।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आधी रे॥
जौ ब्यावै तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूँ घेरौं त्यूँ दरवै॥'[3]

यहाँ कामधेनु को गहि बांधने, व्याने, ग्याभण रहने, घेर जाने के रूप में कारण विद्यमान हैं, फिर भी सम्बन्धित तत्सम्बन्धी कार्यों का अभाव है। और उनके स्थान पर भांडा भंजन करना, दूध न देना, अमृत स्रवित करना तथा मारने दौड़ना आदि अन्य कार्य हो रहे हैं। इसी प्रकार जल के बीच में मीन का प्यासी रहना, सिंह के खड़े रहने पर भी गाय चराई जाना, दो-दो दीपक जलाये जाने पर भी मंदिर में अंधेरा रहना[4] आदि कथन विशेषोक्ति मूलक हैं। अन्य सन्तों के उलटवाँसी-पदों में विशेषोक्ति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

धनी धरमदास—'आगे चलूँ पंथ नहिं सूझै, पाछे परै न पाँव।
ससुरे जाउँ पिया नहिं चीन्है, नैहर जात लजाउँ॥'[5]

दादूदयाल— 'अवधू कामधेनु गहि राखी।
बसि कीन्हीं तब अमृत सरवै, आगैं चारि न नाखी॥
ज्यों ज्यों षाण पड़ै त्यों बूझै, मुकती मेल्या मारै।
घाटा रोकि घेरि घर आणे, बाँधी कारज सारै॥'[6]

---

१. 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र-१६३
'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।' —साहित्य दर्पण, १०। ६७
२. —गोरख बानी, पृ० २०
३. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १३७ (पद १५२)
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ११३ (पद ८१)
५. —धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० १४
६. —दादूदयाल की बानी (भाग २), पृ० ३०

कारण के गुण तथा क्रिया का वैपरीत्य अधिक दिखाई देता है। कुछ उदाहरण देखिए—

उदाहरण-१— 'अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति अंतरि प्रकटै, लागै प्रेम धियान॥
आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पांणीं को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥'[1]

इसमें 'अनहद बाजने और नीझर झरने' रूप कारण तथा 'ब्रह्म गियान' रूप कार्य में कारण तथा कार्य के गुण में वैपरीत्य है। इसी प्रकार आकाश की ओर मुख वाला 'औंधा कुवाँ' तथा पाताल में 'पनिहारी' के कथन में दो विरूप पदार्थों का मेल है। यहाँ सम्बन्ध रूप में विवक्षित दो पदार्थों की विलक्षणता के कारण परस्पर अनुपपन्नता प्रतीत हो रही है। अतः 'विषम' अलंकार है।

उदाहरण-२— 'कपरा धोवी कों गहि धोवै माटी बपुरी घरै कुम्हार।
सुई विचारी दरजिहि सीवै सोना तावै पकरि सुनार॥
लकरी बढ़ई कों गहि छीलै षाल सु वैठी धवै लुहार।
सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी जो कोउ याकों करै विचार॥'[2]

उक्त सवैया की प्रथम तीन पंक्तियों में सम्बन्ध रूप से विवक्षित दो पदार्थों की, उनकी विलक्षण स्थिति के कारण, परस्पर अनुपपन्नता दिखाई देती है। यहाँ 'कपरा' के द्वारा 'धोवी' को धोये जाने में दोनों के विलक्षण होने से उनका सम्बन्ध अनुपपन्न-सा प्रतीत हो रहा है।

(५) **असंगति**—'जहाँ कार्य-कारणभूत दो धर्मों की भिन्न देशतया और एक साथ प्रतीति हो, वहाँ असंगति (अलंकार) होता है।'[3] लक्षण की वृत्ति में आचार्य मम्मट ने लिखा है कि 'लोक में जिस स्थान पर कारण होता है, उसी स्थान पर कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे धूमादि। परन्तु जहाँ कार्य-कारण भूत दो धर्मों की, किसी विशेषता के कारण, भिन्न देश में अथवा एक साथ प्रतीति होती है, वहाँ उन दोनों की स्वभाव जन्य परस्पर संगति के त्याग देने से असंगति होती है।' उलटवाँसियों में लोक-व्यवहार सम्बन्धी असंगतियों का कथन है, जिनमें 'कारण कहीं और कार्य कहीं तथा अन्यत्र किये जाने योग्य कार्य को अन्यत्र किये जाने में, कार्य-कारण सम्बन्धी विरोधी प्रवृत्ति के रूप में असंगति अलंकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। देखिये—

---

२. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १६

२. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), पृ० ५२३

३. 'भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः॥' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र-१६१

उदाहरण-१—'गिगनि मंडल में गाय बियाई कागद दही जमाया।
छाछि छांणि पिंडता पीवीं सिधां माषण पाया॥'[1]

इस उदाहरण में कार्य-कारणभूत दो धर्मों की भिन्न देश में एक साथ प्रतीति हो रही है। गाय के 'वियाने' का कोई-न-कोई स्थल होता है, शून्य या आकाश नहीं हो सकता, परन्तु यह 'गाय' आकाश-मण्डल में बियाई है। फलतः कार्य रूप दही का जमाना भी आकाश में ही होना था, परन्तु उसके स्थान पर 'कागद' पर दही जमाया गया है। उस आकाश में बियाई हुई धेनु से प्राप्त मक्खन को 'पण्डित' लोग अपने कौशल से खाते थे। लेकिन उन्हें तो छाछि पीने को मिली और नवनीत का भोग सिद्धों ने लगाया। जहाँ कार्य-कारण भूत दो धर्मों की भिन्न देशतया एक साथ प्रतीति हो रही है। साथ ही गाय, कागद, पण्डित प्रयोगों में उनकी स्वभावजन्य संगति छूट गई है, अतः असंगति अलंकार है। इसी प्रकार कुछ और उदाहरण हैं—

उदाहरण-२— 'आंगणि बेलि अकास फल, अणब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बांझ का पूत॥'[2]

इसमें 'वेलि' की स्थिति 'आंगणि' में बताई है, फल आकाश में। अतः कार्य-कारण भूत दो धर्मों की भिन्न देशतया और एक साथ प्रतीति हो रही है। अतः असंगति अलंकार है।

पलटू साहब— 'हींग लगाइस भात में भूल गई है नार॥
लहँगा पाछे जरै चूल्ह में पानी नावा।
हँसिया को है ब्याह गीत खुरपा के गावा॥
देय महावर आंख गोड़ में काजर लावै।
ऐसी भोली नारि ताहि को को समझावै॥'[3]

यहाँ 'लहँगा पीछे जलने पर पानी भी पीछे ही पड़ना चाहिए था; जिसका विवाह हो उसी के गीत गाने चाहिए थे; इसी प्रकार महावर पैर में और काजल आँख में लगाया जाता है, परन्तु जहाँ लहँगा के पीछे जलने पर पानी चूल्हे में डालने; हँसिया के ब्याह में गीत खुरपा के गाने; महावर आँख और काजल गोड़ में लगाने का कथन है। अतः किसी विशेष स्थान पर करणीय कार्य को वहाँ न करके दूसरे स्थान पर करने में अथवा विरुद्ध कार्य करने के कारण असंगति अलंकार है।[4] उलटबाँसियों में असंगति अलंकार की योजना के

---

१. —गोरख-बानी, ६६
२. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ८६
३. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० १०६
४. 'अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा॥'—कुवलयानन्दः, ३७।८६

सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि असंगति प्रधान उलटवाँसियी-पदों में दूर की सूझ, वर्णन क्षमता, अद्‌भुत तत्त्व का सन्निवेश है।

(६) विचित्र अलंकार—'अपने अभीष्ट की प्राप्ति केलिए, उसके विरुद्ध अनुष्ठान किये जाने पर, विचित्र अलंकार होता है।'[१] अथवा 'किसी फल की इच्छा से कोई प्रयत्न किया जाय, परन्तु फल की प्राप्ति इच्छा के विपरीत हो, वहाँ विचित्र अलंकार होता है।'[२] उलटवाँसियों में साधक की विचार-दशा अथवा जीव की भव-दशा के वर्णन में विचित्र अलंकार के उदाहरण मिलते हैं। देखिए—

उदाहरण-१— **'बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।**
उलटे धनिक पारधी मारयौ यहु अचरज कोइ बूझै॥'[३]

उदाहरण-२— **'पंछी उड़ा गयौ ऊपर काँ, पानि पानि धुनि लाई।**
पायौ पानी बुन्द चोंचतें तिरपति प्यास न जाई॥'[४]

उदाहरण-३— **'खसम परयौ जोरू के पीछे कह्यौ न माने भौंडी रांड।**
जित तित फिरै भटकती यों ही तैं तो किये जगत में भांड॥
तौ हू भूष न भागी तेरी तूँ गिलि बैठी सारी मांड।
सुन्दर कहै सीष सुनि मेरी अब तू घर-घर फिरबौ छांड॥'[५]

उक्त उदाहरणों में सब जग को देखने केलिए गुफा में बैठना, चोंच से पानी पिये जाने पर भी तृप्ति न होना; जित तित फिरने तथा सारी माँड गिलि बैठने पर भी भूख न भागने में विचित्र अलंकार है।

(७) विशेषालंकार—'लोक प्रसिद्ध आधार के विना किसी आधेय की स्थिति, एक पदार्थ की एक ही रूप से अनेक जगह एक साथ उपस्थिति अन्य कार्य को करते हुए उसी प्रकार से किसी अशक्य अन्य वस्तु का उत्पादन रूप में तीन प्रकार का 'विशेष' अलंकार माना गया है।'[६] प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय की विशेष प्रकार की स्थिति का वर्णन उलटवाँसी-पदों में प्रायः मिलता है। कुछ उदाहरण देखिए—

---

१. 'विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।' —साहित्यदर्पणः, १०।७२
२. विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया।' —कुवलयानन्दः, ४०।६४
३. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४२
४. —जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ६४
५. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), पृ० ५६३
६. 'विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेक गोचरा॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्य वस्तुनः।
तथैव कारणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः॥' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र २०३

उदाहरण-१— 'पुहुप माँहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरैं ।।
प्रगटी वास वासना धोइ कुल प्रगट्यो कुल घाल्यौ खोइ ।।
उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहिं मिली ।।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौं गहै ।।'[१]

उदाहरण-२— 'है कोई जगत गुरु ग्यांनीं, उलटि वेद बूझै ।
पांणीं में अगनि जरै, अंधेरे कौं सूझै ।।'[२]

उदाहरण-३— 'इक कूप गगन के बीच यारी, जहँ सुरतिकी डोर लगावता है ।'[३]

'अग्नि' आधेय का मुख्याधार काष्ठ है और किसी न किसी सुवासित वस्तु से ही 'वास' की स्थिति सम्भव है। धरती का आधार पृथ्वी है और रूप की स्थिति प्रकाश में ही सम्भव है। उक्त उदाहरणों में अग्नि आधेय को पुहुप तथा पांणीं में, गंगा की दिशा मेरू की ओर, धरती (अपना मुख्य गुण स्थिरता को छोड़ कर) आकाश की ओर बताई है और अंधकार में रूप की स्थिति बताई है तथा कूप आधेय का आधार स्थल न बता कर गगन बताया है। अतः इनमें पहले प्रकार का 'विशेष' अलंकार है।

(८) अधिक अलंकार—'महान् आधेय और आधार के क्रम से आधार के आधेय से छोटे होने पर भी (वर्णनीय वस्तु के उत्कर्षबोधन केलिए) महान् दिखलाया जाय, तो वह 'अधिक' (अलंकार) होता है।'[४] इस अलंकार में दो विरूप वस्तुएँ भी आधार आधेय सम्बन्ध से जुड़ी रहती हैं। जिन उलटवाँसी मूलक स्थानमें पिण्ड में ब्रह्माण्ड, विन्दु में सिन्धु सामने आदि के कथन हैं, वहाँ 'अधिक' अलंकार के दर्शन होते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१— 'चींटी केरा नेत्र में गज्येंद्र समाइला ।
गावड़ी के मुल में बाघला बिवाइला ।।'[५]

उदाहरण-२— 'जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि न्हाइ ।
देवल बूढ़ा दलस सूँ, पंषि तिसाई जाइ ।।'[६]

उदाहरण-३— 'बुंदहि माँहिं समुद्र समानौ राई माँहिं समानो मेर ।
पानी माँहिं तुंबिका बूड़ी पाहन तिरत न लागी बेर ।।'[७]

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० २००
२. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४१
३. —पलटू साहब की बानी (दूसरा भाग), पृ० २६
४. 'महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ।।'—काव्यप्रकाशः, १० सूत्र १९५
'अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्य वर्णनम् ।' —कुवलयानन्दः, ४१।९५
५.— गोरख-बानी, पृ० १२९
६. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १७
७. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), अंग २२

सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि असंगति प्रधान उलटवाँसियी-पदों में दूर की सूझ, वर्णन क्षमता, अद्भुत तत्त्व का सन्निवेश है।

(६) विचित्र अलंकार—'अपने अभीष्ट की प्राप्ति केलिए, उसके विरुद्ध अनुष्ठान किये जाने पर, विचित्र अलंकार होता है।'[१] अथवा 'किसी फल की इच्छा से कोई प्रयत्न किया जाय, परन्तु फल की प्राप्ति इच्छा के विपरीत हो, वहाँ विचित्र अलंकार होता है।'[२] उलटवाँसियों में साधक की विचार-दशा अथवा जीव की भव-दशा के वर्णन में विचित्र अलंकार के उदाहरण मिलते हैं। देखिए—

उदाहरण-१— 'बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटे धनिक पारधी मारयौ यहु अचरज कोइ बूझै।।'[३]

उदाहरण-२— 'पंछी उड़ा गयो ऊपर काँ, पानि पानि धुनि लाई।
पायौ पानी बुन्द चोंचलें तिरपति प्यास न जाई।।'[४]

उदाहरण-३— 'षसम पर्यौ जोरू के पीछे कह्यौं न माने भौंडी राँड।
जित तित फिरै भटकती यों ही तै तो किये जगत में भांड।।
तौ हू भूष न भागी तेरी तूँ गिलि बैठी सारी मांड।
सुन्दर कहै सीष सुनि मेरी अब तू घर-घर फिरबौ छाँड।।'[५]

उक्त उदाहरणों में सब जग को देखने केलिए गुफा में बैठना, चोंच से पानी पिये जाने पर भी तृप्ति न होना; जित तित फिरने तथा सारी माँड गिलि बैठने पर भी भूख न भागने में विचित्र अलंकार है।

(७) विशेषालंकार—'लोक प्रसिद्ध आधार के बिना किसी आधेय की स्थिति, एक पदार्थ की एक ही रूप से अनेक जगह एक साथ उपस्थिति अन्य कार्य को करते हुए उसी प्रकार से किसी अशक्य अन्य वस्तु का उत्पादन रूप में तीन प्रकार का 'विशेष' अलंकार माना गया है।'[६] प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय की विशेष प्रकार की स्थिति का वर्णन उलटवाँसी-पदों में प्रायः मिलता है। कुछ उदाहरण देखिए—

---

१. 'विचित्रं तद्विरूद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।' —साहित्यदर्पणः, १०।७२
२. विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया।' —कुवलयानन्दः, ४०।६४
३. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४२
४. —जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ६४
५. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), पृ० ५६३
६. 'विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेक गोचरा।।
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्य वस्तुनः।
तथैव कारणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः।।' —काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र २०३

उदाहरण-१— 'पुहुप मांहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै ।।
प्रगटी वास वासना धोइ कुल प्रगट्यो फुल घाल्यो खोइ ।।
उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहि मिली ।।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौं गहै ।।'[1]

उदाहरण-२— 'है कोई जगत गुरु ग्यांनीं, उलटि बेद बूझै ।
पांणीं में अगनि जरै, अंधेरे कौ सूझै ।।'[2]

उदाहरण-३— 'इक कूप गगन के बीच यारो, जहँ सुरतिकी डोर लगावता है ।'[3]

'अग्नि' आधेय का मुख्याधार काष्ठ है और किसी न किसी सुवासित वस्तु से ही 'वास' की स्थिति सम्भव है। धरती का आधार पृथ्वी है और रूप की स्थिति प्रकाश में ही सम्भव है। उक्त उदाहरणों में अग्नि आधेय को पुहुप तथा पांणीं में, गंगा की दिशा मेरु की ओर, धरती (अपना मुख्य गुण स्थिरता को छोड़ कर) आकाश की ओर बताई है और अंधकार में रूप की स्थिति बताई है तथा कूप आधेय का आधार स्थल न बता कर गगन बताया है। अतः इनमें पहले प्रकार का 'विशेष' अलंकार है।

(८) अधिक अलंकार—'महान् आधेय और आधार के क्रम से आधार के आधेय से छोटे होने पर भी (वर्णनीय वस्तु के उत्कर्षबोधन केलिए) महान् दिखलाया जाय, तो वह 'अधिक' (अलंकार) होता है।'[4] इस अलंकार में दो विरूप वस्तुएँ भी आधार आधेय सम्बन्ध से जुड़ी रहती हैं। जिन उलटवाँसी मूलक स्थानमें पिण्ड में ब्रह्माण्ड, विन्दु में सिन्धु सामने आदि के कथन हैं, वहाँ 'अधिक' अलंकार के दर्शन होते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

उदाहरण-१— 'चींटी केरा नेत्र में गजेंद्र समाइला ।
गावड़ी के मुल में वाघला विवाइला ।।'[5]

उदाहरण-२— 'जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि न्हाइ ।
देवल बूड़ा कलस सूँ, पंषि तिसाई जाइ ।।'[6]

उदाहरण-३— 'बुंदहि माँहि समुद्र समानो राई माँहि समानो मेर ।
पानी माँहि तुंबिका बूड़ी पाहन तिरत न लागी बेर ।।'[7]

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० २००
२. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४१
३. —पलटू साहब की बानी (दूसरा भाग), पृ० २६
४. 'महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ।।'—काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र १६५
'अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्य वर्णनम् ।' —कुवलयानन्दः, ४१।६५
५.— गोरख-बानी, पृ० १२९
६. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १७
७. —सुन्दर ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), अंग २२

इनमें चींटी का नेत्र, गावड़ी का मुख, सर, कलस, बुंद, राई आदि को आधेय बना कर उनकी उत्कृष्टता के कारण गज्येन्द्र, बाघला, मैंगल, देवल, समुद्र, मेरूरूप आधारों का वर्णन हैं। यह वर्णन किसी न किसी प्रकार के उत्कर्षबोधन केलिए है, अत: 'अधिक' अलंकार है।

(ख) सादृश्यगर्भ अलंकार :

इस वर्ग के अलंकारों में किसी-न-किसी प्रकार का सादृश्य रहता है। इस वर्ग के रूपक, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, स्मरण निदर्शना, दृष्टान्त, असम्भव आदि अलंकारों के उदाहरण उलटवाँसी-पदों में मिलते हैं।

(१) रूपक—उपमान और उपमेय के अभेद को 'रूपक' कहते हैं।[1] उलटवाँसी-पदों में आनुभूतिक-दशा की अभिव्यक्ति केलिए 'रूपक' का आश्रय लिया गया है। राहुल सांकृत्यायन ने प्राय: सभी उलटवाँसियों को रूपक बताया है।[2] प्राय: सभी उलटवाँसियों में, किसी-न-किसी प्रकार से रूपक तत्त्व का सहारा रहता है। पर, यह रूपक तत्त्व सर्वत्र अलंकार 'रूपक' नहीं है, क्योंकि उनमें वास्तव में 'प्रस्तुत' का निगरण नहीं रहता। उलटवाँसी प्रधान कुछ रूपकों में ही ऐसा देखने को मिलता है।[3] उदाहरण केलिए कबीर के निम्नलिखित पद में रूपकत्व की योजना होते हुए भी 'रूपक' अलंकार का शास्त्रीय कौशल देखने को नहीं मिलता। रूपकातिशयोक्ति के बल पर वर्णित प्रतीकाश्रित रूपक-बन्ध ही है। देखिए—

उदाहरण-१— 'हरि पारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिनि पाये।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, तार्थें जनमि जनमि डहकाये ॥
धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलना गादह नाचै, भैंसा निरति करावै ॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछूएक आनन्द सुनावै ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा ॥'[4]

---

१. 'तद्रूपकमभेदोय उपमानोपमेययो: ।' —काव्यप्रकाश:, १०। सूत्र १३९
२. —कबीर की विचारधारा, पृ० ३५५ से उद्धृत
३. 'जितनी उलटवाँसियाँ हैं, उनमें साधारण तौर से विपरीत-भाव देखने पर भी योगशास्त्रीय परिभाषाओं का ही व्यवहार है। परन्तु यही बात रूपकों के बारे में ठीक नहीं ('रूपक' से यहाँ अलंकार रूपक का विशिष्ट अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ ही लेना चाहिए।) अधिकांश रूपकों में प्रस्तुत अर्थ का निगरण सचमुच ही हुआ है।' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी),—कबीर, पृ० ८५
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० २०६,

परन्तु, उलटवाँसी-पदों ऐसे भी एकाधिक उदाहरण मिलते है, जिनमें 'रूपक' अलंकार का प्रयोग भी मिल जाता है। जैसे -

उदाहरण-२— 'गोव्यंदे तुम्हारे बन कंदलि मेरो मन अहेरा खेलै।
बपु बाड़ी अनगु मृग, रचिहीं रचि मेलै।। टेक।।
चित तरउवा पवन षेदा, सहज मूल बांधा।
घ्यांन धनक जोग करम, ग्यांन बांन सांधा।।'[1]

उक्त उदाहरण में मृगया का सांग रूप में वर्णन है और सचमुच ही प्रस्तुत का निगरण हुआ है, अत: सांगरूपक है। निम्न उदाहरण में काया में कोट का और गढ़ तथा मन में मवास का अध्यवसान है, अत: रूपक अलंकार है।

उदाहरण-३— 'काया कोट छुड़ावै सोई है रजपूत।।
काया-गढ़ के बीच जाय के थाना करना।
मन है बड़ा मवास पकरि कै ठौरै मरना।।'[2]

(२) **अतिशयोक्ति**—अतिक्रान्त अथवा अतिशय उक्ति के रूप में अतिशयोक्ति कथन उलटवाँसी शैली का अनिवार्य तत्त्व है। हिन्दी-साहित्य की उलटवाँसियाँ अतिशयोक्ति अलंकार की शैली पर कही जाने पर भी काव्यशास्त्रीय ढंग की अतिशयोक्ति अलंकार नहीं है।[3] परन्तु उलटवाँसी-पदों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें निगरण पूर्वक कार्य-कारण का व्यतिक्रम या 'पौर्वापर्य'[4] (यह व्यतिक्रम कवि-कौशल जन्य न होकर अयत्नज है।) पाया जाता है। 'जहाँ उपमेय का स्वशब्द से उपादान न किया जाय और उपमान के वाचक शब्द से बोध कराया जाय'[5] वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार होता है। 'पहलें

---

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १५६
२. —पलटू साहेब की बानी (प्रथम भाग), पृ० ४३
३. 'अतिशयोक्ति अलंकार की शैली पर कहे जाने पर भी वे (उलटवाँसी) स्वयं अतिशयोक्ति अलंकार नहीं है। इनमें कुछ का तो तत्तत् शास्त्र में संकेतार्थ निश्चित ही हैं। अर्थात् वहाँ उपमेयोपमान भाव की कल्पना ही नहीं की गई। उदाहरणार्थ जब इड़ा और पिंगला को गंगा और यमुना कहा गया है तो प्रस्तुत गंगा यमुना में (उपमानों) अप्रस्तुत इड़ा-पिंगला के (उपमेय के) अर्थ का निगरण-पूर्वक अध्यवसान नहीं है, जबकि ऐसा होना ही अतिशयोक्ति अलंकार का बीज है।' — कबीर, पृ० ७५
४. 'कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा।।' — काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र १५३
५. 'रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः।' —कुवलयानन्दः, १३।३६
तथा 'विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषय निगरणंतत्पूर्वकं विषयस्य विषयिरूपतयाऽध्यवसानमाहार्यं निश्चयस्तस्मिन्सति रूपकातिशयोक्तिः।' वही, श्लोक वृत्ति

पूत पीछें भई माइ'[1] जैसे कथनों में कार्य-कारण के कालगत व्यतिक्रम से अतिशयोक्ति है।[2] रूपकातिशयोक्ति के अनेक उदाहरण उलटवाँसी-पदों में मिलते हैं।[3] गोरखनाथ के एक उलटवाँसी मूलक पद में कमली, पानी, पडरवा, खूंटा, दमामा, ऊँट, कौआ, पीपल, भूसा, बिलाई, डुकरिया आदि प्रतीक-प्रयोग उपमान कोटि के हैं; क्योंकि, इनके द्वारा उपमेय रूप मानसिक स्थिति की विभिन्न दशाओं का संकेत मिलता है।[4] इसी प्रकार मलूकदास का निम्नपद उपमान रूप प्रतीकों के द्वारा उपमेय रूप साधक की मनोदशा को अभिव्यक्त करने में समर्थ है—

'नैया मेरी नीके चलने लागी।
आंधी मेंह तनिक नहिं डोलै साहु चढ़े बड़भागी।।
अवसर पड़ै तो पर्वत बोझै, तहूं न होवै भारी।
धन सतगुरु यह जुगत बताई, तिनकी मैं बलिहारी।।
कहत मलूक जो बिन सिर खेवै, सो यह रूप बखानै।
या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जानै।।'[5]

(३) **उल्लेख अलंकार**—जहाँ एक ही वस्तु का अनेक व्यक्तियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाय, वहाँ उल्लेख अलंकार होता है।[6] कबीर के निम्न पद में उल्लेख अलंकार की काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मता न होते हुए भी, एक 'नारी' का अनेक व्यक्तियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन है—

'सेजैं रहूं नैन नहीं देखौं, यहु दुख कासौं कहूं हो दयाल।।
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर कै बिरह जरौं हो दयाल।।'[7]

(४) **स्मरण अलंकार**—उस (पहले देखी हुई वस्तु) के समान (दूसरी वस्तु) को

---

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ९१
२. 'कार्य-कारण के कालगत व्यतिक्रम के प्रौढ़ोक्तिमय वर्णन में पाँचवीं (तथा छठी) अतिशयोक्ति होती है; कार्य-कारण के देशगत व्यतिक्रम के प्रौढ़ोक्तिमय वर्णन में असंगति अलंकार होता है।' (डॉ० भोलाशंकर व्यास)
—कुवलयानन्दः (भूमिका), पृ० ६२
३. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ९२;—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ७४
४. —गोरख-बानी, पृ० १४१ (पद-४७)
५. —मलूकदास की बानी, पृ० ३ (शब्द-६)
६. 'क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते।।' —साहित्यदर्पणः, १०।३७
७. —कबीर ग्रंथावली, पृ० १९६

देखकर (अथवा सुनकर) पूर्व के अनुभव के अनुसार वस्तु की स्मृति होना 'स्मरण' (अलंकार) है।[१] उलटवाँसियों में लौकिक सम्बन्धों के आधार पर, सदृश ज्ञान से आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों का निरूपण; किसी 'छपलोक' की स्मृति में कथन 'स्मरण' अलंकार की सीमा में आ जाते हैं। भीखा साहब ने मेघों को देखकर, निरन्तर धधकने वाले आत्म-दर्शक 'शून्य' की स्मृति इन पंक्तियों में की हैं—

'यह तो बादर उठत चहूँ दिसि, दिवसहिं सूर छिपाई।
वह तो सुन्न निरंतर धुधकत, निज आतम दरसाई॥'[२]

(५) **निदर्शना अलंकार**—'जहाँ वस्तु का असंभव-सा अनुपपद्यमान सम्बन्ध परिकल्पित (उपमा में पर्यवसित) होता है, वह 'निदर्शना' (अलंकार) है।'[३] अर्थात् वस्तु में सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की कल्पना करने अथवा वस्तुओं के सम्भव या असम्भव सम्बन्ध में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से निहित होने में निदर्शना अलंकार होता है।[४] कबीर के निम्नलिखित उलटवाँसी-पद में असंभव सम्बन्ध कल्पित है—

'एक अचम्भा ऐसा भया, करणीं थे कारण मिटि गया॥
उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलट अकासहि मिली॥
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कों गहै॥'[५]

(६) **असम्भव अलंकार**—विरोध-मूलक अलंकार है। अलंकार-शास्त्र के प्राचीन लेखकों ने इस अलंकार को पृथक् न मानकर विरोध के अन्तर्गत माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चन्द्रालोक' के लेखक पीयूषवर्षी जयदेव ने इसका उल्लेख सर्वप्रथम किया है। उनके अनुसार लक्षण—'असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेर सम्भाव्यत्वर्णनम्।' (चन्द्रालोक, ५।७६) अर्थात् 'कार्यसिद्धि को (चमत्कार रूप से) असम्भव बताना।'[६] 'जहाँ किसी पदार्थ-विशेष (कार्य विशेष) की उत्पत्ति के विषय में असंभाव्यत्व का वर्णन किया जाय, वहाँ 'असम्भव' अलंकार होता है।'[७]

---

१. 'यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। स्मरणम्।' —काव्यप्रकाशः, १०।१९९
२. —भीखा साहिब की बानी, पृ० ३२
३. 'निदर्शना। अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः।'
—काव्यप्रकाशः, १०। सूत्र-१४९
४. 'संभवन्वस्तु संबन्धोऽसंभवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना॥' —साहित्यदर्पणः, १०।५१
५. —कबीर ग्रंथावली, पृ० २००
६. —हिन्दी साहित्य-कोश (प्रथम भाग), पृ० ७९
७. 'असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्व वर्णनम्।
को वेद गोप शिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति॥' —कुवलयानन्दः, ३६।८४

उलटवाँसी-पदों का अभिधा रूप असम्भव अलंकार की सीमा में आता है। निम्न उदाहरणों में सिंह के द्वारा गाय के चराये जाने में तथा मछली के द्वारा तरुवर पर प्रसूति-कर्म करने, मुर्गे के द्वारा बिल्ली को पकड़कर खाने, गंगा के पीछे बहने, मछली के पर्वत पर चढ़ने, नीर में अग्नि छिपाने के वर्णन में असम्भवत्व विद्यमान है—

'एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंह चरावै गाई ॥
जल की मछरी तरवर व्याई, पकड़ बिलाई मुरगै खाई ॥'[1]

'गंगा पाछे को बही मछरी चढ़ी पहार ॥
मछली चढ़ी पहार चूल्ह में फन्दा लाया ॥
पुखरा भींटे बांधि नीर में आग छिपाया ॥'[2]

(७) अप्रस्तुत प्रशंसा और समासोक्ति—'इन दोनों ही अलंकारों में एक अर्थ वर्णित रहता है जो दूसरे का आक्षेप कराता है। परन्तु अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है और समासोक्ति में प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है।'[3] हिन्दी-साहित्य की सभी उलटवाँसियों में प्रायः अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक साधनात्मक अर्थ द्योतित रहता है। उलटवाँसी-पदों में 'समासोक्ति' अलंकार की सीमा प्रविष्ट नहीं हो पाती, क्योंकि अभिधात्मक अर्थ अपना कुछ महत्त्व नहीं रखता। प्रतीकात्मक अभिधा से प्रयोक्ता का मन्तव्य समझने में संकेत अवश्य मिलते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा केलिए निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'संतानि एक अहेरा लाधा, मिर्गनि खेत सबनि का खाधा ॥
या जंगल में पाँचों मृगा, एई खेत सबनि का चरिगा ॥
कहै कबीर जो पंचों मारै, आप तिरै और कूं तारै ॥'[4]

'फूहरि धोवै दाग छुटै ना और बढ़ावै।
ज्यों ज्यों मलै बनाय सारे लहँगा फैलावै ॥
गाफिल में गइ सोय खसम को दोष लगावै।
ऐसी फूहरि नारि आपको नाहिं बचावै ॥
धोबी को नहिं देइ घरहिं में आप छुड़ावै।
इक बेर दिहिसि निखारि लाज से नाहिं दिखावै ॥
पलटू परदा खोलि आपनो घर घर रोवै।
लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ॥'[5]

---

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ९२
२. —पलटू साहेब की बानी (भाग १), पृ० ७४
३. (आचार्य विश्वेश्वर) —काव्यप्रकाशः, पृ० ४८२
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० २०६
५. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८०

इनमें अहेरा, मृग, खेत, पांच मृग, फूहरि नारि, दाग, लहँगा, खसम, धोबी, पर्दा, साबुन आदि प्रयोग अप्रस्तुत हैं, जिनके पीछे साधनात्मक अथवा विशेष वैचारिक दशा का कथन है। प्रयोक्ता सन्तों का उद्देश्य उक्त अप्रस्तुत प्रयोगों द्वारा उसी आनुभूतिक अवस्था का वर्णन करना प्रमुख है।

(ग) **गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार**—उलटवाँसी-पदों में 'सूक्ष्म' और 'वक्रोक्ति' के उदाहरण भी हैं। उलटवाँसी शैली का स्वभाव सूक्ष्म, तथा गूढ़ोक्ति अलंकारों जैसा ही है, परन्तु जो कौशल इन अलंकारों के लिए चाहिए वह उलटवाँसी-पदों में देखने को नहीं मिलता। 'वक्रोक्ति' में अभिधा वाक्य के श्लेप या काकु के द्वारा दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है।[1] उलटवाँसी-पदों में, प्रयोक्ता का काव्य-कौशल के अभाव में, श्लेप का चमत्कार तो देखने को नहीं मिलता, परन्तु गोपन की प्रवृत्ति होने के कारण श्रोता या पाठक, काकु के बल पर अर्थान्तर की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र रहता है। उलटवाँसियों में 'वक्रोक्ति' का पर्याप्त सहारा रहता है। देखिये—

> 'बस्ती माँहि चमार की बाम्हन करत बेगार ।।टेक।।
> बाम्हन करत बेगार लोग सब गैर-विचारी ।
> मूरख है परधान देहि ज्ञानी को गारि ।।'[2]

उलटवाँसियों में रस :

रस की पृष्ठभूमि और उलटवाँसी शैली की मूलानुभूति—'वाक्यंरसात्मक काव्यम्' के अनुसार वाक्य का रसात्मक होना ही काव्य की कसौटी है। काव्य-रचना में कवि का मुख्य अभिधेय कोई एक रस रहता है, अन्य रस उसी के पोषक या सहायक होकर आते हैं। इस मुख्य रस के परिपाक केलिए प्रबन्ध-काव्य में अधिक अवसर मिलते हैं। मुक्तक-काव्य में इस विशेष रस की अखण्डता का निर्वाह कठिन होता है। सन्तों की वाणी विभिन्न भाव-विचार-दशाओं की अभिव्यक्ति है, जिसमें प्रबन्धात्मकता का निर्वाह नहीं है; परन्तु, उस वाणी की मूल प्रेरणा वैराग्यवृत्ति है, जो 'शम' स्थायी-भाव की अवस्था में भक्ति या 'शान्त रस' में परिसमाप्त होती है।[3] उनकी वाणी में सत्यानुभूति या भावा-

---

१. 'अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ।।' —साहित्यदर्पणः, १०।९

२. —पलटू साहेब की बानी (पहलाभ ाग), पृ० १०३

३. 'शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ।
कुन्देन्दु सुन्दरच्छायः श्रीनारायण दैवतः ।।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिः सारता तु या ।
परमात्म स्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।।
पुण्याश्रम हरिक्षेत्र तीर्थ रम्य वनादयः ।
निर्वेदहर्षस्मरणमति भूतदयादयः ।।
निरहंकार रूपत्वाद्दयावीरादिरेषु नो ।।'

—साहित्यदर्पण :, ३।२४५, ४६, ४७, ४९

उलटवाँसी-पदों का अभिधा रूप असम्भव अलंकार की सीमा में आता है। निम्न उदाहरणों में सिंह के द्वारा गाय के चराये जाने में तथा मछली के द्वारा तरुवर पर प्रसूति-कर्म करने, मुर्गे के द्वारा बिल्ली को पकड़कर खाने, गंगा के पीछे बहने, मछली के पर्वत पर चढ़ने, नीर में अग्नि छिपाने के वर्णन में असम्भवत्व विद्यमान है—

'एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंह चरावै गाई ॥
जल की मछरी तरवर ब्याई, पकड़ बिलाई मुरगै खाई ॥'[1]

'गंगा पाछे को बही मछरी चढ़ी पहार ॥
मछली चढ़ी पहार चूल्ह में फन्दा लाया ॥
पुखरा भींटे बाँधि नीर में आग छिपाया ॥'[2]

(७) **अप्रस्तुत प्रशंसा और समासोक्ति**—'इन दोनों ही अलंकारों में एक अर्थ वर्णित रहता है जो दूसरे का आक्षेप कराता है। परन्तु अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है और समासोक्ति में प्राकरणिक से अप्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है।'[3] हिन्दी-साहित्य की सभी उलटवाँसियों में प्रायः अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक साधनात्मक अर्थ द्योतित रहता है। उलटवाँसी-पदों में 'समासोक्ति' अलंकार की सीमा प्रविष्ट नहीं हो पाती, क्योंकि अभिधात्मक अर्थ अपना कुछ महत्त्व नहीं रखता। प्रतीकात्मक अभिधा से प्रयोक्ता का मन्तव्य समझने में संकेत अवश्य मिलते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा केलिए निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'संतानि एक अहेरा लाधा, मिर्गनि खेत सवनि का खाधा ॥
या जंगल में पाँचों मृगा, एई खेत सवनि का चरिगा ॥
कहै कबीर जो पंचों मारै, आप तिरै और कूँ तारै ॥'[4]

'फूहरि धोवै दाग छुटै ना और बढ़ावै।
ज्यों ज्यों मलै बनाय सारे लहँगा फैलावै ॥
गाफिल में गइ सोय खसम को दोष लगावै।
ऐसी फूहरि नारि आपको नाहिं बचावै ॥
धोबी को नहिं देइ घरहिं में आप छुड़ावै।
इक बेर दिहिसि निखारि लाज से नाहिं दिखावै ॥
पलटू परदा खोलि आपनो घर घर रोवै।
लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ॥'[5]

---

१. —कबीर ग्रंथावली, पृ० ९२
२. —पलटू साहेब की बानी (भाग १), पृ० ७४
३. (आचार्य विश्वेश्वर) —काव्यप्रकाशः, पृ० ४८२
४. —कबीर ग्रंथावली, पृ० २०६
५. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८०

इनमें अहेरा, मृग, खेत, पांच मृग, फूहरि नारि, दाग, लहँगा, तसम, धोबी, पर्दा, साबुन आदि प्रयोग अप्रस्तुत हैं, जिनके पीछे साधनात्मक अथवा विशेष वैचारिक दशा का कथन है। प्रयोक्ता सन्तों का उद्देश्य उक्त अप्रस्तुत प्रयोगों द्वारा उसी आनुभूतिक अवस्था का वर्णन करना प्रमुख है।

(ग) गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार—उलटवाँसी-पदों में 'सूक्ष्म' और 'वक्रोक्ति' के उदाहरण भी हैं। उलटवाँसी शैली का स्वभाव सूक्ष्म, तथा गूढ़ोक्ति अलंकारों जैसा ही है, परन्तु जो कौशल इन अलंकारों के लिए चाहिए वह उलटवाँसी-पदों में देखने को नहीं मिलता। 'वक्रोक्ति' में अभिधा वाक्य के श्लेष या काकु के द्वारा दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है।[1] उलटवाँसी-पदों में, प्रयोक्ता का काव्य-कौशल के अभाव में, श्लेष का चमत्कार तो देखने को नहीं मिलता, परन्तु गोपन की प्रवृत्ति होने के कारण श्रोता या पाठक, काकु के बल पर अर्थान्तर की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र रहता है। उलटवाँसियों में 'वक्रोक्ति' का पर्याप्त सहारा रहता है। देखिये—

'बस्ती माँहि चमार की बाम्हन करत बेगार ॥टेक॥
बाम्हन करत बेगार लोग सब गैर-बिचारी।
मूरख है परधान देहि ज्ञानी को गारि॥'[2]

उलटवाँसियों में रस :

रस की पृष्ठभूमि और उलटवाँसी शैली की मूलानुभूति—'वाक्यंरसात्मक काव्यम्' के अनुसार वाक्य का रसात्मक होना ही काव्य की कसौटी है। काव्य-रचना में कवि का मुख्य अभिधेय कोई एक रस रहता है, अन्य रस उसी के पोषक या सहायक होकर आते हैं। इस मुख्य रस के परिपाक केलिए प्रवन्ध-काव्य में अधिक अवसर मिलते हैं। मुक्तक-काव्य में इस विशेष रस की अखण्डता का निर्वाह कठिन होता है। सन्तों की वाणी विभिन्न भाव-विचार-दशाओं की अभिव्यक्ति है, जिसमें प्रबन्धात्मकता का निर्वाह नहीं है; परन्तु, उस वाणी की मूल प्रेरणा वैराग्यवृत्ति है, जो 'शम' स्थायी-भाव की अवस्था में भक्ति या 'शान्त रस' में परिसमाप्त होती है।[3] उनकी वाणी में सत्यानुभूति या भावा-

१. 'अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा॥' —साहित्यदर्पणः, १०।९

२. —पलटू साहेब की बानी (पहलाभ ाग), पृ० १०३

३. 'शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दु सुन्दरच्छायः श्रीनारायण दैवतः॥
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिः सारता तु या।
परमात्म स्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते॥
पुण्याश्रम हरिक्षेत्र तीर्थ रम्य बनादयः।
निर्वेदहर्षस्मरणमति भूतदयादयः॥
निरहंकार रूपत्वाद्दयावीरादिरेषु नो॥'
—साहित्यदर्पण:, ३।२४५, ४६, ४७, ४९

नुभूति प्रखर रहती है। निवृत्ति-मार्गी होने के कारण अनेक प्रकार के भावानुभाव अथवा रस उसी मूल भावना की पुष्टि करते दिखाई देते हैं।[1] वे वैराग्य की पुष्टि होने पर अनुराग-भावना से उस पथ पर अग्रसर होते हैं। इस प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति, अप्रस्तुत के द्वारा, शृंगारादि के रूप में दिखाई है। इस प्रकार विराग-अनुराग की मूल प्रेरणा से सन्तों की वाणी का शृंगार हुआ।

उलटवाँसियाँ नाथ-सन्तों की वाणी का एक अंग हैं। मुक्तक प्रकृति वाली इन उलटवाँसियों में साधनात्मक अथवा वैचारिक अवस्था की अभिव्यक्ति, किसी-न-किसी प्रकार की विरोधगर्भित असम्बद्धता तथा प्रतीक-संकेतों के माध्यम से हुई है। प्रयोक्ता का मन्तव्य अथवा 'विषय' प्रतीक-संकेतों के अन्तराल में निगूढ़ रहता है। जैसे ही उस अर्थ की प्रतीति पाठक या श्रोता को होती हैं, वह उद्बुद्ध निर्वेद या 'शम' के द्वारा शान्तरस की प्रतीति करने लगता है। परन्तु उस अनुभूति तक पहुँचने में पाठक या श्रोता केलिए विषय के प्रति रुझाव, परम्परा का ज्ञान एवं विशेष बुद्धि-वृत्ति की अपेक्षा बनी रहती है। विचित्र प्रकार के शिल्प, रूप के रहने तथा अर्थ के निगूढ़ होने के कारण किसी भी रचना को हेय अथवा निकृष्ट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'कवि तो कविता करता है, उसके रस को पण्डितजन समझ पाते हैं' ('कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।') ऐसी रचना को समझने एवं रस-ग्रहण करने केलिए अधिकारी पाठक या श्रोता का होना भी अपेक्षित है।[2]

'विरह' को उलटवाँसी-रचना के सृजन का मूल साहित्यिक कारण कहा जा सकता है। उलटवाँसियों में किसी न किसी प्रकार की विरह-दशा अथवा विरह-दशा का परिणाम वर्णित रहता है। यह 'विरह' भाव-विरह अथवा विचार या ज्ञान-विरह, रूप में दो प्रकार का हो सकता है। विचार-विरह की अवस्था में प्रयोक्ता साधक को संसार के कार्य-कलाप विरुद्धधर्मा दिखाई देने लगते हैं। इस अवस्था में विधि-विरोध अथवा प्रकृति-

---

१. 'सन्तों के काव्य में जो रस हम प्रधान रूप से पाते हैं वह 'भक्ति रस' है। इस में संसार के सुखों के प्रति उदासीनता और परमात्मा की भक्ति में तल्लीनता रहती है। जहाँ तक संसार के प्रति विराग की भावना है, वहाँ पर हमें सांसारिक दुःख के साथ-साथ रोग आदि का बीभत्स चित्रण भी मिलता है। अतः वैराग्य-भावना प्रधान शांत रस के साथ-साथ बीभत्स के भी दर्शन होते हैं।......जहाँ माया की क्रूरता प्रदर्शित है हमें भयानक का आभास मिलता है।......इन सब प्रवाहों और धाराओं के बीच जिनमें कि बीभत्स, करुण, भयानक आदि सहायक धाराएँ तथा प्रवाह सम्मिलित हैं, शांत रस का अविरल, धीमा और शाश्वत प्रवाह है।'

—निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, पृ० ९३-९५

२. 'अर्थ की अस्पष्टता अथवा जटिलता विषय के स्वरूप और उसके अधिकारी पाठक की ग्रहण-शक्ति पर आश्रित है। बाण के 'हर्ष-चरित', सुबन्धु का

विरोध के उलटवाँसी मूलक असम्बद्ध कथनों की सृष्टि होती है।[1] भाव-विरह में, भावुक साधक पारिवारिक रूपकतत्त्व को लेकर, विरोधगर्भित उलटवाँसी मूलक कथनों की अभिव्यक्ति करता है, क्योंकि सांसारिक सुख-भोग उसे सुखद न होकर दाहक प्रतीत होते हैं। उलटवाँसी-पदों में उक्त दोनों दशाओं के उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण केलिए गोरखनाथ का निम्न उलटवाँसी-पद विचार या ज्ञान-विरह की अवस्था का द्योतक है देखिए—

'नाथ बोलै अमृत वांणीं, वरषैगी कंबली भींजेगा पांणीं ।।टेक।।
ऊजड़ षेड़ा नगर मझारी, तलि गागरि ऊपर पनिहारी ।।
मगरी परि चूल्हा धूंधाइ, पोवणहारा कौं रोटी खाइ ।।
कांमिनि जलै अगीठी तापै, विचि बैसंदर थरहर कांपै ।।
एक जु रढिया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई ।।
नगरी को पांणीं कूई आवै, उलटी चरचा गोरष गावै ।।'[2]

निम्न उलटवाँसी-पद में विरहिणी जीवात्मा की भाव-दशा की अभिव्यक्ति हुई है—

'विरहिनी मंदिर दियना बार ।।टेक।।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उँजियार ।।
प्रान पिया मेरे गृह आयो, रचि पचि सेज सँवार ।।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निर्गुन निरकार ।।
गावहु री मिलि आनँद मङ्गल, यारी मिलि के यार ।।'[3]

'विरह' मूलक जितने उलटवाँसी-पद नाथ-सन्तों की वाणी में मिलते हैं, अर्थाद्-बोधन होने पर उनका पर्यवसान शान्त रस में होता है। परन्तु उलटवाँसियों के वाच्य

'वासवदत्ता' श्रीहर्ष का 'नैषधचरित', रामानुज का 'कूट सन्दोह' आदि ऐसी रचनाएँ हैं, जिन्हें समझने के लिए पाठकों में प्रचुर ज्ञान और कुशाग्र बुद्धि की परमापेक्षा है।' —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० २०

१. 'ज्ञान-विरह में ज्ञानी को संसार के कार्य विपरीत जान पड़ते हैं। यथार्थ में अपने समीपस्थ वातावरण की प्रतिकूलता में आत्मा की आकुलता ही विरह है। प्रेम-विरह में संसार के व्यापार व सुख उसे जलाते हैं और एक परमात्मा का सम्पर्क ही शांति देने वाला होता है, किन्तु ज्ञान-विरह में ज्ञानी को माया-लिप्त संसार में सब व्यापार उलटे ढंग पर ही होते दीखते हैं और सत्य के आधार पर आत्मा की रक्षा होती है। इसी ज्ञान-विरह की अवस्था में ही 'उलटवाँसी' की तरह के कथन प्रसूत होते हैं।'
—निरंजनी सम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, पृ० ३६

२. —गोरख-बानी, पृ० १४१-४२

३. —यारी साहब की रत्नावली, पृ० १

रूप में विस्मय, रति, हास, भयादि स्थायी भावों के उद्बुद्ध होने तथा विभिन्न आलम्बन, उद्दीपन, अनुभव, संचारी आदि भावों के द्वारा परिपुष्ट होने से तत्तत् रसों की प्रतीति होती है। अथवा उद्बुद्ध स्थायी भावों की दशा की स्थिति या संचारी भावों के सफल वर्णन में 'भावों' की बहुविधि अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।[1]

उलटवाँसी-पदों में कुछ रसों की काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया :

उलटवाँसियों के प्रसंग में विभिन्न रसों तथा भावों की स्थिति पृथक्-पृथक् देखी जा सकती है।

(१) **अद्भुत रस**—भानुदत्त के अनुसार 'विस्मय की सम्यक् समृद्धि अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों की तटस्थता होना' अद्भुत रस है।'[2] अर्थात् जब किसी रचना में विस्मय-स्थायीभाव इस प्रकार प्रस्फुटित हो कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उससे प्रभावित होकर, उससे निश्चेष्ट हो जायें, वहाँ अद्भुत रस होता है। इसलिए उन्होंने इस रस के प्रसंग में अत्युक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास आदि को उसकी सीमा के अन्तर्गत माना है। उलटवाँसी-पदों में वर्णित प्रसंगों और पदार्थों में 'विस्मय' स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर चित्त-विस्तार में सहायक होता है। इस चित्त के विस्तार में सभी रसों के साररूप 'चमत्कार' का मुख्य' हाथ रहता है। अतः नारायण पण्डित की मान्यता प्रस्तुत करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अद्भुत रस की व्यापकता बताई है।[3]

---

१. **टिप्पणी**—आचार्य मम्मट ने देवादि विषयक रति आदि का वर्णन और व्यभिचारी भावों की स्वतन्त्र अभिव्यंजना को 'भाव' कहा है। ('रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः।' 'काव्यप्रकाशः', ४।३५) इसी बात को आचार्य विश्वनाथ ने और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जब संचारियों का वर्णन किसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है तब देवादि विषयक रति एवं उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव का वर्णन 'भाव' कहलाता है। 'भाव' की स्थिति रस से पूर्व होती है, परन्तु भाव से रहित रस एवं रस से विवर्जित भावों की स्थिति नहीं हो पाती। देखिए—
'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादि विषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥' —साहित्यदर्पणः, ३।२६०
'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रस भावयोः ॥' —साहित्यदर्पणः, (वृत्ति)

२. 'विस्मयस्य सम्यकसमृद्धिरद्भुतः सर्वेन्द्रियाणां ताटस्थ्यं वा।' —रस तरंगिणी,

३. चमत्कारश्चित्त विस्ताररूपो विस्मयापर पर्यायः। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे-
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥' —साहित्यदर्पणः, ३।३ (वृत्ति)

काव्य शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अलौकिकता से युक्त वाक्य, कर्म, शील एवं रूप अद्भुत रस के आलम्बन विभाव हैं, अलौकिक गुणों का वर्णन उद्दीपन विभाव, गद्गद् वचन, नेत्र विस्फारित करना, उत्कण्ठित होना आदि अनुभाव। वितर्क, आवेग, हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं और विस्मय स्थायीभाव हैं।[1] उलटवाँसियों की अटपटी शैली, जिसमें ज्ञान-विरह की अवस्था में संसार की विचित्र स्थिति अथवा माया-जन्य दशा को तथा भाव-विरहमूलक उलटवाँसी-पदों में अलौकिक सम्बन्धों को प्रश्रय देने वाले असम्बद्ध कथन विस्मय स्थायीभाव को उद्बुद्ध करके रस-दशा की ओर ले जाते हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अद्भुत तत्त्व के बल पर कबीर की उलटवाँसियों को चमत्कार-पूर्ण बताया है।[2] डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर के 'ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या मैं रह्या उमेषे' पद को अद्भुत रस प्रधान बताया है।[3] उक्त कथन कबीर की उलटवाँसियों के सम्बन्ध में ही चरितार्थ नहीं होते, प्रत्युत हिन्दी-साहित्य की सम्पूर्ण उलटवाँसियों के विषय में सत्य कहे जा सकते हैं। सभी में विस्मय तत्त्व की प्रधानता है, जो कहीं तो उद्बुद्ध स्थायीभाव के रूप में 'भाव' की सीमा में ही परिसमाप्त होना दिखाई देता है और कहीं आलम्बन उद्दीपन, अनुभाव आदि के द्वारा परिपुष्ट होता हुआ रस-दशा को प्राप्त होता है। रस-दशा को प्राप्त दो उलटवाँसी-पदों की रसत्व सम्बन्धी विवेचना यहाँ द्रष्टव्य है—

उदाहरण-१— 'हमें एक अचरज जानि पड़ै ॥टेक॥
जल भीतर इक वृच्छा उपजै, ता में अगिन जरै।
ठाढ़ी साखा पवन झकोरै, दीपक जोति बरै॥
माथे पर तिरवेनी बहत है, चढ़ि ऊपर असनान करै।
लरजै गरजै दामिनि दमकै, कामिनि कलस भरै॥
मट्टी का गढ़ कोट बना है, जामें, फौज लड़ै।
धरमदास या पद को गावै, फिर कबहूँ न टरै॥'[4]

उदाहरण-२— 'भूल गई है नार आन कै आनै कीन्हा।
कातिस मोटा सूत कातन को चाहो झीना॥
लहँगा पाछे जरै चूल्ह में पानी नावा।
हँसिया को है व्याह गीत खुरपा के गावा॥

१. 'अद्भुतो विस्मयस्थायि भावो गन्धर्वदैवतः।
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्॥
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसंभ्रमाः॥
तथा नेत्र विकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः॥' —साहित्यदर्पणः, ३।२४२-४४

२. —कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ६२

३. —कबीर की विचारधारा, पृ० ३५५

४. —धनी धरमदास की शब्दावली, पृ० ३१

वेय महावर आँख गोड़ में काजर लावै।
ऐसी भोली नारि ताहि कौं को समुझावै ।।
पलटू वाहि अबूझ है अंत खायेगी मार।
हींग लगाइस भात में भूल गई है नार ।।'[1]

प्रथम उदाहरण में 'अचरज' पद के प्रयोग में स्वशब्दवाच्यता दोष मान लेने पर भी वक्ता का 'अचरज' विस्मय स्थायीभाव को पुष्ट करता है। यहाँ विचित्र परिस्थिति में जलने वाली दीप-ज्योति आलम्बन; दामिनि का दमकना, पवन के झकोरे लेना आदि उद्दीपन विभाव; अचरज की प्रतीति से नेत्र विस्फारित होना अनुभाव तथा स्मृति, आवेग आदि संचारी भाव हैं। इन सबसे परिपुष्ट अद्भुत रस की प्रतीति होती है। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में 'नारि' आलम्बन; उसके असम्बद्ध कृत्य उद्दीपन; विस्मय-जनित कौतूहल अथवा ऐसी भोली नारि को देखकर अवाक् चित्त रह जाना अनुभव तथा अनुमिति, आवेग आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट विस्मय स्थायी-भाव रस-दशा को प्राप्त है। एक अन्य उदाहरण और प्रस्तुत है, जिसमें 'विस्मय' स्थायी भाव उद्बुद्ध मात्र है, विभावादिकों से पुष्ट होकर रस की प्रतीति कराने में असमर्थ है। अतः इसमें 'भाव' की स्थिति ही है। देखिए—

उदाहरण-१— 'सिंध पौलि के पार झार नित उठि उठि आवै।
जहाँ उरधमुख कूप धूप विन रवि दरसावै ।।
सुरति सिरोमन सील लील गिरि परै निसानो।
अरे हाँरे तुलसी, तहँ नित उठै अवाज साज की सुरति समानो ।।'[2]

(२) शृंगाररस—जिन उलटवाँसी मूलक पदों में दाम्पत्य सम्बन्ध के आधार पर आत्मा-परमात्मा की भावना का कथन रहता है वहाँ कई स्थलों पर शृंगार रस की प्रतीति होती है। जिन उलटवाँसी-पदों में विरहिणी जीवात्मा अपने परिवेश में अतृप्त रहकर एकाकीपन का अनुभव करती हुई, परमप्रिय से मिलने केलिए उतावली दिखाई देती है, उनमें वियोग शृंगार तथा जिन में वह प्रिय के विचित्र देश में परम सुख का अनुभव अथवा प्रिय के नैकट्य की अनुभूति करती है अथवा ऐसी सुखद अवस्था का वर्णन मिलता है वहाँ संयोग शृंगार की प्रतीति होती है। उदाहरण केलिए संयोग-शृंगार का उलटवाँसी मूलक पद प्रस्तुत है—

उदाहरण-१— 'ऐसे साँई की मैं बलिहरियाँ री।
ए सखि संग रंग रस मातिउँ, देखि रहिउँ अनुहरियाँ री ।।
गगन भवन माँ मगन भइउँ मैं, बिनुदीपक उजियरियाँ री।
झलकि चमकि तहँ रूप बिराजै, मिटिगैं सकल अँधेरियाँ री ।।

१. —पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० १०६
२. —तुलसी साहेब की शब्दावली (भाग १), पृ० ३०

काह कहौं कहिबे की नाहीं, लागि जाहि मन महियाँ री ।
जगजीवन यह जोती निरमल, मोती हीरा वारियाँ री ।।'[1]

उक्त उलटवाँसी-पद में जीवात्मा की जिस भाव-दशा का वर्णन किया गया है, उसमें संयोग शृंगार की प्रतीति होरही है । जीवात्मा स्वयं आलम्बन है, प्रियतम का रूप अनुहार उद्दीपन, बलिहारी जाने की प्रेरणा, भाव-विभोर आदि अनुभाव, हर्ष, औत्सुक्य, आवेग आदि संचारी भावों से पुष्ट रति स्थायीभाव रस-दशा को प्राप्त है । इसी प्रकार 'प्यारे कंत से मिलि खेलौं बिमल बसंत'[2] वाले पद में वियोग-शृंगार की अनुभूति होती है । कहीं-कहीं 'रति' स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर रस-दशा को प्राप्त नहीं हो पाया है, ऐसी उद्बुद्ध भाव-दशा के अनेक वर्णन उलटवाँसी-पदों में मिलते हैं । देखिए—

'पतिव्रता पति मिली है लाग, जहँ गगन मँडल में परम भाग ।
जहँ जल बिन कँवला बहु अनंत, जहँ बिन भौंरा गोह करंत ।।
बिन रसनागुन उचत नार, पाँव बिन पातर निरतकार ।
जहँ जलबिन सरवर भरा पूर, जहँ अनंत जोत बिन चन्द सूर ।।'[3]

इसमें आलम्बन रूप में पतिव्रता के रहने तथा सम्यक् रूप से उद्दीपक सामग्री के विद्यमान रहने पर भी अनुभाव, संचारी आदि के अभाव में रति स्थायी-भाव रस-दशा को नहीं पहुँच पाया है । अतः यह रति 'भाव' मात्र है । इसी प्रकार निम्नलिखित उदाहरण में औत्सुक्य अथवा संचारी भाव की स्थिति 'भाव' रूप में ही वर्णित है—

'हमरा बियाह करो मोरे बाबा, तुमसों नाहिं निबाह हो ।
जिन के नाहिं रूप और रेखा, उन से हमरो बियाह हो ।।
आवै न जाय मरै ना जीयै, सो वर खोजो जाई हो ।
बूढ़ न बार तरुन नहिं चेलिक, वा को तिलक लगाई हो ।।
गगन मंदिल वह गढ़ मोरे बाबा, अरध उरध के बीच हो ।
पवन बराती ब्याहन आये, मान करो सनमान हो ।।'[4]

(३) हास्यरस—यद्यपि अद्भुत और हास्य दोनों रसों में विपरीत कथन या भाव देखने को मिलता है, परन्तु यत्किंचित कारण ज्ञात रहने से 'हास्य' में यह वैपरीत्य सामान्य ही रहता है । उलटवाँसी-पदों में यद्यपि अर्थोद्बोधन तक, हास्य का निर्वाह नहीं हो पाता,

---

१.—जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृ० ११६

२.—धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ५५

३.—दरियासाहब (मारवाड़ वाले की) बानी, पृ० ३७-३८

४.—धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ४६-४७

परन्तु उलटवाँसी शैली के रूपक तत्त्व प्रधान विरोध गर्भित असम्बद्ध कथनों में हास्य की सम्यक् परिस्थिति देखने को मिलती है। देखिए—

उदाहरण-१—'चली जात देखी एक नारी, तर गागरि ऊपर पनिहारी।
चली जात वह बाट ही बाटा, सोचनिहार के ऊपर खाटा॥
जाड़न मरै सपेदी सौरी, खसम न चीन्हे घरणि भई बौरी।
सांझ सकार ज्योति लै बारै, खसम छाँड़ि संवरै लगबारै॥
वाही के रस निशुदिन राची, पिय सों बात कहै नहिं साँची।
सोवत छाड़ि चली पिय अपना, ई दुख अब धौं कहब कैसना॥'[1]

इसमें नारी आलम्बन, उसका विचित्र रूप और कृत्य उद्दीपन, कौतूहल जनित नेत्र विस्फार अनुभाव, आवेग, औत्सुक्य, हर्ष आदि संचारियों से पुष्ट 'हास' स्थायीभाव रस-दशा को प्राप्त है। एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें लोक-व्यवहार से विपरीत कथन तथा 'दुलहिन' के विधि-विरोधी कार्यों में 'हास' स्थायी-भाव उद्बुद्ध होते हुए भी, रसप्रक्रिया की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान न होने के कारण, हास-'भाव' की प्रतीति हो पाती है।

उदाहरण-२— 'देखा अचरज भाई रे, कहूँ कहा न जाई ॥टेक॥
धी घर ब्याह बाप ने कीन्हा, माता पुत्र बियाही।
नउवा नैन सैन सकुचाने, ब्याह बराती आई रे॥
दुलहा मुवा भई अहवाती, चौकै राँड कहाई।
चली बरात ब्याह धन दुलहिन, अचल सुहाग सुहाई रे॥
धरती घुमर गरज जल बरखा, बादर भींज बहाई।
तुलसी चन्द्र चले पानी में, मछरी अकास अन्हाई रे॥'[2]

उलटवाँसियों में शब्द की अभिव्यंजना-शक्ति :

शब्द-शक्ति कथन के अन्तर्निहित अर्थ को व्यक्त करने का एक व्यापार है। कारण रूप शब्द, कार्य रूप अर्थ अथवा प्रयोक्ता के मन्तव्य को व्यंजित करने में सहायक होता है। आचार्य मम्मट ने शब्द की इस क्रिया को 'व्यापार' कहा है[3] और आचार्य विश्वनाथ ने 'शक्ति'।[4] इस व्यापार या शक्ति के द्वारा ही अर्थ अथवा प्रयोक्ता के मन्तव्य तक पहुँचा जाता है। उलटवाँसी-पद सन्तों की वाणी का एक अंग ही हैं। उलटवाँसी-पदों में प्रयुक्त प्रतीक अथवा पारिभाषिक शब्दों में निहित प्रयोक्ता का मन्तव्य समझने केलिए उक्त

१.—कबीर बीजक, पृ० ७९
२.—तुलसी साहेब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० १३६
३. 'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।' —काव्यप्रकाशः, २। सूत्र-११
४. 'वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यङ्‌ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः॥'
—साहित्यदर्पणः, २-३

व्यापार अथवा शक्ति का सहारा लेना स्वाभाविक है। पर, लक्षणा-व्यंजनादि शब्द-शक्तियों के प्रयोग में प्रयोक्ता के जिस सूक्ष्म-कौशल अथवा साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी विदग्धता की अपेक्षा रहती है, वह उलटवाँसी-पदों में देखने को नहीं मिलती।

उलटवाँसी-पदों में अभिधा-शक्ति—वक्रोक्ति जीवितकार ने शब्द के तीन (अभिधा-लक्षणा, व्यंजना) व्यापारों को अभिधा का ही कार्य माना है। उनके अनुसार वर्म, चर्म, मर्म छेदन पूर्वक प्राण हरण एक ही 'इषु-व्यापार' का परिणाम है। विवक्षित अर्थ का वोधक केवल शब्द ही होता है।[1] उलटवाँसी-पदों में प्रतीक एवं पारिभाषिक शब्दों की विचित्र योजना के द्वारा प्रयोक्ता सन्त जीव-जगत् की किसी विशेष अवस्था का कथन करते हैं। ऐसे कथनों में शब्द की अभिधा किसी विशेष दशा की ओर संकेत करती है। इस प्रकार का संकेल कर देना ही प्रयुक्त प्रतीक-शब्दों का मुख्य कार्य है। उनके पीछे निहित अर्थ को उलटवाँसी शैली की 'अभिधा' नहीं सँभाल पाती।[2] इसप्रकार की विचित्र अभिधा का तत्सम्बन्धी अर्थ-ग्रहण, परम्परा के अवलोकन, प्रतीक-साम्य तथा अर्थ-कर्त्ता की बौद्धिक कुशलता की अपेक्षा रखता है; क्योंकि उलटवाँसियों की अभिधा रूप में असम्बद्ध-योजना, प्रयोक्ता का मुख्य उद्देश्य नहीं होती। ऐसी योजना श्रोता की वृत्ति को केन्द्रित करने अथवा शैली के आग्रह के कारण रहती है। अभिधा रूप में सांकेतिक प्रतीकों का अर्थ-ग्रहण श्रोता अथवा पाठक की ग्रहणश-शक्ति पर वहुत कुछ निर्भर करता है।

उलटवाँसी-पदों में लक्षणा की सीमा—लक्षणा-व्यापार केलिए एक विशेष क्रम अपेक्षित रहता है। आचार्य मम्मट के अनुसार 'मुख्यार्थ का बाध(अर्थात् अन्वय या तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, उस (मुख्यार्थ) के साथ (लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का) सम्बन्ध होने पर, रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष से जिस (शब्द-शक्ति) के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह (मुख्य रूप से अर्थ में रहने के कारण, शब्द का) आरोपित व्यापार लक्षणा (कहलाता) है।'[3] इस लक्षणा-व्यापार की तीन स्थितियाँ हैं—मुख्यार्थ से बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध और रूढ़ि अथवा प्रयोजन। उलटवाँसी-पदों की अभिधा अर्थात् प्रयुक्त प्रतीक-शब्द, प्रयोक्ता के मन्तव्य की ओर किसी न किसी प्रकार का संकेत करके

---

१. 'शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्द सुन्दरः॥'

—हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, १-९ (पृ० ३८ से)

२. 'इसका अर्थ-भार अभिधा-शक्ति न संभाल कर 'संकेत' संभालते हैं जो प्रतीक-मात्र होते हैं। इनका अभिप्राय वक्ता के मस्तिष्क में होता है और श्रोता उसको खोजता हुआ अनेक वार कहीं से कहीं पहुँच सकता है।'

—कबीर-एक विवेचन, पृ० ३१८

३. 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥' —काव्यप्रकाशः, २।सूत्र-१२

बाधित हो जाते हैं। इसके पश्चात् उलटवाँसी-पदों में शब्द का लक्ष्यार्थ के साथ योग होने में कठिनाई पड़ती है। उदाहरण केलिए 'गंगा में घोष है' इस कथन में, गंगा की धारा में गाँव का होना संभव न होने से मुख्यार्थ बाधित होजाता है। इसके पश्चात् 'गंगा' शब्द से सम्बन्धित शीलता, पावनता अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार उलटवाँसी-पदों में जब यह कहा जाता है कि 'चींटी ने हाथी को निगल लिया है' तब धर्म, क्रिया और लिंग साम्य के आधार पर चींटी का सांकेतिक अर्थ बुद्धि तथा हाथी का अर्थ काम या अहंकार होता है। अभिधात्मक अर्थ के बाधित होने पर, लक्ष्यार्थ की प्राप्ति में शब्द-कोशीय अर्थ सहयोग नहीं देता। साथ ही जिस प्रकार गंगा शब्द में शीतलता, पावनता उसका नित्य कर्म है, वैसे ही सूक्ष्मता आदि चींटी का नित्य धर्म नहीं हो सकता और जिस प्रकार गंगा शब्द से पावनता, शीतलता आदि सहज-ग्राह्य हैं, वैसे ही चींटी से बुद्धि आदि अर्थ सहज-लभ्य नहीं हैं। इस प्रकार शब्द की लक्षणा-शक्ति केलिए उलटवाँसी-पदों में काव्य-शास्त्रीय सूक्ष्म कौशल देखने को नहीं मिलता। कुछ अंशों में प्रयोजनवती लक्षणा के 'जहत्स्वार्था' आदि भेदों का अनुमान होता है। कहीं-कहीं 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि' का अनुमान होता है। उलटवाँसी मूलक कथनों में कुछ लाक्षणिक प्रयोग देखे जा सकते हैं—

'पानी में अगनि जरै अंधेरे को सूझै।'

—कबीर ग्रंथावली, पृ० १४१

'पानी में प्रवेस किये, महर महर बरै अंग।
तुरसी पावक परस तें, उपजे गंग तरंग॥'

—निरंजनी संम्प्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, पृ० ३६

'तुलसी बूझ विचार बिन दुनियां दधि को जाय।
तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय॥'

—तुलसीसाहिब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० ३४

'जल की भीत भीत जल भीतर, पवन भवन का थंभा री।'

—तुलसी साहिब की शब्दावली, पृ० १३७

पानी में अग्नि का जलना; पानी में प्रवेश से अंगों का दग्ध होना; पावक के स्पर्श से शीतलता का अनुभव; बंध्या गाय का प्रसूति-धर्म; जल की दीवार; पवन का स्तम्भ आदि कथन यद्यपि असम्भव प्रमाण के ही द्योतक हैं; पर पानी, अंधेरा, पावक, गंग-तरंग, दधि, गऊ, थंभा आदि शब्दों का मुख्यार्थ बाधित हो जाता है और अन्य अर्थ के रूप में गऊ-इन्द्रिय, बुद्धि-माया; पवन-प्राण; अग्नि-ज्ञानाग्नि; जल की भीत-शरीर आदि अर्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन अर्थों की प्रतीति मुख्य शब्द के योग से न होकर प्रयोजन से ही होती है।

इसी प्रकार 'जल बिच मीन प्यासी' तथा 'सरवरि तटि हंसिनी तिसाई', जैसे प्रयोगों में शब्द की अभिधा अर्थ को व्यंजित नहीं करती अपितु अर्थ-ग्रहण में सहायक होती है कि इस भव-सागर में अतृप्ति का अनुभव करने वाली चंचल स्वभाव की जीवात्मा जलरूप ब्रह्म-तत्त्व में अतृप्ति का अनुभव करती है अथवा जल रूप माया तत्त्व में सूक्ष्म प्रबुद्ध जीवात्मा अतृप्ति का अनुभव करती है तथा हंस स्वभाव वाली जीवात्मा संसार रूप सरोवर के तट पर तृषित ही बनी रहती है।

उलटवाँसी-पदों में व्यंजना-व्यापार—'जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं।'[1] कारिका की वृत्ति में ध्वनिकार ने लिखा है कि जहाँ अर्थ-वाच्य विशेष अथवा शब्द-वाचक विशेष उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उसे ध्वनि (काव्य) कहते हैं। जिन उलटवाँसी-पदों में सांकेतिक प्रतीकों का उपयोग रहता है, वहाँ प्रयोक्ता के मन्तव्य तक पहुँचने केलिए शब्द की अभिधा ही व्यंग्यार्थ की ओर उन्मुख कर देती है। व्यंग्य अर्थ की प्रतीति प्रसंगानुसार श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति पर निर्भर रहती है। अभिधा-मूला व्यंजना के अनेक कथन उलटवाँसी-पदों में मिलते हैं। उदाहरण केलिए एक पद प्रस्तुत है—

> **'अब मोहि लै चलि नणद के बीर, अपने देसा।**
> **इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसंग आहि बदेसा ।।टेक।।**
> **गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानां।**
> **सातौं विरही मेरे नीपजे, पंचूं मोर किसांनां ।।'[2]**

उक्त कथन में नणद के बीर, पंचनि, गंग तीर, जमुन तीर, किसान आदि प्रयोग व्यंजना प्रधान हैं। कोई स्त्री (जीवात्मा) अपने पति (परमात्मा-नणद माया का भाई) से मनुहार करती है कि मैं यहाँ (संसार रूप नैहर में) बहुत दुखी हो चुकी हूँ। अतः हे नणद के वीर, तू मुझे अपने देश (ससुराल) ले चल। क्योंकि यहाँ के पंचों (पंचेन्द्रियाँ अथवा पंचविकार) में सदाचरण नहीं है। मुझे अकेली समझकर ये सब मुझे लूटते हैं। अर्थात् यहाँ संसार में कुसंग के कारण मेरी सात्विक वृत्ति अपहृत हो जाती है। मेरा तो सम्बन्ध गंगा-यमुना की पवित्र भूमि से है अर्थात् इड़ा-पिंगला के क्षेत्र में साधना करना ही मेरा लक्ष्य है। व्यंजना प्रधान कुछ अन्य उलटवाँसी मूलक कथन प्रस्तुत हैं—

---

१. 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।' —ध्वन्यालोक, १।१३

२.—कबीर ग्रंथावली, पृ० ९३

उदाहरण-१— 'साहेब मोरे पठई चोली अनमोल ।।टेक।।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि हम भईं अतोल ।।
यह चोलिया में सहज बंद लागे,चौलिया के बंद मोरे सतगुरु खोल ।।
चोलिया पहिरि धनि चली है गवनवा, सेत पितंवर लागे हिंडोल ।।
धरमदास विनवै कर जोरी, नैहर सुपना भयल अब मोर ।।'[1]

उदाहरण-२— 'बिरहिनी मंदिर दियना बार ।।टेक।।
बिनवाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उंजियार ।।'[2]

उदाहरण-३— 'साधो साध अंतर ध्याम ।
गंग ग्राम बजार लावहु, चित्त गाडु निसान ।।
रैन दिन तहं नाहि आहै, नाहिं ससि गन भान ।
चमक झलमल रूप निर्मल, निर्गुन निर्वान ।।
सुसिद्ध बुद्धी नाहि आहै, कौन माधै ज्ञान ।
जगजीवन दास मस्त होवै, बिरल कोउ ठहरान ।।'[3]

उदाहरण-४— 'मुरली कौन बजावै हो, गगन मंडल के बीच ।।टेक।।
त्रिकुटी संगम होय कर गंग जमुन के घाट ।
या मुरली के सबद से सहज रचा वैराट ।।
गंग जमुन बिच मुरली बाजे, उत्तर दिस धुन होय ।
या मुरली की टेरहि सुनि सुनि रहीं गोपिका मोहि ।।
कान्ह गोपी नृत्य करते, चरन वपुहि बिना ।
नैन बिन दरियाव देखै, आनंद रूप घना ।।'[4]

उदाहरण-५— 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ।।
फूहरि धोवै दाग छुटै ना और बढ़ावै ।
ज्यों-ज्यों मले बनाय सारे लहँगा फैलावै ।।'[5]

'जुग जुग देखो खेत में काला बैल जुताय ।।
काला बैल जुताय जाय घर अपने नाहीं ।
मालिक करै अवाज फेर कर चितवै नाहीं ।।'[6]

उक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उलटवाँसी-पदों के शब्द-व्यापार में काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मताओं के न रहने पर भी, प्रयुक्त 'शब्द' का प्रसंग ही उसकी शक्ति का

१.—धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ६४-६५

२.—यारी साहेब की रत्नवली, पृ० १

३.—जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग, भेद-बानी), शब्द-६

४.—दरियासाहिब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४५-४६

५.—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८१

६.—तुलसी साहिब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० ३४

द्योतन करता है। कथन में किसी न किसी प्रकार का व्यंग्य वैचित्र्य बना रहता है। अतः उलटवाँसी-पद चित्र-काव्य की सीमा से ऊपर उठ जाते हैं।

उलटवाँसी शैली का कूट-वर्ग की अन्य शैलियों से साम्य तथा वैषम्य :

उलटवाँसी-परिवार की अन्य शैलियों का व्यवहार साहित्य में प्राचीन काल से होता आ रहा है। इनमें प्रवल्हिका, कुतूहलाध्यायी, वैनोदिक, दृष्टकूट* ग्रन्थग्रन्थि, प्रहेलिका, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, संध्या-भाषा पहेली, मुकरी, बुझौवल आदि मुख्य हैं। प्रादेशिक भाषाओं में बाउल या उलटाबाउल (बंगला), भारुड (मराठी) हियाली (राजस्थानी) इस वर्ग की शैलियाँ हैं। अन्य भाषाओं में रिडिल आदि (अंग्रेजी), इशारियत (फारसी) आदि की चर्चा मिलती है। इन शैलियों की कुछ समानताएँ होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनके कारण सबका पृथक् पृथक् अस्तित्व है। इन शैलियों के साम्य और वैषम्य का विवेचन क्रमशः यहाँ प्रस्तुत है

(१) **प्रवल्हिका या प्रवल्हिता**—वैदिक मन्त्रों में अभिव्यंजना की गूढार्थक शैली को प्रश्रय मिला है। ऋग्वेद के अनेक मंत्र 'प्रहेलिका मंत्र'[१] और उनकी भाषा को 'समाधि भाषा'[२] नाम से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद में ब्रह्म-प्रकृति प्रतिपादक छः 'प्रवल्हिका' मन्त्रों को और उसके छः 'प्रवादों' का उल्लेख है।[३] निरुक्त में आदित्य के सभी मन्त्रों को रहस्यमय होने के कारण 'प्रवल्हिता' बताया गया है।[४] 'प्रवल्हिका' ऋग्वेद के ब्राह्मणों (ऐतरेय ब्राह्मण, ६।३३; कौषीतकि ब्राह्मण, ३०।१७) तथा अथर्ववेद (२०।१३३) के कुछ मन्त्रों को प्रदान किया गया नाम है।'[५] गूढ़ार्थ प्रतिपादक मन्त्रों के रूप में 'प्रवल्हित' का अर्थ 'समस्यामय'[६] बताया गया है।

---

* **टिप्पणी**—संस्कृत तथा हिन्दी दृष्टकूटों में शिल्प का मौलिक अन्तर देखने को मिलता है अतः दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

१. (हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, विंटरनिट्ज़, पृ० ११७७)—कूटकाव्य-एक अध्ययन पृ० १० से उद्धृत

२. 'द ग्रेटर पार्ट ऑफ द स्टेटमेन्ट्स मेड बाइ दीर्घतमस एज़ हैज़ बीन कौट इन समाधि-भाषा, देट, सिम्बोलिक लैंग्वेज़। द की टु सच लैंग्वेज कैन नॉट बी सप्लाइड मेअरली बाइ ए केअरफुल स्टडी ऑफ टैक्सट्स।' (डॉ० सम्पूर्णानन्द)
—अस्यवामस्य हिम्स, (भूमिका)

३. 'अथ प्रवल्हिका : षट्।' —अथर्ववेद, २०।१३३ तथा 'अथप्रवल्हिकानां षट् प्रवादा :।' —अथर्ववेद, २०।१३५

४. 'यच्च किंचित्प्रवल्हितमादिकत्यमेव।' —निरुक्तम्, ७।११
'अथैषा वाच : प्रवल्हितेव। प्रवल्हितेति अनभिव्यक्ति विशिष्टो वाक्यार्थ :।'
—निरुक्तम्, १३।९

५. —वैदिक इंडैक्स, भाग २ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४८

६. —मॉनियर विलियम्स (संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी),

उदाहरण-१— 'साहेब मोरे पठई चोली अनमोल ।।टेक।।
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई, चोलिया पहिरि हम भई अतोल ।।
यह चोलिया में सहज बंद लागे, चौलिया के बंद मोरे सतगुरु खोल ।।
चोलिया पहिरि धनि चली है गवनवा, सेत पितंवर लागे हिंडोल ।।
धरमदास विनवै कर जोरी, नैहर सुपना भयल अब मोर ।।'[1]

उदाहरण-२— 'बिरहिनी मंदिर दियना बार ।।टेक।।
बिनबाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उंजियार ।।'[2]

उदाहरण-३— 'साधो साध अंतर ध्यान ।
गंग ग्राम बजार लावहु, चित्त गाड़ु निसान ।।
रैन दिन तहं नाहिं आहि, नाहिं ससि गन भान ।
चमक झलमल रूप निर्मल, निर्गुन निर्वान ।।
सुसिद्ध बुद्धी नाहि आहै, कौन भाषै ज्ञान ।
जगजीवन दास मस्त होवै, बिरल कोउ ठहरान ।।'[3]

उदाहरण-४— 'मुरली कौन बजावै हो, गगन मंडल के बीच ।।टेक।।
त्रिकुटी संगम होय कर गंग जमुन के घाट ।
या मुरली के सबद से सहज रचा बैराट ।।
गंग जमुन बिच मुरली बाजे, उत्तर दिस धुन होय ।
या मुरली की टेरहि सुनि सुनि रहीं गोपिका मोहि ।।
कान्ह गोपी नृत्य करते, चरन बपुहि बिना ।
नैन बिन दरियाव देखै, आनंद रूप घना ।।'[4]

उदाहरण-५— 'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै ।।
फूहरि धोवै दाग छुटे ना और बढ़ावै ।
ज्यों-ज्यों मले बनाय सारे लहँगा फैलावै ।।'[5]

'जुग जुग देखो खेत में काला बैल जुताय ।।
काला बैल जुताय जाय घर अपने नाहीं ।
मालिक करै अवाज फेर कर चितवै नाहीं ।।'[6]

उक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उलटवाँसी-पदों के शब्द-व्यापार में काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मताओं के न रहने पर भी, प्रयुक्त 'शब्द' का प्रसंग ही उसकी शक्ति का

---

१ —धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृ० ६४-६५
२.—यारी साहेब की रत्नवली, पृ० १
३.—जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग, भेद-बानी), शब्द-६
४.—दरियासाहिब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४५-४६
५.—पलटू साहेब की बानी (पहला भाग), पृ० ८१
६.—तुलसी साहिब की शब्दावली (पहला भाग), पृ० ३४

द्योतन करता है। कथन में किसी न किसी प्रकार का व्यंग्य वैचित्र्य बना रहता है। अतः उलटवाँसी-पद चित्र-काव्य की सीमा से ऊपर उठ जाते हैं।

उलटवाँसी शैली का कूट-वर्ग की अन्य शैलियों से साम्य तथा वैषम्य :

उलटवाँसी-परिवार की अन्य शैलियों का व्यवहार साहित्य में प्राचीन काल से होता आ रहा है। इनमें प्रवल्हिका, कुतूहलाध्यायी, वैनोदिक, दृष्टकूट* अन्यग्रन्थि, प्रहेलिका, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, संध्या-भाषा पहेली, मुकरी, बुझौवल आदि मुख्य हैं। प्रादेशिक भाषाओं में बाउल या उलटाबाउन (बंगला), भारुड (मराठी) हियाली (राजस्थानी) इस वर्ग की शैलियाँ हैं। अन्य भाषाओं में रिडिल आदि (अंग्रेजी), इशारियत (फारसी) आदि की चर्चा मिलती है। इन शैलियों की कुछ समानताएँ होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनके कारण सबका पृथक् पृथक् अस्तित्व है। इन शैलियों के साम्य और वैषम्य का विवेचन क्रमशः यहाँ प्रस्तुत है -

(१) **प्रवल्हिका या प्रवल्हिता**—वैदिक मन्त्रों में अभिव्यंजना की गूढार्थक शैली को प्रश्रय मिला है। ऋग्वेद के अनेक मंत्र 'प्रहेलिका मंत्र'[१] और उनकी भाषा को 'समाधि भाषा'[२] नाम से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद में ब्रह्म-प्रकृति प्रतिपादक छः 'प्रवल्हिका' मन्त्रों को और उसके छः 'प्रवादों' का उल्लेख है।[3] निरुक्त में आदित्य के सभी मन्त्रों को रहस्यमय होने के कारण 'प्रवल्हिता' बताया गया है।[४] 'प्रवल्हिका' ऋग्वेद के ब्राह्मणों (ऐतरेय ब्राह्मण, ६।३३; कौषीतकि ब्राह्मण, ३०।१७) तथा अथर्ववेद (२०।१३३) के कुछ मन्त्रों को प्रदान किया गया नाम है।'[५] गूढ़ार्थ प्रतिपादक मन्त्रों के रूप में 'प्रवल्हित' का अर्थ 'समस्यामय'[६] बताया गया है।

---

* **टिप्पणी**—संस्कृत तथा हिन्दी दृष्टकूटों में शिल्प का मौलिक अन्तर देखने को मिलता है अतः दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

१. (हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, विंटरनिट्ज, पृ० ११७७)—कूटकाव्य-एक अध्ययन पृ० १० से उद्धृत
२. 'द ग्रेटर पार्ट ऑफ द स्टेटमेन्ट्स मेड बाइ दीर्घतमस एज़ हैज बीन कोट इन समाधि-भाषा, देट, सिम्बोलिक लैंग्वेज। द की टु सच लैंग्वेज कैन नॉट बी सप्लाइड मेअरली बाइ ए केअरफुल स्टडी ऑफ टेक्सट्स।' (डॉ० सम्पूर्णानन्द)
—अस्यवामस्य हिम्स, (भूमिका)
३. 'अथ प्रवल्हिका : षट्।' —अथर्ववेद, २०।१३३ तथा 'अथप्रवल्हिकानां षट् प्रवादा :।' —अथर्ववेद, २०।१३५
४. 'यच्च किंचित्प्रवल्हितमादित्यमेव।' —निरुक्तम्, ७।११
'अथैषा वाच : प्रवल्हितेव। प्रवल्हितेति अनभिव्यक्ति विशिष्टो वाक्यार्थ :।'
—निरुक्तम्, १३।६
५. —वैदिक इडैक्स, भाग २ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४८
६. —मॉनियर विलियम्स (संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी),

'वैदिक-मन्त्रों में प्रहेलिकामय ब्रह्मोद्य वाक्यों की चर्चा है, जिनमें ईश्वर-शास्त्र विषयक समस्याओं का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य अश्वमेध अथवा दाशरात्र जैसे वैदिक यज्ञों से सम्बद्ध विभिन्न संस्कारों के अनिवार्य अंग होते थे।'[1] ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में ब्रह्म-विषयक समस्याओं का प्रश्नादि पूछने के रूप में उल्लेख है।[2] 'कौषीतकि ब्राह्मण' (२७।१४) में 'ब्रह्मोद्य' का 'ब्रह्म-वद्य', तथा 'तैत्तरीय संहिता' (२।५।८।३) में 'ब्रह्म-वाद्य', रूप मिलता है। 'ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य'[3] अथवा कथा के रूप में 'ब्रह्मोद्य' शैली के एकाधिक साक्ष्य मिलते है ।[4] टीकाकार[5] और कोषकारों[6] ने ब्रह्मविद्या सम्बन्धी प्रसंग में इसका उल्लेख किया है।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रवल्हिका या प्रवल्हिता शैली जो 'ब्रह्मोद्य' के रूप में रूढ़ हो गई थी, ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा के लिए वैदिक-काल में प्रचलित थी। स्वभावतः इसकी भाषा गूढ़ार्थक तथा प्रतीक प्रधान होती थी। ऋग्वेद के 'अस्यवामीय-सूक्त' के अधिकांश मंत्रों की भाषा स्वभावतः इस प्रकार की है। संस्कृत-साहित्य में प्रचलित 'प्रहेलिका' शैली और वैदिक 'प्रवल्हिका' में स्वरूप और प्रयोजन दोनों की दृष्टि से अन्तर है। संस्कृत-साहित्य की प्रहेलिका-रचना का उद्देश्य कलात्मक-योजना, बुद्धि-

---

१. देखिए—वैदिक इण्डेक्स, भाग २ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ८७

२. 'ब्राह्मणा भगवन्तो हन्तामिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति।' (अर्थात् 'पूजनीय ब्राह्मणगण ! अब मैं इन (याज्ञवल्क्य) से दो प्रश्न पूछूंगी। यदि ये मेरे उन प्रश्नों का उत्तर दे देंगे तो आपमें से कोई भी इन्हें ब्रह्म सम्बन्धी वाद में नहीं जीत सकेगा।')
—बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।८।१ तथा—शतपथ ब्राह्मण, ४।६।६।२०;११।४।१।२;
—एतरेय ब्राह्मण, ५।२५

३. 'ब्रह्मप्रतिपादक : शब्द :'।—वाचस्पत्यम्' (षष्ठ भाग),

४. 'यद्यद्रोचते विप्रेभ्यस्तत्तद्द्यादमत्सर :।
ब्रह्मोद्याश्च कथा: कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥' —मनुस्मृति, ३।२३१
'ब्रह्मोद्याः कथाः कुर्वन्नन्याश्च निरवद्या विद्यागोष्ठीर्भावयन्कदाचिदासाञ्चक्रे।'
—हर्षचरितम्, प्रथम उच्छ्वास, पृ० १२; 'ब्रह्मोद्या सा कथा यस्यामुच्यते ब्रह्म शाश्वतम्।' (शंकरकवि विरचित 'संकेत' से उद्धृत)।

५. 'परमात्म निरूपक परा: कथाञ्च कुर्य्यात्।' (कुल्लूलभट्ट), —शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत

६. 'ब्रह्मणोवेदस्य वदनम्। ब्रह्मणो वाक्यम्। ब्रह्म+वद+अयम।' —शब्द कल्पद्रुम, 'प्लेफुल डिस्कशन ऑफ थ्योलोजीकल कुश्चन और प्रोबलम्स्, रिलेटिंग टु सैक्रेड कुश्चन।'
—मॉनियर विलियम्स, (संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी)।

वैशिष्ट्य का प्रदर्शन तथा उक्ति वैचित्र्य मात्र रहता है।[1] और इसी अर्थ में राजशेखर ने प्रवल्हिका' शब्द का प्रयोग भी किया है। ('प्रश्नोत्तर प्रवल्हिकादिकं च वाक्केलि।') 'प्रवल्हिका' में वैचारिक अनुभूति की अभिव्यक्ति, प्रतीक आदि के माध्यम से, होती थी। उद्देश्य और स्वरूप की दृष्टि से उलटवाँसी शैली बहुत कुछ प्रवल्हिका या प्रवल्हिता के निकट की प्रतीत होती है। परन्तु उलटवाँसी शैली में जितनी विरोधमूलकता को प्रश्रय रहता है, उतना प्रवल्हिका शैली में नहीं। और भी, देश-काल एवं प्रयोक्ता भेद से दोनों में अन्तर सम्भव है।

(२) **कुतूहलाध्यायी तथा वैनोदिक**—जैसाकि इन विशिष्ट नामों को पढ़ कर प्रतीत होता है, इस प्रकार की रचना से पाठक या श्रोता के मस्तिष्क में कौतूहल की विवृत्ति सहज ही हो उठती है। 'कुतूहलाध्यायी' में अर्थ को कुछ ऐसे गूढ़ार्थक शब्दों में निहित किया जाता है कि पाठक या श्रोता सहज ही प्रयोक्ता के मन्तव्य को नहीं समझ पाता। 'अग्नि-पुराण' के एक उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि गोष्ठी के बीच, इस रचना-शैली के द्वारा प्रयोक्ता अपना बुद्धि-कौशल दिखाता होगा।[2] कुतूहलाध्यायी के समान ही, विनोदमात्र के लिए, 'वैनोदिक' शैली का उल्लेख मिलता है।[3] राजशेखर ने वैनोदिक का उल्लेख किया है।[4]

उन दोनों शैलियों में लिखित काव्य के उदाहरण पृथक् से नहीं मिलते। अतः इनके विषय में विशेष रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि जहाँ इन शैलियों का उद्देश्य कौतूहल सृष्टि कर विनोद कराना मात्र है, वहाँ उलटवाँसी-शैली में, अद्भुत की सम्यक्-योजना रहते हुए भी, वैचारिक या साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति कराना है। दोनों शैलियों के प्रयोक्ताओं के मानसिक स्तर में भी पर्याप्त अन्तर रहता है। कुतू-हलाध्यायी और वैनोदिक में कौतूहल का वैदग्ध्य श्लिष्टादि पदों की योजना से रहता है। परन्तु उलटवाँसी में यह कौतूहल असम्बद्धता या विरोधाश्रय के कारण रहता है।

(३) **कूट या दृष्टकूट**—संस्कृत में 'कूट' शब्द का प्रयोग गूढ़ार्थक शैली, वाणी का

---

१. 'प्रहेलिका क्रीड़ार्थाः वादार्थाश्च।' —कामसूत्र, १।३।१५
'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते ता प्रहेलिका॥' —विदग्धमुखमण्डन, (कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १३ से)
'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्ति वैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥' —साहित्यदर्पण, १०।१३

२. 'गोष्ठ्यां कुतूहलाध्यायी।' —अग्निपुराण, पृ० ३६६

३. 'यह एक प्रकार का गूढार्थ काव्य ही है, जिसका उद्देश्य केवल विनोद है।' —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० ११

४. 'वैनोदिकं कामदेवः'—काव्यमीमांसा, पृ० २

सम्यक् रूप से समझ सकता है।[1] इस ग्रन्थग्रन्थि प्रयोग में अलंकार योजना की दक्षता, व्याकरण का कौशल, दर्शन की निपुणता आदि की बहुज्ञता महत्त्वपूर्ण होती है। निम्न लिखित श्लोक में नल तथा नल के साथ चार देवों का एक साथ वर्णन करने में श्री हर्ष ने श्लेष चातुर्य के द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन किया है—

'देव: पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नल: खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वर: कतर: पुनरस्ते ।।'[2]

अर्थात् 'हे विदुषि, तुम इस कान्तिमान् नैषधराज नल को पतिरूप में वरण करके निर्णय क्यों नहीं कर लेती हो। यदि तुम नल न समझकर उसे छोड़ दोगी तो तुम्हें हानि होगी। उससे श्रेष्ठ वर कौन हो सकता है।' इस श्लोक के 'धराजगत्या' पद का अर्थ, नल के अतिरिक्त, इन्द्र (वज्रधारी), अग्नि (मेष-वाहन), यम (महिष-वाहन) और वरुण (जलाधीश) पक्षों में भी निर्वाहित होता है। इसी प्रकार 'अतिमहानलाभो' के अनेक अर्थ लगते हैं।

सामान्यत: दृष्टकूट और ग्रन्थग्रन्थि शैली, शिल्प की एकता के कारण एक ही समझी जाती रही है। ग्रन्थग्रन्थि शब्द का प्रयोग महाभारत में मिलता है, फिर भी महाभारत के कूटश्लोक इस नाम से प्रसिद्ध न होकर 'दृष्टकूट' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। ग्रन्थग्रन्थि शैली का विकास काव्य-शास्त्रीय संस्कृत ग्रंथों में ही देखने को मिलता है। इस शैली के प्रयोक्ता कवियों में भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कूट-काव्य के व्यापक परिवेश में यद्यपि ग्रन्थग्रन्थि का भी समावेश हो जाता है, फिर भी प्रयोक्ता और शिल्प-भेद से दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। दृष्टकूट के प्रयोक्ता का उद्देश्य अर्थ को गोपन करना रहता है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि में अर्थ को गूढ़ रखने के साथ-साथ 'प्राज्ञमन्यमान' पण्डितों को अर्थोद्बोधन केलिए चुनौती का स्वर भी प्रेरणा देता है। दृष्टकूट श्लोक में प्रारम्भ से अन्त तक प्राय: एकाधिक शब्दों में कूटतत्त्व का निर्वाह होता है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि में 'ग्रन्थि' की योजना शब्द या पद विशेष में हो सकती है। दृष्टकूट के प्रणेता केलिए काव्यशास्त्रीय, व्याकरणिक, दार्शनिक ज्ञान की बहुज्ञता अनिवार्य नहीं, जबकि पाण्डित्य-प्रदर्शन केलिए ग्रन्थग्रन्थि की योजना इस प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा रखती है। दृष्टकूट में अन्तर्कथा, कवि-समय आदि की रूढ़ियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है, पर ग्रन्थियों के निर्माण में रूढ़ियों की अपेक्षा अनोखी सूझबूझ से अधिक काम

---

१. 'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खल: खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृत दृढग्रन्थि: समासादय-
त्वेतत्काव्य रसोर्मिमज्जन सुखव्यासज्जनं सज्जन: ।।'
—नैषधमहाकाव्यम् सर्ग २२ (कवि प्रशस्ति-३)

२. —नैषध महाकाव्यम्, १३।३३

लिया जाता है।

गूढ़ार्थक होने की दृष्टि से ग्रन्थग्रन्थि और उलटवाँसी शैली एक परिवार की हैं, परन्तु प्रयोक्ता-प्रयोजन तथा शिल्प की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। ग्रन्थियों की योजना में काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन आदि के ज्ञान का चमत्कार रहता है। उलटवाँसी के कथन में किसी प्रकार की असम्बद्धता रहती है और प्रतीकों, सम्प्रदाय विशेष से (रूढ़) पारिभाषिक शब्दों का आग्रह देखने को मिलता है। इस शैली में काव्यशास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत वैचारिकता अथवा साधनाजन्य लोकोत्तर अनुभूति की सघनता की प्रेरणा रहती है। विरोधाश्रय इसका मुख्य अंग है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि में ऐसा आवश्यक नहीं। कल्पना तत्त्व दोनों ही शैलियों में महत्त्वपूर्ण है।

(५) **प्रहेलिका**—आचार्य वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में 'प्रहेलिका' का प्रयोग काव्य-रचना शैली, वाद अथवा मनोविनोद-काव्य के रूप में किया है।[1] मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त प्रहेलिका शैली, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से, वैदिक 'प्रवल्हिका' (समस्यामय) से भिन्न है। दोनों में गूढ़ार्थक-रचना होती है,[2] परन्तु, प्रवल्हिका-शैली में जीव-ब्रह्म, सृष्टि, प्रकृति आदि विषयों को लेकर रचना हुई है; तो प्रहेलिका शैली में उक्ति का चमत्कार, बुद्धि-कौशल के आधार पर 'मनोरंजन' प्रयोजन दिखाई देता है। पहले रूप में व्यापक अर्थान्तर की व्यंजना रहती है, तो दूसरे में वर्णन अथवा श्लेष के आधार पर शब्द-क्रीड़ा। प्रहेलिका में उत्तरापेक्षी प्रश्न अनिवार्य रूप में रहता है।

संस्कृत-साहित्य में प्रहेलिका-शैली का सम्यक् विकास हुआ है। प्रहेलिका एक विशेष प्रकार की रचना होती है, जिसमें एक उत्तरापेक्षी प्रश्न होता है अथवा उसमें प्रयुक्त शब्दों से किसी अर्थान्तर की व्यंजना परोक्ष रूप से की जाती है।'[3] गोष्ठी के अन्तर्गत, जनसमूह के बीच, रहस्य का गोपन करने में या दूसरों को भ्रमित करने में, प्रहेलिकाओं का उपयोग होता है।[4] प्रहेलिका-मार्ग से बुद्धि विशुद्ध होती है, सुगम तथा दुर्गम-रचना का ज्ञान होता है। विद्वानों के प्रयोग से प्रश्नोत्तर आदि को समझना पड़ता है। इसके बिना जाने दूसरों (अन्य रचनाओं) में परिश्रम करने पर भी इस रचना का ज्ञाता नहीं

---

१. 'प्रहेलिका क्रीड़ार्थाः वादार्थाश्च' —कामसूत्र, १।३।१५

२. —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १२

३. 'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते ताः प्रहेलिकाः॥'
—विदग्धमुखमण्डन, (कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १३ से)

४. 'क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
पर व्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥' —काव्यादर्श, ३।९७

सम्यक् रूप से समझ सकता है।[१] इस ग्रन्थग्रन्थि प्रयोग में अलंकार योजना की दक्षता, व्याकरण का कौशल, दर्शन की निपुणता आदि की बहुज्ञता महत्त्वपूर्ण होती है। निम्न लिखित श्लोक में नल तथा नल के साथ चार देवों का एक साथ वर्णन करने में श्री हर्ष ने श्लेष चातुर्य के द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन किया है—

> 'देवः पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
> नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनरस्ते ॥'[२]

अर्थात् 'हे विदुषि, तुम इस कान्तिमान् नैषधराज नल को पतिरूप में वर्ण करके निर्णय क्यों नहीं कर लेती हो। यदि तुम नल न समझकर उसे छोड़ दोगी तो तुम्हें हानि होगी। उससे श्रेष्ठ वर कौन हो सकता है।' इस श्लोक के 'धराजगत्या' पद का अर्थ, नल के अतिरिक्त, इन्द्र (वज्रधारी), अग्नि (मेष-वाहन), यम (महिष-वाहन) और वरुण (जलाधीश) पक्षों में भी निर्वाहित होता है। इसी प्रकार 'अतिमहानलाभो' के अनेक अर्थ लगते हैं।

सामान्यतः दृष्टकूट और ग्रन्थग्रन्थि शैली, शिल्प की एकता के कारण एक ही समझी जाती रही है। ग्रन्थग्रन्थि शब्द का प्रयोग महाभारत में मिलता है, फिर भी महाभारत के कूटश्लोक इस नाम से प्रसिद्ध न होकर 'दृष्टकूट' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। ग्रन्थग्रन्थि शैली का विकास काव्य-शास्त्रीय संस्कृत ग्रंथों में ही देखने को मिलता है। इस शैली के प्रयोक्ता कवियों में भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कूट-काव्य के व्यापक परिवेश में यद्यपि ग्रन्थग्रन्थि का भी समावेश हो जाता है, फिर भी प्रयोक्ता और शिल्प-भेद से दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। दृष्टकूट के प्रयोक्ता का उद्देश्य अर्थ को गोपन करना रहता है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि में अर्थ को गूढ़ रखने के साथ-साथ 'प्राज्ञमन्यमान' पण्डितों को अर्थोद्बोधन केलिए चुनौती का स्वर भी प्रेरणा देता है। दृष्टकूट श्लोक में प्रारम्भ से अन्त तक प्रायः एकाधिक शब्दों में कूटतत्त्व का निर्वाह होता है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि में 'ग्रन्थि' की योजना शब्द या पद विशेष में हो सकती है। दृष्टकूट के प्रणेता केलिए काव्यशास्त्रीय, व्याकरणिक, दार्शनिक ज्ञान की बहुज्ञता अनिवार्य नहीं, जबकि पाण्डित्य-प्रदर्शन केलिए ग्रन्थग्रन्थि की योजना इस प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा रखती है। दृष्टकूट में अन्तर्कथा, कवि-समय आदि की रूढ़ियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है, पर ग्रन्थियों के निर्माण में रूढ़ियों की अपेक्षा अनोखी सूझबूझ से अधिक काम

---

१. 'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृत दृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्य रसोर्मिमज्जन सुखव्यासज्जनं सज्जनः॥'
—नैषधमहाकाव्यम् सर्ग २२ (कवि प्रशस्ति-३)

२. —नैषध महाकाव्यम्, १३।३३

लिया जाता है।

गूढ़ार्थक होने की दृष्टि से ग्रन्थग्रन्थि और उलटवाँसी शैली एक परिवार की हैं, परन्तु प्रयोक्ता-प्रयोजन तथा शिल्प की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। ग्रन्थियों की योजना में काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन आदि के ज्ञान का चमत्कार रहता है। उलटवाँसी के कथन में किसी प्रकार की असम्बद्धता रहती है और प्रतीकों, सम्प्रदाय विशेष से (रूढ़) पारिभाषिक शब्दों का आग्रह देखने को मिलता है। इस शैली में काव्यशास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत वैचारिकता अथवा साधनाजन्य लोकोत्तर अनुभूति की सघनता की प्रेरणा रहती है। विरोधाश्रय इसका मुख्य अंग है, जबकि ग्रन्थग्रन्थि में ऐसा आवश्यक नहीं। कल्पना तत्त्व दोनों ही शैलियों में महत्त्वपूर्ण है।

(५) प्रहेलिका—आचार्य वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में 'प्रहेलिका' का प्रयोग काव्य-रचना शैली, वाद अथवा मनोविनोद-काव्य के रूप में किया है।[1] मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त प्रहेलिका शैली, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से, वैदिक 'प्रवल्हिका' (समस्यामय) से भिन्न है। दोनों में गूढ़ार्थक-रचना होती है,[2] परन्तु, प्रवल्हिका-शैली में जीव-ब्रह्म, सृष्टि, प्रकृति आदि विषयों को लेकर रचना हुई है; तो प्रहेलिका शैली में उक्ति का चमत्कार, बुद्धि-कौशल के आधार पर 'मनोरंजन' प्रयोजन दिखाई देता है। पहले रूप में व्यापक अर्थान्तर की व्यंजना रहती है, तो दूसरे में वर्णन अथवा श्लेष के आधार पर शब्द-क्रीड़ा। प्रहेलिका में उत्तरापेक्षी प्रश्न अनिवार्य रूप में रहता है।

संस्कृत-साहित्य में प्रहेलिका-शैली का सम्यक् विकास हुआ है। प्रहेलिका एक विशेष प्रकार की रचना होती है, जिसमें एक उत्तरापेक्षी प्रश्न होता है अथवा उसमें प्रयुक्त शब्दों से किसी अर्थान्तर की व्यंजना परोक्ष रूप से की जाती है।'[3] गोष्ठी के अन्तर्गत, जनसमूह के बीच, रहस्य का गोपन करने में या दूसरों को भ्रमित करने में, प्रहेलिकाओं का उपयोग होता है।[4] प्रहेलिका-मार्ग से बुद्धि विशुद्ध होती है, सुगम तथा दुर्गम-रचना का ज्ञान होता है। विद्वानों के प्रयोग से प्रश्नोत्तर आदि को समझना पड़ता है। इसके बिना जाने दूसरों (अन्य रचनाओं) में परिश्रम करने पर भी इस रचना का ज्ञाता नहीं

---

१. 'प्रहेलिका क्रीड़ार्थाः वादार्थाश्च'
—कामसूत्र, १।३।१५

२. —कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १२

३. 'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते ताः प्रहेलिकाः॥'
—विदग्धमुखमण्डन, (कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १३ से)

४. 'क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
पर व्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥'
—काव्यादर्श, ३।९७

हो सकता।'[1] प्रहेलिका शैली की प्रकृति विशेष के कारण साहित्यदर्पणकार ने इसे किसी अलंकार के अन्तर्गत नहीं माना। उनका कहना है कि 'रस की बाधक होने के कारण, प्रहेलिका अलंकार नहीं है। वह उक्ति की विचित्रता मात्र होती है। च्युताक्षरा, च्युतदत्ताक्षरा उसके भेद होते हैं।'[2] उटलटवाँसी का उक्ति-वैचित्र्य, अर्थोद्बोधन के साथ ही पाठक या श्रोता को शान्तरस की ओर उन्मुख कर देता है। अपने विशेष कथ्य केलिए उलटवाँसी शैली अलंकार का कार्य करती है।

रचना के आधार पर आचार्य दण्डी ने समागता, वंचिता, व्युत्क्रांता, प्रमुषिता, समानरूपा, परुषा, संख्याता, प्रकल्पिता, नामान्तरिता, निभृत समानशब्दा, संमूढा, परिहारिका, एकच्छन्ना, उभयच्छन्ना, संकीर्णा, ये सोलह भेद उदाहरण सहित दिये हैं।[3] इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों और सुभाषित रत्न भण्डारों में प्रभूत प्रहेलिका-साहित्य उपलब्ध होता है। उलटवाँसी-रचना के अनेक उदाहरण प्रहेलिका भेदों में समाहित हो सकते है, फिर भी उन्हें प्रहेलिका नहीं का जा सकता। दोनों शैलियों में प्रयोक्ता, प्रयोजन और शिल्प की दृष्टि से अन्तर है। यथा प्रहेलिका के 'निभृता' भेद में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के साधारण धर्म को प्रकट करने वाली वाणी अर्थ-गोपन करके अन्य अर्थ देती है[4]—

'हृतद्रव्यं नरं त्यक्त्वा धनवन्तं व्रजन्ति काः।
नानाभङ्गिसमाकृष्ट लोका वेश्या न दुर्धराः॥[5]

अर्थात् 'कौन हैं जो अपहृत धन वाले लोगों को परित्यक्त करके, नाना-भाव-भंगियों से लोक को आकृष्ट करके धनवान् की ओर जाती हैं? वेश्या हैं, नदियाँ नहीं।' (सरिता पक्ष में) 'कौन हैं जो (तटस्थ तृण-ओषधि का उन्मूलन करके उन्हें छोड़कर, अपनी तरंग भंगिमाओं से लोक को आकृष्ट करके, कठिनाई पूर्वक पर्वत से निकल कर धनवान् सागर की ओर जाती हैं? वेश्या नहीं, सरिताएँ हैं।' यदि यह 'वानी' कबीर आदि किसी सन्त की होती, तो इनमें 'वेश्या' के रूप में माया के वर्णन का भ्रम हो सकता था। उलटवाँसी-पद में 'नहीं' आदि नकारात्मक शब्दों के द्वारा, अर्थोद्बोधन केलिए, किसी प्रकार का वर्जन-

---

१. 'इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शितः।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः॥
विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकर दुष्करमार्गमवैति हि।
न हि तदन्यनयेपि कृतश्रमः प्रभुरिमं नयमेतुमिदं विना॥' —काव्यादर्श, ३।१२५

२. 'रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्ति वैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥' —साहित्यदर्पण, १०।१३

३. —काव्यादर्श, ३।९८-१०५

४. 'निभृता निभृतान्यार्था तुल्यधर्मस्पृशा गिरा।' —काव्यादर्श, ३।१०२

५. —काव्यादर्श, ३।११७

चमत्कार नहीं रहता। प्रहेलिका के समान उसमें श्लेष के बल पर किसी प्रकार का उक्ति-कौशल नहीं रहता। उसमें साधनात्मक विचार-दशा का वर्णन किसी प्रकार की दृष्ट असम्बद्धता के बल पर रहता है। प्रहेलिका में श्रोता या पाठक को बुद्धि-व्यामोह उत्पन्न कराना उद्देश्य रहता है जबकि उलटवाँसी की असम्बद्धता का प्रयोजन साधन या साम्प्रदायिक जिज्ञासु के मन से व्यामोह की स्थिति को दूर करना रहता है। अतः प्रयोजन और प्रयोक्ता-भेद से दोनों शैलियों का अपना पृथक्-पृथक् क्षेत्र है।

(६) **वक्रोक्ति शैली**—'वक्रोक्ति' का प्रयोग परिहासपूर्ण संभाषण,[1] संकेत या गूढ़वचन,[2] व्यंग्योक्ति[3] आदि रूपों में हुआ है। श्लेष के द्वारा वक्रोक्ति की शोभा में श्रीवृद्धि होती है।[4] शैली के रूप में वक्रोक्ति का क्षेत्र व्यापक है। वह 'वैदग्ध्य-भंगीभणति' के रूप में काव्य की शोभा बढ़ाती है। स्थल विशेष पर श्लेष या काकु के बल पर अर्थांतर की कल्पना की जाती है।[5] वक्रोक्ति शैली में, विचित्र प्रकार की अभिधा के रूप में[6] सम्पूर्ण प्रसंग अथवा प्रसंगों में वक्र कथन का निर्वाह होता है। जैसे निम्नलिखित उदाहरण में रावण के कथन पर अंगद का उत्तर वक्रोक्ति पर आश्रित है। देखिए—

'जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन ॥
चलइ बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई ॥
सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहि भय रहा लुकाइ ॥
सत्य कहहि दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमरें कटक अस तो सन लरत जो सोह ॥
जद्यपि लघुता राम कहुँ तोहि बधें बड़ दोष।
तदपि कठिन दसकंठ सुन छत्र जाति कर रोष ॥'[7]

---

१. 'ऐषापि बुध्यत एवैतावतीवक्रोक्तीः। इयमपि जानाति परिहासजल्पितानि।'
—कादम्बरी

२. 'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना।
नो जानाति सविभ्रमांगवलना वक्रोक्ति संसूचनम् ॥' —अमरुक शतकं, श्लोक २८

३. 'वक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सड़सिन्ह मनहुँ काढ़त भट दससीस ॥'
—रामचरितमानस (लंका काण्ड),

४. 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषुश्रियम्।' —काव्यादर्श, २।३६३

५. 'वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यांपरार्थ प्रकल्पनम्।' —कुवलयानन्दः, ६२।१५६

६. 'प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरुच्यते।'
—वक्रोक्तिजीवितम्, १।१० (वृत्ति)

७.—रामचरितमानस (लंका काण्ड),

वक्रोक्ति शैली में सामान्यव्यवहार के शब्दों की योजना से, कवि अपने प्रयोग-कौशल के द्वारा उनमें विशेष चमत्कार की सृष्टि करता है। कथन की ऐसी वक्रता विदग्ध पाठक या श्रोता की अपेक्षा रखती है।

गूढ़ार्थक होने के कारण यह शैली उलटवाँसी परिवार की है, परन्तु दोनों शैलियों में गूढ़ोक्ति भिन्न प्रकार की होती है। वक्रोक्ति में सामान्य कथन ही, प्रयोक्ता के वैदग्ध्य से, गूढ़ तथा चमत्कारपूर्ण बन पाता है। उलटवाँसी में साधनात्मक अनुभूति अथवा वैचारिक स्थिति का कथन विरोध गर्भित असम्बद्धता को लेकर रूढ़ एवं प्रतीक शब्दों के माध्यम से रहता है। वक्रोक्ति में श्लेष तथा काकु के द्वारा प्रयोग-कौशल रहता है, उलटवाँसी में यह कौशल परम्पराश्रित रूढ़ शब्दों, प्रतीक शब्दों तथा नए-नए प्रतीकों की योजना में रहता है। दोनों शैलियों का प्रयोजन-क्षेत्र भी पृथक्-पृथक् है।

(७) **अन्योक्ति-शैली**—'अन्योक्ति पद्धति'[1] का क्षेत्र व्यापक है। अन्योक्ति की सीमा में समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकार ही नहीं, काव्य, नाटक के अतिरिक्त गद्य-साहित्य भी आ जाता है। अन्योक्ति काव्य का सदा एक स्थायी तत्त्व रहा है। इसके बिना किसी भी युग के कलाकार की कला का यथेष्ट निर्वाह नहीं हो सका है।[2] अन्योक्ति के मूल में आचार्य भरत के 'अन्यापदेश'[3] की प्रेरणा है, जिसमें हृदयस्थ किसी अर्थ के बोधक-भाव का कथन रहता है। अन्योक्ति के क्षेत्र में कवि की मार्मिकता और सौंदर्य भावना के स्फुरण का बहुत अच्छा अवकाश रहता है, पर इसमें अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं।'[4] अन्योक्तियाँ प्रायः लौकिक विषय प्रधान ही होती हैं, कभी-कभी आध्यात्मिक विषय को लेकर भी अन्योक्तियाँ रची जाती हैं। 'व्यंग्य प्रधानता अन्योक्ति का प्रधान गुण है।'[5] अन्योक्ति-शैली के प्रयोगों केलिए संस्कृत और हिन्दी साहित्य दोनों ही बहुत धनी हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि पण्डित राज जगन्नाथ का 'भामिनी विलास' तथा

---

१. (आचार्य शुक्ल)—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०९-११

२. —हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, (दो शब्द) पृ० ८

३. 'हृदयस्थस्य भावस्य गूढ़ार्थस्य विभावकम्।
अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः॥' —नाट्यशास्त्र, १७।३६

तथा 'इफ पोइट्री इज ए क्रिटिसिज्म ऑफ लाइफ, 'अन्यापदेश' इज पोइट्री एवव ऑल अदर टाइप्स।'

डॉ० राघवन—सम कन्सैप्ट्स ऑफ द अलंकारशास्त्र, पृष्ठ ८३

४. (आचार्य शुक्ल) —हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६१

५. —हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ० ८२

हिन्दी के प्रौढ़ कवि दीनदयाल गिरि[1] का 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' अन्योक्ति शैली केलिए साहित्य की विशेष निधि माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त बिहारी, रहीम, वृन्द, रसनिधि, गिरिधर राय आदि कवियों के स्फुट अन्योक्ति पद लोकमें प्रसिद्ध हैं।

अन्योक्ति प्रधान दोहों में अर्थ परम्परा सन्निहित रहती है, कुण्डलिया आदि छन्दों में, व्यंजना के कारण अर्थ की व्यावृत्ति बनी रहती है। उदाहरण केलिए एक दोहा प्रस्तुत है—

'स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि परि, तूं पंछीहि न मारि।।'[2]

अर्थात् 'हे विहंग, तू विचार कर देख तो कि जो तू दूसरों केलिए शिकार करता है, इसमें तेरा परिश्रम सब व्यर्थ ही है। न तो तेरा स्वार्थ ही सिद्ध होता है और न कोई पुण्य ही होता है, जिससे वह तेरा परमार्थ का कार्य समझा जाय। अतः हे पक्षी, तू पराये हाथ में पड़कर छोटे-छोटे पक्षियों को मत मारा कर।' यहाँ बिहंग, बाज, पंछी आदि प्रयोग अप्रस्तुत हैं, प्रस्तुत है राजा जयसिंह को समझाना, जो किसी के कहने अथवा किसी को प्रसन्न करने केलिए निरुपाय जनता को कष्ट देता था। व्यंजना-व्यापार* से यह कथन उस सेवक के प्रति भी हो सकता है, जो दुष्ट स्वामी के इशारे मात्र से अनर्थ में प्रवृत्त होता है। यह उक्ति व्यर्थ में अत्याचार करने वाले सभी केलिए चरितार्थ हो सकती है। उक्त दोहे में 'बिहंग' शब्द का प्रयोग साभिप्राय हुआ है। 'विहंग' शब्द सूर्य केलिए भी प्रयुक्त होता है, जो उच्च-नीच, धनी-निर्धन की भावना को छोड़ कर सभी को समान रूप से प्रकाश और ऊष्मा प्रदान करता है। इसी प्रकार शृंगाराश्रित रहस्यपूर्ण अन्योक्ति पद प्रस्तुत है—

'तेरे ही अनुकूल पति कित बिनवै प्रिय बोलि।
घट में खटपट मति करै घघूंट को पट खोलि।।
घूँघट को पट खोलि देखि लालन की सोभा।
परम रम्य बुधि गम्य जासु छबि लखि जग लोभा।।
बरनै दीनदयाल कपट तजि रहु पिय नेरे।
बिमुख करावनिहार तोहि सनमुख प्रभु तेरे।।'[3]

---

१. 'दीनदयाल गिरि अत्यन्त सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्ति हिन्दी के और किसी कवि की नहीं हुईं।......इनका 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। लौकिक विषयों पर तो इन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही ही हैं, आध्यात्म पक्ष में भी दो एक रहस्यमयी उक्तियाँ इनकी हैं।'
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६१

२. —विहारी बोधिनी, दोहा ६६६

*टिप्पणी—'अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यंग्यार्थ प्रतीति होने पर भी ध्वनित्व नहीं होता, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत वृतान्त रूप व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत रूप वाच्यार्थ का ही पोषक होता है, अतः गुणीभूतव्यंग्यत्व ही होता है।'
—कुवलयानन्द, पृ० १०६

३. —अन्योक्ति कल्पद्रुम, ४।३४

इसमें नायिका 'जीवात्मा', अनुकूलपति 'परमात्मा', घूंघट 'माया', पति से विमुख कराने वाले सांसारिक विषय साधना-पथ से विचलित कराने वाले मायिक आकर्षण आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मपक्ष प्रधान एक रहस्यमयी उक्ति देखिए—

'चल चकई ! वा सरविषय जहँ नहिं रैन बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ॥
सुहृद हँस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख अंबोह मोह दुःख होय न ताके ॥
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाई न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ॥'[1]

उक्त विवेचन और उदाहरणों से अन्योक्ति-शैली का स्वरूप और क्षेत्र निश्चित हो जाता है। अन्योक्ति में अर्थ को गूढ़ रखने केलिए अप्रस्तुत का होना अनिवार्य है और इन अप्रस्तुतों के पीछे प्राय: नीति-विषयक अथवा व्यवहार-सिद्ध कथन या शिक्षाकी प्रेरणा रहती है। आध्यात्म-कथन प्रधान रूप से इस शैली का विषय नहीं है। अन्योक्ति-शैली में प्रतीक-चयन प्राय: मानवेतर सृष्टि से होता है। इस शैली में सर्वाधिक महत्त्व की बात काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि का होना है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से इसमें श्लेष, वक्रोक्ति, पर्याय आदि का होना काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है। वाक्य-प्रयोग व्याकरण सम्मत रहते हैं। अन्योक्ति में वाच्यातिशयी अर्थ होने के कारण लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का व्यापार रहता है।

अन्योक्ति के समान उलटवाँसी शैली में अर्थ तो निगूढ़ रहता ही है। प्रयोक्ता के मन्तव्य का अभिधा द्वारा सम्यक् मूल्यांकन भी नहीं हो पाता। लेकिन अपने इसी साम्य के कारण ये दोनों शैलियाँ एक नहीं कही जा सकतीं। उलटवाँसी का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिक, साधनात्मक अथवा विचार-दशा की अनुभूति को अभिव्यक्ति देना है, जबकि अन्योक्ति का क्षेत्र नीति तथा व्यवहार तक व्यापक है। उलटवाँसी का चमत्कार उक्तिगम्य असम्बद्धता के कारण रहता है[2], जबकि अन्योक्ति में असम्बद्धता का होना आवश्यक नहीं। उलटवाँसी में शास्त्र अथवा सम्प्रदाय विशेष के (रूढ़) पारिभाषिक शब्द भी प्रतीक का कार्य करते हैं, इसलिए 'इड़ा-पिंगला' केलिए प्रयुक्त 'गंगा-जमुना' आदि शब्द शुद्ध अभिधावाची होते हैं। अत: उलटवाँसी अभिधा रूप में भी हो सकती है; अन्योक्ति नहीं। उलटवाँसीशैली केलिए प्रतीक-चयन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अन्योक्ति में प्राय: मानवेतर-सृष्टि के प्रतीक ही रहते हैं।

---

१. —अन्योक्ति कल्पद्रुम, १।६५

२. 'जहाँ साधनात्मक अथवा आध्यात्म विषयक अनुभूति नहीं है, अथवा जहाँ विरोधाभास नहीं है, वहाँ हमें उलटवाँसी की खोज नहीं करनी चाहिए।'
—कबीर-एक विवेचन, पृ० ३२९

दोनों शैलियों के प्रयोक्ताओं में भी मौलिक अन्तर है। अन्योक्ति शैली में रचना रसिक कवि बिहारी भी कर सकते हैं और बाबा दीनदयालगिरि भी। परन्तु उलटवाँसी-शैली की रचना का श्रेय, जीवन की वृत्तियों से उपरमित, कबीर, दादूदयाल, भीखासाहब, यारी साहब आदि साधक-सन्तों को ही मिल पाता है। काव्यशास्त्रीय ज्ञान के बिना अन्योक्ति की रचना सम्भव नहीं है, जबकि काव्यशास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ सन्तो की उलटवाँसियों में, काव्य-कौशल के न होते हुए भी काव्यतत्व मिल जाता है। अतः 'इनमें (उलटवाँसियों में) अन्योक्ति-पद्धति द्वारा ज्ञान की सूक्ष्म बातें कही गई हैं, किन्तु स्मरण रहे कि यहाँ उलटवाँसी अन्योक्ति सादृश्य-मूलक प्रतीक-विधान के स्थान पर विरोध मूलक प्रतीक-विधान को लेकर चलती है। शब्दान्तर में विरोध-मूलक अन्योक्ति को ही उलटवाँसी कहते हैं।'[1] इतना कह देने मात्र से उलटवाँसी और अन्योक्ति शैलियाँ एक नहीं हो सकतीं। प्रयोक्ता, प्रयोजन और प्रयोग की दृष्टि से दोनों की अपनी विशेषताएँ हैं।

(८) **संध्या-भाषा शैली**—सहजयानी बौद्ध-सिद्धों के चर्यागीतों का सम्बन्ध, बोधि-चित्त की सम्यक् सप्राप्ति केलिए, विशेष प्रकार के आचरण से रहता है। यह आचरण सहजानन्द, महासुख की दशा तक पहुँचाने में सहायक होता है।[2] इस उच्च अवस्था को प्राप्त होकर 'शून्यतन्त्री-ध्वनि' का शब्द सुनने को मिलता है।[3]

इन चर्या-गीतों का सम्बन्ध लौकिक आचरण से ही नहीं रहता, वरन् इनमें विशेष प्रकार के साधनात्मक आचरण केलिए विशेष प्रतीक-संकेतों और शब्द की सन्धि द्वारा साम्प्रदायिक अर्थ को गुह्य बनाया जाता है।[4] इन चर्यागीतों की शैली संध्या या संधा-भाषा* के रूप में जानी जाती है। सिद्धों की गूढ़ार्थ रचना शैली को 'संध्या-भाषा' नाम

१.—हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ० १८३

२. 'केचित् प्रादेशिका: परिपक्वकुशला: भगवत: पञ्च प्रवेशोपायधारण पूर्वेण युगनद्ध रूप सहजानन्दफलं सततमन्वेषयन्ति तेऽपि वज्रोपम समाधिं साक्षात्कुर्वन्ति।'
(डॉ० प्रबोधचन्द बागची) —चर्यागीतिकोष, पृ० ३

३. 'बाजइ अलो सहि हेरुअ वीणा। सुन तान्तिधनि विलसइ रुणा॥'
—चर्यागीतिकोष, पृ० ५८

४. 'रहस्यावादियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियों से सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे, जैसे—'काया तरुवर पंच बिड़ाल।' पंच बिड़ाल=बौद्ध शास्त्रों में निरूपित पंच प्रतिबंध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह।······इसी से वे अपनी बानियों को 'संध्या भाषा' कहते हैं।' डॉ० विनोयतोष भट्टाचार्य,
(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उद्धृत—हिन्दीसाहित्य का इतिहास, पृ० ११-१२)

***टिप्पणी**—आलोचकों का, संध्या-भाषा शैली के शिल्प और अर्थ में तो, मतभेद नहीं है,
(शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर)

इसमें नायिका 'जीवात्मा', अनुकूलपति 'परमात्मा', घूंघट 'माया', पति से विमुख कराने वाले साँसारिक विषय साधना-पथ से विचलित कराने वाले मायिक आकर्षण आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मपक्ष प्रधान एक रहस्यमयी उक्ति देखिए—

'चल चकई ! वा सरविषय जहँ नहिं रैन बिछोह ।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ।।
सुहृद हँस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके ।
भोगत सुख अंबोह मोह दुःख होय न ताके ।।
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाई न सकई ।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ।।'[1]

उक्त विवेचन और उदाहरणों से अन्योक्ति-शैली का स्वरूप और क्षेत्र निश्चित हो जाता है। अन्योक्ति में अर्थ को गूढ़ रखने केलिए अप्रस्तुत का होना अनिवार्य है और इन अप्रस्तुतों के पीछे प्रायः नीति-विषयक अथवा व्यवहार-सिद्ध कथन या शिक्षाकी प्रेरणा रहती है। आध्यात्म-कथन प्रधान रूप से इस शैली का विषय नहीं है। अन्योक्ति-शैली में प्रतीक-चयन प्रायः मानवेतर सृष्टि से होता है। इस शैली में सर्वाधिक महत्त्व की बात काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि का होना है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से इसमें श्लेप, वक्रोक्ति, पर्याय आदि का होना काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है। वाक्य-प्रयोग व्याकरण सम्मत रहते हैं। अन्योक्ति में वाच्यातिशयी अर्थ होने के कारण लक्षणा-व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का व्यापार रहता है।

अन्योक्ति के समान उलटवाँसी शैली में अर्थ तो निगूढ़ रहता ही है। प्रयोक्ता के मन्तव्य का अभिधा द्वारा सम्यक् मूल्यांकन भी नहीं हो पाता। लेकिन अपने इसी साम्य के कारण ये दोनों शैलियाँ एक नहीं कही जा सकतीं। उलटवाँसी का एकमात्र उद्देश्य आध्यात्मिक, साधनात्मक अथवा विचार-दशा की अनुभूति को अभिव्यक्ति देना है, जबकि अन्योक्ति का क्षेत्र नीति तथा व्यवहार तक व्यापक है। उलटवाँसी का चमत्कार उक्तिगम्य असम्बद्धता के कारण रहता है[2], जबकि अन्योक्ति में असम्बद्धता का होना आवश्यक नहीं। उलटवाँसी में शास्त्र अथवा सम्प्रदाय विशेष के (रूढ़) पारिभाषिक शब्द भी प्रतीक का कार्य करते हैं, इसलिए 'इड़ा-पिंगला' केलिए प्रयुक्त 'गंगा-जमुना' आदि शब्द शुद्ध अभिधावाची होते हैं। अतः उलटवाँसी अभिधा रूप में भी हो सकती है; अन्योक्ति नहीं। उलटवाँसीशैली केलिए प्रतीक-चयन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अन्योक्ति में प्रायः मानवेतर-सृष्टि के प्रतीक ही रहते हैं।

---

१. —अन्योक्ति कल्पद्रुम, १।६५

२. 'जहाँ साधनात्मक अथवा आध्यात्म विषयक अनुभूति नहीं है, अथवा जहाँ विरोधाभास नहीं है, वहाँ हमें उलटवाँसी की खोज नहीं करनी चाहिए।'
—कबीर-एक विवेचन, पृ० ३२६

दोनों शैलियों के प्रयोक्ताओं में भी मौलिक अन्तर है। अन्योक्ति शैली में रचना रसिक कवि बिहारी भी कर सकते हैं और बाबा दीनदयालगिरि भी। परन्तु उलटबाँसी-शैली की रचना का श्रेय, जीवन की वृत्तियों से उपरमित, कबीर, दादूदयाल, भीखासाहब, यारी साहब आदि साधक-सन्तों को ही मिल पाता है। काव्यशास्त्रीय ज्ञान के बिना अन्योक्ति की रचना सम्भव नहीं है, जबकि काव्यशास्त्रीय ज्ञान से अनभिज्ञ सन्तों की उलटबाँसियों में, काव्य-कौशल के न होते हुए भी काव्यतत्व मिल जाता है। अतः 'इनमें (उलटबाँसियों में) अन्योक्ति-पद्धति द्वारा ज्ञान की सूक्ष्म बातें कही गई है, किन्तु स्मरण रहे कि यहाँ उलटबांसी अन्योक्ति सादृश्य-मूलक प्रतीक-विधान के स्थान पर विरोध मूलक प्रतीक-विधान को लेकर चलती है। शब्दान्तर मे विरोध-मूलक अन्योक्ति को ही उलटबांसी कहते हैं।'[1] इतना कह देने मात्र से उलटबाँसी और अन्योक्ति शैलियां एक नहीं हो सकतीं। प्रयोक्ता, प्रयोजन और प्रयोग की दृष्टि से दोनों की अपनी विशेषताएँ हैं।

(८) **संध्या-भाषा शैली**—सहजयानी बौद्ध-सिद्धों के चर्यागीतों का सम्बन्ध, बोधि-चित्त की सम्यक् सप्राप्ति केलिए, विशेष प्रकार के आचरण से रहता है। यह आचरण सहजानन्द, महासुख की दशा तक पहुँचाने में सहायक होता है।[2] इस उच्च अवस्था को प्राप्त होकर 'शून्यतन्त्री-ध्वनि' का शब्द सुनने को मिलता है।[3]

इन चर्या-गीतों का सम्बन्ध लौकिक आचरण से ही नहीं रहता, वरन् इनमें विशेष प्रकार के साधनात्मक आचरण केलिए विशेष प्रतीक-संकेतों और शब्द की सन्धि द्वारा साम्प्रदायिक अर्थ को गुह्य बनाया जाता है।[4] इन चर्यागीतों की शैली संध्या या संधा-भाषा* के रूप में जानी जाती है। सिद्धों की गूढ़ार्थ रचना शैली को 'संध्या-भाषा' नाम

१.—हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ० १८३

२. 'केचित् प्रादेशिकाः परिपक्वकुशलाः भगवतः पञ्च प्रवेशोपायधारण पूर्वेण युगनद्ध रूप सहजानन्दफलं सततमन्वेषयन्ति तेऽपि वज्रोपम समाधि साक्षात्कुर्वन्ति।'
(डॉ० प्रबोधचन्द बागची) —चर्यागीतिकोष, पृ० ३

३. 'बाजइ अलो सहि हेरुअ वीणा। सुन तान्तिधनि विलसइ रुणा॥'
—चर्यागीतिकोष, पृ० ५८

४. 'रहस्यावादियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियों से सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे, जैसे—'काया तरुवर पंच विड़ाल।' पंच बिड़ाल=बौद्ध शास्त्रों में निरूपित पंच प्रतिबंध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह।......इसी से वे अपनी बानियों को 'संध्या भाषा' कहते हैं।' डॉ० विनोयतोष भट्टाचार्य,
(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उद्धृत—हिन्दीसाहित्य का इतिहास, पृ० ११-१२)

*टिप्पणी—आलोचकों का, संध्या-भाषा शैली के शिल्प और अर्थ में तो, मतभेद नहीं है,
(शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर)

दिया गया है। हेवज्रतंत्र में इस भाषा को 'महासमय' (महान् सिद्धान्त) और 'महाभाषम्' कहा गया है।[1] 'संध्या-भाषा' की पाद-टिप्पणी लिखते हुए अनेक प्रमाणों द्वारा डॉ० प्रबोधचन्द्र ने यह बताया है कि इस भाषा के द्वारा सिद्ध पुरुष परमार्थ तत्त्व का कथन करते हैं। इसमें प्रयोक्ता का अभिप्रेत अर्थ शब्द की सन्धि में प्रच्छन्न बना रहता है। अर्थान्तर के द्वारा उस अभिप्रेत अर्थ का प्रतिपादन होता है। जो इस अद्भुत सामर्थ्य वाली भाषा को आदरपूर्वक कथन का माध्यम नहीं बनाता, निश्चय ही उसे सिद्धान्त-खण्डन का दोष लगता है।[2]

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी का शेष)

प्रत्युत् 'संध्या' शब्द विशेष के सम्बन्ध में मत वैभिन्य है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची समुचित उदाहरणों द्वारा 'संध्या' शब्द को ठीक मानते है। (देखिए—चर्यागीति-कोष, उपोद्घात, पृ० ३१-३२ तथा—स्टडीज़ इन तन्त्राज़, पृ० २७-७५) इनके अतिरिक्त महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री (—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४ पर उद्धृत) डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य (—बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, पृ० ३५-७०); डॉ० शशिभूषण दास गुप्त (—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ४१३) आदि विद्वान् भी 'संध्या' शब्द को ही प्रस्तुत अर्थ में ठीक मानते हैं। अत: इसी शब्द का व्यवहार यहाँ किया गया है। इनके विपरीत डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'सन्धा' शब्द के प्रयोग को ठीक माना है। (—इण्डियन हिस्टोरीकल क्वाटरली, पार्ट IV, सन् १६२८, पृ० २८७)

१. 'वक्षेऽहं वज्रगर्भोऽयं शृणु त्वम् एक चेतसा।
सन्ध्याभाषं महाभाषं समय संकेत विस्तरं॥'

—चर्यागीतिकोष, उपोद्घात से उद्धृत

२. 'संध्याभाषा=यथारुतम् अर्थम् अभिप्रेतम् अर्थं च संदधती भाषा। नेयं यथारुतमभिधेयमुक्त्वा विरमति प्रत्युत् यथारुताद् अर्थात् अभिप्रेतम् अर्थान्तरं चापि प्रतिपादयति। तत्र संध्याभाषामधिकृत्य हेवज्रे भगवानाह—

'कुलं पंचविधं ख्यातं वर्णभेदेन भेदितं।
संध्या एता (:) स्युर बुद्धाश्च पंच कौलिकाः॥७॥
वज्रगर्भ महासत्त्व यन्मया कथितं त्वयि।
तत् सर्वंसादरं ग्राह्यं सन्ध्याभाषा महाद्भुतं॥१०॥
योऽभिषिक्तोऽत्र न वदेत् संध्याभाषया।
समय विद्रोहणं तस्य जायते नात्र संशयः॥११॥
इत्युपद्रव चौरैश्च ग्रहज्वरा (रैः=ग्रहज्वरैः) विबुद्धोऽपि।
म्रियतेऽसौ यदि बुद्धोऽपि संध्याभाषं न भाषयेत्॥१२॥
इति सर्वतंत्रनिदान संध्याभाषानाम्नि पटले देशयित्वा।'

—चर्यागीतिकोष, उपोद्घात,

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने शब्द की अभिसन्धि के रूप में 'संध्या' का अर्थ प्रकाश और अन्धकार के मध्य की स्थिति वाली भाषा (आलोआन्धारी भाषा) कहा है, क्योंकि यह भाषा न तो सर्वथा गुह्य ही होती है और न सहज गम्य ही।[1] आपने इस भाषा का अंग्रेजी अनुवाद 'लैंग्वेज ऑफ ट्वाइलाइट' किया है।[2] डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने बताया है कि 'इस रहस्य प्रधान भाषा का व्यवहार प्राचीन और मध्यकालीन कविता में बहुतायत से हुआ है। 'सन्ध्या' शब्द इसकी गुह्य प्रकृति की सूचना देता है।'[3] डॉ० धर्मवीर भारती ने इस भाषा की प्रकृति और प्रभाव के सम्बन्ध में लिखा है कि 'इस (संध्या) भाषा की प्रकृति मन्त्र प्रकृति थी। मन्त्र-सिद्धान्त में प्रत्येक शब्द और अक्षर का एक गुह्य, दिव्य या परम अर्थ होता है। महायान में इस संध्या-शैली का प्रयोग 'उपाय-कौशल पारमिता' के अन्तर्गत बताया है। संध्या-शैली द्वारा वे अशिक्षितों को भी बौद्धमत में दीक्षित कर सकते थे।'[4]

सन्ध्या-भाषा में लिखी गई बौद्ध-सिद्धों की वानियों के अध्ययन से यह निश्चय होता है कि हिन्दी-साहित्य में पल्लवित उलटवांसी शैली का विकास उक्त सन्ध्या-भाषा से ही हुआ है। इस तथ्य को विद्वानों ने स्वीकार किया है।[5] इस 'भाषा' के अभिधार्थ में

---

१. —हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३४ से उद्धृत

२. —बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म पृ० ३५ तथा ७०, (—सिद्ध-साहित्य, पृ० २६८ से उद्धृत)

३. 'दिस एनिगमेटिक लैंग्वेज ऑफ दि ओल्ड एण्ड मैडिएवल पोइट्री इज़ पौपुलरली स्टाइल्ड एज़ 'सन्ध्या-भाषा' विच, एकोर्डिंग टु इट्स कन्वेन्शनल स्पैलिंग लिटरली मीन्स दि 'ईवर्निग लैंग्वेज़' एण्ड दि वर्ड 'ईवर्निग' हेयर मे बी एक्सप्लेण्ड एज़ पोइन्टिंग टु दि मिस्टीकल नेचर ऑफ दि लैंग्वेज़'

— आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ४१३

४. —सिद्ध-साहित्य, पृ० २७१

५. 'इस प्रकार की उलटवाँसियाँ उस युग में नाथपंथी योगियों और सहजयानियों में खूब प्रचलित थीं।······उस युग के सभी कवि किसी-न-किसी रूप में इन विरोधाभास मूलक उलटवाँसियों की रचना करते थे।'

—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३३-३५

'कबीर की उलटवाँसियाँ मशहूर हैं, पर इसका भी आरम्भ हम सरह में पाते हैं।'

(राहुल सांकृत्यायन), —दोहा कोश,' भूमिका, पृ० २४

'इन प्रतीकों का उद्गम और विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि वज्रयान के विकास के पहले इन प्रतीकों का अस्तित्व मिलता है। सन्तों के साहित्य तक इन प्रतीकों का व्यवहार होता गया है। इन प्रतीकों की दो प्रकार की योजनाएँ थीं—औपम्यमूलक और विरोधमूलक। पहले से विभिन्न प्रकार के रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और दूसरे से उलटवाँसी शैली का विकास हुआ है।'

(डॉ० धर्मवीर भारती)—हिन्दी साहित्य का कोश (प्रथम भाग), पृ० ७६३

तात्पर्यार्थ या संकेतार्थ निगूढ़ रहता है । प्रतीक-संकेतों को समझने पर ही उस प्रच्छिन्न अर्थ को समझा जा सकता है । संध्याभाषा शैली ने उलटवाँसी शैली को, विषय और प्रयोग आदि की दृष्टि से, सम्यक् रूप से प्रभावित किया है । पुनश्च संध्याभाषा शैली वही नहीं है, जोकि उलटवाँसी शैली है, क्योंकि उलटवाँसी का चमत्कार विरोधमूलक असम्बद्ध कथन का है, जबकि संध्याभाषा में यह विरोधजन्य असम्बद्धता अनिवार्य तत्त्व नहीं । वैसे भी दोनों शैलियों के प्रयोग के काल और प्रदेश में अन्तर है । संध्याभाषा शैली प्रमुख रूप से सहजयानी सिद्धों द्वारा व्यवहृत हुई है, जबकि उलटवाँसी शैली का व्यवहार नाथ-योगियों और निर्गुणी सन्तों ने किया है । संध्याभाषा का प्रयोग-क्षेत्र बंगाल, आसाम आदि हैं, परन्तु उलटवांसी का समस्त उत्तर भारत ।

(६) **उलटामन्त्र प्रकृति**—कालक्रम से सहजयानी सिद्धों के पश्चात् नाथ-योगियों की वाणी का प्रचार देखने को मिलता है । ये साधक विभिन्न प्रकार की यौगिक क्रियाओं, साधनाओं को, जो 'उलटा-साधना' नाम से जानी जाती हैं,[1] विरोध-मूलक रहस्य प्रधान भाषा में, गोपन की प्रवृत्ति से संरक्षित करते हुए, अभिव्यक्ति देते थे ।[2] नाथों की उलटा-मंत्र शैली में, जीवन की विपरीत क्रमवाली प्रकृति को अपना कर, असंभव तत्त्व का पोषण करते हुए, उलटी या उलटवासीय साधना को सहज और स्वाभाविक ढंग से कहा गया है । इस विपरीत क्रम को अपनाने में नाथ-योगियों की यह मान्यता रही है कि सीधे मार्ग से संसार मृत्यु और विनाश को प्राप्त होता हैं तथा 'रिग्रैसिव प्रोसिस' या 'प्रत्यावर्त्तन' के मार्ग से जीवन के 'मूल' कारण अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है ।[3] इसका समर्थन 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र' से भी होता है ।[4] नाथों का विश्वास

---

१. 'नाथ-योगियों की प्रमुख साधना श्वास निरुद्ध कर, अरध को उलटकर उरध में ले जाना, नाद को पलटकर सुरति को निरति में लीन करना, गंगा को उलट कर जमुना में मिलाना अथवा सूर्य को उलट कर चन्द्र में लीन करना था । इसी साधना को वे उलटा-साधना कहते थे ।' —सिद्ध-साहित्य, पृ० ४१३

२. 'बिकौज़ ऑफ दिस उलटा नेचर ऑफ साधना, दि लैंग्वेज ऑफ दि सौंग्स इन ह्विच दि सीक्रेट ऑफ दि साधना इज़ कौट इज़ औल्सो जनरली ऑफ ए उलटा नेचर और एक्सट्रीमली पैराडोक्सीकल एण्ड एनिगमेटिक ।'
—आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३१

३ 'दि प्रोसिस हैज़ फ्रीक्वेन्टली बीन स्टाइल्ड इन दि वर्नाकुलर्स एज़ दि उल्टा साधना, और दि रिग्रैसिव प्रोसिस ।······सच यौगिक प्रैक्टिसैज़ लीड दि सिद्ध टु हिज़ औरिजिनल अल्टीमेट एज़ दि इमौरटल बीइंग इन हिज़ परफैक्ट ऑर डिवाइन बौडी, बैक फ्राम दि ऑर्डीनरी क्रियेटिव प्रोसिस ऑफ बिकमिंग ।'
—आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २२६

४. 'व्युत्क्रमादप्ययस्तथा दृष्टम्' । —शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, सूत्र संख्या ६२
अर्थात् विपरीत क्रम से अपने कारण में लीन होता है, ऐसा देखा गया है ।

था कि इस विपरीत प्रक्रिया से निश्चयपूर्वक सिद्धि[1] प्राप्त होती है। इस प्रकार उलटा-धारा अथवा उलटा मंत्र-प्रकृति के अनेक उदाहरण नाथ-योगियों की बानियों में मिलते हैं। 'गोरक्ष-विजय' की भूमिका में उद्धृत गुरु मीननाथ की दो पंक्तियों में 'उलटा-धारा' का कथन है—

'गुरु मीननाथ रे उलटा धारा। पुकुर मुर धान शुकाइया उगार तले-वाडा।।'[2]

और भी—'आए गुरु उल्ट्या योग धर। काया तोमहार स्थिर कर।।
भाल कह अए पुत्र जति गोरखाइ। उलटि साधिते जोग पाए बल नाइ।।'[3]

गोरख-बानी में उक्त उलटा मंत्र शैली के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[4] इस प्रकार की साधना के विपरीत क्रम की प्रधानता वाले अनेक कथन उलटवाँसियों में भी मिलते हैं।[5] वास्तव में ये उलटा-मंत्र प्रकृति के कथन उलटवाँसियों के पूर्व रूप ही हैं। दोनों के प्रयोजन एक ही हैं। अन्तर इतना ही है कि उलटवाँसी शैली का क्षेत्र व्यापक है, इसमें साधनात्मक विपरीत-कथन तो रहते ही हैं, साथ ही विचार-दशा की अनेक स्थितियों के असम्बद्धता मूलक कथन भी हैं, जबकि उलटामंत्र प्रकृति में यौगिक साधनाओं को ही अभिव्यक्ति मिली है। उलटा-साधना वास्तव में एक साधना है जबकि उलटवाँसी कथन एक शैली। हाँ, प्रतीक-संकेतों की प्रकृति में दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

---

१. 'पिरीति उलटा रीत ना बुझे चतुर। ये ना चीनै उलटा से ना जिये संसारे।।
समुख विमुख हूए विमुख समुख। पालटा नियामे सब जगत संयोग।।
बिमुखे आगम पन्था राखिछे गुपते। चलिले विमुख पन्थे सिद्धि सर्वमते।।
समुखेर सब पथ बिमुख करिया। पलटि बिमुख पन्थे जाइवा चलिया।।'
(आलि राजा)—ज्ञान सागर, पृ० ३६-३८
(ऑब्स क्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३२ से)

२.—आब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २३१ से उद्धृत

३ —गोरक्ष-विजय, पृ० ११५-१६ (ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २२९ से)

४. 'उलटंत नादं पलटंत व्यंद, बाई कै घरि चीन्हसि जयंद।
सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया, चंद सूरजि लै उनमनि धरिया।।'
—गोरख-बानी, पृ० २०
'सिध के संकेत बूझिलै सूरा, गगन अस्थांनि बाइलै तूरा।
मींमा के मारग रोपीलै मांणं, उलट्या फूल कली में आंणं।।'
—गोरख-बानी, पृ० ४०

५. 'उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।' —कबीर ग्रंथावली, पृ० १४३
'उलटी गंग जमुनि में लावौं, बिनहि जल मंजन ह्वै पावौं।'
—रैदास बानी, पृ० २६

(शेष अगले पृष्ठ पर

(१०) **हिन्दी-दृष्टकूट**– संस्कृत की कूट या दृष्टकूट शैली का सम्यक् विकास हिन्दी-साहित्य में देखने को मिलता है।* यह गूढ़ार्थक कूट-शैली हिन्दी-साहित्य तक आते-आते शृंगार-वर्णन को भी अपने में समेट लाई है। संस्कृत में प्राय: इस केलिए 'कूट' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'विचित्र प्रकार की पद रचना'[2] के रूप में दृष्टकूट और उलटवांसी शैली में साम्य बताया है। परन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'दृष्टिकूट' शब्द का प्रयोग करते हुए उक्त दोनों शैलियों में स्पष्ट अन्तर बताया है कि—'दृष्टि-कूट में किसी वस्तु व विषय का प्राय: कवि प्रसिद्धियों द्वारा पाण्डित्य पूर्ण वर्णन कर, उसके बाह्यज्ञान की कसौटी रख दी जाती है, वहाँ उलटवाँसियों का उद्देश्य केवल इस प्रकार का मूल्यांकन मात्र नहीं रहा करता। इसके सिवाय दृष्टिकूट में लोगों की दृष्टि को चकमा देकर उन्हें भ्रम में डाला जाता है, अथवा पाठकों को उनके द्वारा चकित कर काव्य-विनोद किया जाता है। परन्तु उलटवाँटी द्वारा किसी को व्यर्थ का भुलावा न देकर भरसक वर्ण्य-

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

'उलटा शब्द गगनि घरु छाया। नानक शब्दै शब्दु समाया॥'
—प्राण संकुली, पृ० २६

'बालमीकि हवाल पूछो, जपत उलटा सिद्धकाम।'
—संत वानी संग्रह (भाग दूसरा), पृ० १५६

'पच्छिउं गंगा वहै पानी है जोर का,
बीच में है इक कुंड मुरेरा तोरका।
उलटी वहै, बयार नाव मुरकाय दै,
अरे हाँ, पलटू उतरे येहि के पार तो सूधी जाय दै॥'
—पलटूवानी (भाग दूसरा), पृ० ७८

***टिप्पणी**—दोनों शैलियों के अन्तर का विवेचन पहले हो चुका है।

१. 'हिन्दी-साहित्य में कूटरचना केलिए एक नया समस्तपद 'दृष्टकूट' अधिक प्रचलित है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार की गई है—'दृष्टं कूटम् यस्मिन् तत्', अर्थात् ऐसा काव्य, जिसमें शब्द और अर्थ में छल अथवा क्लिष्टता दृष्टिगोचर हो।...संभवत: वाक्कूट के सादृश्य पर ही इस शब्द की रचना हुई है, जिसका प्रयोग संग्रहकर्ताओं ने विशेष रूप से विद्यापति और सूरदास के कूटपदों केलिए किया है। सूरदास के कूटपदों केलिए दृष्टकूट शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सरदार कवि ने 'साहित्य लहरी' की टीका में किया है।' —कूट काव्य-एक अध्ययन, पृ० ८-६

२. 'हिन्दी-साहित्य के आदि प्रवर्त्तक तीन महाकवियों-चन्द, कबीर, सूरदास में से सबके सब एक विचित्र प्रकार की पद-रचना करते रहे। इन्हें दृष्टकूट, उलटवांसी या विपर्य्य कहते हैं। सूरदास के ग्रंथों में इन्हें दृष्टकूट और कबीर की वाणी में इन्हें उलटवांसी कहा है।' —हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३३

विषय की ओर आकृष्ट किया जाता है, जिसका उद्देश्य विनोद न होकर उसे सजग और सचेष्ट करना रहता है।'[1]

विद्यापति, सूर आदि के दृष्टकूट-पदों का विहंगावलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि संस्कृत के कूट-पदों के वर्ण्य-विषय का क्षेत्र हिन्दी के दृष्टकूटों से कहीं सीमित है। हिन्दी के दृष्टकूट-पदों की 'विनय' के साथ ही साथ वात्सल्य, शृंगार और काव्यशास्त्रीय (नायिका भेद आदि) विषयों तक सीमा परिव्याप्त है। इनकी रचना में विदग्धता प्रदर्शन के साथ ही, उलटवाँसियों जैसी गोपन की प्रवृत्ति भी कार्यशील रही होगी। सूर के दृष्टकूट-पदों की रचना के सम्बन्ध में डॉ० रामधन शर्मा ने तथ्य प्रस्तुत किये हैं।[2]

विनय के कुछ पदों में उलटवाँसी-पद-रचना के होने की संभावना रहती है। उदाहरण केलिए सूर का निम्नलिखित पद, प्रतीक-प्रधान असम्बद्धता के कारण, कबीर की उलटवाँसी-रचना में वर्णित 'माया' का भ्रम उत्पन्न करता है—

'नारि एक दसहूँ दिस विचरति अतिसुन्दरी सुहागिनि।
प्रति प्रति सदन पुरुष कंठ बिलसित तदपि पिय अनुरागिनि।।
भरता जार गनत कछु नाहीं संत कहहिं बैरागिनि।
तीनि काल सरबोपरि राजति स्तवति देव मुनि नागिनि।।
अवचनि कौं उपकार करै नित उच्च दोस की गाहिनि।
प्रभु समीप कबहूँ नहिं आवति फिरति गिरि बागनि।।
नरभूषन ह्वै या संगति तैं एहि त्रिया औ बागनि।
सूरदास निरमल मति कारन करम बिथा नहि लागनि।।'[3]

१.—कबीर साहित्य की परख, पृ० १६०

२. 'कृष्ण के जिन चरित्रों का सूर की अन्तरात्मा पर गहरा प्रभाव पड़ा, उन्हीं का उन्होंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अतः कूट-पदों का विषय हैं—प्रपन्न भक्त की विनय, उनकी भक्ति के एकमात्र पात्र बालक कृष्ण का वात्सल्य और गोपियों की मधुरा-भक्ति। उनमें भी सर्वाधिक पद मधुरा भक्ति के हैं, जिनमें गोपियों के साथ कृष्ण की शृंगारी लीलाओं और उद्दीपक वातावरण का वर्णन है। विनय और बाल-लीला के वर्णन में कूट-रचना का अवकाश उतना नहीं होता, जितना दृढ़ भक्ति-भावना से प्रेरित शृंगारी दृश्यों के चित्रण में होता है, क्योंकि इस प्रकार के चित्रण में लौकिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से गोपन की अपेक्षा होती है। मधुरा-भक्ति का विकास वास्तव में एक प्रबल संप्रदाय के रूप में हो गया था। अतः उसका वर्णन करने केलिए कवि स्वभावतः अपने संप्रदाय की गोपनीयता की रक्षा केलिए बाध्य था।······प्रसंगवश साहित्य-लहरी में एक और भी प्रयोजन की सिद्धि की गई है – वह है नायिका भेद, विविध स्थायी और संचारी भाव तथा अलंकार आदि रीति-शास्त्रीय विषयों का विवेचन।'

—कूटकाव्य-एक अध्ययन, पृ० १३१-३२

३.—कूटकाव्य—एक अध्ययन, पृ० २८७ से उद्धृत

तथा—

'एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी ॥टेक॥
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला और होवै।
रखवाले का होइ बिनास, उतहि नरक यत भोग विलास ॥
सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि विख बिलसै संसार।
कहै कबीर इब बाहरि परी, संसारी कै अचल टिरी ॥'[1]

दोनों पदों में, प्रयोक्ता भेद के कारण शब्दावली में भी अन्तर है। उलटवाँसी-पदों की साम्प्रदायिक तथा लोक-व्यवहार की शब्दावली होती है और लगभग सभी उलटवाँसियों की रचना नाथ-योगियों और निर्गुण सन्त कवियों द्वारा हुई है। यदि प्रयोक्ता-भेद तथा शब्दावली को छोड़ दिया जाय तो सूरदास का उक्त दृष्टकूट-पद उलटवाँसी शैली के अन्तर्गत आयेगा। पर, 'प्रभु समीप' आदि शब्दों के प्रयोग से भक्ति-भावना अधिक मुखर हो उठती है, गोपन की प्रवृत्ति कम। विनय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के दृष्टकूट और उलटवाँसी-पदों में स्पष्ट अन्तर रहता है।

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उलटवाँसी और दृष्टकूट ये दोनों पद-रचनाएँ पृथक्-पृथक् हैं। उलटवाँसी में 'असम्बद्धता' सर्व प्रमुख और अनिवार्य तत्त्व हैं, जिसके गर्भ में प्राय: किसी न किसी प्रकार का विरोध विद्यमान रहता है। उलटवाँसी-रचना की अपनी विशेष शब्दावली होती है, जिसके द्वारा प्रयोक्ता किसी न किसी प्रकार की साधनात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। दृष्टकूट-शैली अपनी गूढ़ार्थकता में उलटवाँसी के समान ही है। यदि प्रयोक्ता और शब्दावली भेद न किया जाय तो सूर के कुछ 'विनय' प्रधान दृष्टकूट-पद अपनी रूप-रचना में उलटवाँसी ही हैं। दृष्टकूट पदों में—'अद्भुत एक अनूपम बाग।'

जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग ॥'[2] जैसे असम्बद्धता प्रधान कथन भी रहते हैं, जिनमें, उलटवाँसी-रचना के समान ही अद्भुत तत्त्व विद्यमान रहता है। फिर भी दोनों शैलियों में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। उलटवाँसी-पद का अर्थोद्बोधन होने पर पाठक या श्रोता के सम्मुख साधनात्मक अथवा वैचारिक तथ्य प्रस्तुत होते हैं, जबकि दृष्टकूट-पद में शृंगार अथवा काव्यशास्त्रीय ज्ञान सम्बन्धी विदग्धता का प्रदर्शन रहता है। इसमें प्रयोक्ता अपने काव्यशास्त्रीय मंच की प्रतिष्ठा केलिए, प्रयत्न-पूर्वक अर्थ को गुह्य रखता है, जबकि उलटवाँसियों में—साधक की जिज्ञासा बढ़े, संसारी सजग और सचेष्ट हों, योग्य पात्र तक ही ज्ञान की पहुँच हो सके, लोक-मान्य 'पण्डित' चमत्कृत हों, इसीलिए लोक-विरोधी मार्ग अपना कर, अर्थ को गुप्त रखा जाता है। दृष्ट-

१.—कबीर ग्रंथावली, पृ० २११
२.—सूर-सागर, दशम स्कन्ध, पद २७२८

कूट पद-रचना का प्रयोजन शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर विदग्ध लोगों को चमत्कृत करना है। इसमें श्लेष, पर्यायवाची शब्द और कवि-प्रसिद्धि के द्वारा मानसिक व्यायाम कराना प्रयोक्ता का मन्तव्य रहता है, जबकि उलटबाँसियों का प्रयोजन साम्प्रदायिक रूढ़ियों, साधनात्मक अनुभूतियों और वैचारिक-दशा का वर्णन विशेष प्रकार की शब्दावली के माध्यम से होता है। सन्त लोग वाणी के अटपटेपन के द्वारा साधक या श्रोता को जीव-जगत् की यथार्थता की ओर प्रवृत्त करते हैं। इसीलिए उलटबाँसी-पद का अर्थ प्रकाशित होते ही, एक विशेष प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है, जिसमें श्रोता या पाठक विस्मय-विमुग्ध-सा दिखाई देता है। जबकि दृष्टकूट-पद के शब्दों की तह में अंकगणित के प्रश्न के समाधान के समान तात्कालिक तृप्ति का अनुभव होता है। अतः यदि दृष्टकूट-पद में बुद्धि की परीक्षा है, तो उलटबाँसी में बुद्धिपूर्वक साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं।

(११) पहेली—संस्कृत की प्रहेलिका-रचना (प्रहिलति अभिप्रायं सूचयति) पहेलियों में सम्यक् रूप से देखने को मिलता है। हिन्दी में पहेलियों का क्षेत्र-लोक-जीवन तक फैला हुआ है।

पहेली के शिल्प को देखकर कभी-कभी 'पहेली' रचना में उलटबाँसी का और उलट-बाँसी-पद में पहेली का सन्देह हो जाना स्वाभाविक है। उदाहरण केलिए निम्नलिखित पहेली-रचना उलटबाँसी जैसी लगती है—

'देखो एक अनोखी नारी। गुण उसमें एक सबसे भारी॥
पढ़ी नहीं यह अचरज आवै। मरना जीना तुरत बतावै॥'

अथवा— 'एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया॥
ज्यों ज्यों साँप ताल को खाय। सूखे ताल साँप मर जाय॥'[1]

इसी प्रकार निम्नलिखित उलटबाँसी-पद, अपनी रूप-रचना में, पहेली जैसा भ्रम उत्पन्न करते हैं—

(क) 'बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन-सिषर महिं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा॥'[2]

(ख) 'कुअटा एकु पंच पनिहारी। टूटी लाजु भरै मतिहारी।
कहु कबीर इकु बुद्धिविचारी। ना ऊ कुअटा ना पनिहारी॥'[3]

(ग) 'एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै॥'[4]

१.—अमीर खुसरो की पहेलियाँ (—हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति, पृ० १०९ से उद्धृत)
२.—गोरख-बानी, पृ० १
३.—कबीर ग्रंथावली, पृ० २६८ (परिशिष्ट); ४.—कबीर ग्रंथावली, पृ० २११

शिल्प में अर्थ-गोपन-साम्य होने पर भी दोनों शैलियों का अपना भिन्न क्षेत्रहै। उलटवाँसी-पदों जैसा भाव-विस्तार पहेली का कलेवर समाहित नहीं कर सकता। यद्यपि दोनों शैलियों की वाक्य-रचना अपनी विशिष्ट शब्द-योजना के द्वारा गूढ़ार्थ प्रतीति की पुष्टि करती है। दोनों ही का प्रारम्भ प्रयोक्ता की विशेष मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति केलिए हुआ है। दोनों में प्रतीक-संकेतों का उपयोग किया जाता है। पर पहेली-रचना का उद्देश्य गोष्ठी में क्रीड़ा या विनोद कराना, दूसरे की बुद्धि में, अन्य के वर्णन से अन्य का आभास कराने के रूप में, व्यामोह उत्पन्न कराना रहता है।'[1] पहेलियों में मनोरंजन तो रहता है, परन्तु यह मनोरंजन बाल-क्रीड़ा न होकर बुद्धि-लभ्य होता है।[2] परन्तु उलटवाँसियों का उद्देश्य मनोरंजन कराना न होकर विशेष प्रकार की असम्बद्ध पद-रचना के द्वारा चित्तवृत्ति को केन्द्रित कराना रहता है। इनमें साधक की अनुभूति को वाणी मिलती है। पहेली से बुद्धि-परीक्षा होती है, पर उलटवाँसी में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता रहते हुए भी रचना-कौशल के प्रदर्शन का उद्देश्य नहीं रहता।

शिल्प की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। उलटवाँसियों की प्रथम एक या दो पंक्तियों की तथा अन्तिम पंक्ति की योजना इस शैली की स्वतन्त्र घोषणा करती है। पहेली में शब्द की श्लेष-शक्ति का विशेष उपयोग किया जाता है, परन्तु उलटवाँसी में कभी-कभी ही, अयत्नज रूप में, श्लेष रहता है। उलटवाँसी-पदों की शब्दावली सम्प्रदाय विशेष अथवा परम्परा से गृहीत रहती है, जबकि पहेली-रचना में ऐसा नहीं होता। अर्थ खुलते ही पहेली सम्बन्धी कुतूहल शमित हो जाता है, पर उलटवाँसी-पद का अर्थ-ग्रहण होते ही प्रारम्भिक जिज्ञासा बलवती होकर अनुरणन को और अधिक सघन बनाती है, क्योंकि पहेली में किसी वस्तु-विशेष का वर्णन रहता है, पर उलटवाँसी में वैचारिक या साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति। पहेली में प्रायः रचनाकार का नाम नहीं रहता, उलटवाँसी-पदों में प्राय ऐसा देखने को मिलता है। पहेली का उत्तर प्रायः एक शब्द में ही रहता है, उलटवाँसी में

---

१. 'क्रीड़ागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्ण मन्त्रणे।
पर व्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥' —काव्यादर्श, ३।९७
तथा 'ऐसा वाक्य जिसमें किसी वस्तु का लक्षण घुमा फिरा कर अथवा किसी भ्रामक रूप में दिया गया हो और उसी लक्षण के सहारे उसे बूझने अथवा उसका नाम बताने का प्रस्ताव हो। किसी वस्तु या विषय का ऐसा वर्णन जो किसी दूसरी वस्तु या विषय का वर्णन जान पड़े और बहुत सोच-विचार से उस पर घटाया जा सके।' —हिन्दी शब्द सागर (तीसरा भाग), पृ० २०५१

२. 'पहेलियाँ केवल बच्चों के मनोरंजन की वस्तु नहीं, ये समाज विशेष की मनोज्ञता को प्रकट करती हैं और उसकी रुचि पर प्रकाश डालती हैं। ये बुद्धिमापक भी हैं।' —हिन्दी साहित्यकोश (पहला भाग), पृ० ४८०

'बूझने' की बात तो रहती है, परन्तु प्रयोक्ता उसके उत्तर केलिए दूसरे पक्ष पर निर्भर नहीं करता। वरन् स्वयं ही उसकी व्याख्या कर देता है।

(१२) **कह मुकरनी या मुकरी**—पहेली के समकक्ष ही कह मुकरनी या मुकरी शैली प्रचलित है। रचना की दृष्टि से यह कूट-वर्ग में आती है। इस का उक्ति वैचित्र्य पहेली जैसा रहता है। हिन्दी में अमीर खुसरो ने पहेलियों के साथ-साथ मुकरियों की रचना भी की है। 'उन्होंने इस लोक-काव्य-रूप को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। अलंकार की दृष्टि से इसे छेकापह्नुति कह सकते हैं, क्योंकि इसमें प्रस्तुत अर्थ को स्थापित किया जाता है।'[1]

'मुकरी' रचना में ऐसा बात कही जाती है, जिसमें प्रयोक्ता विषय के प्रति, मुकरते-इन्कार करते हुए, अपना मन्तव्य प्रकट करता है। मुकरते हुए प्रधान अर्थ की स्वीकारोक्ति होती है। अतः इसमें उक्ति वैचित्र्य ही दृष्ट रहता है, जिसमें रचयिता अर्थश्लेष के बल पर, प्रस्तुत सत्य के अर्थ प्रकट होने के पूर्व ही समान गुण, क्रिया वाले अप्रस्तुत की ओर अर्थ लगाकर, प्रकट होते हुए प्रस्तुत से मुकर जाता है। उदाहरण केलिए अमीर खुसरो की दो मुकरियाँ द्रष्टव्य हैं—

उदाहरण-१—'सारी रैनि मोर संग जागा। भोर भई तब बिछुड़न लागा॥
उसके बिछड़त फाटत हिया। ए सखि साजन, ना सखि, दिया॥'

उदाहरण-२—'सोभा सदा बढ़ावन हारा। आंखिन ते छिन करूँ न न्यारा॥
आठ पहर मेरा मन रंजन। ए सखि साजन, ना सखि अंजन॥'[2]

सम्पूर्ण रात्रि साथ-साथ जागना, प्रभात होते ही बिछुड़ने लगना, साजन और दिया दोनों ही पक्षों में घटित होता है। इसीप्रकार शोभा बढ़ाने वाला, आँखों से दूर न होने वाला, मन को आनन्दित करने वाले लक्षण, साजन और अंजन दोनों ही पक्षों पर लगते हैं, परन्तु प्रयोक्ता वाणी-कौशल से, प्रस्तुत सत्य के अर्थ प्रकट होने से पूर्व ही, अप्रस्तुत साजन की ओर संकेत करके प्रस्तुत 'दिया' और 'अंजन' से मुकर गया है। इस प्रकार इस रचना का उद्देश्य बुद्धि-चातुर्य के द्वारा मनोरंजन मात्र कराना है। उलटबाँसी शैली में न तो इस प्रकार की मुकरने वाली बात ही रहती है और न उसका उद्देश्य मनोरंजन कराना ही है।

(१३) **बुझौवल**—बुझौवल में कोई ऐसी बात पूछी जाती है, जिसका उत्तर बुद्धि-कौशल की अपेक्षा रखता है। इस शैली का वर्ण्य सांकेतिक भाषा में निहित रहता है। अतः संकेतार्थ सदा ही अभिधा की सीमा का अतिक्रमण करता है और उस संकेतार्थ की

---

१. —हिन्दी साहित्य कोश (पहला भाग), पृ० ५९५
२. —हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, 'हरिऔध' (पृ० १०७ से उद्धृत)

उपलब्धि बुद्धि-वृत्ति द्वारा ही संभव रहती है। अपने इस रूप में वह पहेली जैसी रहती है, परन्तु बुझौवल की योजना किसी पूर्व या पश्चात् प्रसंग की अपेक्षा रखती है, जबकि पहेली में इस प्रकार का साभिप्राय प्रसंग का होना आवश्यक नहीं।[1] इस शैली में 'बूझै' आदि क्रिया-पदों की प्रधानता रहती है। अर्थ-गोपन और 'बूझै' आदि का कहीं-कहीं साम्य होने पर भी उलटवाँसी और बुझौवल में प्रयोजन और प्रयोक्ता-भेद से पर्याप्त अन्तर है।

उलटवाँसी और कुछ अन्य प्रादेशिक शैलियाँ :

उलटवाँसी के समान प्रादेशिक भाषाओं में कुछ प्रचलित काव्य-शैलियाँ मिलती हैं, जो अपनी गूढ़ार्थ-रचना केलिए प्रसिद्ध हैं। उनमें उलटवाँसी से कहीं प्रयोक्ता-साम्य और कहीं प्रयोग-साम्य देखने को मिलता है। वे हैं—

(१) **बाउल-गीत** (बंगाली)—बंग-भूमि में बाउल-गीतों का विशेष महत्त्व है। इन्हें 'उलटा बाउल' भी कहते हैं। इन गीतों की शैली उलटवाँसीशैली में प्रयुक्त योग-परक रूपकों से साम्य रखती है।[2] 'बाउल' या 'बाउर' शब्द वातुल (विक्षिप्त), व्याकुल (आर्त्त), भगवद् प्रेम-विभोर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] ऐसे व्यक्ति की वाणी लोक-जीवन से भिन्न अथवा विचित्र रहती है, जिसमें लोक-धारा से विपरीत कथन होते हैं।[4] उलटवास करने

---

१. 'बुझौवल केलिए प्रसंग प्रस्तुत करने के साथ एक कहानी की आवश्यकता होजाती है। उस कहानी में बुझौवल का उपयोग केवल उक्ति-चमत्कार केलिए नहीं होता, अभिप्राय सिद्ध करने केलिए होता है। ऐसी बुझौवलों का एक प्रकार ऐसा हो सकता है, जिसमें सिद्धान्त-परीक्षण हो, किसी को कोई बात सिद्धान्त रूप में दे दी गई और उसने उसकी परीक्षा करके उसे सत्य पाया। दूसरे प्रकार की बुझौवल में किसी पदार्थ के रूप में पहेली बूझी जाती है। बुझौवल के द्वारा वार्तालाप भी हो सकता है।' —हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ५१७

२. 'सोंग्स ऑफ दि टाइप, ह्विच आर स्टिल नाउ टु वी हीअर्ड इन दि रूरल एरियाज, पर्टीकुलरली ऑफ बंगाल, आर जनरली नोन एज़ दि सोंग्स ऑफ दि उल्टा वाउल।···दि एनिगमेटिक स्टाइल वाज़ ए पोपुलर टेकनीक ऑलसो विद दि वैशनव सहजीयाज़ एण्ड दि वाउल्स ऑफ बंगाल। दि रागात्मिक पदाज़ ऑफ चण्डीदास आर फुल टेक्नीकलटीज़ एण्ड रिडिल्स।'

—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ४२३

३.—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १६१

४. 'दे प्रोसीड इन ए डाइरेक्शन अपोज़िट टु दैट फौलोड बाइ दि जनरल रन ऑफ प्यूपिल······। इट इज़ फौर दिस रीजन दैट दि वाउल वुड कॉल देअर पाथ 'उलटा' (दि रिवर्स) एण्ड वुड कॉल दि प्रौसिस ऑफ देअर स्प्रिचुअल एटवांस एज़ दि प्रौसिस ऑफ प्रोसीडिंग अगेन्स्ट दि करेन्ट।'

—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १६३

वाले साधक को 'उलटवासी' कहते हैं और तात्पर्यवृत्ति से उसकी वाणी 'उलटवाँसी' रूप में जानी जाती है।[1] इसीप्रकार बंगाली-साहित्य में विशेष साधकों को 'बाउल' नाम से जाना जाता है और उनकी वाणी को विशेष पद-रचना के रूप में बाउल-गीत कहा गया है। इस प्रकार दोनों काव्य-रूपों में आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति विद्यमान है। दोनों की काथनिक वक्रता विपरीत क्रम को महत्त्व देती है। अन्तर इतना ही है कि उलटवाँसी की भाँति बाउल गीतों में पंडित, अवधू, पांडे आदि को, अर्थोद्‌बोधन केलिए चुनौती का सा स्वर नहीं रहता। और न प्रकृति-विरोध, विधि-विरोध आदि के रूप में असम्बद्धता को ही आश्रय मिलता है। बाउल-गीतों का सम्बन्ध व्यक्ति-साधना से अधिक है, तो उलटवाँसी-पदों में लोक को अभिभूत करने का तत्त्व भी प्रखर है।

(२) भारूड गीत (मराठी)—बाउल-गीतों के समान मराठी-साहित्य में भारूड-गीतों का प्रचलन मिलता है। मराठी के मध्यकालीन सन्तों द्वारा इस शैली का प्रयोग दार्शनिक अथवा ज्ञान-दशा की अभिव्यक्ति केलिए किया गया है। भारूड-कथन-शैली, कूट प्रश्न, पहेली, बुझौवल, रूपकादि के रूप में मराठी-साहित्य में व्यवहृत है।[2] यह शब्द बहुरूढ़ अथवा बहु-प्रचलित के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है महाभारत की कूट शैली के आधार पर, भारत-रूढ़∠रूड के रूप में इसे ग्रहण किया गया हो।[3]

संयोग की बात है कि जिस काल में, हिन्दी में उलटवाँसी-प्रयोग उत्कर्ष पर थे, उसी समय, लगभग उसी प्रकार की अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने केलिए, मराठी-साहित्य में, लोक-जीवन का स्पर्श करती हुई, भारूड-शैली प्रचलित थी। जैसे कबीर, धनी धर्मदास, सुन्दरदास आदि सन्तों की उलटवाँसियों ने प्रसिद्धि पाई है, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर नामदेव, परमानन्द, एकनाथ आदि के भारूड-गीत प्रसिद्ध हैं।

भारूड-शैली में उलटवाँसी के समान असम्बद्धता के गर्भ में विरोध तत्त्व को तो प्रश्रय नहीं मिलता, परन्तु रूपकात्मक तत्त्व के बल पर प्रतीकात्मक, सांकेतिक शब्दों की योजना से भारूड-गीतों का रूप-विधान हुआ है। कबीर के 'आध्यात्मिक विवाह' के समान भारूड-गीतों में, निरंजनी-जीवन व्यतीत करने केलिए चर्चा रहती है। इस प्रकार के आध्यात्मिक रूपकों की सृष्टि केलिए गारूड़ी, डोम्बाड़ी, जोगी, जंगम आदि मानवीय सृष्टि के अनेक अंगों तथा मानवेतर जीवों को प्रतीकत्व प्रदान करके दार्शनिक तत्त्व अथवा लोक-प्रचलित साधना के विभिन्न रूपों का वर्णन किया जाता है। भारूड-गीतों में गेयत्व की प्रधानता के कारण ही सन्त कवियों ने इस शैली के द्वारा जनता को प्रभावित किया है। शिल्प की दृष्टि से ये भारूड-गीत दस पंक्तियों से लेकर पचास पंक्तियों तक के होते हैं।

---

१. देखिए 'उलटवाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति (उलटवाँसी-साहित्य, प्रथम अध्याय)
२. —मराठी से हिन्दी शब्द संग्रह, पृ० ३३४
३. —महाराष्ट्र शब्दकोष (पाँचवाँ भाग),

उपलब्धि बुद्धि-वृत्ति द्वारा ही संभव रहती है। अपने इस रूप में वह पहेली जैसी रहती है, परन्तु बुझौवल की योजना किसी पूर्व या पश्चात् प्रसंग की अपेक्षा रखती है, जबकि पहेली में इस प्रकार का साभिप्राय प्रसंग का होना आवश्यक नहीं।[1] इस शैली में 'बूझै' आदि क्रिया-पदों की प्रधानता रहती है। अर्थ-गोपन और 'बूझै' आदि का कहीं-कहीं साम्य होने पर भी उलटवाँसी और बुझौवल में प्रयोजन और प्रयोक्ता-भेद से पर्याप्त अन्तर है।

उलटवाँसी और कुछ अन्य प्रादेशिक शैलियाँ :

उलटवाँसी के समान प्रादेशिक भाषाओं में कुछ प्रचलित काव्य-शैलियाँ मिलती हैं, जो अपनी गूढ़ार्थ-रचना केलिए प्रसिद्ध हैं। उनमें उलटवाँसी से कहीं प्रयोक्ता-साम्य और कहीं प्रयोग-साम्य देखने को मिलता है। वे हैं—

(१) **बाउल-गीत** (बंगाली)—बंग-भूमि में बाउल-गीतों का विशेष महत्त्व है। इन्हें 'उलटा बाउल' भी कहते हैं। इन गीतों की शैली उलटवाँसीशैली में प्रयुक्त योग-परक रूपकों से साम्य रखती है।[2] 'बाउल' या 'बाउर' शब्द वातुल (विक्षिप्त),व्याकुल (आर्त्त), भगवद् प्रेम-विभोर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] ऐसे व्यक्ति की वाणी लोक-जीवन से भिन्न अथवा विचित्र रहती है, जिसमें लोक-धारा से विपरीत कथन होते हैं।[4] उलटवास करने

---

१. 'बुझौवल केलिए प्रसंग प्रस्तुत करने के साथ एक कहानी की आवश्यकता होजाती है। उस कहानी में बुझौवल का उपयोग केवल उक्ति-चमत्कार केलिए नहीं होता, अभिप्राय सिद्ध करने केलिए होता है। ऐसी बुझौवलों का एक प्रकार ऐसा हो सकता है, जिसमें सिद्धान्त-परीक्षण हो, किसी को कोई बात सिद्धान्त रूप में दे दी गई और उसने उसकी परीक्षा करके उसे सत्य पाया। दूसरे प्रकार की बुझौवल में किसी पदार्थ के रूप में पहेली बूझी जाती है। बुझौवल के द्वारा वार्तालाप भी हो सकता है।' —हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ५१७

२. 'सोंग्स ऑफ दि टाइप, ह्विच आर स्टिल नाउ टु बी हीअर्ड इन दि रूरल एरियाज, पर्टीकुलरली ऑफ बंगाल, आर जनरली नोन एज़ दि सोंग्स ऑफ दि उल्टा बाउल।···दि एनिगमेटिक स्टाइल वाज़ ए पोपुलर टेकनीक ऑलसो विद दि वैशनव सहजीयाज एण्ड दि बाउल्स ऑफ बंगाल। दि रागात्मिक पदाज ऑफ चण्डीदास आर फुल टेक्नीकलटीज़ एण्ड रिडिल्स।'

—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ४२३

३.—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १६१

४. 'दे प्रोसीड इन ए डाइरेक्शन अपोज़िट टु दैट फौलोड बाइ दि जनरल रन ऑफ प्यूपिल······। इट इज़ फौर दिस रीज़न दैट दि बाउल वुड कौल देअर पाथ 'उलटा' (दि रिवर्स) एण्ड वुड कॉल दि प्रौसिस ऑफ देअर स्प्रिचुअल एडवांस एज़ दि प्रौसिस ऑफ प्रौसीडिंग अगेन्स्ट दि करैन्ट।'

—ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० १६३

वाले साधक को 'उलटवासी' कहते हैं और तात्पर्यवृत्ति से उसकी वाणी 'उलटवांसी' रूप में जानी जाती है।[1] इसीप्रकार बंगाली-साहित्य में विशेष साधकों को 'बाउल' नाम से जाना जाता है और उनकी वाणी को विशेष पद-रचना के रूप में बाउल-गीत कहा गया है। इस प्रकार दोनों काव्य-रूपों में आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति विद्यमान है। दोनों की काथनिक वक्रता विपरीत क्रम को महत्त्व देती है। अन्तर इतना ही है कि उलटवांसी की भांति बाउल गीतों में पंडित, अवधू, पांडे आदि को, अर्थोद्‌बोधन केलिए चुनौती का सा स्वर नहीं रहता। और न प्रकृति-विरोध, विधि-विरोध आदि के रूप में असम्बद्धता को ही आश्रय मिलता है। बाउल-गीतों का सम्बन्ध व्यक्ति-साधना से अधिक है, तो उलटवांसी-पदों में लोक को अभिभूत करने का तत्त्व भी प्रखर है।

(२) भारूड गीत (मराठी)—बाउल-गीतों के समान मराठी-साहित्य में भारूड-गीतों का प्रचलन मिलता है। मराठी के मध्यकालीन सन्तों द्वारा इस शैली का प्रयोग दार्शनिक अथवा ज्ञान-दशा की अभिव्यक्ति केलिए किया गया है। भारूड-कथन-शैली, कूट प्रश्न, पहेली, बुझौवल, रूपकादि के रूप में मराठी-साहित्य में व्यवहृत है।[2] यह शब्द बहुरूढ़ अथवा बहु-प्रचलित के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है महाभारत की कूट शैली के आधार पर, भारत-रूढ़∠रूड के रूप में इसे ग्रहण किया गया हो।[3]

संयोग की बात है कि जिस काल में, हिन्दी में उलटवांसी-प्रयोग उत्कर्ष पर थे, उसी समय, लगभग उसी प्रकार की अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने केलिए, मराठी-साहित्य में, लोक-जीवन का स्पर्श करती हुई, भारूड-शैली प्रचलित थी। जैसे कबीर, धनी धर्मदास, सुन्दरदास आदि सन्तों की उलटवांसियों ने प्रसिद्धि पाई है, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर नामदेव, परमानन्द, एकनाथ आदि के भारूड-गीत प्रसिद्ध हैं।

भारूड-शैली में उलटवांसी के समान असम्बद्धता के गर्भ में विरोध तत्त्व को तो प्रश्रय नहीं मिलता, परन्तु रूपकात्मक तत्त्व के बल पर प्रतीकात्मक, सांकेतिक शब्दों की योजना से भारूड-गीतों का रूप-विधान हुआ है। कबीर के 'आध्यात्मिक विवाह' के समान भारूड-गीतों में, निरंजनी-जीवन व्यतीत करने केलिए चर्चा रहती है। इस प्रकार के आध्यात्मिक रूपकों की सृष्टि केलिए गारूड़ी, डोम्वाड़ी, जोगी, जंगम आदि मानवीय सृष्टि के अनेक अंगों तथा मानवेतर जीवों को प्रतीकत्व प्रदान करके दार्शनिक तत्त्व अथवा लोक-प्रचलित साधना के विभिन्न रूपों का वर्णन किया जाता है। भारूड-गीतों में गेयत्व की प्रधानता के कारण ही सन्त कवियों ने इस शैली के द्वारा जनता को प्रभावित किया है। शिल्प की दृष्टि से ये भारूड-गीत दस पंक्तियों से लेकर पचास पंक्तियों तक के होते हैं।

---

१. देखिए 'उलटवांसी' शब्द की व्युत्पत्ति (उलटवांसी-साहित्य, प्रथम अध्याय)
२. —मराठी से हिन्दी शब्द संग्रह, पृ० ३३४
३. —महाराष्ट्र शब्दकोष (पांचवां भाग),

इस शैली के उदाहरण के रूप में एकनाथ जी के प्रसिद्ध भारूड देखे जा सकते हैं। भारूड पद-रचना का विवेचन मराठी-साहित्य में सम्यक् रूप से हुआ है।[1]

(३) हियालीसंज्ञक रचनाएँ (राजस्थानी)—बौद्धिक-परीक्षा के रूप में 'हियाली' को पहेली के समकक्ष एक काव्य शैली माना जाता है। श्री अगरचन्द नाहटा ने 'हियाली' शब्द का प्राचीन प्रयोग १२वीं, १३वीं शताब्दी का माना है।[2] हिन्दी में गूढ़ार्थक-शैली के रूप में उलटबाँसी-पद केलिए गोरखनाथ ने भी 'हियाली' शब्द का प्रयोग किया है।[3] परन्तु बुद्धि-तत्त्व के अतिरिक्त दोनों का अपना पृथक्-पृथक् क्षेत्र है। हियाली संज्ञक रचनाएँ पहेली वर्ग की हैं। राजस्थानी में, बुद्धि-परीक्षा के रूप में इसके आड़ियें, गूढ़ा, सउत्तरा, अंतर्लापिका, वहिर्लापिका आदि कई रूप प्रचलित हैं।[4] इन हियालियों की रचना का मुख्य उद्देश्य बुद्धि-परीक्षा पूर्वक मनोरंजन कराना रहता है। हियालियों की रचना केलिए राजस्थनी

---

१. देखिए—श्री एकनाथ-दर्शन (खंड पहला), पृ० १७०-२४७

२. 'जैन कवियों ने हिमाली संज्ञक ऐसी बहुत सी रचनाएँ की हैं, जो बड़ी ही समस्या मूलक होती हैं। हियाली शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख प्राकृत भाषा के 'वजा-लग्ग' ग्रन्थ में देखने को मिलता है। उसमें दी हुई हियालियों से परवर्ती प्राचीन राजस्थानी भाषा की हियालियें कुछ भिन्न प्रकार की हैं। इससे हमें हियाली के स्वरूप-विकास की जानकारी मिल जाती है।'

—प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृ० १४७

३. 'याहि हियाली जे कोई बूझै, ता जोगी कौं तृभुवन सूझै ।।'

—गोरख-बानी, पृ० १२०

४. 'राजस्थान में विवाह आदि के समय जामाता को सालियाँ, ससुराल में रात्रि के समय उसकी बौद्धिक परीक्षा केलिए अनेक प्रकार की आड़ियें-पहेलियें पूछती हैं। यदि जामाता उनका ठीक से उत्तर नहीं दे पाता तो उसे नीचा देखना पड़ता है। गीत गाने वाली स्त्रियाँ भी एक ऐसा गीत गाया करती हैं, जिसमें अटपटी बातें (हियालियाँ) कही जाती हैं, उन समस्याओं का उत्तर जमाई से पूछा जाता है। ये पहेलियाँ विविध प्रकार की होती हैं, कुछ की संज्ञा 'गूढ़ा' है जिसमें भाव गूढ़ (गुप्त) रहता है, कुछ गुरु-चेलों के दोहों के रूप में प्रसिद्ध हैं, जिनमें तीन-तीन बातों का उत्तर एक शब्द द्वारा दिया जाता है।......कई सखियों से प्रश्न के रूप में भी ऐसे प्रश्न 'सउत्तरा' के नाम से पूछे जाते हैं। श्रीयुत मनोहर शर्मा के राज-स्थान की पहेलियों के सम्बन्ध में कई लेख 'राजस्थान भारती', 'वरदा' आदि में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें लोक प्रचलित पहेलियों के विविध उदाहरण संग्रहीत हैं। अंतर्लापिका, वहिर्लापिका समस्यापूर्ति आदि रचनाएँ भी बुद्धि वर्द्धक होती हैं।' —प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृ० १४६

के प्रसिद्ध कवि समय सुन्दर (१७वीं शताब्दी) का नाम उल्लेखनीय है।[1] हियाली संज्ञक रचना में 'पंडित' के चातुर्य को चुनौती का स्वर रहता है, परन्तु वह स्वर उटलवाँसी के समान साधना सम्बन्धी ज्ञान अथवा अर्थोद्बोधन केलिए नहीं रहता। पहेली के समान हियाली में भी प्राय: एक ही शब्द में उत्तर रहता है। 'मुकरी' के समान इसमें भी समान गुण-क्रिया वाले अप्रस्तुतों की योजना रहती है, जो अर्थश्लेप के बल पर एकाधिक पक्षों पर चरितार्थ होती है। कथन के गर्भ में कहीं-कहीं उलटवाँसी जैसा विरोध भी देखने को मिलता है। उदाहरण केलिए कविवर धर्म-सी (धर्म वर्द्धन) का एक हियाली-पद, जिसमें एक पुरुष (मन) का वर्णन गूढ़ार्थक शैली में है, देखिए —

'अरथ कहो तुम वहिलो एहनो, सगर हियाली है सार। चतुरनर।
एक पुरुष जग माहे परगड़ो, सहु जाणे संसार ।।१।। च०।।
पग विहुणो परदेसे भमें, आवै तुरतउ जाय।
वैठो रहै आपणे घरि वापड़ो, तौ पिण चपल कहाय ।।२।। च०।।
कोइक तो तेहनें राजा कहैं, कोई तो कहै रंक।
सांचो सरल सुजांण कहै सहु, वलि तिण गाहै रे वंक। ३।। च०।।
पौते स्वरथ सुं पांचां मिलै, आप मुरारी रे एहु।
धन तिकै नर कहै श्री धर्मसी, जोपै तेह रे जेह ।।४।। च०।।'[2]

विदेशी भाषाओं की कुछ समकक्ष शैलियाँ :

(१) इशारियत—प्राचीन अरबी-फ़ारसी साहित्य में प्रयोक्ताओं ने वैचारिक स्थिति को अभिव्यक्ति देने केलिए 'इशारियत' रचना शैली को विशेष रूप से अपनाया है। इस शैली में अर्थश्लेप के बल पर, लौकिक उदाहरणों को देकर अलौकिक जगत् की बात कही जाती है।[3] उस अलौकिक दशा (हक़) की स्थिति को अभिव्यक्ति देने केलिए, अप्रस्तुत के रूप

---

१. 'जैन कवियों के रास आदि ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में नवदम्पत्ति एक दूसरे की बुद्धि-परीक्षा और मनोरंजन दूहा, गूढ़ा, छन्द, हियाली और चौबोली आदि की वार्ताएँ कह कर किया करते थे। कवि समय सुन्दर ने 'नल दमयन्ती' चौपाई में नव दम्पत्ति के रात्रि के समय विनोद वार्त्ता करने के प्रसंग में कहा है—

'कवही चोबोली कहै, दूहा गूढ़ा छन्द।
हियाली हूंसे कहै, अहनिशि करै अनन्द ।।'

—प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृ० १४७ से

२.—प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृ० १४६ (से उद्धृत)

३. 'फ़ारसी कवि में श्लेपात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रयोगों की प्रवृत्ति का बाहुल्य है। प्रयोगों की निपुणता के कारण उनके काव्य में अर्थवैचित्र्य का पूरा समावेश हो जाता है। फ़ारसी-कवि जब लौकिक प्रेम के गीत गाने लगता है तब उस केलिए

(शेष अगले पृष्ठ पर)

में बादः-ओ-सागर (मधु और मधु-पात्र) को माध्यम बनाना ही पड़ता है।[1]

उलटवाँसी शैली के समान इशारियत में भी वैचारिक तथा साधनात्मक अवस्था की अभिव्यक्ति केलिए कुछ विशेष प्रतीकों के पीछे मन्तव्य को निहित रखा जाता है। परन्तु उलटवाँसी के समान असम्बद्धता के गर्भ में निहित विरोध जैसा अनिवार्य तत्त्व इशारियत (तमसील, रमज़ीअत) में देखने को नहीं मिलता। साथ ही इशारियत के प्रयोक्ता एकमात्र साधक न होकर उच्चकोटि के कवि हैं। इनमें सनायी (११वीं शताब्दी), फरीरुद्दीन अत्तार (११वीं), जलालुद्दीन रूमी (१२वीं) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[2] अत्तार की एक मसनवी 'मान्ताक्वैर' (Montiquttair=Speech of Birds) प्रसिद्ध है। 'मसनवी ऑफ मौलाना रूमी' (वौल्यूम I) की पहली 'हिदायत' में रूमी साहब ने एक कहानी के प्रारम्भ में कहा है दोस्तों में एक कहानी सुनाता हूँ। यह कहानी वह है जो हम सब पर बीतती है। कहानी का उदाहरण समझाने भर केलिए है।' संक्षेप में कहानी इस प्रकार है—एक राजा एक लड़की पर आकृष्ट होकर उसे खरीद लेता है, परन्तु वह उसके घर आकर बीमार हो जाती है। स्वप्न में, राजा को उसकी खुशहाली केलिए कुछ संकेत मिलते हैं। दूसरे दिन, स्वप्नानुसार एक फकीर आता है और उस लड़की से अनेक प्रकार के प्रश्न करके, उसके उत्तरों के आधार पर वह उसकी बीमारी का मूलकारण जान लेता है। वह राजा को बताता है कि यह लड़की समरकन्द के एक सुनार से प्रेम करती है उस दुरवेश गुरु के निर्देशानुसार राजा उस सुनार को वहाँ से बुलवा लेता है और बड़ी चतुराई से, अप्रत्यक्ष रूप में उसे कुरूप करा देता है। उसकी कुरूपता को देखकर लड़की स्वयं ही उससे प्रेम करना छोड़ देती है और स्वस्थ हो जाती है। तब से वह एकचित्त होकर बादशाह के साथ रहने लगती है।' इस कहानी में बादशाह 'रूह' (आत्मा) है, जिसका सम्बन्ध 'नफी' (लड़की=मन) से है। पहले वह 'नफी' (रूप मन) बादशाह के मार्ग से हटकर दुनियादारी के आकर्षण में फँस जाती है। पुनः गुरु की कृपा से उसके सांसरिक बन्धन कट जाते हैं और वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान लेती है। इस कहानी का रूप प्रतीका-

---

उद्दीपन विभावनाएँ अपने आपमें कुछ महत्त्व नहीं रखतीं, बल्कि उसकेलिए प्रधान वस्तु हो उठती है उसकी प्रतीकात्मकता। वह साक़ी, शराब, मैखाना, बुलबुल आदि के गीत गाता है, लेकिन ये वस्तुएँ उसकेलिए अपने आपमें प्रधान नहीं रहती, बल्कि वह उनसे एक विशेष सन्देश, एक विशेष भाव की अपेक्षा रखता है।······ फ़ारसी के पुराने कवियों की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि उन्होंने वर्ण्य-विषय से अधिक शैली पर ध्यान दिया है।'

—सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ५२६

१. 'हरचन्द हो मुशाहद-ए-हक की गुफ्तगू,
बनती नहीं है बादः-ओ-सागर कहे बिग़ैर।' —दीवान-ए-गालिब,

२. 'सनायी इज़ दि फर्स्ट ऑफ दि थ्री ग्रेट मिस्टीकल मदनवी (Mathnawi) राइटर्स ऑफ पर्सिया, दि सैकिण्ड बीइंग शेख फरीरुद्दीन अत्तार एण्ड दि थर्ड जलालुद्दीन रूमी।' —ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ पर्सिया (वौल्यूम II), पृ० ३१७

त्मक है, जिसके माध्यम से प्रयोक्ता की वैचारिक दशा को अभिव्यक्ति मिली है।

(२) एनिगमा, मिस्ट्री, पज़िल आदि: बुद्धि-परीक्षा केलिए अंग्रेजी साहित्य में एनिगमा, सिन (syn), मिस्ट्री, पज़िल, रिडिल आदि रूप प्रचलित हैं। इन सभी रूपों में किसी न किसी प्रकार से अर्थ को निगूढ़ रखा जाता है। इन सभी रूपों का प्रयोजन प्रतिपक्षी की बुद्धि-परीक्षा अथवा कथ्य की निगूढ़ता मात्र है, जबकि उलटबांसी में कथन की निगूढ़ता का उद्देश्य, योग्यपात्र को ज्ञान प्राप्ति और साम्प्रदायिक साधना को गुह्य रखना आदि रहता है। उक्त शैलियों का अर्थ की निगूढ़ता मात्र केलिए उलटबांसी से रूपसाम्य है। अन्यथा उलटबांसी शैली का सम्बन्ध साधनात्मक अभिव्यक्ति से है। वैसे 'एनिगमा'[1] और 'सिन'[2] रूप में भी कहीं-कहीं विरोधी तत्वों की योजना रहती है। पर 'पज़िल'[3] और 'रिडिल'[4] रूपों में बौद्धिक-व्यायाम ही रहता है।

---

१. 'एनिगमा—टु स्पीक इन रिडिल, एन इन्टेंशनली ऑब्सक्योर स्टेटमेन्ट दैट डिपेंड्स फौर फुल कोम्प्रीहेन्शन ऑन दि एलर्टनेस एण्ड इन्जैन्युटी ऑफ दि हीअरर और रीडर; औडली एन ऑब्सक्योर स्पीच और राइटिंग, एन इनकौम्प्रीहैन्सीबिल मिक्चर ऑफ अपोज़्ड क्वालिटीज़।' —वैबस्टर्स थर्ड न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी ऑफ दि इंगलिश लैंग्वेज (वौल्यूम I), पृ० ७५३

२. 'सिन-पज़िल, रिडिल, एनिगमा ; पज़िल-एप्लाईज़ टु एनी प्रौबलेम नोटेबिली बैफलिंग एण्ड चेलैंजिंग इन्जैन्युटी और स्किल ; रिडिल—इण्डीकेट्स ए क्युश्चन और प्रौबलेम इन्वौल्विंग पैराडौक्स और कन्ट्राडिक्शन्स, प्रोपोज़्ड फौर सौल्यूशन एज़ एन इण्डीकेशन ऑफ विट और इन्टलैक्ट्स।'—वही, (वौल्यूम II), पृ० १४६७

३. 'पज़िल-टु मेक इट डिफीकल्ट फौर ए परसन, टु प्रोसीड एलोंग इन एमेण्टली लैबोरियस मैनर, टु एक्सरसाइज़ वंस माइण्ड, ए क्युश्चन, प्रौबलेम और कण्ट्रीवांस डिज़ाइण्ड फौर टैस्टिंग इन्जैन्युटी।' —वही, (वौल्यूम II), पृ० १८५१

४. 'रिडिल-टु फाइण्ड दि सौल्यूशन ऑफ एक्सप्लेन, इण्टरप्रेट, टु क्रिएट और सेट ए रिडिल फौर, टु स्पीक इन और प्रोपाउण्डड रिडिल्स ; ए मिस्ट्रीफाइंग, मिसलीडिंग और पज़लिंग क्युश्चन पोज़्ड एज़ ए प्रौबलेम टु बी सौल्व्ड और गैस्ड।' —वही, (वौल्यूम II), पृ० १६५२

उपसंहृति

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥'[1]

अर्थात् स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इससे जीव बाह्य को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

साधक के अन्तर्मुखत्व की अवस्था को प्राप्त होने पर, विचारात्मक अनुभूति, की अभिव्यक्ति की समस्या का प्रश्न, अपनी सूक्ष्मता के कारण सदा से ही कठिन बना रहा है; क्योंकि अनुभूति की अनिर्वचनीयता को व्यक्त करने में वाणी सर्वथा समर्थ नहीं हो पाती। उस पर साधनात्मक अनुभूति और भी विचित्र होती है।[2] विचारात्मक अनुभूति को संतुष्ट करने केलिए कविर्मनीषी सन्त प्राचीन काल से ही प्रतीक-संकेत, विम्ब, अप्रस्तुत-विधानआदि की योजना तथा अतिशयोक्ति, असम्बद्धोक्ति, विरोधाश्रित कथनों आदि का प्रयोग करते रहे हैं। भारतीय वाङ्मय का वैदिक-साहित्य इसका साक्षी है। मनीषी कवियों ने जीव-ब्रह्म की विशेष अवस्था, जगत् की स्थिति, वाणी की अन्तर्मुखी सूक्ष्म अवस्था, सूर्य-यज्ञादि के व्यापक प्रभाव का वर्णन अनेक स्थलों पर, विभिन्न रूपकों, प्रतीकों तथा लोक में असम्बद्ध, विरुद्ध एवं असंगत लगने वाली उक्तियों द्वारा किया है। इस प्रकार वैचारिक अथवा साधनात्मक अनुभूति को व्यक्त करने की समस्या का, उलटवाँसी शैली के रूप में, मूलरूप हमें प्रहेलिका मंत्र (रिडिल हिम्स), समाधि-भाषा अथवा रहस्यात्मक 'प्रवल्हिता' शैली में लिखित मंत्रों में देखने को मिलता है।

मध्यकालीन धार्मिक संस्कृत-साहित्य में प्रवल्हितामय शैली का विकास कूट या दृष्टकूट शैली के रूप में देखने को मिलता है। उलटवाँसी प्रधान वैदिक प्रवल्हिता शैली के विकास का अवरोध इसलिए भी हुआ कि धार्मिक संस्कृत-साहित्य के समय तक आते-आते

१.—कठोपनिषद्, २।१।१

२. 'जहाँ न जप तप नैम ज्ञान ना ध्यान है।
पानी पवन अकास नाहिं ससि भान है॥
जोग जुक्ति ना सुरति नाहिं दिन रात है।
अरे हाँ पलटू, मन बुधि चित ना जाय तहाँ की बात है॥'
—पलटू साहिब की बानी (भाग दूसरा), पृ० ७८

अवतार की धारणा पुष्ट हो चुकी थी। फलतः उलटवांसी शैली की मूल भावना 'रहस्य' का पोषण आवश्यक न हो सकने के कारण, उलटवाँसी-प्रयोग की मूल प्रवृत्ति कूट या दृष्टकूट, प्रहेलिका आदि शैलियों के कलात्मक रूपों में परिवर्तित हो गई। इतना होने पर भी, इस काल के साहित्य में साधनात्मक सूक्ष्मता अथवा वैचारिक अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए यत्र-तत्र उलटवाँसी शैली का उपयोग किया गया है। कूट-वर्ग की होते हुए भी उलटवाँसी-शैली, काव्यशास्त्रीय अथवा व्याकरण शास्त्रीय कौशल मात्र पर आधारित न होने के कारण, दृष्टकूट शैली से भिन्न है।

पालि-साहित्य प्रमुखतः उपदेशात्मक प्रवृत्ति से भरपूर है। अतः, उसमें विरोधाश्रित अथवा रहस्य प्रधान कथन-शैली को प्रतिष्ठा न मिल सकी। फिर भी, विचार-प्रधान बुद्ध-वाणी में उलटवाँसी शैली का एकान्त अभाव नहीं है। 'धम्मपद' के कुछ पद्यों में अभिधात्मक असम्बद्धता, विचित्रता के साथ ही प्रतीकों के माध्यम से वैचारिक सूक्ष्मता को अभिव्यक्ति मिली है। परवर्ती बौद्ध-साहित्य विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विकसित हुआ है; जिसमें रहस्यात्मक प्रवृत्ति के बढ़ने के साथ-साथ कथन में अभि-सन्धि, गुह्य की मात्रा तथा चमत्कार-योजना की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। कथन की रहस्यात्मकता के कारण ही सहजयानी सिद्धों की वाणी संध्या-भाषा-शैली के रूप में प्रचलित और प्रसिद्ध हुई है। प्रयोग-साम्य की दृष्टि से, संध्या-भाषा-शैली में लिखित सिद्धों की पंक्तियाँ, कुछ अंशों में सन्तों की उलटवाँसी मूलक पंक्तियों में अथवा कबीर की बानी में शब्द रूपान्तर से ज्यों की त्यों मिल जाती हैं।

उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता के रूप में गोरखनाथ का व्यक्तित्व सिद्धों की परम्परा से ही विकसित हुआ है। अनेक उलटवाँसी-पद अपने विकसित रूप में आपकी बानियों में मिलते हैं। 'निगुरी' पृथ्वी को प्रलय से बचाने केलिए, उल्टी स्थापना करते हुए[१] गोरख ने वाणी को पलट कर[२] 'उलटी चर्चा'[३] विषयक पद गाए हैं। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से गोरखनाथ के उलटवाँसी-पद परवर्ती सन्तों की उलटवाँसियों केलिए सुदृढ़ पृष्ठ-भूमि हैं। उसी पृष्ठ-भूमि को आधार बनाकर उलटवाँसीशैली के प्रयोग में कबीर का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ऐसी विकास-रेखा खींच सका है, जिसका अतिक्रमण परवर्ती सन्त नहीं कर सके हैं। कबीर के उलटवाँसी मूलक प्रयोग अनुभूति को यथावत् संतुष्ट करने में तो सफल हुए ही हैं; बहुत समय तक लोक-जीवन की धार्मिक जिज्ञासा का समाधान और लोक-मनोवृत्ति को भी तृप्त करते रहे हैं। आपके उलटवाँसी-पदों में लोक-जीवन की सम्यक् झाँकी देखने को मिलती है।

कबीर के उलटवाँसी-प्रयोगों ने, प्रेरणा-स्रोत के रूप में, परवर्ती सन्तों केलिए ऐसा सुखद प्रासाद निर्मित किया है, जिसमें पैठ कर परवर्ती प्रयोक्ता अपनी बहुविधि कल्पना को इस शैली के माध्यम से व्यक्त करते रहे हैं। बाद के सन्तों की उलटवाँसियों में प्रतीक-

---

१. गोरख-बानी, पृ० ५२; २. गोरख-बानी, पृ० ३२; ३. गोरख-बानी, पृ० १४२

चयन तथा छन्द-प्रयोग की दृष्टि से, अपनी पूर्व परम्परा का परिष्कृत रूप दिखाई देता है। प्रतीक-चयन की दृष्टि से सन्त सुन्दरदास के प्रतीकों का क्षेत्र व्यापक है और छन्द-चयन की दृष्टि से सुन्दरदास के अतिरिक्त सन्त पलटू साहब, सन्त तुलसी साहब (हाथरस वाले) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रायः सभी सन्तों की उलटवाँसियों में हठयौगिक साधना, माया का व्यापक प्रभाव, मन की बहिर्मुखता-चंचलता, पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्धों का वर्णन तथा विभिन्न प्रकार के साधर्म्य मूलक प्रतीकों-संकेतों की योजना, पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग और रूपक तत्त्व को आधार बनाया गया है। उलटवाँसी-पदों में रूपक तत्त्व की योजना केलिए धनी धरमदास, यारी साहब, जगजीवन साहव, दरिया साहव (मारवाड़ वाले), गुलाल साहब, भीखा साहब, तुलसी साहब (हाथरस वाले) आदि सन्तों के नाम उदाहरणीय हैं। इस प्रकार प्रायः सभी सन्त-कवियों ने विभिन्न प्रकार के प्रभावों और संस्कारों के फलस्वरूप, विभिन्न क्षेत्रों से प्रतीकों को चुनकर उलटवाँसी-शैली के माध्यम से अपने साधनात्मक अनुभवों को साकार रूप प्रदान किया है। उलटवाँसी-शैली का मुख्य विषय 'साधना' ही है; फिर भी, प्रयोक्ताओं के व्यक्तित्व भेद से उलटवाँसी-शैली के विकास में अन्य विशेषताएँ भी उभरी हैं। मात्रा और मौलिकता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कबीर की नैसर्गिक प्रतिभा से, उलटवाँसी-शैली के सभी परवर्ती प्रयोक्ता अभिभूत हुए हैं।

उलटवाँसियाँ सन्तों की वाणी का एक अंग हैं। अतः भाषा-विषयक कोई उपलब्धि इस शोध प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं रही है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि उलटवाँसी-पदों में अनेक लोक प्रचलित कहावतों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है और अनेक उलटवाँसी मूलक कथन लोकोक्ति बनने में समर्थ भी हैं।[1] भाषा, व्याकरण सम्मत न होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से लोक को अभिभूति करने में समर्थ रही है। विरोध

---

१. 'गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई।' —कबीर ग्रंथावली,
'गंगा उलटी फेरि करि जमुना माहैं आणि।'
—दादूदयाल की बानी (भाग १), पृ० ६०
'सुई के नाके सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै।'
—मलूकदास जी की बानी, पृ० १
'हिरदे में पावक जरै री हे-ी तपि नैना भये लाल॥'
—चरनदास जी की बानी (दूसरा भाग), पृ० २३
'नैन बिन दरियाव देखै अनन्द रूप घना।'
—दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४६
'सो पावैगा लाल जाइके गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै॥'
—पलटू साहेब की बानी (भाग १), पृ० ५३
'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै।' वही, (भाग १), पृ० ८१
'लड़िका चूल्हे में लुका ढूँढ़त फिरै पहार।' वही, (भाग १), पृ० ८५

की योजना केलिए ढूंढ़-ढूंढ़कर असम्भव प्रमाणों का प्रयोग उलटवांसी-पदों में मिलता है। इसके अतिरिक्त भाषा के व्यवहारिक प्रयोगों ने उलटवांसी-पदों में प्रभावोत्पादकता और चमत्कार सृष्टि में अभिवृद्धि की है। इस प्रकार लोक-प्रचलित भाषा के माध्यम से, शैली के इस रूप ने लोक को विचार करने का अवसर दिया है। साथ ही यह रूप लोक-वृत्ति को विस्मय-विमुग्ध करके मनोरंजन का भी साधन हुआ है। उलटवांसी-पदों का माध्यम साम्प्रदायिक गद्दियों के प्रभाव को स्थायी बनाने में सहायक हुआ है। आज भी इस शैली का प्रयोग सर्वथा अवरुद्ध नहीं है; वैज्ञानिक विश्लेषण-वृत्ति के कारण मन्द अवश्य पड़ गया है।

उलटवांसियों का अध्ययन अपने मूल रूप में प्रयुक्त प्रतीकों का ही विवेचन है। प्रकृति, धर्म और विधि-विरोधक प्रतीकों की वैचित्र्यमूलक अटपटी योजना के कारण उलटवांसी शैली का अध्ययन उपेक्षित बना रहा है। उलटवांसी-शैली के प्रयोक्ता सन्तों के मानसिक धरातल के अनुसार अनेक ऐसी वस्तुओं और जीवों को प्रतीकत्व मिला है, जिनसे प्रयोक्ता के मानसिक बिम्ब का अनुमान लगाना कठिन प्रतीत होता है तथा अति-क्रान्त उक्तियों के रूप में ब्राह्मण शास्त्रों में प्रयुक्त असम्भव प्रमाणों की योजना से सांकेतिक व्यंजना तक पहुँचना, और वह भी किसी शास्त्रीय परम्परा के अभाव में, दुर्बोधता का कारण रही है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बहुविधि प्रयुक्त प्रतीक संकेतात्मक शब्दावली को दो वर्गों में व्यवस्थित किया है—(१) सांकेतिक प्रतीक; (२) पारिभाषिक शब्दावली। सांकेतिक प्रतीकों की योजना में प्रयोक्ता सन्तों का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हुआ है। उलटवांसियों में प्रायः ऐसे सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जिनसे धर्म, प्रकृति, क्रिया, परिस्थिति आदि का साम्य मुखर होता है। ऐसे प्रतीकों से प्रयोक्ता की प्रतिभा और मौलिकता का परिचय मिलता है। ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष ज्ञान की भांति कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं देते। इनसे तो पदार्थ, क्रिया, भावना, विश्वास आदि के सम्बन्ध में आनुमानिक निश्चय ही प्राप्त हो पाता है। इसलिए उलटवांसियों में प्रयुक्त इन सांकेतिक प्रतीकों के नाना प्रकार के साम्यों की ओर सन्तों की दृष्टि रही है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि सभी सम्भव पक्ष प्रस्तुत हो सके हैं। उदाहरण केलिए संसार को 'सागर' कहा गया है। इस 'सागर' प्रतीक के प्रयोग में विषयी जीवों की वासना, तृष्णा, माया के प्रभाव आदि में डूबने की व्यंजना है। इसीप्रकार मन केलिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। अनेक प्रयोगों में 'मन' को मेंढक कहा है। इस प्रयोग में मन की भ्रमावस्था और संकीर्णता की ध्वनि निकलती है। साथ ही जिस प्रकार मेंढक में जल और स्थल दोनों स्थानों पर समान रूप से रहने की क्षमता है; वैसे ही मन विषयेन्द्रियों के जल में रहकर बहिर्मुखी और (अन्तर्मुखी होकर निःसंगता अथवा अनासक्ति की अवस्था में) अन्तर्मुखी बने रहने की सामर्थ्य रखता है। प्रबन्ध की सीमा के कारण प्रतीकों की योजना के इस विशद् पक्ष का विवेचन-विश्लेषण प्रौढ़ अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

पारिभाषिक शब्दों के अध्ययन में, अर्थ-ग्रहण करने केलिए, शास्त्र तथा सम्प्रदाय विशेष की परम्परा तथा प्रयोग-रूढ़ि का अवलम्बन नितान्त आवश्यक समझा गया है।

चयन तथा छन्द-प्रयोग की दृष्टि से, अपनी पूर्व परम्परा का परिष्कृत रूप दिखाई देता है। प्रतीक-चयन की दृष्टि से सन्त सुन्दरदास के प्रतीकों का क्षेत्र व्यापक है और छन्द-चयन की दृष्टि से सुन्दरदास के अतिरिक्त सन्त पलटू साहब, सन्त तुलसी साहब (हाथरस वाले) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रायः सभी सन्तों की उलटवाँसियों में हठयौगिक साधना, माया का व्यापक प्रभाव, मन की बहिर्मुखता-चंचलता, पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्धों का वर्णन तथा विभिन्न प्रकार के साधर्म्य मूलक प्रतीकों-संकेतों की योजना, पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग और रूपक तत्त्व को आधार बनाया गया है। उलटवाँसी-पदों में रूपक तत्त्व की योजना केलिए धनी धरमदास, यारी साहब, जगजीवन साहब, दरिया साहब (मारवाड़ वाले), गुलाल साहब, भीखा साहब, तुलसी साहब (हाथरस वाले) आदि सन्तों के नाम उदाहरणीय हैं। इस प्रकार प्रायः सभी सन्त-कवियों ने विभिन्न प्रकार के प्रभावों और संस्कारों के फलस्वरूप, विभिन्न क्षेत्रों से प्रतीकों को चुनकर उलटवाँसी-शैली के माध्यम से अपने साधनात्मक अनुभवों को साकार रूप प्रधान किया है। उलटवाँसी-शैली का मुख्य विषय 'साधना' ही है; फिर भी, प्रयोक्ताओं के व्यक्तित्व भेद से उलटवाँसी-शैली के विकास में अन्य विशेषताएँ भी उभरी हैं। मात्रा और मौलिकता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि कबीर की नैसर्गिक प्रतिभा से, उलटवाँसी-शैली के सभी परवर्ती प्रयोक्ता अभिभूत हुए हैं।

उलटवाँसियाँ सन्तों की वाणी का एक अंग हैं। अतः भाषा-विषयक कोई उपलब्धि इस शोध प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं रही है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि उलटवाँसी-पदों में अनेक लोक प्रचलित कहावतों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है और अनेक उलटवाँसी मूलक कथन लोकोक्ति बनने में समर्थ भी हैं।[1] भाषा, व्याकरण सम्मत न होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से लोक को अभिभूति करने में समर्थ रही है। विरोध

---

१. 'गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई।' —कबीर ग्रंथावली,
'गंगा उलटी फेरि करि जमुना माहें आणि।'
—दादूदयाल की बानी (भाग १), पृ० ९०
'सुई के नाके सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै।'
—मलूकदास जी की बानी, पृ० १
'हिरदे में पावक जरै री हेरी तपि नैना भये लाल ॥'
—चरनदास जी की बानी (दूसरा भाग), पृ० २३
'नैन बिन दरियाव देखै अनन्द रूप घना।'
—दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी, पृ० ४६
'सो पावैगा लाल जाइके गोता मारै।
मरजीवा ह्वै जाय लाल को तुरत निकारै ॥'
—पलटू साहेब की बानी (भाग १), पृ० ५३
'लहँगा परिगा दाग फूहरि साबुन से धोवै।' वही, (भाग १), पृ० ८१
'लड़िका चूल्हे में लुका ढूंढ़त फिरै पहार।' वही, (भाग १), पृ० ८५

की योजना केलिए ढूंढ़-ढूंढ़कर असम्भव प्रमाणों का प्रयोग उलटवांसी-पदों में मिलता है। इसके अतिरिक्त भाषा के व्यवहारिक प्रयोगों ने उलटवांसी-पदों में प्रभावोत्पादकता और चमत्कार सृष्टि में अभिवृद्धि की है। इस प्रकार लोक-प्रचलित भाषा के माध्यम से, शैली के इस रूप ने लोक को विचार करने का अवसर दिया है। साथ ही यह रूप लोक-वृत्ति को विस्मय-विमुग्ध करके मनोरंजन का भी साधन हुआ है। उलटवांसी-पदों का माध्यम साम्प्रदायिक गद्दियों के प्रभाव को स्थायी बनाने में सहायक हुआ है। आज भी इस शैली का प्रयोग सर्वथा अवरुद्ध नहीं है; वैज्ञानिक विश्लेषण-वृत्ति के कारण मन्द अवश्य पड़ गया है।

उलटवाँसियों का अध्ययन अपने मूल रूप में प्रयुक्त प्रतीकों का ही विवेचन है। प्रकृति, धर्म और विधि-विरोधक प्रतीकों की वैचित्र्यमूलक अटपटी योजना के कारण उलटवांसी शैली का अध्ययन उपेक्षित बना रहा है। उलटवांसी-शैली के प्रयोक्ता सन्तों के मानसिक धरातल के अनुसार अनेक ऐसी वस्तुओं और जीवों को प्रतीकत्व मिला है, जिनसे प्रयोक्ता के मानसिक बिम्ब का अनुमान लगाना कठिन प्रतीत होता है तथा अति-क्रान्त उक्तियों के रूप में ब्राह्मण शास्त्रों में प्रयुक्त असम्भव प्रमाणों की योजना से सांकेतिक व्यंजना तक पहुँचना, और वह भी किसी शास्त्रीय परम्परा के अभाव में, दुर्बोधता का कारण रही है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बहुविधि प्रयुक्त प्रतीक संकेतात्मक शब्दावली को दो वर्गों में व्यवस्थित किया है—(१) सांकेतिक प्रतीक; (२) पारिभाषिक शब्दावली। सांकेतिक प्रतीकों की योजना में प्रयोक्ता सन्तों का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हुआ है। उलट-वाँसियों में प्रायः ऐसे सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जिनसे धर्म, प्रकृति, क्रिया, परि-स्थिति आदि का साम्य मुखर होता है। ऐसे प्रतीकों से प्रयोक्ता की प्रतिभा और मौलिकता का परिचय मिलता है। ऐसे प्रतीक प्रत्यक्ष ज्ञान की भाँति कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं देते। इनसे तो पदार्थ, क्रिया, भावना, विश्वास आदि के सम्बन्ध में आनुमानिक निश्चय ही प्राप्त हो पाता है। इसलिए उलटवाँसियों में प्रयुक्त इन सांकेतिक प्रतीकों के नाना प्रकार के साम्यों की ओर सन्तों की दृष्टि रही है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि सभी सम्भव पक्ष प्रस्तुत हो सके हैं। उदाहरण केलिए संसार को 'सागर' कहा गया है। इस 'सागर' प्रतीक के प्रयोग में विषयी जीवों की वासना, तृष्णा, माया के प्रभाव आदि में डूबने की व्यंजना है। इसीप्रकार मन केलिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। अनेक प्रयोगों में 'मन' को मेंढक कहा है। इस प्रयोग में मन की अभावस्था और संकीर्णता की ध्वनि निकलती है। साथ ही जिस प्रकार मेंढक में जल और स्थल दोनों स्थानों पर समान रूप से रहने की क्षमता है; वैसे ही मन विषयेन्द्रियों के जल में रहकर बहिर्मुखी और (अन्तर्मुखी होकर निःसंगता अथवा अनासक्ति की अवस्था में) अन्तर्मुखी बने रहने की सामर्थ्य रखता है। प्रबन्ध की सीमा के कारण प्रतीकों की योजना के इस विशद् पक्ष का विवेचन-विश्लेषण प्रौढ़ अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

पारिभाषिक शब्दों के अध्ययन में, अर्थ-ग्रहण करने केलिए, शास्त्र तथा सम्प्रदाय विशेष की परम्परा तथा प्रयोग-रूढ़ि का अवलम्बन नितान्त आवश्यक समझा गया है।

हिंडोला, होली, हंस, दिव्य-विवाह, वसंत, सावन, पिउ-प्यारी जीवात्मा आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो अपने प्रयोग में रूढ़ हो गये हैं। वैसे भी उलटवाँसी शैली एक विशेष परम्परा की देन है। अतः उलटवाँसी-पदों की सांकेतिक व्याख्या में परम्परा प्रचलित अर्थ का सहारा लेना स्वाभाविक ही है।

उलटवाँसी-पदों में पद-विन्यास का चातुर्य और कला के रूप में काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मता के न रहते हुए भी[१], अनुभूति की प्रखरता (सच्चाई) के कारण कला का और सांकेतिक शैली में वक्र-कथन होने के कारण काव्यशास्त्रीय सीमा का सर्वथा एवं आत्यान्तिक अभाव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भाव की भूमिका में पहुँचते ही वाणी का काव्यमय होना स्वाभाविक है। उलटवाँसी-पदों का शब्द-व्यापार अपना विशेष महत्व रखता है; क्योंकि शब्द की अभिधा से मुख्यार्थ की प्रतीति नहीं हो पाती और मुख्यार्थ के बाध के पश्चात् 'शब्द' अपना दूसरा तत्सम्बन्धी शब्दकोषीय अर्थ प्रदान नहीं कर पाता; प्रत्युत् साधर्म्य अथवा सारूप्य के आधार पर मुख्य अर्थ व्यंजित करता है। अतः काव्यशास्त्रीय 'लक्षणा' का क्षेत्र उलटवाँसी-पदों में बाधित रहता है और अभिधा से ही प्रयोक्ता के मन्तव्य के रूप में व्यंजित अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार उलटवाँसी शैली का कलेवर सांकेतिक रहस्य-प्रधान होनेके कारण काव्यशास्त्रीय ध्वनिवाद के निकट है, जिसकी काथनिक वक्रता सहज ही वक्रोक्ति शैली का तट-स्पर्श कर लेती है। इसके अतिरिक्त, विरोध-गर्भित असम्बद्धता एवं रूपक तत्त्व की योजना उलटवाँसी शैली की प्रमुख विशेषता है। परिणाम स्वरूप उलटवाँसी-पदों में कुछ विरोधमूलक तथा साम्य मूलक अलंकारों का प्रयोग सहज ही हो गया है।

उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता सन्तों की मूलभावना निःस्पृहता से प्रेरित रही है; परन्तु यह निःस्पृहता अपने मूल रूप में 'निर्वेद'[२] जन्य न होकर आत्मा (अन्तःकरण) के विश्राम (वहिर्मुखता को छोड़कर अन्तर्मुखी होने) का परिणाम है। अतः 'शम' जन्य भावना ही सन्तों की निःस्पृहता की जननी है* और इसी 'शम' जन्य भावना ने सन्तों को

---

१. 'कबीर की कविता में कला का अभाव है। उनकी रचना में पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। 'उलटवाँसियों' में क्लिष्ट कल्पना है और भाषा बहुत भद्दी है।'
(डॉ० रामकुमार वर्मा)—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६८
'रहस्यवाद की ऐसी रचनाओं के रचयिता होकर भी कहीं-कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कहीं हैं जो बिल्कुल ऊटपटांग और निरर्थक मालूम होती हैं।'
(श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध')
—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० १३७

२. 'निर्वेद चित्त की अभावात्मक वृत्ति है जो संसार के भौतिक आनन्दों एवं सुखों की ओर से मोड़कर परमार्थ अथवा ईश्वर की ओर उन्मुख करती है।'
— हिन्दी साहित्यकोश (पहला भाग), पृ० ४१८

* टिप्पणी सन्तों की वाणी आत्म विश्रान्ति जन्य आनन्द का परिणाम है। 'निर्वेद' प्रतिक्रियात्मक होने से ऋणात्मक है और 'शम' संयम, साधनाभ्यास का परिणाम होने से धनात्मक है।

शान्तरस की पावन गंगा में अवगाहन कराया है।[1] 'निर्वेद' तो उनके लिए 'संचारी' मात्र है। अत: सन्तों की 'शम' जन्य वाणी का एक अंग उलटवाँसियों का शान्तरसोन्मुखी होना स्वाभाविक है। उलटवाँसी शैली का रूप विभिन्न प्रकार के प्रतीकों की विचित्र योजना एवं असम्बद्ध कथनों से साकार हुआ है; अत: अद्‌भुत और हास्य रसों और 'भावों' की सहज झलक उलटवाँसी-पदों की अभिधा में देखने को मिल जाती है। रूपक तत्त्व के आधार पर जीवात्मा का विशेष दशा के कथनों में (कहीं-कहीं माधुर्योपासना के प्रभाव के कारण) संयोग और वियोग शृंगार की भावना भी झलकती है। पर कहीं भी शैली की मूल-भावना, अनुभूति की अभिव्यक्ति की कठिनाई, का तिरोभाव नहीं दिखाई देता।

अन्त में कह सकते हैं कि, हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस विशिष्ट और स्वतन्त्र उलटवाँसी शैली की स्थापना 'शब्द' (सन्तों का छन्द विशेष) के चमत्कार की स्थापना है। 'शब्द' आकाश का धर्म है। आकाश 'शून्य' है और शून्य ब्रह्म। साधक की धरती रूप जड़ काया उलटकर आकाश को, शून्य को प्राप्त होती है ('धरती उलटि अकासहिं ग्रासै, यहु पुरिसां की वांणी।'—कबीर) यही सन्त पुरुषों की वाणी है। अत: यह 'शब्द' का ही अध्ययन है, आद्यांत 'शब्द' का।

---

१. 'शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्।' —साहित्यदर्पण, ३।१८०
'शमो निरीहावस्थायामानन्दः। स्वात्मविश्रामादिति।' —काव्यप्रदीप,
(— कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ३१ से उद्‌धृत)

हिंडोला, होली, हंस, दिव्य-विवाह, वसंत, सावन, पिउ-प्यारी जीवात्मा आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो अपने प्रयोग में रूढ़ हो गये हैं। वैसे भी उलटवाँसी शैली एक विशेष परम्परा की देन है। अतः उलटवाँसी-पदों की सांकेतिक व्याख्या में परम्परा प्रचलित अर्थ का सहारा लेना स्वाभाविक ही है।

उलटवाँसी-पदों में पद-विन्यास का चातुर्य और कला के रूप में काव्यशास्त्रीय सूक्ष्मता के न रहते हुए भी[1], अनुभूति की प्रखरता (सच्चाई) के कारण कला का और सांकेतिक शैली में वक्र-कथन होने के कारण काव्यशास्त्रीय सीमा का सर्वथा एवं आत्यान्तिक अभाव नहीं कहा जा सकता; क्योंकि भाव की भूमिका में पहुँचते ही वाणी का काव्यमय होना स्वाभाविक है। उलटवाँसी-पदों का शब्द-व्यापार अपना विशेष महत्व रखता है; क्योंकि शब्द की अभिधा से मुख्यार्थ की प्रतीति नहीं हो पाती और मुख्यार्थ के बाध के पश्चात् 'शब्द' अपना दूसरा तत्सम्बन्धी शब्दकोषीय अर्थ प्रदान नहीं कर पाता; प्रत्युत् साधर्म्य अथवा सारूप्य के आधार पर मुख्य अर्थ व्यंजित करता है। अतः काव्य-शास्त्रीय 'लक्षणा' का क्षेत्र उलटवाँसी-पदों में बाधित रहता है और अभिधा से ही प्रयोक्ता के मन्तव्य के रूप में व्यंजित अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार उलटवाँसी शैली का कलेवर सांकेतिक रहस्य-प्रधान होनेके कारण काव्यशास्त्रीय ध्वनिवाद के निकट है, जिसकी काथनिक वक्रता सहज ही वक्रोक्ति शैली का तट-स्पर्श कर लेती है। इसके अतिरिक्त, विरोध-गर्भित असम्बद्धता एवं रूपक तत्त्व की योजना उलटवाँसी शैली की प्रमुख विशेषता है। परिणाम स्वरूप उलटवाँसी-पदों में कुछ विरोधमूलक तथा साम्य मूलक अलंकारों का प्रयोग सहज ही हो गया है।

उलटवाँसी शैली के प्रयोक्ता सन्तों की मूलभावना निःस्पृहता से प्रेरित रही है; परन्तु यह निःस्पृहता अपने मूल रूप में 'निर्वेद'[2] जन्य न होकर आत्मा (अन्तःकरण) के विश्राम (बहिर्मुखता को छोड़कर अन्तर्मुखी होने) का परिणाम है। अतः 'शम' जन्य भावना ही सन्तों की निःस्पृहता की जननी है* और इसी 'शम' जन्य भावना ने सन्तों को

१. 'कबीर की कविता में कला का अभाव है। उनकी रचना में पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। 'उलटवाँसियों' में क्लिष्ट कल्पना है और भाषा बहुत भद्दी है।' (डॉ० रामकुमार वर्मा)—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६८
'रहस्यवाद की ऐसी रचनाओं के रचयिता होकर भी कहीं-कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कही हैं जो बिल्कुल ऊटपटांग और निरर्थक मालूम होती हैं।'
(श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध')
—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० १३७

२. 'निर्वेद चित्त की अभावात्मक वृत्ति है जो संसार के भौतिक आनन्दों एवं सुखों की ओर से मोड़कर परमार्थ अथवा ईश्वर की ओर उन्मुख करती है।'
— हिन्दी साहित्यकोश (पहला भाग), पृ० ४१८

* टिप्पणी सन्तों की वाणी आत्म विश्रान्ति जन्य आनन्द का परिणाम है। 'निर्वेद' प्रतिक्रियात्मक होने से ऋणात्मक है और 'शम' संयम, साधनाभ्यास का परिणाम होने से धनात्मक है।

शान्तरस की पावन गंगा में अवगाहन कराया है।[१] 'निर्वेद' तो उनके लिए 'संचारी' मात्र है। अतः सन्तों की 'शम' जन्य वाणी का एक अंग उलटवांसियों का शान्तरसोन्मुखी होना स्वाभाविक है। उलटवांसी शैली का रूप विभिन्न प्रकार के प्रतीकों की विचित्र योजना एवं असम्बद्ध कथनों से साकार हुआ है; अतः अद्भुत और हास्य रसों और 'भावों' की सहज झलक उलटवांसी-पदों की अभिधा में देखने को मिल जाती है। रूपक तत्त्व के आधार पर जीवात्मा का विशेष दशा के कथनों में (कहीं-कहीं माधुर्योपासना के प्रभाव के कारण) संयोग और वियोग शृंगार की भावना भी झलकती है। पर कहीं भी शैली की मूल-भावना, अनुभूति की अभिव्यक्ति की कठिनाई, का तिरोभाव नहीं दिखाई देता।

अन्त में कह सकते हैं कि, हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस विशिष्ट और स्वतन्त्र उलटवांसी शैली की स्थापना 'शब्द' (सन्तों का छन्द विशेष) के चमत्कार की स्थापना है। 'शब्द' आकाश का धर्म है। आकाश 'शून्य' है और शून्य ब्रह्म। साधक की धरती रूप जड़ काया उलटकर आकाश को, शून्य को प्राप्त होती है ('धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की वांणी।'—कबीर) यही सन्त पुरुषों की वाणी है। अतः यह 'शब्द' का ही अध्ययन है, आद्यांत 'शब्द' का।

१. 'शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्।' —साहित्यदर्पण, ३।१८०
'शमो निरीहावस्थायामानन्दः। स्वात्मविश्रामादिति।' —काव्यप्रदीप,
(— कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ३१ से उद्धृत)

परिशिष्ट--१

उलटवाँसी शैली और नवलेखन

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है 'अव्यक्त को व्यक्त करना, अरूप को रूप देना ही कला का उद्देश्य है। इस दृष्टि से वाङ्मय मात्र कला ही है, जिसमें मन के अव्यक्त भाव-विचारों, आवेशों को अभिव्यक्ति मिलती है। परन्तु जो कुछ अनुभव गम्य है, वह यथावत् अभिव्यक्ति नहीं किया जा सकता, क्योंकि मन का क्षेत्र अपरिमित है, वाणी का सीमित—'वाग्वैमनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव हि वाक्।' (—शतपथब्राह्मण, १।४।४।६)' समर्थ अभिव्यक्ति की चिरन्तन समस्या चिरप्राचीन काल से वर्तमानकाल तक मनीषियों, विचारकों तथा विश्लेषकों द्वारा विचारणीय रही है। एक ओर आचार्य शङ्कर परम तत्त्व की अभिव्यक्ति 'मौन-व्याख्यान' द्वारा ('मौनव्याख्याप्रकटित परब्रह्मतत्त्वंयुवानम्।' 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्नसंशयाः।' (—दक्षिणामूर्ति स्तोत्र,) सम्भव बताते हैं। तो वाणी के अपव्यय की आशंका ने ही, नवलेखक द्वारा वाणी की अपेक्षा मौन को श्रेयस्कर कहलाया है—

'एक मौन ही है जो अब भी नयी कहानी कह सकता है।
इसी एक घट में नवयुग की गंगा का जल रह सकता है।।'
(अज्ञेय)—हरी घास पर क्षण भर,

कवि जिस जागतिक सत्य के प्रति उल्लसित रहा करता है, उस भाव, विचार, आवेशमय मनः स्थिति की अभिव्यक्ति वाणी अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से भी यथावत् नहीं कर पाती, तब वह अप्रस्तुत विधान, प्रतीक-संकेत, विरोधात्मक प्रस्तुति के माध्यम से अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में तत्पर होता है। परन्तु उसकी अभिव्यक्ति से, उस अनुभूति का सम्यक् निरूपण नहीं हो पाता। साधना-क्षेत्र की उस वैचारिक स्थिति को साधक मौन-व्याख्यान द्वारा ही सम्प्रेपित करने का प्रयत्न करते हैं। विचारक सर्जक भी ऐसी स्थिति में भाषा की अभिधा-शक्ति से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। मनीषी कवियों, साधक-सन्तों ने समय-समय पर वाणी को जो शैलियाँ प्रदान की हैं उनमें प्रवल्हिका या प्रवल्हिता, दृष्ट-कूट, सन्ध्या भाषा, इशारियत, उलटवाँसी आदि हैं। इनमें अभिव्यक्ति का ऋजु-मार्ग न अपना कर बुद्धि-साध्य अतिक्रान्त उक्ति, विरोधमूलक वक्रता, समासोक्ति, अन्योक्ति, व्यंग्य आदि का सहारा लिया जाता है। अभिव्यक्ति की उक्त चिरंतजन समस्या का समाधान साधक-सन्तों ने उलटवाँसी-शैली के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वर्तमान समय के लेखन की ओर जब

सम्यक् दृष्टिपात किया जाता है, तो उक्त शैलीगत विशेषताएँ आज के लेखन में भी देखने को मिलती हैं।

आज की रचनाप्रक्रिया परम्परा-विरिहत है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु ऐसा कहने से पहले विचार करना होगा कि परम्परा से क्या तात्पर्य है, तभी ऐसा निर्णय देना समीचीन होगा। परम्परा वास्तव में विगत की जीवन्त कड़ी हुआ करती है, उसकी कोई सीमा नहीं। वह अपने क्रमिक विकास में विकसनशील तत्त्वों को अपनाती हुई और जड़, अनुपयोगी तत्त्वों को छोड़ती हुई क्रमिक किन्तु एक रूप नहीं, विरल रेखा खींचती जाती है। पुरानी परम्परा को तोड़ने की जहाँ बात कही जाती है, वहाँ परम्परा के रूढ़ अंश के विरोध से ही तात्पर्य रहता है। क्योंकि किसी नवीन परम्परा की स्थापना का उद्देश्य भी अपने आप में प्राचीन परम्परा का पर्याय ही है। कोई क्या जानता है कि भविष्य में वह भी उतनी ही रूढ़िग्रस्त हो जाय। इसलिए नव-लेखन की मूल भित्ति रूढ़ि का प्रतिरोध करना ही कहा जाना चाहिए, परम्परा का अवरोध नहीं। आज के लेखन का यदि कोई भारतीय अथवा पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य में प्रेरणा स्रोत है अथवा हो सकता है तो सन्तों की उलटबाँसी शैली अथवा कबीर की कथन-पद्धति। कबीर का यह कथन नव लेखक की दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है—

> 'अवधू ऐसा ग्यान विचारं।
> भेरै चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं।
> ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।
> मन्दिर पैसि चहूँ दिसि भींगे, बाहरि रहे ते सूका।
> सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा।
> बिन नैंनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
> कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा।'
>
> —कबीर ग्रंथावली, पद १७५

आज का लेखक उस 'पार' की बात नहीं सोचता, इस पार के क्षणों की शलाखों में अस्तित्ववान् जीवन को ही स्वीकारता है। परन्तु इस पार के जीवन को भी वह 'भेरै' पर चढ़ कर या एक घिसी-पिटी लकीर का सहारा लेकर सन्तरित नहीं करना चाहता। 'ऊघट' चल कर निराधारत्व का सहारा लेते हुए, जो जीवन वह जीता है, उसी को अपने परिवेश से उपादान ग्रहण करके अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु आनुभूतिक सघनता भाषा के उपादानों में यथावत् नहीं बँधपाती। इसलिए विरोधात्मक कथनों, जीवन के सहज प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जो जैसा है उसको उसी रूप में स्वीकारना, मृदुता, स्निग्धता अथवा अव्यवहारिकता के आवरण से न ढक कर 'प्रस्तुत' यथावत् को प्रस्तुत करने का प्रयत्न आज के लेखक का उद्देश्य है। आज के लेखक की अभिव्यक्ति की यह जीवन्तता कबीर की अभिव्यक्ति के बहुत निकट की है। यह लिखने का तात्पर्य यह नहीं कि आज का लेखक साधक, ध्यानी अथवा हठयोगी परम्परा को कार्थनिक कुशलता प्रदान कर रहा है। यहाँ

तो उसके कथन पक्ष पर ही विचार करना है, कथ्य पर नहीं।

छायावादी कविता को 'पलायन' का परिणाम माना गया है। वास्तव में 'पलायन' शब्द निर्बीजत्व वाला नहीं है कि जिसमें सृष्टि का एकान्त अभाव हो। पलायन के फल-स्वरूप भी साहित्य में नयी-नयी भाव-भूमियाँ रूपायित हुई हैं। उलटवाँसी-शैली को मैं रूप-विधान या शैली पक्षीय पलायन ही मानता हूँ। जिसमें पद या छन्द को तो परम्परा से अपना लिया किन्तु उपमान, प्रतीक, कार्थनिक असम्बद्धता, विरोध, व्यंग्योक्ति, लाक्षणिक प्रयोग, अभिधामूलक व्यंजना आदि की योजना परम्परा से हट कर स्वीकार हुई हैं। नवलेखक जीवनानुभूति को सहजता प्रदान करने केलिए छन्द की सीमा को भी सहन नहीं कर सका। इसलिए आज के लेखक की शैली नवीन और मौलिक कही जा सकती है। और इसी अर्थ में उलटवाँसी शैली भी। किन्तु प्रत्येक प्रकार की मौलिकता के कुछ उपादान तत्त्व परम्परा से ही प्राप्त होते हैं। विचारक कवि की प्रतिभा उसे मौलिक सिद्ध कर देती है। प्रतिभा विचार की धारा से तो सम्बद्ध रहती ही है। साथ ही उस विचार को उपयुक्त शब्द, जिनका चयन, शोधन, परिमार्जन और व्यवस्था, प्रतिभा के स्पर्श से, मौलिकता प्रदान करते हैं। शब्द-प्रयोग की मौलिकता ही शैली की मौलिकता है। शब्द-शोधन, परिमार्जन और नियोजन एक ओर कथ्य को यथावत् बनाते हैं दूसरी ओर प्रभावी।

जिस प्रकार नवलेखन केलिए पाठकों की समस्या है, उसी प्रकार उलटवाँसी-शैली में लिखित साहित्य को पढ़ने की भी समस्या है। दोनों पर दुर्बोधता के आरोप लगाये गये हैं। नयी कविता के सम्बन्ध में डॉ० हरदेव बाहरी ने एक स्थान पर लिखा है—'नयी कविता के उत्थान से तीनों वर्गों के लोगों को बहुत चिढ़ है—एक वे जो संस्कार-बद्ध रूढ़िग्रस्त कविता के उपासक रहे हैं, दूसरे वे जो कविता की आड़ में राजनीति और साम्प्रदायिकता का प्रचार करते आये हैं और तीसरे वे जिन का बौद्धिक स्तर फिल्मी गीतों की रूचि से ही बना हुआ है।' (—हिन्दी की काव्य शैलियों का विकास, पृष्ठ २३८) प्रकारान्तर या काल-भेद से उलटवाँसी-शैली को समझने में भी इसी प्रकार की चिढ़ बनी रही हैं। इनमें से प्रथम चिढ़ के कारण ही उलटवाँसी-शैली का न तो सम्यक् अध्ययन हो सका और न समुचित व्यवस्या ही मिल सकी है। उलटवाँसी-शैली की कथानिक दुरुहता से ही आलोचक दूर भागते रहे और अनेक प्रकार के आरोप लगाते रहे हैं। कथन की असम्बद्धता और विरोध को देख कर वे कथ्य की अभिव्यक्ति सम्बन्धी समस्या की ओर विशेष ध्यान नहीं दे पाये हैं। उलटवाँसी-शैली विचार की सघनता को किस सामर्थ्य के साथ अभिव्यक्त कर सकती है, इसकी थाह नहीं ली गई। इसी प्रकार आधुनिक लेखन में साधारणीकरण का दोष लगाया जाता है। पाठक को यदि कविता समझ में नहीं आती तो वह कविता को हेय मान लेता है। अपनी बौद्धिक ग्रहण-शक्ति को तनिक भी कुछ नहीं कहता। ऐसे पाठकों केलिए महाभारत के कूटपद, सुबन्धु, माघ, श्री हर्ष और बाणभट्ट की रचनाएँ, उलटवाँसी-शैली, सूरदास के दृष्ट कूट, केशव की कविता, और आज का नवलेखन दुर्बोध लगता है। वास्तव में सम्प्रेषण की समस्या बहुत कुछ मानसिक ग्रहण-शक्ति एवं वैयाक्तिक वातावरण और रुचि पर विशेष रूप से आधारित रहती है। नयी

कविता के साधारणीकरण की जो समस्या है वही लगभग (उसके साधना-पक्ष को छोड़ कर) उलटवाँसी-शैली की भी है। नयी कविता के सहज ग्राह्य होने में दो कारण बाधक माने गए हैं। एक तो नये लेखक की प्रखर जीवनानुभूति अथवा भाव-विचार कुछ ही लोगों के जाने पहचाने हैं। दूसरे नयी कविता की भाषा अथवा कथन-शैली (उपमान-प्रतीक-चयन) परम्परागत भाषा या शैली से भिन्न हैं। शब्द-चयन-संयोजन, मुहावरे आदि सभी कुछ परम्परा से हट कर हैं। इस प्रकार नयी कविता कथ्य और कथन दोनों ही दृष्टियों से साधारण पाठक केलिए बोधगम्य नहीं है। यही बात उलटवाँसी-शैली केलिए भी चरितार्थ होती है। काथनिक वक्रता एवं कथ्य सम्बन्धी सूक्ष्मता ने उलटवाँसी-पदों को सामान्य नहीं रहने दिया। विशेष परिप्रेक्ष्य एवं विशेष रुचि का विषय बना दिया है। आचार्य नगेन्द्र ने एक स्थान पर दुरुहता के पाँच कारण बताये हैं :—(१) भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मकता के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध। (२) साधारणीकरण का त्याग। (३) उपचेतन मन के अनुभव खण्डों के यथावत् चित्रण का आग्रह। (४) काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग। (५) नूतनता का सर्वग्राही मोह। (—विचार और विवेचन,)

उक्त कारणों में से तृतीय कारण 'उपचेतन मन के अनुभव खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह, आग्रह नहीं प्रयत्न है। जिसके परिणाम स्वरुप अनुभूय परिस्थिति को अभिव्यक्त करने केलिए व्यवहार्य प्रतीक-उपमानों का चयन, विरोधात्मक उक्तियों का विधान उलटवाँसी-शैली और नयी कविता के कथन-पक्ष को समकक्ष बिठा देते हैं। इसलिए अभिधामूला व्यंजना दोनों शैलियों में समान रूप से देखने को मिलती है। वास्तव में भाषा की अपनी विशेष सीमा हुआ करती है। वह मनीषी कवि-लेखक के माध्यम से असीम भाव-विचार के क्षेत्र को मापना चाहती है। किन्तु अप्रस्तुत रूप में उसका यह प्रयत्न अपर्याप्त ही है। विचारक कवि के अनुभव खण्ड सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर होते हैं। शब्द-संकेतों का सहारा लेते हुए, नाना विशेषणों, विरोधात्मक उक्तियों, वक्रोक्तियों असम्बद्ध प्रस्तुतियों के माध्यम से कवि अनुभूय किन्तु निराकार परिस्थितियों को यथावत् अभिव्यक्त करना चाहता है, किन्तु फिर भी समूचे को बाँध नहीं पाता। अनेक अनुभव प्रसंग ऐसे होते हैं, जिनका हम अनुभव तो करते हैं, किन्तु अभिव्यक्ति नहीं दे पाते। ऐसी परिस्थिति की अभिव्यक्ति में संकेत और ध्वनि का प्राचुर्य हो जाता है और उसमें रहस्यवादी प्रवृत्ति मुखर होने लगती है। वास्तव में वह प्रखर अनुभूति, भाव-विरह अथवा ज्ञान-विरह की दशा ही है जो अप्रस्तुत उपादानों की असामर्थ्य के कारण अनकही रह जाती है। उस वैचारिक परिस्थित से अपरिचित पाठक केलिए, भाषा की असामर्थ्य के वे उपादान (प्रतीक-संकेत अथवा विरोधात्मक कथन) दुरुहता के कारण बन जाते हैं, सभीके लिए नहीं। उलटवाँसी-शैली में लिखित ज्ञान-विरह और भाव-विरह के क्षणों की अभिव्यक्ति तथा आज के प्रबुद्ध विचारक लेखक की अभिव्यक्ति भाषा की पराजय के कारण ही दुर्बोध कही जानी चाहिए। सर्वसामान्य या साधारणीकरण का गुण न सही विशेष अथवा विशेषीकरण का गुण दोनों में कम अधिक है अवश्य। काल शासित भाषा के आधार पर काल से परे देश और देश से परे अनुभव को पकड़ पाना ही कवि की सामर्थ्य का द्योतक है। ऐसा करने में कवि को शब्दों के परम्परा-

प्राप्त अर्थों में थोड़ा व्यतिक्रम करना पड़ता और जीवन के अधिक निकट पहुँचना पड़ता है। वह अपनी मानसिक अनुभूय परिस्थिति की प्रेरणा से ही भाषा के ऐसे ताने-बाने बुनता है, जो 'सर्व' केलिए दुर्बोध कही जाने पर भी विशेष परिस्थिति की अभिव्यक्ति के कारण प्रयोक्ता को सर्वाधिक सन्तोष देती है। प्रयोगों का शाब्दिक अर्थ न होते हुए भी परोक्ष स्थिति व्यंजित होती है। प्रयोगवाद जो बाद में नयी कविता के रूप में परिमार्जित हुआ, अपनी प्रेरणा स्रोत अथवा उद्गम स्थान कबीर के उलटवाँसी प्रयोगों में देख सकता है। वहाँ भी कथ्य को स्पष्ट करने केलिए भाषा-प्रयोग की नाना सम्भावनाओं का अनुसंधान हुआ है। वास्तव में ये दोनों ही विचार सरणियाँ आज दुरुह मानी जाती हैं। सच तो है कि इनके परिवेश को समझने का प्रयत्न नहीं हो पाया है। क्या संसार में कोई ऐसी भाषा है जो सब समझते हों? सब बोलते हों? इसीलिए सफल अभिव्यक्ति की समस्या चिरन्तन बनी रही है। जब एक विचारक या मनीषी अपने व्यक्ति विशेष से सीमित अनुभव को उस क्षेत्र से बाहर भी अनुभव करना चाहता है, तो उसके समक्ष कुशल अभिव्यक्ति की समस्या रहेगी ही। उलटवाँसी शैली की मूल प्रेरणा यही है। नयी कविता के परम्परा-विलग्न प्रयोगों का भी मूलाधार यही कहा जा सकता है।

आज की कविता को कैक्टसवाद नाम से भी अभिहित किया है। इस धारा की विशेषताएँ मानी गई हैं :—(१) अद्भुत किन्तु अदम्य जीवनाकांक्षा, (२) बाह्य कुरूपता एवं अनगढ़ता, (३) आन्तरिक स्निग्धता या रसमयता। प्रकारान्तर से उलटवाँसी शैली की भी ये विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। भाव या ज्ञान-विरही साधक सन्तों की इस संसार-सागर में मानसिक परिस्थिति 'जल विच मीन प्यासी' जैसी बनी रहती है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें बाह्य से किसी प्रकार की तृप्ति का अनुभव नहीं हो पाता। ये मनीषी साधक अपनी आन्तरिक चेतना को शाश्वत् चेतना से जोड़ लेते हैं। इस विशेष 'रहनी' में जीवनाकांक्षा तो है किन्तु अंतर्मुखी और स्निग्ध। इस विशेष मनोदशा की अभिव्यक्ति प्रतीक-संकेतों, असम्बद्ध कथनों तथा विरोध मूलक उक्तियों के द्वारा वे करते हैं, जिसमें कथन की अनगढ़ता और कुरूपता प्रतीत होती रहती है। किन्तु विचार करने पर शैलीगत असम्बद्धता या विरोध तिरोहित हो जाती है। हाँ, उटलवाँसी-शैली के प्रयोक्ताओं की कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। आज का लेखक भी जैसा लिखता है वैसा ही जीता भी है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु आंतरिक 'शम' के अभाव में वह क्षण के तट पर ही बिखर जाता है। उसका विचार पक्ष उसे जोड़ नहीं पाता, श्लिष्ट नहीं कर पाता। उसकी विशेषीकृत सत्यानुभूति विभिन्न क्षेत्रों और दिशाओं में विभाजित रहते हुए भी प्रखर है, इसलिए अभिव्यक्ति में असंगति और असम्बद्धता का आभास होता है, जबकि उलटवाँसी शैली के प्रयोगों में विरोध और असंगति की प्रतीति चित्तवृत्ति के विरोध का परिणाम है।

उक्त मानसिक प्रखर प्रतीति का ही परिणाम है कि आज का लेखक विरोधाभास पर आधारित अभिव्यक्ति में तोष का अनुभव करता है। गद्यात्मकता के प्रभाव से काव्य की कोमलता का तो ह्रास होता है किन्तु साथ ही अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और शक्ति बढ़ जाती है। उलटवाँसी शैली में लिखित पद गेय होते हुए भी गद्यात्मकता के प्रभाव से

वंचित नहीं है। नवलेखन की जीवन्त एवं सशक्त अभिव्यक्ति का मूल कारण गद्यात्मक संस्करण ही है। आज की रचनाओं में अनेक पंक्तियाँ, कविताओं के शीर्षक यहाँ तक कि कविता संग्रहों के शीर्षक विरोधाभास या असम्वद्धता पर आधारित नाम वाले ही हैं। कबीर सागर में 'प्यासी' मीन को देख कर हँस भर देते हैं—'जल विच मीन प्यासी। मोहि सुनि-सुनि आवै हाँसी।' तुलसी साहब (हाथरस वाले) इसी बात को थोड़ा गम्भीर होकर कहते हैं—

'पानी में मीन पियासी, काहे जानत संत विलासी।
ससि सम अगिन सूर सम शीतल, जहँ नहिं तत्त निवासी।'
—शब्दावली, भाग-२, पृ० १६३

दूलन साहब 'प्यास' की तृप्ति नेत्रों से पीते हुए बता कर यथावत् अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करके सन्तोष पाते हैं—

'सखि इक पैठी जल भीतर रटत पियास हो पियास हो।
मुख नहिं पियै चिरुआ नहिं पीयैं, नैनन पियत हुलास हो।'
—दूलनदास जी की बानी, फुटकल शब्द-१

बाबा गोरखनाथ भाव में ही अभाव की कल्पना को साधना का रंग देकर अभिव्यक्त करते हैं—

'लूंण कहै अलूंणा बाबू, घृत कहै मैं रूखा।
जल कहै मैं प्यासा मूवा, अन्न कहै मैं भूषा।।
पावक कहै मैं जाड़ण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा।
अनहद मृदंग बाजै, तहाँ पांगुल नाचन लागा।।'
—गोरख-बानी, पद २५

तो आज का विचारक कवि 'कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति' कहते हुए अपनी एकान्तिक परिस्थिति को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है—

'तुम महान् थे, महानता पर ही रीझ उठे,
पर, मैं हूँ अल्प, अल्पता ही छूपाता हूँ,
क्षार, पंक, हिम सबसे अभिशापित,
जल निधि में प्यासा हूँ।'

इसी प्रकार विरोधाभास और काथनिक असम्बद्धता पर आधारित कविता-संग्रह जैसे—'जो बँध नहीं सका' (गिरिजा कुमार माथुर), इसकी 'कटा हुआ आसमान', 'अर्धजन्म', 'अ नयावर्ष' कविता शीर्षक अपने आप में काथनिक विरोध संजोये हुए हैं और सम्भव है इस काथनिक विरोध के कारण ही उक्त नामों को शीर्षकत्व मिला हो। इसी

प्राप्त अर्थों में थोड़ा व्यतिक्रम करना पड़ता और जीवन के अधिक निकट पहुँचना पड़ता है। वह अपनी मानसिक अनुभूय परिस्थिति की प्रेरणा से ही भाषा के ऐसे ताने-बाने बुनता है, जो 'सर्व' केलिए दुर्बोध कही जाने पर भी विशेष परिस्थिति की अभिव्यक्ति के कारण प्रयोक्ता को सर्वाधिक सन्तोष देती है। प्रयोगों का शाब्दिक अर्थ न होते हुए भी परोक्ष स्थिति व्यंजित होती है। प्रयोगवाद जो बाद में नयी कविता के रूप में परिमार्जित हुआ, अपनी प्रेरणा स्रोत अथवा उद्गम स्थान कबीर के उलटवाँसी प्रयोगों में देख सकता है। वहाँ भी कथ्य को स्पष्ट करने केलिए भाषा-प्रयोग की नाना सम्भावनाओं का अनुसंधान हुआ है। वास्तव में ये दोनों ही विचार सरणियाँ आज दुरुह मानी जाती हैं। सच तो है कि इनके परिवेश को समझने का प्रयत्न नहीं हो पाया है। क्या संसार में कोई ऐसी भाषा है जो सब समझते हों? सब बोलते हों? इसीलिए सफल अभिव्यक्ति की समस्या चिरन्तन बनी रही है। जब एक विचारक या मनीषी अपने व्यक्ति विशेष से सीमित अनुभव को उस क्षेत्र से बाहर भी अनुभव करना चाहता है, तो उसके समक्ष कुशल अभिव्यक्ति की समस्या रहेगी ही। उलटवाँसी शैली की मूल प्रेरणा यही है। नयी कविता के परम्परा-विलग्न प्रयोगों का भी मूलाधार यही कहा जा सकता है।

आज की कविता को कैक्टसवाद नाम से भी अभिहित किया है। इस धारा की विशेषताएँ मानी गई हैं :—(१) अद्भुत किन्तु अदम्य जीवनाकांक्षा, (२) बाह्य कुरूपता एवं अनगढ़ता, (३) आन्तरिक स्निग्धता या रसमयता। प्राकान्तर से उलटवाँसी शैली की भी ये विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। भाव या ज्ञान-विरही साधक सन्तों की इस संसार-सागर में मानसिक परिस्थिति 'जल विच मीन प्यासी' जैसी बनी रहती है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें बाह्य से किसी प्रकार की तृप्ति का अनुभव नहीं हो पाता। ये मनीषी साधक अपनी आन्तरिक चेतना को शाश्वत् चेतना से जोड़ लेते हैं। इस विशेष 'रहनी' में जीवनाकांक्षा तो है किन्तु अंतर्मुखी और स्निग्ध। इस विशेष मनोदशा की अभिव्यक्ति प्रतीक-संकेतों, असम्बद्ध कथनों तथा विरोध मूलक उक्तियों के द्वारा वे करते हैं, जिसमें कथन की अनगढ़ता और कुरूपता प्रतीत होती रहती है। किन्तु विचार करने पर शैलीगत असम्बद्धता या विरोध तिरोहित हो जाती है। हाँ, उटलवाँसी-शैली के प्रयोक्ताओं की कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। आज का लेखक भी जैसा लिखता है वैसा ही जीता भी है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु आंतरिक 'शम' के अभाव में वह क्षण के तट पर ही बिखर जाता है। उसका विचार पक्ष उसे जोड़ नहीं पाता, श्लिष्ट नहीं कर पाता। उसकी विशेषीकृत सत्यानुभूति विभिन्न क्षेत्रों और दिशाओं में विभाजित रहते हुए भी प्रखर है, इसलिए अभिव्यक्ति में असंगति और असम्बद्धता का आभास होता है, जबकि उलटवाँसी शैली के प्रयोगों में विरोध और असंगति की प्रतीति चित्तवृत्ति के विरोध का परिणाम है।

उक्त मानसिक प्रखर प्रतीति का ही परिणाम है कि आज का लेखक विरोधाभास पर आधारित अभिव्यक्ति में तोष का अनुभव करता है। गद्यात्मकता के प्रभाव से काव्य की कोमलता का तो ह्रास होता है किन्तु साथ ही अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और शक्ति बढ़ जाती है। उलटवाँसी शैली में लिखित पद गेय होते हुए भी गद्यात्मकता के प्रभाव से

वंचित नहीं है । नवलेखन की जीवन्त एवं सशक्त अभिव्यक्ति का मूल कारण गद्यात्मक संस्करण ही है । आज की रचनाओं में अनेक पंक्तियाँ, कविताओं के शीर्षक यहाँ तक कि कविता संग्रहों के शीर्षक विरोधाभास या असम्वद्धता पर आधारित नाम वाले ही हैं । कवीर सागर में 'प्यासी' मीन को देख कर हँस भर देते हैं—'जल विच मीन प्यासी । मोहि सुनि-सुनि आवै हाँसी ।' तुलसी साहव (हाथरस वाले) इसी बात को थोड़ा गम्भीर होकर कहते हैं—

'पानी में मीन पियासी, काहे जानत संत विलासी ।
ससि सम अगिन सूर सम शीतल, जहँ नहिं तत्त निवासी ।'

--शब्दावली, भाग-२, पृ० १६३

दूलन साहब 'प्यास' की तृप्ति नेत्रों से पीते हुए वता कर यथावत् अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करके सन्तोष पाते हैं—

'सखि इक पैठी जल भीतर रटत पियास ही पियास हो ।
मुख नहिं पियै चिरुआ नहिं पीयै, नैनन पियत हुलास हो ।'

—दूलनदास जी की वानी, फुटकल शब्द-१

वावा गोरखनाथ भाव में ही अभाव की कल्पना को साधना का रंग देकर अभिव्यक्त करते हैं—

'लूंण कहै अलूंणा वावू, घृत कहै मैं रूषा ।
जल कहै मैं प्यासा मूवा, अन्न कहै मैं भूषा ।।
पावक कहै मैं जाड़ण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा ।
अनहद मृदंग वाजै, तहाँ पाँगुल नाचन लागा ।।'

—गोरख-वानी, पद २५

तो आज का विचारक कवि 'कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति' कहते हुए अपनी एकान्तिक परिस्थिति को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है—

'तुम महान् थे, महानता पर ही रीझ उठे,
पर, मैं हूँ अल्प, अल्पता ही छूपाता हूँ,
क्षार, पंक, हिम सवसे अभिशापित,
जल निधि में प्यासा हूँ ।'

इसी प्रकार विरोधाभास और काथनिक असम्बद्धता पर आधारित कविता-संग्रह जैसे—'जो वँध नहीं सका' (गिरिजा कुमार माथुर), इसकी 'कटा हुआ आसमान', 'अर्धजन्म', 'अ नयावर्ष' कविता शीर्षक अपने आप में काथनिक विरोध संजोये हुए हैं और सम्भव है इस काथनिक विरोध के कारण ही उक्त नामों को शीर्षकत्व मिला हो । इसी

प्रकार 'शिलापंख चमकीले' (कविता-संग्रह); 'जंग लगे सपने' (कविता-संग्रह); जिसकी 'नपुंसक आक्रोश' और 'सूर्य का जन्म दिन' (कविताएँ); 'रेत की तरंगे' (कविता-संग्रह); 'प्रारम्भ' (कविता-संग्रह) जिसमें 'एक असमाप्त अंत' (कैलाशवाजपेयी—'मैं भविष्य हीन अनवरत वर्तमान); 'वे आवाज़ शोर' (नरेन्द्र धीर) शीर्षक कविताएँ; 'नदी प्यासी थी' (नाटक, धर्मवीर भारती) तथा 'शहर में डूबता हुआ समुन्दर' (कहानी-संग्रह, देवन्द्र सत्यार्थी); 'पानी विच मीन प्यासी' (उपन्यास, राघवेन्द्र मिश्र); 'प्यासा पानी' (उपन्यास, विमला रैना); 'एक कटी हुई जिन्दगी' (उपन्यास, लक्ष्मीकांत वर्मा); 'एक प्यासा तालाब' (उपन्यास, राजकमल प्रकाशन); 'पवित्र पापी', 'पाषाण पंख' (उपन्यास, नानक सिंह); 'सिन्दूर की हथकड़ियाँ' (उपन्यास) शीर्षक विरोधाभास और काथनिक वक्रता के कारण ही पाठक की बोधवृत्ति को कुछ समय केलिए अपने में लय कर लेते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर सशक्त शब्दों में इतना कहा जा सकता है कि मनन, चिन्तन, भाव वाचक, बिम्ब, विचार, विरह जन्य स्थिति, उद्विग्न मनोदशा के जिस कगार पर आज का नव-लेखन अभिव्यक्ति केलिए मचल रहा है, उसी प्रकार उलटवाँसी शैली की मूल प्रेरणा भी भाव, विरह और विचार या ज्ञान-विरह की सूक्ष्मता से अनुप्राणित रही है। यथा-वत् अनुभूति को सन्तुष्ट करने केलिए जीवन से चुने गये संकेत, प्रतीक, उपमान, बिम्ब आदि प्राय: दोनों में मृदुता की चादर में आवृत न होकर (उलटवाँसी मूलक पारिवारिक रूपकों को छोड़कर) जीवन्तता की पारदर्शक गजी पहनकर ही प्रयुक्त हुए हैं। रूढ़ि का व्यतिक्रम दोनों में ही ग्राह्य है। साधारणीकरण न होने की समस्या दोनों का अंग है। विशेषीकृत मनोदशा उलटवाँसी शैली में 'शम' जन्य साधना के कारण, नव-लेखन में युग के परिवेश से प्रभावित व्यक्ति का आवेश 'विशेष', जो विशेष विशेषों को प्रभावित करने की सामर्थ्य लिए हुए है, अभिव्यक्ति के उपादानों के कारण विरोध मूलक या असम्बद्ध-सा लगता है। संकेतित, कथ्य समझ लिए जाने पर सहज ग्राह्य हो जाता है। और संयोग की बात है कि आज की 'अ' उपसर्ग पूर्वक कविता, कहानी आदि शब्द 'उलटवाँसी' शब्द के कितने समकक्ष पहुँच गए हैं।

परिशिष्ट—२

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत—

१. 'अथर्वेद संहिता' (भाषा भाष्य) भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल, लिमिटेड, अजमेर सं० १९८६
२. 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' कालीदास, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी
३. 'अलंकार सर्वस्वम्', राजानक रुय्यक, सम्पादक श्री गौरीनाथ पाठक, काशी, सं० १९८३
४. 'ईशावास्योपनिषद्', गीताप्रेस गोरखपुर, दशम संस्करण, सं० २०१७
५. 'उत्तररामचरितम्' भवभूति, टीकाकार श्री पी० वी० कणे, मोतीलाल, वनारसीदास, दिल्ली, १९६२ ई०
६. 'ऋग्वेद संहिता' सायण भाष्य सहित, तिलक महाराष्ट्र यूनिवर्सिटी, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना
७. 'ऋग्वेद संहिता' (द्वितीय भाग) मोक्षमूलर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, तृतीय संस्करण
८. 'ऋग्वेद संहिता' भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा, आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर, पंचम आवृत्ति, सं० २०१३
९. 'ऋग्वेद संहिता' श्री दामोदर भट्ट सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, तृतीय संस्करण, सन् १९५७ ई०
१०. 'ऐतरेयब्राह्मण' संपा० अनन्तकृष्ण शास्त्री (प्रथम भाग), त्रिवेन्द्रम, सन् १९४२ ई०
११. 'ऐतरेयोपनिषद्' गीताप्रेस गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २०१८
१२. 'कठोपनिषद्' वही, दशम संस्करण, सं० २०१७
१३. 'कर्पूरमंजरी' राजशेखर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३ ई०
१४. 'कामसूत्रम्' (दो भाग) आचार्य वात्स्यायन, गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, कल्याण, वम्बई, सं० १९९१
१५. 'काव्यप्रकाश:' मम्मट, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६० ई०
१६. 'काव्यदार्श:' दण्डी, श्री कमलमणि ग्रन्थ-माला कार्यालय, काशी, सं० १९८८
१७. 'काव्य मीमांसा' राजशेखर, व्याख्याकार डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, सं० २०२१

१८. 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिः' वामन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, १९५१ ई०
१९. 'कुमारसम्भव-महाकाव्यम्' कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारसी, १९५४ ई०
२०. 'कुवलयानन्दः' अप्पय दीक्षित, व्याख्याकार—डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्या-भवन, सं० २०१३
२१. 'किरातार्जुनीयम्' भारवि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, सं० २०१८
२२. 'केनोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २०१५
२३. 'गोरक्षपद्धतिः' भाषानुवादक श्री महीधर शर्मा, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५४ ई०
२४. 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रहः' सपादक पं० गोपीनाथ कविराज, सन् १९२५
२५. 'घेरण्ड संहिता' प्रकाशक—गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० २०१३
२६. 'चित्रमीमांसा' अप्पय दीक्षित
२७. 'छान्दोग्योपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० २०१४.
२८. 'तन्त्र समुच्चय' श्री नारायण प्रणीत, अनन्त शयन राजकीय मुद्रणालय, १९५३ ई०
२९. 'तैत्तरीयोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २०१९
३०. 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्' आद्य शंकराचार्य
३१. 'ध्वन्यालोकः' आनन्दवर्द्धन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, सं० २०१९
३२. 'निरुक्तम्' यास्क, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६४ ई०
३३. 'नैषधमहाकाव्यम्' (दो खण्ड) श्रीहर्ष, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, सं० २०१०
३४. 'पातञ्जल योगदर्शन' श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्यक कृत (हिन्दी रूपान्तर) डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
३५. 'प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि' संपादक विनयतोष भट्टाचार्य, ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट, १९२९ ई०
३६. 'बृहदारण्यकोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० २०१४
३७. बृहत्स्तोत्र रत्नाकर' सम्पादक पं० रामतेज पाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय, काशी, सं० २०१६
३८. 'मनुस्मृति' (मनुसंहिता), अनु० रामस्वरूप शर्मा, मुरादाबाद, सं० १९६७
३९. 'माध्यान्दिन शतपथ ब्राह्मण कण्डिकानाम्-अकाराद्यनुक्रमणिका, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी, सं० १९९७
४०. 'माण्डूक्योपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टम संस्करण, सं० २०१९
४१. 'मुण्डकोपनिषद्' वही, वही, सं० २०१९
४२. 'वक्रोक्तिजीवितम्' आचार्य कुन्तक, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, १९५५ ई०

४३. 'वाक्यपदीय' (ब्रह्म काण्ड) भर्तृहरि, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
४४. 'विदग्ध मुखमण्डन, आचार्य धर्मसूरि
४५. 'वैदिक विनय' (तृतीय खण्ड) श्री देवशर्मा 'अभय', गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, सं० २००७
४६. 'वेदान्त दर्शन' (ब्रह्मसूत्र) गीताप्रेस, गोरखपुर, पंचम संस्करण, सं० २०२०
४७. 'श्वेताश्वरोपनिषद्, वही, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१६
४८. 'शतपथ ब्राह्मण' (प्रथम भाग) अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९९४
४९ 'शाक्तप्रमोद:' (तन्त्र संग्रह) खेमराज श्रीकृष्णदास वेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० २००८
५०. 'श्रीमन्महाभारतम्' (चार भाग) गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३
५१. 'श्रीमद्भगवतगीता' वही, द्वितीय संस्करण, सं० १९९४
५२. 'श्रीमद्भागवत महापुराणम्' (दो भाग) वही, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१८
५३. श्री भगवच्चन्द्रिका' (तन्त्र तथा उपनिषद् ग्रन्थ), द्वितीय संस्करण, २०१६
५४. 'श्री शिव-संहिता' (हठयोग विद्या सम्बन्धी ग्रन्थ)
५५. 'साधनमाला' संपादक श्री विनयतोष भट्टाचार्य, ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९२८ ई०
५६. 'साहित्यदर्पण:' आचार्य विश्वनाथ, व्याख्याकार—शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१ ई०
५७. 'हठयोगप्रदीपिका' आत्माराम योगीन्द्र विरचित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंक्टेश्वर प्रेस मुम्बई, २०१९
५८. 'हर्षचरित' बाणभट्ट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं० २०२१
५९. 'षट्चक्र निरूपणम्' परमहंस पूर्णानन्द यति, आगमानुसन्धान समिति, संस्कृत बुक डिपो, कलकत्ता, सं० १९९८

पालि-प्राकृत अपभ्रंश और मराठी आदि—

६०. 'चर्यागीतिकोष:' संपादक प्रबोधचन्द्र बागची, विश्वभारती शान्ति निकेतनम्, बुद्धाब्द २५००
६१. 'दोहाकोश' सिद्ध सरहपाद, संपादक राहुल सांस्कृत्यायन, पटना, सं० २०१४
६२. 'धम्मपद' भिक्षु धर्मरक्षित, द्वितीय संस्करण, १९५९ ई०
६३. 'पाहुड़ दोहा, मुनि रामसिंह, संपादक हीरालाल जैन, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारंजा, बरार, सं० १९९०
६४. 'ढोला मारूरा दूहा' (राजस्थानी), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय संस्करण सं० २०१९
६५. 'श्री एकनाथ दर्शन' पहला खण्ड, (मराठी) सम्पादक पोहनेरकर, श्री एकनाथ संशोधन मंदिर, पूना संस्करण, १९५२ ई०
६६. 'दीवान-ए-ग़ालिब' (संकलन) हिन्दुस्तानी बुक ट्रस्ट, बम्बई, संस्करण १९५८ ई०
६७. 'दीवान-ए-हाफ़िज़' (संकलन) मुहम्मद पद्वीनी, किताबखाना-ए-जव्वार, तेहरान, १९४१ ई०
६८. 'मसनवी मौलाना रूमी' (फारसी), मजीदी प्रेस, कानपुर, १९१२ ई०

१८. 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिः' वामन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, १९५१ ई०
१९. 'कुमारसम्भव-महाकाव्यम्' कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारसी, १९५४ ई०
२०. 'कुवलयानन्दः' अप्पय दीक्षित, व्याख्याकार—डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्या-भवन, सं० २०१३
२१. 'किरातार्जुनीयम्' भारवि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, सं० २०१८
२२. 'केनोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २०१५
२३. 'गोरक्षपद्धतिः' भाषानुवादक श्री महीधर शर्मा, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५४ ई०
२४. 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रहः' सपादक पं० गोपीनाथ कविराज, सन् १९२५
२५. 'घेरण्ड संहिता' प्रकाशक—गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० २०१३
२६. 'चित्रमीमांसा' अप्पय दीक्षित
२७. 'छान्दोग्योपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० २०१४
२८. 'तन्त्र समुच्चय' श्री नारायण प्रणीत, अनन्त शयन राजकीय मुद्रणालय, १९५३ ई०
२९. 'तैत्तरीयोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २०१९
३०. 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्' आद्य शंकराचार्य
३१. 'ध्वन्यालोकः' आनन्दवर्द्धन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, सं० २०१९
३२. 'निरुक्तम्' यास्क, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६४ ई०
३३. 'नैषधमहाकाव्यम्' (दो खण्ड) श्रीहर्ष, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, सं० २०१०
३४. 'पातञ्जल योगदर्शन' श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्यक कृत (हिन्दी रूपान्तर) डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
३५. 'प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि' संपादक विनयतोष भट्टाचार्य, ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट, १९२९ ई०
३६. 'बृहदारण्यकोपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० २०१४
३७. बृहत्स्तोत्र रत्नाकर' सम्पादक पं० रामतेज पाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय, काशी, सं० २०१६
३८. 'मनुस्मृति' (मनुसंहिता), अनु० रामस्वरूप शर्मा, मुरादाबाद, सं० १९६७
३९. 'माध्यान्दिन शतपथ ब्राह्मण कण्डिकानाम्-अकाराद्यनुक्रमणिका, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी, सं० १९९७
४०. 'माण्डूक्योपनिषद्' गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टम सस्करण, सं० २०१९
४१. 'मुण्डकोपनिषद्' वही, वही, सं० २०१९
४२. 'वक्रोक्तिजीवितम्' आचार्य कुन्तक, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, १९५५ ई०

४३. 'वाक्यपदीय' (ब्रह्म काण्ड) भर्तृहरि, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
४४. 'विदग्ध मुखमण्डन, आचार्य धर्मसूरि
४५. 'वैदिक विनय' (तृतीय खण्ड) श्री देवशर्मा 'अभय', गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार, सं० २००७
४६. 'वेदान्त दर्शन' (ब्रह्मसूत्र) गीताप्रेस, गोरखपुर, पंचम संस्करण, सं० २०२०
४७. 'श्वेताश्वरोपनिषद्, वही, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१६
४८. 'शतपथ ब्राह्मण' (प्रथम भाग) अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९९४
४९ 'शाक्तप्रमोद:' (तन्त्र संग्रह) खेमराज श्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० २००८
५०. 'श्रीमन्महाभारतम्' (चार भाग) गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३
५१. 'श्रीमद्भगवतगीता' वही, द्वितीय संस्करण, सं० १९९४
५२. 'श्रीमद्भागवत महापुराणम्' (दो भाग) वही, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१८
५३. श्री भगवच्चन्द्रिका' (तन्त्र तथा उपनिषद् ग्रन्थ), द्वितीय संस्करण, २०१६
५४. 'श्री शिव-संहिता' (हठयोग विद्या सम्बन्धी ग्रन्थ)
५५. 'साधनमाला' संपादक श्री विनयतोष भट्टाचार्य, ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९२८ ई०
५६. 'साहित्यदर्पण:' आचार्य विश्वनाथ, व्याख्याकार—शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१ ई०
५७. 'हठयोगप्रदीपिका' आत्माराम योगीन्द्र विरचित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई, २०१६
५८. 'हर्षचरित' बाणभट्ट, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं० २०२१
५९. 'षट्चक्र निरूपणम्' परमहंस पूर्णानन्द यति, आगमानुसन्धान समिति, संस्कृत बुक डिपो, कलकत्ता, सं० १९९८

पालि-प्राकृत अपभ्रंश और मराठी आदि—

६०. 'चर्यागीतिकोष:' संपादक प्रबोधचन्द्र बागची, विश्वभारती शान्ति निकेतनम्, बुद्धाब्द २५००
६१. 'दोहाकोश' सिद्ध सरहपाद, संपादक राहुल सांस्कृत्यायन, पटना, सं० २०१४
६२. 'धम्मपद' भिक्षु धर्मरक्षित, द्वितीय संस्करण, १९५९ ई०
६३. 'पाहुड़ दोहा, मुनि रामसिंह, संपादक हीरालाल जैन, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारंजा, बरार, सं० १९९०
६४. 'ढोला मारूरा दूहा' (राजस्थानी), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय संस्करण सं० २०१९

हिन्दी—

१. 'अखरावती' कबीरदास, बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, पाँचवाँ संस्करण
२. 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' दीनदयालगिरि (दीनदयालगिरि ग्रन्थावली), संपादक श्याम-सुन्दरदास
३. 'अपभ्रंश साहित्य' डॉ० हरिवंश कोछड़, भारती सहित्य मन्दिर, दिल्ली
'आदिकालीन हिन्दी-साहित्य शोध' डॉ० हरीश, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण १९६६ ई०
४. 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग, सं० २००८
५. 'आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद', डॉ० चन्द्रकला (शोधप्रबन्ध), मंगल प्रकाशन, जयपुर, संस्करण १९६६ ई०
६. 'कबीर' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वितीय संस्करण सन् १९४७
७. 'कबीर' (निबन्ध-संग्रह) संपादक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९६५ ई०
८. 'कबीर-एक विवेचन' डॉ० सरनामसिंह शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली,
९. 'कबीर का रहस्यवाद' डॉ० रामकुमार वर्मा, नवाँ संस्करण, १९६१ ई०
१०. 'कबीर की विचार-धारा' डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, द्वितीय संस्करण
११. 'कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन' डॉ० त्रिगुणायत, द्वितीय संस्करण
१२. 'कबीर ग्रंथावली' संपादक श्री श्यामसुन्दर दास, पाँचवाँ संस्करण
१३. 'कबीर-पदावली', संपादक डॉ० रामकुमार वर्मा
१४. 'कबीर-बीजक' टीकाकार श्री विचारदास शास्त्री, रामनारायणलाल, प्रयाग, १९५४ ई०
१५. 'कबीर वचनामृत' संपादक मुन्शीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना-सदन, कानपुर, सं० २०१२
१६. 'कबीर साहित्य की परख' श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग, सं० २०११
१७. 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६२ ई०
१८. 'कूटकाव्य-एक अध्ययन' डॉ० रामधन शर्मा शास्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३ ई०
१९. 'केशवदास जी की अमीघूंट' बेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद, चौथा संस्करण
२०. 'गरीबदास जी की बानी' वही, प्रथम संस्करण
२१. 'गुलाल साहेब की बानी' वही, द्वितीय संस्करण
२२. 'गोरखनाथ और उनका युग' डॉ० रांगेय राघव, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९६३ ई०

२३. 'गोरख-बानी' संपादक और टीकाकार डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, तृतीय संस्करण
२४. 'घट रामायण' (तुलसी साहेब हाथरस वाले की) (पहला भाग), बेलविडियर प्रेस, सप्तम संस्करण
२५. 'घट रामायण' (तुलसी साहेब हाथरस वाले की) (दूसरा भाग), वही प्रकाशन १९६१ ई०
२६. 'चरनदास जी की बानी' (पहला तथा दूसरा भाग), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग १९५१ ई०
२७. 'जगजीवन साहेब की शब्दावली' (पहला तथा दूसरा भाग), वही, द्वितीय संस्करण
२८. 'जायसी ग्रन्थावली', संपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण सं० २०१७
२९. 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषा-विज्ञान' श्री मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पंचम संस्करण
३०. 'तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली और जीवन चरित्र' (पहला भाग) बेलवेडियर प्रेस, १९५३ ई०
३१. 'तुलसी साहब की शब्दावली' (दूसरा भाग) वही, चतुर्थ संस्करण
३२. 'दरिया ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड) संपादक डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६२ ई०
३३. 'दरिया सागर' (बिहार वाले दरिया साहब का), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९५३ ई०
३४. 'दरिया साहिब (मारवाड़ वाले) की बानी,' वही चतुर्थ संस्करण
३५. 'दयाबाई की बानी,' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
३६. 'दादूदयाल की बानी' (पहला भाग), (साखी), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
३७. 'दादूदयाल की बानी' (दूसरा भाग, पद्य)', वही, तृतीय संस्करण
३८. 'धनी धरमदास जी की शब्दावली' वही, चतुर्थ संस्करण
३९. 'नाथ पंथ और निर्गुण संत-काव्य' (शोध प्रबन्ध) डॉ० कोमल सिंह सोलंकी, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, संस्करण १९६६ ई०
४०. 'नाथ सम्प्रदाय' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण
४१. 'नानक-वाणी' डॉ० जयराम मिश्र, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, सं० २०१८
४२. 'नाथ-सिद्धों की बानियाँ' सम्पादक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४
४३. 'निरंजनी संप्रदाय और संत तुरसीदास निरंजनी, डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, सन् १९६४ ई०
४४. 'पलटू साहिब की बानी' (पहला भाग), बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, षष्ठ संस्करण
४५. वही, (दूसरा भाग), वही, सन् १९६२ ई०
४६. वही, (तीसरा भाग), वही, पंचम संस्करण

४७. 'प्राकृत और उसका साहित्य' डॉ० हरदेव बाहरी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण
४८. 'प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा' श्री अगरचन्द नाहटा, भारतीय विद्यामन्दिर, शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर, सन् १९६२ ई०
४९. 'व्रजचन्द्र चकोरी मीरा' (संग्रह) श्रीराधिका पुस्तकालय तथा प्रकाशन ट्रस्ट, वृन्दावन, १९५१ ई०
५०. 'ब्रह्मज्ञान प्रकाश' श्री स्वामी शंकरदास जी, देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली
५१. 'बिहारी बोधिनी' टीकाकार लाला भगवनदीन, अष्टम संस्करण, सं० २०१४
५२. 'बुल्ला साहेब का शब्द सार' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, तृतीय संस्करण
५३. 'बौद्ध दर्शन' आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, संस्करण १९५६ ई०
५४, 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' (दो भाग) डॉ० भरतसिंह उपाध्याय. भारती भण्डार, सं० २०११
५५. 'भक्ति साहित्य में मधुरोपासना' श्री परशुराम चतुर्वेदी, वही, प्रथम संस्करण
५६. भक्ति काव्य में रहस्यवाद, डॉ० रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण १९६६ ई०
५७. 'भक्तिमार्गी बौद्ध धर्म' लेखक नगेन्द्रनाथ वसु, अनुवादक—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
५८. 'भारतीय दर्शन' पं० बलदेव उपाध्याय, पंचम संस्करण, १९५७ ई०
५९. 'भीखा साहब की बानी' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१९ ई०
६० 'मलूकदास जी की बानी' वही, तृतीय संस्करण
६१. 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध प्रभाव' डॉ० सरला त्रिगुणायत
६२. 'महायान' भदन्त शान्ति भिक्षु, विश्व भारती ग्रंथालय, कलकत्ता
६३. 'यारी साहेब की रत्नावली' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण
६४. 'रत्नसागर' (तुलसी साहेब हाथरस वाले का), वही, पाँचवा संस्करण
६५. 'रामचरित मानस' गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण सं २०१६
६६. 'रैदास जी की बानी' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, षष्ठ संस्करण
६७. 'विद्यापति की पदावली' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६१ ई०
६८. 'वेद-रहस्य' (द्वितीय खण्ड) श्री अरविन्द; अनुवादक तथा संपादक अभयदेव विद्यालंकार प्रथम संस्करण, १९४९ ई०
६९. 'वैदिक-साहित्य' पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५० ई०
७०. 'सार वचन छंद बंद' (दूसरा भाग) राधा स्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग, आगरा तेरहवाँ संस्करण, १९५८ ई०
७१. 'साहित्यालोचन' आचार्य श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस लिमिटेड इलाहाबाद, बारहवाँ संस्करण, सं २०१४
७२. 'सिद्ध-साहित्य' डॉ० धर्मवीर भारती, किताब महल प्रकाशन, १९५५ ई०
७३. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (दो खण्ड) सम्पादक पुरोहित हरिनारायण शर्मा, राजस्थान रिसर्च सोसायटी. कलकत्ता, सं० १९९३

७४. 'सुन्दर दर्शन' डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, किताब महल, इलाहाबाद, १९५३ ई०
७५. 'सूफी साधना और साहित्य' श्री रामपूजन तिवारी, ज्ञानमण्डल लिमिटड, बनारस, सं २०१३
७६. 'सूर-सागर' सूरदास, काशीनागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५
७७. 'सन्त कवि दरिया-एक अनुशीलन' डॉ धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५४ ई०
७८. 'संत कबीर' डॉ रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, चतुर्थ संस्करण, १९५७ ई०
७९. सन्त-काव्य में परोक्षसत्ता का स्वरूप, डॉ० बाबूराव जोशी, कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, संस्करण १९६२ ई०
८०. 'सन्तबानी-संग्रह'(पहला भाग-साखी) बेलवेडियर प्रेस, द्वितीय संस्करण सन् १९१५ ई०
८१. „ „ (दूसरा भाग-शब्द) वही, द्वितीय संस्करण, १९२२ ई०
८२. 'सन्त वैष्णव साहित्य पर तान्त्रिक प्रभाव' डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय, संस्करण १९६२ ई०
८३. 'संत-साहित्य' (भाषापरक अध्ययन) डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, १९६५ ई०
८४. 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' पं० बलदेव उपाध्याय, पंचम संस्करण
८५. 'संस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव' डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
८६. 'संस्कृति के चार अध्याय' डॉ० रामधारी 'दिनकर', संस्करण १९६२ ई०
८७. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति' डॉ० संसारचन्द्र
८८. 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अनुवादक श्री परशुराम चतुर्वेदी, अवध पब्लिकेशन हाउस, लखनऊ
८९, 'हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य' डॉ० प्रभाकर माचवे, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, १९६२ ई०
९०. 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' सम्पादक डॉ०नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सन् १९५५
९१. 'हिन्दी-व्याकरण' श्री कामताप्रसाद गुरू, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५
९२. 'हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, १९६१ ई०
९३. 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध' किताब महल, सन् १९५८ ई०
९४. 'हिन्दी-साहित्य' (द्वितीय खण्ड) संपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी-परिषद्, प्रयाग, १९५९ ई०
९५. 'हिन्दी-साहित्य का अतीत' (पहला भाग) श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी सं० २०१५
९६, 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, १९६१ ई०

९७. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ग्यारहवाँ संस्करण सं० २०१४
९८. 'हिन्दी सन्त-साहित्य' डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण
९९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डॉ० रामकुमार वर्मा, पंचम संस्करण,
१००. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, द्वितीय संस्करण
१०१. 'हिन्दी को मराठी संतों की देन' डॉ० विनयमोहन शर्मा, विहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९५७ ई०
१०२. 'हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य' (द्वितीय संस्करण)' डॉ० ओम्प्रकाश, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९६५ ई०
१०३. 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' कामताप्रसाद जैन, प्रथम संस्करण
१०४. 'नयी कविता का स्वरूप-विकास' श्री श्याम सुन्दर घोष, हिन्दी साहित्य संसार, १९६५ ई०
१०५. 'नयी कविता-सीमा और सम्भावनाएँ' श्री गिरिजा कुमार माथुर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, १९६६ ई०

अंग्रेजी —

१. 'ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ पर्सिया' (दूसरा-तीसरा भाग), प्रो० एडवर्ड जी० ब्रौने, ई० कैम्ब्रज, १९५१ ई०
२. 'अस्य वामस्य हिम्' (रिडिल ऑफ दि यूनिवर्स, ऋग्वेद १-१६४),मद्रास, १९५६ ई०
३. 'ए सिक्सटीन सैन्चुरी इण्डियन मिस्टिक' प्रो० डब्ल्यू० जी० और ल्यूटर वर्थ प्रेस, लन्दन, १९४७ ई०
४. 'बुद्धिज्म' कर्नल युनिवर्सिटी लेक्चर्स
५. 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज' प्रो० डब्ल्यू ब्रिग्स
६. 'कबीर एण्ड दि कबीर पन्थ' -प्रो० जी० एच० वेस्टकौट (द्वितीय संस्करण), सन् १९५३ ई०
७. 'महायान बुद्धिज्म' प्रो० विट्राइस लेन सुज़की, लन्दन, १९५९ ई०
८. 'माइनर उपनिषद्स' अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९५६ ई०
९. 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र' प्रो० आर० डी० रानाडे
१०. 'ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स' डॉ० एस० दास गुप्त, कलकत्ता, १९६२ ई०
११. 'पाथ वे टु गोड इन हिन्दी लिटरेचर' प्रो० आर० डी० रानाडे, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, १९५९ ई०
१२. 'सिम्बोलिज्म इट्स मीनिंग एण्ड इफैक्ट' ए० डब्लू० ह्वाइट हैड, कैम्ब्रज युनिवर्सिटी प्रेस, १९२८ ई०

१३. 'तन्त्राज-देअर फिलोसफी एण्ड ओकल्ट सीक्रेट्स' प्रो० टी० एन० बोस (तीसरा संस्करण), १९५६ ई०
१४. 'दि कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिस्टिक निर्वान' -प्रो० चरबेट्की, १९२७ ई०
१५. 'दि रिलेशन ऑफ दि बुद्धा एण्ड इट्स रिलेशन टु उपनिषदिक थोट' श्री बहादुरमल, प्रथम संस्करण

कोश-ग्रन्थ तथा पत्रिकाएँ—

१. 'इंगलिश संस्कृत डिक्शनरी' (तीन भाग) वी० एस० आप्टे, सन् १९५७-५९ ई०
२. 'उपनिषद् कोश' वी० ए० जाकोब, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६३ ई०
३. 'उपनिषद् वाक्यकोश' गजानन शम्भु साधले, गुजरात प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई सन् १९४१ ई०
४. 'ए प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी' मैक्डोनल, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, सन् १९५४ ई०
५. 'ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' संपादक मोनियर विलियम्स, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३ ई०
६. 'चैम्बर्स डिक्शनरी' सम्पादक विलियम गेड्डि, लन्दन, सन् १९५९ ई०
७. 'दि कनसाइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' सम्पादक एफ०जी० फॉउलर, लन्दन, सन् १९५९ ई०
८. 'दि यूनिवर्सल डिक्शनरी ऑफ इंगलिश' सम्पादक मोनियर विलियम्स, मोतीलाल बनारसीलाल, दिल्ली
९. 'बृहत् अंग्रेजी कोश' डॉ० हरदेव बाहरी
१०. 'बृहत् हिन्दी कोश' ज्ञानमण्डल लिमिटेड; सं० २००९
११. 'मराठी हिन्दी शब्दसंग्रह' सम्पादक श्री गणेश रघुनाथ वैशम्पायन, पूना, सन् १९४९ ई०
१२. 'महाराष्ट्र कोश' (पाँचवा भाग), महाराष्ट्र कोश मण्डल, पुणें, सन् १९३६ ई०
१३. 'मानक हिन्दी कोश' (पहला खण्ड), साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१४. 'वाचस्पत्यम्' (छः भाग), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सन् १९६२ ई०
१५. 'वैदिककोश' डॉ० सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, सन् १९६३ ई०
१६. 'वैदिक इण्डैक्स' मूल लेखक ए० मैक्डोनल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६२ ई०
१७. 'वेबस्टर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्सनरी ऑफ इंगलिश लैंग्वेज' (वॉ० I-II), लन्दन, १९५९ ई०
१८. 'शब्द कोश संत मत वानी' राधास्वामी ट्रस्ट, स्वामी बाग़, आगरा, सन् १९४६ ई०

१६. 'शब्द कल्पद्रुम्' चौम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, सन् १६६१ ई०
२०. 'संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी' वी० एस० आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १६६३ ई०
२१. 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभः' प्रकाशक रामनारायणलाल, इलाहाबाद, सन् १६५७ ई०
२२. 'संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर' सम्पादक रामचन्द्र वर्मा, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, सं० १०१४
२३. 'हलायुध कोश' सम्पादक जयशंकर जोशी, सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश, शक सं० १८७६
२४. 'हिन्दी शब्द-सागर (तीन खण्ड) सम्पादक आचार्य श्यामसुन्दर दास, सभा, काशी
२५. 'हिन्दी साहित्यकोश' (दो खण्ड) ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सं० २०२०
२६. 'कल्याण' (पत्रिका) (सन्तवाणी अंक), गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष २६
२७. 'साहित्य सन्देश' (पत्रिका) साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, सन् १६६४ (अप्रैल, मई अंक)

उलटवासी जीवन का वरदान

'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।'

ऋग्वेद, मण्डल ७ । सूक्त ८९ । मंत्र ४

'अपां समुद्राणामुदकानां मध्ये तस्थिवांसं स्थितवन्तमपि जरितारं तवस्तोतारं मां तृष्णा पिपासा अविदत आप्तवती लवणोत्कटस्य सामुद्रजलस्यपानानर्हत्वात ।'

—मंत्र का सायण-भाष्य

अर्थात् सागर में रहकर भी मुझे प्यास बनी हुई है ।

'जल कहै मैं पियासा मूवा, अन्न कहै मैं भूखा ।' —गोरखनाथ

'जल बिच मीन प्यासी । मोहि सुनि सुनि आवै हांसी ।' —कबीरदास

'पानी में मीन प्यासी, जाहि जानत सन्त उदासी ।' —तुलसी साहब

'सखि इक पैठी जल भीतर रटत पियास हीं पियास हो ।
मुख नहिं पियै चिखुआ नहिं पीयै नैनन पियत हुलास हो ।' —दूलनदास

रोटी नित भूखी तरसै, पानी अब प्यासा तड़पै ।' —शिवदयाल

उलटवाँसी-आचरण

'अवधू जागत नींद न कीजै ।
काल न षाइ कलप नहिं व्यापै, देही जुरा न छीजै ।।
× × ×
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै ।
उलटै धनकि पारधी मार्‍यौ, यहु अचरज कोइ बूझै ।।
अम्बर बरसै धरती भींजै, यहु जांणै सब कोई ।
धरती बरसै अम्बर भींजै, बूझै बिरला कोई ।।
गांवण हारा कदै न गावै, अणबोल्या नित गावै ।
नटवर पेषि पेषनां पेषै, अनहद बैन बजावै ।।
कहणी रहणीं निज तत जांणैं, यहु सब अकथ कहांणीं ।
धरती उलटि अकासहिं ग्रासै, यहु पुरिसां की बाणीं ।।'

—सन्त कबीरदास

'ससै मारिया सिंह कौन यह समझै बोली ।
मात-पिता दोउ जने पूत ने बैठि खटोली ।।
मछली चढ़ी अकाश धरनि करि डारी पोली ।
चाँद सूर पाताल से निकसे पट खोली ।।
चोरन पकड़ा साह, साह ने पहिरी चोली ।
अमृत पी-पी मरें जहर की गाँठी खोली ।।
राधास्वामी गाइया यह भेद अमोली ।
संत बिना को बूझि है यह मर्म अतोली ।।'

—सन्त शिवदयाल
(राधास्वामी मत के प्रवंत्तक)